श्री हरिदास शास्त्री महाराज
की शिक्षाएं

श्री श्री गौर गदाधरौ विजयेताम्

श्री गुरु - दर्शनम्

श्री श्री हरिदास शास्त्री महाराज, नवतीर्थ

के साथ किये हुए

प्रश्नोत्तरी का संकलन एवं सम्पादन

श्री सत्यनारायण दास

श्री श्री गौर गदाधरौ विजयेताम्

श्री श्री राधागोविन्द देव विजयेताम्

माननीय श्री गुरुदेव चरणेभ्योऽर्पणमस्तु

प्रकाशकः

श्री हरिदास शास्त्री गोसेवा संस्थान

हरिदास निवास

पुराना कालिदह

वृन्दावन, 281121

उ.प्र. भारत

www.sriharidasniwas.org

प्रथम संस्करण: १००० प्रति

ISBN number 978-81-929328-2-8

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका

प्राक्कथन

श्री गुरुदर्शनम् नामक यह ग्रन्थ पाठकों के लिए प्रस्तुत करते हुए मुझे अतीव हर्ष की अनुभूति हो रही है । यह ग्रन्थ हमारे पूज्य गुरुदेव ॐ विष्णुपाद श्री श्री हरिदास शास्त्री महाराज के वचनामृतों का सङ्कलन है । इस में जिज्ञासु शिष्यों ने पूज्य गुरुदेव के सामने अपने प्रश्न व शङ्काएँ रखी । ये प्रश्न प्रायः सन् १९९८ से लेकर सन् २००१ के मध्य पूछे गये थे। प्रश्न विभिन्न विषय पर विभिन्न विभिन्न समय पर पूछे गये थे । उन सबका टेप से सुनकर आंग्ल भाषा में लिखना तथा उसके बाद एक विषय सम्बन्धी प्रश्नों को एक साथ एकत्रित करना एक पेचिदा कार्य था । यह सभी कार्य श्रीमती भक्तिदेवी व श्री गौरचन्द्र ने मेरी देख-रेख में किया । इस कार्य को करने में काफी समय लगा । उसके बाद मैं ने पूरे पाण्डुलिपि को पढ़कर त्रुटियों का मार्जन किया । आंग्ल भाषा की त्रुटियों का मार्जन श्री अद्वैत प्रभु ने किया ।

इसका प्रथम सम्पादन आंग्ल भाषा में सन् २०१५ में हुआ । पूज्य गुरुदेव के अनुयायियों को यह पुस्तक अतीव पसन्द आयी । जिन अनुयायियों को आंग्ल भाषा का ज्ञान नहीं है उन्होंने ईच्छा व्यक्त की कि यदि यह ग्रन्थ का हिन्दी अनुवाद किया जाय तो वे भी पूज्य गुरुदेव की वाणी से लाभान्वित हो सकेंगे । हिन्दी अनुवाद के मुख्य प्रेरणास्रोत श्री सन्दीप मित्तल जी है । वे पूज्य गुरुदेव के अन्यतम कृपापात्र हैं तथा समर्पित भाव से सेवा में लग्न है ।

कार्य की व्यस्तता के कारण अनुवाद का कार्य मैं स्वयं नहीं कर सका । इसके लिए मैने बाबा पद्मनाभदास से अनुरोध किया तो उन्होंने यह सेवा सहर्ष स्वीकार कर ली । लेकिन इस अनुवाद कार्य में मुख्य भूमिका श्रीमती वीणाजी, पत्नी श्री पुरुषोत्तमजी, की रही है । पाठकों को जानकर आश्चर्य होगा कि श्रीमती वीणाजी ने पूज्य गुरुदेव के दर्शन भी नहीं किये, फिर भी उन्हों ने अतीव लग्न व रुचि से यह कार्य किया । पूरे कार्य के समन्वय में श्रीपुरुषोत्तम प्रभु का अतुलनीय सहयोग रहा है । उन्होंने ही पाण्डुलिपि कम्पयूटर में टंकित किया तथा त्रुटियों का संशोधन किया । श्री भानु शर्मा एवं श्रीमती जयश्री देवी (अजित प्रभु की पत्नी) ने भी इसमें सहयोग किया । इन सभी का मैं हृदय से धन्यवाद करता हूँ ।

यह ग्रन्थ अतीव सरल भाषा में है । कहीं कहीं पर विषय के अनुरूप कुछ दार्शनिक शब्दावली का प्रयोग किया गया है । मूल ग्रन्थ में विषय का क्रम आंग्ल भाषा के वर्णक्रम से है । परन्तु इस ग्रन्थ में विषय का क्रम हिन्दी वर्णमाला के क्रम से रखा गया है । इससे किसी भी विषय को ढूँढने में सुविधा रहेगी ।

मैं आशा करता हूँ कि पाठक इस ग्रन्थ से लाभान्वित होंगे तथा पूज्य गुरुदेव की वाणी का लाभ लेकर उनके द्वारा निर्देशित मार्ग पर चलकर अपना जीवन सफल बनायेंगे ।

श्री गुरुचरणरजाभिलाषी
सत्यनारायण दास

1. अकादमी व. वैष्णव का शास्त्र प्रति दृष्टिकोण

प्रश्नः पारम्परिक दृष्टिकोण एवं अकादमी शास्त्रीय दृष्टिकोण में एक मुख्य भेद यह है कि पारम्परिक रीति से आप कहीं से भी उदाहरण ले सकते हैं, वह चाहे भागवत पुराण से हो, उपनिषद से हो, अथवा ऋग्वेद से हो । वहाँ कालानुक्रम का कोई विचार नहीं है, केवल आप का दिया हुआ उद्धृत वाक्य प्रसङ्ग के अनुसार सुसङ्गत हो, एवं आप उद्धृत प्रसङ्ग द्वारा अपने मत को सिद्ध कर सकें । अकादमी दृष्टिकोण में आप यह नहीं कर सकते, क्योंकि वह एक कालानुक्रम के अनुसार पुराणों से ली गई विषय वस्तु उपनिषद का समय निर्दिष्ट नहीं कर सकती है । उपनिषदों का विषय ऋग्वेद् के समय की संस्कृति पर प्रकाश नहीं डाल सकता है, जैसे आजकल के समाचार पत्र हमें शैक्सपीयर के समय की दिनचर्या के विषय में कुछ नहीं कह सकते । शैक्सपीयर का साहित्य हमें जुलीयस सीजर के इंग्लैंड के आक्रमण के विषय में कुछ नहीं बता सकता, क्योंकि इसमें कालानुक्रम का विचार है । यह (कालानुक्रम की परिपाटी) जानते हुए एक वैष्णव इस परम्परागत वैष्णव परिप्रेक्ष्य में कालानुक्रम मतवाले अकादमी के साथ समञ्जस कैसे करेगा, जो भाषाविज्ञान और दूसरे तर्कों पर आधारित है ।

उदाहरण स्वरूप, परम्परानुगत दृष्टिकोण से सत्ययुग प्राचीनतम काल है । अब सत्ययुग का जो वर्णन महाभारत या कई छोटे कथनों के द्वारा भागवत पुराण में किया गया है, उन वर्णन से जो जानकारी मिलती है वह अकादमी अभिगम के अनुसार सबसे पुराने युग का वर्णन जो ऋग्वेद में दिया है उस से सम्पूर्ण भिन्न है । ऋग्वेद में चित्रित ऋग्वेद की जीवन शैली और संस्कृति हमारी सत्ययुग की सोच से बिलकुल भिन्न है । इसी प्रकार और भी कई समस्याएँ हैं । अतः एक साधक जो वैष्णव बनना चाहता है और शास्त्र को परमतत्त्व के रूप से ग्रहण करना चाहता है जो कि वास्तव में शिष्य के लिए पहली शर्त है, इन दो भिन्न कथन, इन दो क्षेत्रों में कैसे निश्चय करें कि कौन सा ठीक है । ये दो भिन्न जगत् है, ये दो भिन्न दृष्टिकोण हैं एक आधुनिकवाद है, और एक पारम्परिक धारणा है जहाँ आप किसी भी ग्रन्थ से कुछ भी उद्-धृत कर सकते हैं ।

उत्तरः मूल रूप से दो मार्ग हैं । इनमें से किसी एक का चयन कर सकते हैं । पहला है पारमार्थिक अर्थात् आध्यात्मिक मार्ग और दूसरा है व्यावहारिक, लौकिक मार्ग । इन दोनों की भिन्न शैली हैं ।

पारमार्थिक मार्ग में व्यक्ति ईश्वर को सर्वज्ञ मानता है । व्यक्ति परम्परा क्रम से धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन करता है और उसके निश्चित नीति नियमों का पालन करता है । व्यावहारिक मार्ग में भी किसी दूसरे से अध्ययन करना पड़ता है । प्रत्येक व्यक्ति अपना

स्वयं का दर्शन नहीं बनाता है । व्यक्ति दूसरों की सहायता लेता है पर जिनसे सहायता लेता है वे निजी स्वार्थ से मुक्त नहीं होते हैं । वे अपना निजी स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं । उसके पीछे कुछ गुप्त स्वार्थ रहता है, कोई नाम या यश पाना चाहता है, तो कोई उस द्वारा कुछ और प्राप्त करना चाहता है । इस मार्ग में कुछ ख़ास नियम हैं जिनका उसे पालन करना होता है परन्तु इस मार्ग का हेतु पारमार्थिक मार्ग जैसा नहीं है ।

सारांश में - प्रथम यह समझना आवश्यक है कि व्यक्ति की निष्ठा कहाँ है - पारमार्थिक पथ में या व्यावहारिक पथ में ? यदि उसकी निष्ठा परमार्थ में है, तब वह शास्त्र पर भली प्रकार विचार करे कि शास्त्र क्या कहता है, गुरु क्या कहते हैं और ऋषि मुनियों ने क्या कहा है, उसे भली प्रकार समझें और बाद में उचित विचार विमर्श करके निश्चिय करें और अनुसरण करें ।

लेकिन जब उपरोक्त व्यक्ति व्यावहारिक पथ के लोगों के साथ व्यवहार करे तब उसे उसी मार्ग की शैली को अपनाना चाहिए । वे किस प्रकार वस्तुओं को प्रस्तुत करते हैं, उन प्रमाणों को कैसे स्वीकार करते हैं अथवा उनकी वस्तुओं की व्याख्या करने की शैली कैसी है उसे समझकर उसके अनुसार व्यवहार करे ।

यदि कोई व्यक्ति एक अच्छा वैज्ञानिक है, तो वह समझ सकता है कि जब तुम प्रकृति का अध्ययन करते हो, तो उससे बहुत सारी जानकारी प्राप्त हो सकती है तथा बहुत कुछ वस्तुएँ अभी तक अज्ञात भी हैं । इससे यह विचार आता है कि सम्भवतः प्रकृति के पीछे किसी महान् शक्ति का अस्तित्व है । वास्तव में आप एक पत्ते का भी सूक्ष्म निरीक्षण करेंगे तो बहुत अधिक ज्ञान होने पर भी आप यह नहीं कह सकते हो कि आप उस विषय में सब कुछ जानते हैं । जब किसी की समझ में आता है कि वह ज्ञान अगाध है, गम्भीर है और कोई तत्त्व है जो अति महान् है और अपनी समझने की क्षमता से परे है, तब वह व्यक्ति कुछ और अधिक ग्रहण करने के लिए योग्य होता है।

यह केवल तभी बन सकता है जब कोई निष्पक्ष हो, लेकिन सामान्यतः व्यावहारिक पथानुगामी व्यक्ति निष्पक्ष विचारक नहीं होते हैं हालाँकि वे ऐसा दावा करते हैं । उनका निजी स्वभाव, गुण और संस्कार है, जो बाल्यकाल से या पूर्व जन्म से प्राप्त हैं। वे लोग जब अपना अध्ययन करते हैं तो वे अपने पूर्वाग्रह से ग्रस्त होने के अलावा भी वे कुछ और प्रयोजन रखते हैं । जब वे अध्ययन कर रहे होते हैं तो पूर्व संस्कार से प्रभावित होने के कारण उनका झुकाव वस्तुओं को एक विशेषरूप में देखने की ओर होता है।

वे लोग भिन्न मतों की उद्भावना करते हैं । उनके सहयोगियों के बीच भी ऐकमत्य नहीं होता है । यदि किसी को उनके साथ व्यवहार करना हो, उन्हीं के क्षेत्र में कार्य करना हो तो उनके बनाए ढाँचे के नियमानुसार ही चले । जहाँ तक आध्यात्मिक पथ है, वहाँ तो साधक की सत्यनिष्ठा और शास्त्रीय श्रद्धा होना परम आवश्यक है ।
इसमें मेरा अपना उदाहरण द्रष्टव्य है । ठीक बाल्यकाल से ही मुझे सिखाया गया था कि व्यक्ति को सत्यनिष्ठ होना चाहिए और धर्म का किसी भौतिक लाभ यथा नाम, यश, अथवा धन अर्जित करने के लिए प्रयोग नहीं करना चाहिए । जब मैं वृन्दावन आया तो मैं ने अपने गुरुजी से वैष्णव संस्कृति से सम्बन्धित शास्त्रों का अध्ययन किया और उनकी आज्ञा से मैं ने दूसरे अध्यापकों से वृन्दावन में ही अन्य विषयों का, जैसे न्याय और दूसरे सम्प्रदायों के दर्शनादि का अध्ययन किया । तब उन्होंने मुझे आगे अध्ययनार्थ बनारस जाने के लिए आदेश दिया ।

जब मैं बनारस जा रहा था तब बहुत से वैष्णवों ने टीका टिप्पणी की कि अगर कोई बनारस जाता है, तो वहाँ से फिर लौटकर कभी नहीं आता है । ऐसी बहुत सी घटनाएँ बहुत से लोगों के साथ पहले हो चुकी थीं । एक बार बनारस जाना हार्वड विश्वविद्यालय (अमेरिका) जाना जैसा होता है । वहाँ जाकर कोई उस वातावरण को छोड़ना नहीं चाहता है क्योंकि वहाँ संस्कृति पूर्णरूप से भिन्न है । वास्तव में यह कथन सत्य है कि अगर कोई व्यक्ति बनारस में इन चार के चंगुल में नहीं फंसता है, केवल वही वहाँ से वापिस आ सकता है । पहली बाधा है बनारस में वैश्याओं से बचना, क्योंकि वहाँ पर उनकी प्रचुरता है । द्वितीय बाधा है साँड़ों से बचे रहना । बनारस शिवजी का स्थान है इसीलिए मनुष्य वहाँ साँड़ों को स्वतन्त्र रूप से भ्रमण करने देते हैं क्योंकि वे शिवजी के वाहन हैं । यह एक धार्मिक प्रथा है । बनारस में बहुत से खतरनाक साँड़ भी हैं, जिनसे कोई भी व्यक्ति कभी भी आहत हो सकता है। तृतीय बाधा है जब गङ्गा नदी पर जाते हैं तब सीढ़ियों से नीचे उतरना खतरनाक है क्योंकि वे बहुत खड़ी एवं फिसलने वाली हैं । यदि आप उन सीढ़ियों से फिसल गए तो आप गिर सकते हैं और गङ्गाजी की धारा में बह सकते हैं । चतुर्थ बाधा संन्यासी है, जो आपको घेरकर अपना शिष्य बनाना चाहते हैं और अन्त में बनारस में शैक्षणिक पद्धति का आकर्षण व्यक्ति अनुभव करता है कि अगर वह बनारस छोड़ता है, तो उसे ऐसा वातावरण कहाँ मिलेगा? अतः कोई भी बनारस छोड़ना नहीं चाहता है । प्रसिद्ध कहावत है राँड, साँड़, सीढी, संन्यासी, इनसे बचे होई वास काशी ।

मैं संन्यासियों के साथ भी रहा, मैं कुछ उच्चकोटि के संन्यासियों से मिला । उनमें से अधिकतर संन्यासियों ने मुझ पर प्रभाव डालने का प्रयास किया, किन्तु अन्त में उन

सभी ने मुझे यही कहा "तुम्हें कोई भी बदल नहीं सकता" । यह सत्य था कि उनका कोई प्रभाव मुझ पर नहीं हुआ । मैं ने अपना अध्ययन किया और मेरा मन हमेशा यहाँ वृन्दावन में ही रहा । वास्तवमें मैं ने सभी विषयों का अध्ययन किया, आस्तिक दर्शन, नास्तिक दर्शन और पाश्चात्य दर्शन का भी अध्ययन किया । मैं लौट आया, और मेरी श्रद्धा केवल अपने मार्ग पर ही अटूट रही । जब मैं अन्य दर्शन सिखाता हूँ, चाहे वह योग, सांख्य या न्याय हो, मैं उसी दर्शन के आधार पर सिखाता हूँ । लेकिन इसका अर्थ यह नहीं होता कि मैं बदल गया हूँ अथवा उसमें मेरा विश्वास हो गया । यह पारमार्थिक मार्ग है जहाँ साधक की श्रद्धा और गुरु निश्चित होते हैं और वह उसका ही अनुसरण करता है ।

लौकिक जगत में जब व्यवहार की बात आती है तो व्यक्ति लौकिक मापदण्ड से उन्हें निभाता है । उदाहरण के लिए, यदि कोई सांख्य पढ़ाना चाहे तो पुस्तक में जो लिखा है वैसा ही पढ़ाना चाहिए । ऐसा नहीं कि अध्यापक सम्पूर्ण विषय वस्तु को तोड़ मरोड़कर कर अपनी विभिन्न व्याख्या करे । वह एक अलग बात है आप कहे कि "वैष्णव ऐसा कहते हैं"। लेकिन यह अध्ययन उस दर्शन के मानकों के अनुसार ही पढ़ाना चाहिए । इसी प्रकार यदि कोई लौकिक व्यवहार कर रहा है तो वह व्यावहारिक नियमों के अनुसार ही चले ।

जहाँ तक कालक्रम और पार्श्व समय की बात है तो हमें यह समझना होगा कि समय के सन्दर्भ में पाश्चात्य दृष्टिकोण पारम्परिक भारतीय दृष्टिकोण से अत्यन्त भिन्न है । पाश्चात्य विचारसरणी ईसाई धर्म से प्रभावित है, जो रेखाबद्ध क्रम से समय मानते हैं, न कि चक्रीय समय । वे सृष्टि के एक ही सृजन और एक ही जीवन काल को मानते हैं । (अर्थात् पुनर्जन्म नहीं मानते) । जब कि भारतीय ज्ञान विचार में जीवन एक कालचक्र है एवं हम जन्म और पुनर्जन्म और एक शाश्वत जीवन में विश्वास रखते हैं । सत्ययुग केवल एक बार नहीं आता है । सत्ययुग से पहले कलियुग था और वर्तमान में कलियुग चल रहा है, इसके बाद पुनः सत्ययुग आयेगा । वेद और पुराण घटनाओं का कालानुक्रमिक वर्णन नहीं दे रहे हैं । विभिन्न काल में विभिन्न युगों में से (छुटक - छुटक) घटनाओं का वर्णन करते हैं । यह रेखाबद्ध कालक्रम सोच से परे है । वेद और पुराणों में इन कालानुक्रम घटनाओं का वर्णन हो सकता है । किन्तु वह उनका उद्देश्य नहीं है । इनका मुख्य उद्देश्य ईश्वरवाद और दर्शन सिखाना है। इसीलिए पाश्चात्य विद्वान वेदों के बारे में कालक्रम की धारणा करते हैं, वह मूलभूत में ग़लत है । अतः धार्मिक पथ के साधकों के लिए ऐसे विद्वानों के निष्कर्ष का कोई महत्त्व नहीं है।

******

प्रश्नः वर्तमान समय में कृष्ण भक्ति को एक शैक्षणिक परिस्थिति में बताना क्या यह उपयोगी सेवा है ?
उत्तरः हाँ, यह सेवा है ।   ******

२. अचिन्त्य भेदाभेद

प्रश्नः क्या आप बता सकते हैं कि भगवान कैसे विभिन्न प्रकार के भेदों से रहित है ?
उत्तरः भगवान के पास शक्ति है, तथा शक्ति और शक्तिमान के बीच कोई भेद एवं अभेद नहीं है । एकमात्र उनका ही अस्तित्व है और वे सभी शक्तियों से युक्त हैं । तब आप यह नहीं कह सकते कि उन शक्ति और शक्तिमान दोनों में अत्यन्त भेद है और न यह कह सकते कि दोनों में अत्यन्त अभेद है (दोनों एक दम अभिन्न हैं ।) वास्तव में न भेद है और न अभेद । यह सोचना अपरिहार्य है कि भगवान व उनकी शक्तियों में एक साथ भेद और अभेद दोनों हैं । वे एक भी हैं और भिन्न भी हैं क्योंकि वास्तव में इसकी कोई समुचित व्याख्या नहीं हो सकती ।   ******

प्रश्नः अतः अन्य सभी वैष्णव दर्शन क्या इस अवधारणा में अपूर्ण हैं ?
उत्तरः अन्य दर्शन प्रायः विभिन्न शब्दों द्वारा भेद और अभेद का वर्णन करने का प्रयास करते हैं । अगर आप उनका गहराई से विश्लेषण करें तो आप देख पायेंगे कि उनमें से प्रत्येक भिन्न और अभिन्न दोनों को साथ-साथ स्वीकार करते हैं ।
उदाहरण के लिए - प्रथम विशिष्टाद्वैत को लेते हैं । विशिष्ट शब्द का अर्थ ही होता है विशेषण से युक्त । प्रश्न उठता है कि किस से विशिष्ट बताता है ? विशिष्ट के साथ क्या विशेषण है ? तब आप कह सकते हैं कि यह तत्त्व माया शक्ति और जीव शक्ति से विशिष्ट है । फिर प्रश्न उठता है कि किस सम्बन्ध से वह विशिष्ट है ?

मूलरूप से सम्बन्ध दो प्रकार के हैं - संयोग सम्बन्ध अर्थात् भौतिक सम्पर्क और समवाय सम्बन्ध अर्थात् आन्तरिक सम्पर्क । ये दोनों ही असम्भव हैं । संयोग दो अलग अलग वस्तुओं के स्पर्श से होता है । ऐसा मानने पर माया व जीव दोनों ही उसकी अपनी शक्ति नहीं हो सकती । यदि आप समवाय सम्बन्ध लेते हैं तो यह माया परमतत्त्वका स्थायी गुण होगा क्योंकि समवाय सम्बन्ध से पदार्थ में उसका गुण स्थायीरूप में रहता है – जैसे कि चीनी की मिठास । इस कारण संसार के सारे अवगुण परमतत्त्व भगवान में समाहित हो जायेंगे । अतः अपृथक्-सिद्धि नाम का एक अलग सम्बन्ध स्वीकारना पड़ता है (जिसका अर्थ भेद में अभेद है) ।

इसी प्रकार जब भेदाभेद सिद्धान्त को मानते हैं तब यह नृसिंह भगवान की तरह है जिसका एक भाग सिंह जैसा है और दूसरा भाग एक मानव जैसा है, किन्तु परतत्त्व दो भाग में विभाजित नहीं है । अतः यह स्वाभाविक शब्द द्वारा विशिष्ट किया गया है किन्तु इसे स्वाभाविक भेदाभेद कहा जाये तो माया की वज़ह से परमतत्त्व सीमित होता है, उसे निरस्त नहीं किया जा सकता ।

यदि आप श्री वल्लभाचार्य के सिद्धान्त को शुद्धाद्वैतवाद कहते हैं तब प्रश्न उठता है कि अशुद्ध अद्वैतवाद क्या है । किसी वस्तु में विशेषण उसे दूसरी वस्तुओं से भिन्न बताने के लिए लगाते हैं । अतः यदि तत्त्व-वस्तु शुद्ध-अद्वैत है, तब अशुद्ध-अद्वैत क्या है ?

भगवान अचिन्त्य है, तर्क से परे है और शास्त्रैक्य-गम्य है । अर्थात् वे केवल शास्त्र से ही जाने जा सकते हैं, अकेले तर्क से नहीं । जैसे कि अग्नि की दाहक शक्ति है । यह अग्नि में रहती है । यह उसका अपना स्वरूप है । यह दाहक शक्ति अपने स्वरूप से परे नहीं है और न इसका स्वतन्त्र अस्तित्व हो सकता है । इस अर्थ में यह एक है । फिर भी ताप (उष्णता) और अग्नि बिल्कुल एक नहीं है । इसी तरह भगवान की अनेक शक्तियाँ हैं एवं उसमें विविधता है जिसका हम सब प्रत्यक्ष अनुभव करते हैं तथापि परम-तत्त्व एक है । यह हम केवल शास्त्र से जान सकते हैं । अतः अन्य सभी दर्शनों की व्याख्याएँ तर्क पर आधारित हैं । यद्यपि वे सभी शास्त्र आधारित प्रमाण देते हैं लेकिन यह परम तत्त्व तर्क की पहुँच से परे है । कोई भी व्यक्ति परम-तत्त्व के अचिन्त्य गुण को अस्वीकार नहीं कर सकता । सभी दर्शनों ने परम-तत्त्व का अचिन्त्य लक्षण स्वीकार किया है ।

अद्वैतवाद भी प्रतिपादित नहीं हो सकता क्योंकि अद्वैतवाद का अर्थ होता है कि जो द्वैत नहीं है (दूसरा नहीं है) वह अद्वैत है और "न द्वैत इति अद्वैतः"। (यहाँ नञ् समास के नकार का छः प्रकार का अर्थ बताया गया है अर्थात् 'नकार' शब्द (अ अद्वैत में) के छः भिन्न-भिन्न अर्थ है -

१. द्वैत के सदृश है ।
२. द्वैत का अस्तित्व नहीं है ।
३. द्वैत अल्प मात्र में है ।
४. द्वैत से भिन्न है । (यह एक या तीन या चार भी हो सकता है)
५. बहुत अच्छा द्वैत नहीं है ।
६. द्वैत के विपरीत है ।

इनमें से कोई भी अर्थ अद्धैतवाद को सिद्ध नहीं कर सकता है । अगर आप अद्वैत कहते भी हो तो इसका अर्थ है जो दो नहीं हैं अर्थात् द्वैत नहीं है, जिसका अर्थ होता है पूर्ण रूप से दो के अस्तित्व का अभाव (२) । आप तब तक दो का अभाव नहीं कह सकते हो, जब तक दो की विद्यमानता न हो । आप किसी वस्तु के अस्तित्व को नहीं नकार सकते यदि वह वस्तु अस्तित्व में कभी थी ही नहीं । जो कभी अस्तित्व में ही नहीं थी, तब इस कथन का कोई अर्थ नहीं होता है कि यह वस्तु नहीं है । जब भी आप यह कहते हैं कि कोई वस्तु विद्यमान नहीं है तो इसका अर्थ हुआ है कि इसका भूतकाल, वर्तमान, अथवा भविष्य में कहीं अस्तित्व था, है या होगा । यदि यह कभी अस्तित्व में नहीं थी, अब भी कहीं भी अस्तित्व में नहीं है, और भविष्य में भी कभी नहीं होगी, तब आप यह कभी नहीं कह सकते कि "यह अस्तित्व में नहीं है" । अतः आप जब किसी वस्तु का अभाव स्वीकार करते हैं तो इसका सीधा-सा अर्थ हुआ कि आपको सर्व प्रथम उसके अस्तित्व को स्वीकार करना होगा । इसलिए अद्वैत की सम्भावना नहीं है जब तक द्वैत स्वीकृत न हो और यदि अद्वैत परतत्त्व है तो द्वैत भी परतत्त्व है ।

इसी प्रकार अद्वैत शब्द के अन्य सभी अर्थ यथा - "द्वैत के सदृश भी अद्वैतवाद सिद्ध नहीं करते हैं" ।

******

३. अचिन्त्य शक्ति – शास्त्रैक्य-गम्य

प्रश्नः हम अचिन्त्य शक्ति को कैसे समझे?

उत्तरः अचिन्त्य शक्ति को केवल शब्द प्रमाण से समझा जा सकता है, किसी व्यक्ति विशेष की इन्द्रियों द्वारा नहीं । यह मात्र शास्त्रैक्य-गम्य है । यह ठीक हरीतकी फल की तरह है जो एक ही समय में विधातु जन्य (वात, पित्त, व कफ़) के त्रिदोषों को एक साथ शमन करती है (शरीर में साम्यावस्था लाती है) । तर्क से यह समझना कठिन है। कोई भी व्यक्ति ऐसी कल्पना कर सकता है कि एक वस्तु एक साथ तीन (परस्पर विरोधी) दोषों को दूर कर सके । जो औषधि एक दोष को दूर कर सकती है तो वह किसी दूसरे दोष को कुपित करेगी जैसे जो पित्त को शमन करेगी वह कफ को विषम भी करेगी । किन्तु हरीतकी में (हर्र) वात, पित्त, कफ जन्य तीनों दोषों को एक साथ शमन करने की अचिन्त्य शक्ति है । यह हम केवल शास्त्रसे जानते हैं ।

******

४. अध्ययन

प्रश्नः गौड़ीय सम्प्रदाय में भी ऐसा क्यों है कि गोस्वामियों के साहित्य का अध्ययन करना और शिक्षा देना लुप्त होता जा रहा है, जो पूरे सम्प्रदाय की नींव है । यहाँ तक

कि वास्तव में यह साहित्य पाना भी कठिन हो गया है, तो उन्हें पढ़ने की तो बात ही कैसे करें ?

उत्तर: ऐसा होता है क्योंकि अयोग्य लोग इस (भक्ति) मार्ग को अपनाते हैं । अयोग्य व्यक्ति शारीरिक पोषण में ही रुचि रखता है । यह मार्ग शिक्षित एवं शिष्ट लोगों के लिए हैं और अशिक्षित लोग इस मार्ग को अपनाते हैं, जिनको शास्त्र और उनके अध्ययन में कोई रुचि नहीं होती है । उन की रुचि मात्र अपनी उदरपूर्ति में ही होती है। उदाहरण स्वरूप भीष्म से पूछा गया था, "आप कौरवों का साथ क्यों दे रहे हो, जो अधर्म मार्ग पर है ?" उन्होंने कहा, "व्यक्ति धन का दास है और इसका विपरीत (याने धन व्यक्ति का दास) नहीं है क्योंकि मैं ने कौरवों का भोजन खाया है अतः मुझे उनका साथ देना है ।" यह संवाद समर्थन करता है कि यदि कोई अपने देहपोषण के लिए आसक्त हो तब वह कभी सत्य नहीं बोलेगा । ऐसे लोग केवल अपने देह को ही प्राधान्य देंगे । प्रायः ऐसा ही होता है ।

बौद्ध धर्म में यह तीन प्रख्यात विधान है: धम्मं शरणं गच्छामि, बुद्धं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि ("मैं धर्म की शरण लेता हूँ, मैं बुद्ध की शरण लेता हूँ, मैं बौद्ध समाज की शरण लेता हूँ") सर्व प्रथम कहा है धर्म - यदि लोग धर्म का पालन करते हैं तो हर वस्तु यथावत् रहेगी । जब धर्म क्षीण होता है, तब किसी विशेष व्यक्ति को प्राधान्य दिया जाता है । धर्म-ग्लानि हो जाने पर उस व्यक्ति का महत्त्व बढ़ जाता है । इसे कहते हैं व्यक्ति-वाद । दूसरा चरण है किसी समूह या समाज को प्राधान्य देना । जब ऐसा होता है तो सब कुछ खिचड़ी हो जाता है । आप की समझ में नहीं आता कि यह क्या हो रहा है, मानो कि धर्म को कूडे में फेंक दिया है । अपने और अन्य सम्प्रदायों में ऐसा ही हुआ है । जब लोगों को रुचि ही न रही हो तो कौन अपनी संस्कृति की रक्षा करेगा ?

गुरोर् अवज्ञा, श्रुति शास्त्र निन्दनं - सर्व प्रथम आरम्भ होता है गुरु-अपराध और फिर शास्त्रों का अनादर । जब शास्त्रका अनादर होता है तब शास्त्र लुप्त हो जाते हैं ।

******

प्रश्न: प्राचीन समय में गुरु से शास्त्रों का अध्ययन करने की क्या पद्धति थी ?

उत्तरः जैसे अर्वाचीन समय में महा-विद्यालय में अध्ययन कराते हैं, वैसे ही गुरु से पढ़ते थे ।

******

प्रश्नः मैं जिज्ञासु हूँ कि वे कैसे एक ही बार सुनने से सब कण्ठस्थ कर लेते थे, और इसकी आवृत्ति करते थे, एवं आगे के विषयादि का अध्ययन करते थे ।

उत्तर: शिष्यों को गुरु के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता था । उन्हें अपने गुरु के प्रति आदर होता था और आश्रम में वहीं उनके साथ रहते थे और अध्ययन करते थे । वे अपना अध्ययन वर्णमाला से शुरू करते थे, फिर व्याकरण और बाद में शब्दकोश सीखते थे। पहले[1] उन्हें भाषा में प्रभुत्त्व लाना होता था । उसके बाद वे दर्शन शास्त्र व वेद की किसी एक शाखा का अध्ययन करते थे । प्रत्येक व्यक्ति का वेद की किसी एक शाखा से सम्बन्ध था । उस शाखा का वह अध्ययन करता था । उसके बाद वे अपने वर्ण के अनुरुप शास्त्रों का अध्ययन करते थे । ******

प्रश्न: आपने कहा कि वे दर्शनों का अध्ययन करते थे । क्या इसका अर्थ होता है कि वे षड् दर्शन का अध्ययन करते थे ?

उत्तर: हाँ ।   ******

प्रश्न: क्या वेद का अभ्यास करने से पहले वे षड्-दर्शन का अध्ययन करते थे ?

उत्तर: हाँ । अध्ययन के समय शिष्य अविवाहित होते थे अतः उसे ब्रह्मचर्याश्रम कहते हैं । अध्ययन समाप्ति के बाद वे गुरु आश्रम त्याग कर गृह में प्रवेश करते थे एवं तत्पश्चात् विवाह करते थे ।   ******

प्रश्न: क्या वे भक्ति-शास्त्र का भी अध्ययन करते थे या केवल धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के विषय का ही अध्ययन करते थे ?

उत्तर: वे किसी भी वैष्णव शास्त्र का अध्ययन नहीं करते थे । सब अध्ययन वर्णाश्रम से सम्बन्धित था । गायत्री मुख्य मन्त्र था ।   ******

प्रश्न: आजकल गुरु से शास्त्र अध्ययन करना कैसे सम्भव है, विशेष कर पश्चिम के लोगों को जिन्हें संस्कृत भाषा भी नहीं आती है ?

उत्तर: संस्कृत भाषा का अध्ययन करे ।   ******

प्रश्न: मेरा प्रश्न यह नहीं है कि मैं संस्कृत सीखना नहीं चाहता हूँ, परन्तु मैं जानना चाहता हूँ क्या यही पद्धति है ? क्या वास्तव में संस्कृत सीखा जाय और गुरु से अध्ययन किया जाय ? क्या यह ठीक होगा ?

---

[1] संस्कृत के विद्यार्थियों को शब्दकोश भी कण्ठ करना पड़ता था । वास्तव में अनेक शब्दकोश हैं, जिनमें अधिक प्रचलित अमरकोश है । कुछ शिष्य थोड़े शब्दकोश याद कर पाते थे । ये सभी शब्दकोश श्लोक के रूप में हैं और जिनकी तुलना आधुनिक समय के ज्ञानकोश (डिक्सनरी) से की जाती है ।

उत्तर: यदि आप को अध्ययन करना है तो आपको वह सीखना होगा । मैं ने वैसा ही कहा था; सब से पहले आप भाषा सीखो, चाहे आप विदेशी हो या भारतीय हो । भारतीयों को भी संस्कृत सीखनी होती है । रीति सबके लिए एक ही है । सबसे पहले भाषा सीखनी होती है, फिर दर्शनों का अध्ययन करना होता है । यदि आप भाषा ही नहीं जानते हो तो अध्ययन कैसे करोगे ? ******

प्रश्न: विना संस्कृत सीखे या इस प्रकार अध्ययन किए विना आध्यात्मिक जीवन में क्या कोई प्रगति कर सकता है?

उत्तर: भक्ति में प्रगति होना संस्कृत या अन्य भाषा का ज्ञान होने पर आधारित नहीं है। भक्ति ऐसी वस्तु पर आधारित नहीं है क्योंकि भक्ति वर्णाश्रम धर्म से भिन्न है ।
भक्ति में मुख्य बात है गुरु और शास्त्रों में श्रद्धा होना । आप गुरु को समर्पित हो जाओ और उसके आदेश का पालन करो, बस यही ज़रूरी है । आप चाहे भक्ति को संस्कृत सीख कर पाएँ या बिना संस्कृत सीख कर पाएँ, इसमें कोई भेद नहीं होता । सब को इस मार्ग पर चलने का अधिकार है । भक्ति, जो संस्कृत जानते हैं, या जिसने वर्णाश्रम में जन्म लिया है, या फिर केवल पुरुष है, उन के लिए ही सीमित नहीं है । ऐसे मार्ग है जो स्त्रियों के लिए निषिद्ध है, पर भक्ति में ऐसा नही है ।

श्री चैतन्य महाप्रभु ने कहा है कि भक्ति में सभी मानवों का अधिकार है और इसके लिए अति आवश्यक है श्रद्धा । यह शुरुआत है और फिर स्वतन्त्र होने की मानसिकता त्याग कर बिना किसी लौकिक उद्देश्य से गुरु को अपना सर्वस्व स्वीकार कर उनकी सेवा करें । यही योग्यता है । यह किसी भी माध्यम या भाषा से समझा जाय बस इतना ही आवश्यक है ।

ऐसा नहीं है कि यदि आप को संस्कृत भाषा की जानकारी है, तभी आप भक्त बन सकते हो । ऐसे बहुत सारे लोग हैं जो संस्कृत जानते हैं, परन्तु भक्त नहीं है । अतः संस्कृत की जानकारी हो या और कुछ, जैसे कि काव्य, छन्द, या मन्त्रोच्चार, इसका भक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि भक्ति श्रीकृष्ण की उपासना की विधि है । हमें उनकी पूजा और सेवा करनी चाहिए । पूजा किसी भी बाह्य वस्तु पर आधारित नहीं है, जैसे कि संस्कृत भाषा या साहित्य का ज्ञान होना । वह केवल आप की श्रद्धा पर आधारित है । यदि किसी का कार्य दूसरों के सन्देह दूर करना है, जैसे गुरु करते हैं, तो उन्हें यह (संस्कृत आदि का) ज्ञान होना आवश्यक है । यदि गुरु के पास यह ज्ञान नहीं है तो वह अपने शिष्यों के सन्देह को कभी दूर नहीं कर पाएँगे । अपने शिष्यों को

सिखाने के लिए गुरु के पास ज्ञान होना अति आवश्यक है । परन्तु जहाँ भक्ति की बात है, संस्कृत जानना आवश्यक नहीं है ।

गुरु की क्या योग्यता होनी चाहिए उसका वर्णन श्रीमद् भागवत (११.३.२१): "तस्माद् गुरुं प्रपद्येत्" श्लोक में किया है। यह कहता है कि गुरु को शब्द ब्रह्म यानि कि शास्त्र में निपुण होना चाहिए, परन्तु ऐसा एक शिष्य के लिए नहीं कहा है । गीता (४.३४) में एक शिष्य की योग्यता का वर्णन है । शिष्य की योग्यता है कि अपने गुरु पर श्रद्धा रखे एवं कपटरहित होकर उनकी सेवा करे ।

५. अनर्थः

प्रश्नः क्या अनर्थ का अर्थ गुरू और कृष्ण से भिन्न इच्छा रखना है ?

उत्तरः अनर्थ का अर्थ होता है ऐसी कोई वस्तु जिसका अर्थ नहीं है अथवा वह जो हमारा चरम लक्ष्य नहीं है । अनर्थ यानि कि जिसको हम नहीं चाहते हैं । ******

प्रश्नः यदि हमारी इच्छा आनुकूल्य भावसे सेवा करने की है, परन्तु सेवा में कुछ त्रुटियाँ हों तो क्या हम अनर्थ से मुक्त हैं ?

उत्तरः प्रथम अनर्थ क्या है यह समझने का प्रयास करो और तब उसका उत्तर स्वयं स्फुरित होगा । अनर्थ का अर्थ होता है कि कुछ वस्तुएँ जो कृष्ण-भक्ति के लिए अभीष्ट नहीं है, जो कृष्ण-प्रसन्नता के लिए अवाञ्छनीय है, चाहे यह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हो, यह सब अनर्थ है । इस कारण आप को प्रथम निश्चित करना होगा कि आप की इच्छा शुद्धा भक्ति के लिए है या कुछ अन्य प्रयोजन के लिए । ******

प्रश्नः अनर्थ क्या है और इससे मुक्ति कैसे मिल सकती है ?

उत्तरः अनर्थ पांच प्रकार के हैं - अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश । अविद्या का अर्थ है जो वस्तु वास्तविक नहीं है, उसे वास्तविक रूप से विचार करना या मान लेना अथवा मिथ्या को सत्यरूप स्वीकार कर लेना । अस्मिता का अर्थ है अहङ्कारवशात् इस देह में दृढ़ आसक्ति हो जाना । उसके कारण, इन्द्रिय विषयों में उत्कट इच्छा होना राग है । तब उन में उसकी आसक्ति हो जाती है । अगर व्यक्ति को विषय प्राप्ति की इच्छाओं में कोई बाधा आती है, तब वह इच्छा प्राप्ति की बाधा को दूर करने के लिए प्रयत्न करता है और इस प्रकार उसके लिए द्वेष का भाव उदय होता है। इस प्रकार राग और द्वेष का द्वैत आता है । मृत्यु का भय ही अभिनिवेश है क्योंकि व्यक्तिको इस शरीर से लगाव हो जाता है । ये अनर्थ कहलाते हैं । इनको कैसे हटाया

जाय इसका उपाय भागवत के ११/२/३७ श्लोक में वर्णित है । "तन्माययातो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा" ।। "ईश्वर-विमुख पुरूष को प्रभुकी माया से अपने स्वरूप की विस्मृति हो जाती है । इस विस्मृति के कारण ही "मैं देवता हूँ, मनुष्य हूँ" इस प्रकार का भ्रम, विपर्यय हो जाता है । इस देहादि अन्य वस्तु में अभिनिवेश होने के कारण वृद्धावस्था, रोग, मृत्यु आदि से भय होता है । अतः अपने गुरूदेव को ही परम प्रियतम आराध्य-देव मानकर अनन्य भक्ति से ईश्वर का भजन करना चाहिए ।"

देह में अभिनिवेश (अति-आसक्ति) से भय आता है । तब उस से विपर्यय अर्थात् असत्य में सत्य की प्रतीति का भ्रम अर्थात् अयथार्थ वस्तु को यथार्थ वस्तु मान लेने की गलति होती है । तब परतत्त्व की विस्मृति हो जाती है । ये सभी अनर्थ केवल श्री गुरुदेव की शरण लेने से और उनकी सेवा से ही दूर होते हैं । गुरु में भगवद् बुद्धि से व्यवहार करना होता है, तब यह अविद्या, अज्ञान स्वतः ही दूर भाग जायेगा । कोई भी साधक गुरु के साथ वैसा ही व्यवहार करे, जैसा यदि उन को श्रीकृष्ण मिल जाय तो उन से जिस प्रकार व्यवहार करेगा । हमारा व्यवहार उनके साथ निष्कपट, भावपूर्ण, सच्चा, सत्यनिष्ठ, सम्मानपूर्ण होना चाहिए और तब उनके निर्देशों का पालन करें एवं उनकी सेवा भलीभाँति करें । इस प्रकार की गुरुभक्ति साधक की भक्ति की परीक्षा है । यदि कोई अपने गुरु के प्रति इस प्रकार शरण ग्रहण कर लेता है, तब उसकी अविद्या दूर हो जायेगी और उसकी अनर्थ निवृत्ति भी हो जायेगी । इस विषय का वर्णन निम्नलिखित श्लोकों में किया गया है ।

आदौ श्रद्धा ततः साधुसंङ्गोऽथ भजनक्रिया ।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः ।।
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति ।
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः ।। (भ.र.सि.१.४.१५-१६)

पहले श्रद्धा होती है जिसका अर्थ है शास्त्र में दृढ़ विश्वास और फिर उसका अनुसरण करने का सङ्कल्प । उसके बाद साधुसङ्ग होता है । यद्यपि साधुसङ्ग का अक्षरशः अर्थ होता है, साधु का साहचर्य । तथापि यहाँ साधु शब्द का वास्तविक अर्थ गुरू है इसीलिए साधुसङ्ग का अर्थ हुआ गुरु शरणागति, गुरू की शरण ग्रहण करना । साधुसङ्ग का अर्थ हुआ गुरु से दर्शन की शिक्षा ग्रहण करना । इसके बाद भजन क्रिया आती है, अर्थात् सेवा । मूलतः भजन क्रिया का अर्थ होता है गुरु की सेवा, न कि जप करना और माला लेकर जहाँ तहाँ भ्रमण करना । ऐसा उदाहरण शास्त्र में नहीं है । जब हम गोपी, पाण्डव और विदुर आदि भक्तों के जीवन को देखते हैं तो ऐसा वर्णन

नहीं है कि वे कभी हाथ में माला झोली लेकर इधर उधर घूमते हैं । लेकिन उन्होंने हमेशा भगवान की समर्पित भाव से सेवा की । आधुनिक मनुष्य भजन और सेवा को अलग अलग मानता है । वे सोचते हैं कि सेवा से भजन अलग है । आलसी मनुष्य, जो सेवा नहीं करना चाहते वे इस प्रकार की विचारधारा का प्रचार करते हैं । वे केवल भजन में रुचि रखते हैं और भजन करने का अर्थ होता है तुम अपने हाथ में माला झोली लेकर सो जाओ । अतः यह अनर्थ निवृत्ति की प्रक्रिया नहीं है ।

भजन और सेवा दोनों भिन्न नहीं है । भजन शब्द का अर्थ भी सेवा है । लेकिन मनुष्य आजकल सोचते हैं कि अगर आप जप कर रहे हैं तो यह भजन है । और अगर कोई कुछ काम करता है तो वह है सेवा । वास्तव में जो शिष्य गुरु सेवा करता है उस के लिए किसी भी प्रकार से किसी अन्य साधना की कोई आवश्यकता नहीं है । यह एक साधारण प्रक्रिया है जो हमारे आचार्यों द्वारा प्रचारित की गई है । किन्तु मनुष्य इसका अनुसरण नहीं करता है । वे अन्य सभी रीतियों को अपनाते हैं अतः अनर्थ निवृत्ति नहीं होती है ।

यदि कोई इस भागवत श्लोक का पालन करता है तो उसकी अविद्या का नाश हो जाता है । जब अविद्या नष्ट हो गयी तो इससे उत्पन्न राग, द्वेष और अभिनिवेश भी भाग जाते हैं क्योंकि ये समस्त अविद्या से ही आता है । इसका अर्थ होता है अनर्थ निवृत्ति से मुक्त हो जाना ।

******

प्रश्नः क्या कोई व्यक्ति स्वप्नावस्था में अनर्थ और कर्मफल से मुक्त हो जाता है ?
उत्तरः आपने जो सुना वही आप देखते हैं । जो देखा और जो किया वही आप स्वप्न में देखते हैं । आपके हृदय में जो पूर्व संस्कार है वही फलतः स्वप्न है । स्वप्न से कोई और विशेष कर्म उत्पन्न नहीं होता है इस अर्थ में कर्म नष्ट होता है । ******

प्रश्नः जब अनर्थों की निवृत्ति होती है तो क्या इस की अनुभूति होती है ?
उत्तरः भक्ति साक्षात् अनुभव का विषय है । यह अन्ध-विश्वास पर नहीं चलती है । ऐसा नहीं है कि जो कुछ इसके विषय में पढ़ा व सुना है, वह बाद में अनुभव होगा । आप स्वयं इसको वर्तमान जीवन में अनुभव कर सकते हैं, भावि जीवन में नहीं । जैसा कहा गया है कि जब कोई व्यक्ति भजन क्रिया में संलग्न हो जाता है तो उसके साथ ही उसकी अनर्थ निवृत्ति हो जाती है । प्रथम आपको समझना है कि अनर्थ क्या है, और तब जानना है कि इन सभी अनर्थ को कैसे हटाया जा सकता है । अनर्थ पाँच प्रकार के हैं- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश । पहला अनर्थ है अविद्या अर्थात्

क्षणिक वस्तुओं को यथार्थ मान लेना और जो यथार्थ नहीं है उस को यथार्थ, यानि कि सत्य की प्रतीति होना अर्थात् असत्य को सत्य मान लेना ही अविद्या है । अस्मिता अर्थात् देहाभिमान । देह में आसक्ति के कारण राग होता है । द्वेष अर्थात् उस वस्तु के प्रति घृणा जो आप की इन्द्रिय-सुख में बाधक बनती है, जिसे आप दूर करना चाहते हैं । इस देह को ही सर्वस्व मान लेना, इसी के साथ घुल मिल जाना अभिनिवेश है । जिसका परिणाम मृत्यु का भय आदि है ।

जब कोई भजन क्रिया में संलग्न हो जाता है तो ये समस्त अनर्थ दूर हो जाते हैं । यथा "तन्माययातो बुध आभजेत् तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा" । (भा. ११/२/३७). जब आप गुरु सेवा करते हो, जो आत्मा के समान प्रिय है और पूजनीय इष्टदेवता भी है तब आप में कोई स्वतन्त्र-भाव नहीं है । सेवा करने से ही इस यथार्थ का आपको ज्ञान होता है। इस में आपको यह भ्रम नहीं होता है कि "मैं स्वयं देह हूँ और देह स्वयं मैं हूँ "। तब आपकी आसक्ति गुरु के सम्बन्ध से होती है क्योंकि आप स्वतन्त्र नहीं है । यहाँ तक कि जो भी आप खाते हैं, वह आप कृष्ण को समर्पित करके ग्रहण करेंगे । जब आप नवीन कपड़ा पहनना चाहते हैं तो वह भी कृष्णार्पित करने के बाद पहनेंगे । भक्त के राग और द्वेष भी स्वतन्त्र नहीं है और अस्मिता भी नहीं अर्थात् देह में "मैं" का अहम्भाव भक्त में नहीं होता है । कृष्ण और गुरु से स्वतन्त्र अस्मिता होगी ही नहीं, एवं मृत्यु भय भी नहीं होगा क्योंकि वह जानता है कि वह देह से भिन्न एक आत्मा है ।

यह सब प्रत्यक्ष अनुभव की वस्तु है । जब कोई भी भक्त सेवा करता है, तो उसको इन सब का साक्षात् अनुभव होता है । इसीलिए यदि अनर्थ दूर हो रहे हैं, तब आप स्वयं उसको जानोगे । अन्य किसी व्यक्ति को कहने की आवश्यकता नहीं है । ......

प्रश्नः मेरी यह धारणा है कि मैं सेवा करने का प्रयत्न कर रहा हूँ और गोसेवा करता हूँ, तो मेरे अनर्थ और अधिक दृढ़ हो रहे हैं । वे मन में उठते हैं और अधिक चुभते हैं । वे मुझे परेशान करते हैं तब मैं सोचता हूँ कि दूसरों को भी करते होंगे । मैं क्या करूँ?

उत्तरः यह स्वाभाविक है, कि जब कोई सेवा करता है तब सभी अनर्थ प्रकाश में आते हैं । इसका कारण है, अनादि काल से इनका अभ्यास करते चले आ रहे हैं । उन में हमारी रुचि है किन्तु सेवा में रुचि नहीं है । अतः स्वभावतः वे सब बाहर प्रकट हो जाते हैं । यदि हम सेवा में रुचि बढ़ाते हैं, तब ये अनर्थ नहीं आयेंगे । हम निरन्तर सेवा करते रहें यही एक मात्र उपाय है, दूसरा कोई समाधान नहीं है । यदि हम निरन्तर

सेवा कार्य करते हैं तो सेवा के नए संस्कार उत्पन्न होंगे जो दूसरे संस्कारो से दृढ़ होंगे। ऐसा करने से अनर्थ कमजोर हो जायेंगे ।

यदि आप सेवा पसन्द करते हैं तो अनर्थ शीघ्र ही नष्ट हो जायेंगे । किन्तु हम सेवा करने में रुचि नहीं रखते, किन्तु हमारी रुचि उन वस्तुओं में हैं, जिनका हमने भूतकाल में अभ्यास किया है । तब वे अनर्थ स्वाभाविक रूप से आयेंगे । अनर्थ के विषय में सोचने की वजाय हमें सेवा के विषय में सोचना चाहिए । तब हमारी सेवा ही मुख्या होगी और अनर्थ कमजोर पड़ जायेंगे । अतः भक्त निरन्तर सेवा करें । ये अनर्थ एक दिन में दूर नहीं होंगे । किन्तु अगर कोई भक्त सेवा में रुचि लेना प्रारम्भ कर देता है, तो अनर्थ तुरन्त नष्ट हो जाते हैं । ******

प्रश्नः हृदय की ग्रन्थि का मूल कारण क्या है ?
उत्तरः हृदय की ग्रन्थि का मूल कारण अविद्या है, जिसका अर्थ है कि मूल रूप से देह और देह से सम्बन्धित वस्तुओं के साथ तादात्म्य स्थापित करना ।

शरीर का अर्थ यहाँ सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर दोनों से है, जिस में अंहकार समाहित है, अथवा "मैं कर्ता हूँ, मैं सुखी रहूँ," यह भाव रहता है । यह मूल अविद्या पाँच प्रकार से प्रकट होती है, - अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश, अथवा जैसा कि श्रीमद्भागवत् के तृतीय स्कन्ध में वर्णित है - तम, मोह, महामोह, तामिस्त्र और अन्ध-तामिस्त्र ।

ससर्जच्छाययाविद्यां पञ्चपर्वाणमग्रतः ।
तामिस्त्रमन्धतामिस्त्रं तमो मोहो महातमः ।। (भा. ३/२०/१८)

सर्व प्रथम ब्रह्मा जी ने अपनी छाया से पाँच प्रकार के अज्ञान की सृष्टि की. तामिस्त्र, अन्धतामिस्त्र, तामस, मोह और महामोह ।
सामान्यतः स्वयं को शरीर मानना (देह-आत्माको एक मानना) अथवा "यह शरीर मेरा ही है", इस भाव को हृदय-ग्रन्थि कहते हैं । इसका वास्तविक अर्थ है मन की गाँठ क्योंकि हृदय और मन पर्यायवाची है । ******

प्रश्नः श्रीमद्भगवद् गीता कहती है कि हृदय ग्रन्थि ज्ञान रूपी तलवार से काटी जा सकती है । क्या इस हृदय ग्रन्थि को श्रीकृष्ण स्वयं काट देते हैं ?
उत्तरः हाँ, क्योंकि सभी ज्ञान सर्वदा उनसे ही आता है । ******

प्रश्नः मैं ने सुना है कि केवल भक्ति का आचरण करने से समस्त अवाँच्छित तत्त्व स्वतः ही दूर हो जाते हैं । क्या यह सत्य है ? या अनर्थ निवृत्ति के लिए सचेत होकर कर्म करें ?

उत्तरः भक्ति मार्ग में अनर्थ निवृत्ति यानि कि अवाँच्छनीय वस्तुओं को दूर करने के लिए अलग से प्रयास की आवश्यकता नहीं है । वे भक्ति से स्वतः ही नष्ट हो जायेंगे। भक्ति भगवान की अन्तरङ्गा शक्ति है और माया भी भगवान की ही अनेक शक्तियों में से एक है । माया से अनर्थ आते हैं, किन्तु अन्तरङ्गा शक्ति पर माया अपना प्रभाव नहीं डाल सकती । जैसा कि श्रीकृष्ण (गीता ७/१४ में) कहते हैं:- "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते", "जो मेरी ही शरण में आते हैं, वे इस माया से पार हो जाते हैं"। ऐसा नहीं है कि आपने शरणागति ली, और माया के पार होने के लिए आपको कुछ और करना पड़े । आपको पृथक से प्रयास करने की कोई आवश्यकता नहीं है । "मैं शरीर हूँ," इस अज्ञान से अन्ततः अनर्थ आते हैं । अन्ततः सभी अनर्थ का अस्तित्व अविद्या से है और जिसकी पहचान है शरीर में अहम्भाव । परन्तु जब आप एक भक्त हो गए तब आप देह में अहम्भाव नहीं करते हैं एवं अज्ञानता दूर हो जाती है । इसीलिए अनर्थ के होने का प्रश्न ही नहीं है । भक्ति स्वतः ही सभी अनर्थ को दूर करती है । अनर्थ का अस्तित्व तभी तक है, जब तक व्यक्ति अपनी अलग यानि कि स्वतन्त्र पहचान बनाए रखना चाहता है । जब तक स्वतन्त्र रहने की मानसिकता है, तब तक अनर्थ का प्रकटन सम्भव है ।

भक्ति के मार्ग में शरणागति अर्थात् अपनी स्वतन्त्र पहचान का परित्याग । यहाँ शरणागति (आत्मसमर्पण) का अर्थ है भक्ति को पूर्णरूप से अपनाना । इस मार्ग में अनर्थ मूल से समाप्त हो जाते हैं । अतः भक्ति की साधना प्रक्रिया में अलग प्रयास करने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि व्यक्ति जब भक्त हो जाता है तब उसका भगवान का आनुकूल्य करना ही एकमात्र उद्देश्य होता है और वह कोई भिन्न प्रयोजन नहीं रखता है । तब अनर्थ कैसे आयेंगे ? भक्ति वह मार्ग है जहाँ अलग से प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं है । यह केवल दूसरे मार्ग में है, जैसे ज्ञान एवं योग मार्ग में । वहाँ प्रत्याहार यानि अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रणादि के लिए अलग प्रयत्न करने होते हैं । यहाँ उत्तमा भक्ति में सब कुछ स्वाभाविक-रूप से घटित होता है । ******

प्रश्नः लेकिन क्या यह केवल उस व्यक्ति को लागू होगा जो शतप्रतिशत रूप से शरणागत है ?

उत्तरः हाँ ।

****

प्रश्नः और जो अर्ध-समर्पित (५०-५० प्रतिशत) हैं उनको अलग से प्रयत्न करने पड़ते हैं?
उत्तरः अर्ध-समर्पित व्यक्ति को आधा फल मिलेगा । ******

प्रश्नः क्या पहले समय में भक्ति के गलत प्रचारकों के सम्पर्क से यथार्थ ज्ञान न मिलने के कारण अनर्थ हुए हैं ?
उत्तरः अनर्थ अज्ञान अथवा अयथार्थ ज्ञान के कारण आते हैं । अतः साधक को भली प्रकार भक्ति को समझने का प्रयास करना चाहिए । अज्ञान में क्यों रहना ?

मानव जीवन समुचित ज्ञानार्जन प्राप्त करने के लिए दिया गया है और शास्त्र स्पष्ट रूप से तत्त्व वस्तु का वर्णन करता है । शास्त्र में सही तथा गलत दोनों के उदाहरण हैं ताकि आप समझ सकें कि क्या गलत है और क्या गलत व सही का मिश्रण है और अन्ततः परम वस्तु क्या है । एक परम धर्म है, परम कर्तव्य है, जो प्रोज्झित कैतव है अर्थात् बिना किसी छल, कपट, (धोखाघड़ी) के है और एक वह है जिस में मिलावट है (मिश्रण), इन दोनों पहलूओं को दिखाया गया है । यहाँ पर कपट का अर्थ है - धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष । इनके अनुगामियों के उदाहरण भी शास्त्रों में दिए गए हैं और साधकको उन्हें भली प्रकार से समझ लेना चाहिए क्योंकि केवल भक्ति को समझने से ही गुरु एवं श्रीकृष्ण में आसक्ति का भाव प्रकट होगा । भक्ति अज्ञान का मार्ग नहीं है किन्तु परम ज्ञान का पथ है । अतः हमें ठीक समझ और यथार्थ ज्ञान प्राप्ति का प्रयास करना चाहिए तब हम सही मार्ग पर स्थिर हो सकेंगे ।

यह सब ज्ञान उपलब्ध होने पर भी यदि कोई इसे स्वीकार नहीं करता है, तो इसमें भगवान का दोष नहीं है । उसने हमें शास्त्र और उसे पढ़ाने वाले आचार्य दिए हैं, ताकि हम उनका स्वीकार कर सकें और सत्य को समझ सकें । इसको स्वीकार करना हमारा कर्तव्य है किन्तु कोई अज्ञान में ही रहना चाहता है तो यह उसकी अपनी इच्छा है । अज्ञानता में भक्ति की सम्भावना नहीं है । ******

प्रश्नः क्या यह सम्भव है कि हमने गलत प्रवचनों के द्वारा अनर्थ का अधिक से अधिक सञ्चय कर लिया है, जो वास्तव में शुद्ध भक्ति नहीं है । क्या हमारी भक्ति की गलत एकत्रित अवधारणाओं के फलस्वरूप हमारे अनर्थ की वृद्धि हुई है ?
उत्तरः इसका उत्तर आपने स्वयं ही दे दिया है । जो कोई भी वस्तु आपको भक्ति से दूर ले जायेगी, वह अनर्थ है । अतः यदि आपकी अवधारणा गलत है तो क्या आपको

वह भक्ति के समीप ले जायेगी या आपको उस से अलग कर देगी ? इसका निर्णय आपको स्वयं ही करना पड़ेगा ।   ******

प्रश्नः क्या वस्तुतः प्रचार करना एक महान उत्तरदायित्व है यदि कोई प्रचारक गलत रूप से प्रचार करे तो ... ?

उत्तरः प्रचार करने का यह उद्देश्य नहीं है कि आप अज्ञान या गलत अवधारणा दूसरों के मन में उत्पन्न करें । प्रचार करना अर्थात् यथार्थ ज्ञान देना है ।   ******

प्रश्नः भक्ति सन्दर्भ में निष्ठा से ऊपर की ओर प्रगति कैसे होती है वह वर्णित है । श्रीमद् भागवत् में यह श्लोक है-

तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये ।
चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति ।। (भा. १.२.१९)

"जब रजोगुण और तमोगुण की वृत्तियों से काम और लोभादि से चित्त प्रभावित नहीं होता है और सत्त्वगुण में स्थित हो जाता है तब आनन्द का अनुभव होता है ।" यहाँ यह कहा गया है कि जब उसकी सत्त्वगुण में स्थिति हो जाती है तो क्या तब यह विशुद्ध सत्त्व है ?

उत्तरः हाँ ।   ******

प्रश्नः क्या सत्त्वगुण में स्थित होना भाव के स्तर पर होता है, या वह उत्तमा भक्ति में प्रवेश कर रहा है जो कि भाव से पूर्व की अवस्था है ?

उत्तरः यह क्रम विकास जो इन श्लोकों में दिखाया गया है यह रागानुगा उत्तमा भक्ति का क्रम विकास नहीं है । भक्ति के अनेक प्रकार है । वैधी-भक्ति में एवं अन्य मार्ग जैसे सांख्य और योग है उनमें क्रम में जो विभिन्न स्तर हैं उन्हें दिखाया गया है । लेकिन यह क्रमविकास रागानुगा उत्तमा भक्ति में नहीं है ।

रागानुगा भक्ति में जब साधक में श्रद्धा आती है, तत्काल वह समस्त अनर्थों से मुक्त हो जाता है क्योंकि श्रद्धा स्वरूप शक्ति से आती है तथा वह स्वरूप शक्ति का मूलभूत लक्षण है कि वह भगवान के प्रति सर्वदा उन्मुख रहती है । ठीक वैसे ही बहिरङ्गा शक्ति भगवान से बहिर्मुख - अर्थात् दूर ले जाती है । परिणाम स्वरूप उस व्यक्ति की अभिरुचि केवल बाह्य विषयों में होती है । अन्तरङ्गा शक्ति (स्वरूप शक्ति) का प्रथम सोपान श्रद्धा होता है जिसका यह स्वाभाविक लक्षण है कि वह भगवान के प्रति आकर्षित करती है। यह मनोगतिरविच्छिन्ना- मन की गति बिना रुके भगवान की ओर जाती है । यथा -

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये ।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ ।। (भा. ३/२९/११)

जिस प्रकार गङ्गा का प्रवाह अविच्छिन्न रूप से समुद्र की ओर बहता है, उसी प्रकार मेरे भक्तों का मन स्वाभाविक रूप से मेरी ओर गति करता है, मैं सर्वान्तर्यामी हूँ । जब मन निरन्तर अखण्ड रूप से (श्रवणमात्र से) भगवान की ओर बहता है तब लय और विक्षेप जैसे अनर्थ का कोई प्रश्न ही नहीं होता । वे नहीं होते हैं ।

******

प्रश्नः क्या आरम्भ से ही एक भक्त स्वरूप शक्ति में स्थित होता है ?
उत्तरः हाँ । यदि एक बार वह उस में स्थित हो गया है तब उसे कोई बाधा नहीं हो सकती ।

******

प्रश्नः जैसे-जैसै कोई भक्त उन्नति करता है तो क्या स्वरूप शक्ति बढ़ती है या अधिक प्रभावकारी होती है ?
उत्तरः यह अत्यधिक प्रभावशाली होती जाती है अतः साधक बाधाओं से प्रभावित नहीं होता है ।

******

प्रश्नः क्या इसका अर्थ यह होता है कि स्वरूप शक्ति भाव के स्तर पर आती है ?
उत्तरः स्वरूप शक्ति प्रारम्भ से ही होती है इसीलिए भक्ति में तामसिक, राजसिक अथवा सात्त्विक श्रद्धा नहीं है । यह श्रद्धा ही अन्तरङ्गा शक्ति है । उत्तम भक्तों में अनर्थ नहीं होते हैं ।

******

प्रश्नः जब अभिमान, ईर्ष्या आदि दोष (कभी-कभी) उत्तम भक्त में भी दिखाई देते हैं, तो मुझ जैसे साधारण साधक के बारे में कहना ही क्या ? क्या हमारे जैसे साधक की भक्ति में अग्रसर होने की कोई सम्भावना है ?
उत्तरः उत्तमा भक्ति में ऐसे दोष नहीं होते हैं । ठीक प्रारम्भ से ही अविद्या दूर हो जाती है क्योंकि आपने अपने स्वतन्त्र अहम्भाव को त्याग दिया है । यह सभी समस्याओं के मूल श्रोत है इसीलिए सभी अनर्थ सताते रहते हैं । ये अनर्थ उत्तम भक्तों में नहीं होते हैं । यदि कभी आ जाय तो हृदय में विराजित भगवान स्वयं उनको नष्ट कर देते हैं । ये अनर्थ अन्य मार्गों में होते हैं, अपितु उत्तमा भक्ति में नहीं ।

******

प्रश्नः जब कोई साधक आत्म-समर्पण करता है, तब क्या सभी अनर्थ का नाश हो जाता है ?

उत्तरः यदि शरणागति शास्त्रवर्णन के अनुसार उचित रीति से ली गयी है तब फिर अनर्थ का कोई प्रश्न नहीं है । भक्ति भगवान की अन्तरङ्गा शक्ति है और यह भगवान से भिन्न नहीं है, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान अभिन्न हैं । अतः भगवान की शक्ति में अनर्थ के अस्तित्व का कोई प्रश्न ही नहीं है । अनर्थ की सम्भावना केवल तभी है, जब कोई अपराध करता है ।

यदि किसी ने समुचित अर्थ में शरणागति ग्रहण नहीं की है और सामाजिक परम्पराओं का अनुसरण कर रहा है, अर्थात् - गुरु स्वीकार किया है किन्तु गुरु में वास्तविक समर्पण नहीं किया है, तब ऐसे साधकको अनर्थ निवृत्ति के पथ पर जाना पड़ता है । अन्य दूसरे मार्गों के साधक प्राकृतिक गुणों में रहकर आचरण करते हैं और हृदय शुद्धि के लिए प्रयत्न करते हैं अर्थात् प्रथम तमोगुण, रजोगुण को पराभूत कर सत्त्वगुण में स्थायी होने के लिए प्रयास करते हैं तब यह अनर्थ निवृत्ति की प्रक्रिया होती है ।

परन्तु, भक्ति में यह प्रक्रिया भिन्न है । वह शास्त्रीय श्रद्धा से प्रारम्भ होती है । इस श्रद्धा का अर्थ है कि साधक का गुरु एवं शास्त्र के वाक्यों में पूर्ण विश्वास है । अपनी स्वतन्त्रता रखने का प्रश्न ही नहीं रहता है क्योंकि अनर्थ तब आते हैं जब साधक यह सोच रखता है कि वह स्वतन्त्र है । वस्तुतः कोई भी प्राणी स्वतन्त्र नहीं है । जब आप सोचते हैं कि हम स्वतन्त्र हैं तो आप अपने मन के अनुसार कार्य करते हैं, जो अनुचित परिणाम देते हैं । यदि कोई शास्त्रीय गुरु करता है और उसका उस में पूर्ण समर्पण होता है, तथा गुरु के अनुशासन में रहकर कार्य करता है, तब प्रारम्भ से ही अनर्थों की सम्भावना नहीं रहती है । अनर्थों का विनाश हो जाता है । जब कोई शरणागति लेता है तो वह माया को पार कर लेता है, जैसा कि श्रीकृष्ण कहते हैं - "मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते" अर्थात् जो मेरी शरण में आता है, वह माया को पार कर लेता है। (गीता ९/१४) यह शास्त्रीय प्रक्रिया है । ******

प्रश्नः तो क्या यह श्लोक "आदौ श्रद्धा" आदि क्या उन साधकों के लिए है जो पूर्ण समर्पित नहीं है ?
उत्तरः हाँ, उत्तमा भक्ति में पूर्ण समर्पण है और गुरु के साथ अपनापन का भाव है तो फिर अनर्थ कहाँ ? ******

प्रश्नः यदि मैं यहाँ शरणागत होता हूँ तब अनर्थ नहीं होंगे । तो क्या यह एक ही सोपान है ?
उत्तरः हाँ ! उत्तमा भक्ति में एक ही सोपान है । ******

प्रश्नः यदि साधक पूर्ण समर्पण नहीं करता है तब क्या यह "आदौ श्रद्धा" की प्रक्रिया जिसका वर्णन भक्तिरसामृत-सिन्धु में है, वह उन लोगों के लिए है ?
उत्तरः "आदौ श्रद्धा" के ये क्रमिक सोपान आदि उन साधकों के लिए दिखाए गए हैं, जिन लोगों को भक्ति मार्ग में स्वाभाविक रुचि नहीं है ताकि वे धीरे धीरे इसे ग्रहण कर सकें । किन्तु हमें यह समझ लेना चाहिए कि भक्ति भगवान की अन्तरङ्गा शक्ति है और यह संवित शक्ति और ह्लादिनी शक्ति से संयुक्त है, अर्थात् ज्ञान और आनन्द है । भक्ति स्वयं ज्ञान और आनन्दमयी है । अतः वहाँ अविद्या नहीं है और भक्ति के मार्ग पर (स्वतन्त्र) स्वसुख के लिए कोई लोभ नहीं है, जैसे कि अन्य मार्गों पर अथवा सांसारिक जगत में व्यक्ति सुख के अभिलाषी रहते हैं । दोनों ही भक्ति में स्वयं प्राप्त है। अतः अनर्थों की सम्भावना कहाँ है ?

शरीर के साथ तादात्म्य होने से अनर्थ आते हैं । वह अज्ञान का उत्पाद है तथा अनर्थ का मूल कारण है । देह के साथ तादात्म्य भाव के कारण व्यक्ति को अभिमान होता है कि वह स्वतन्त्र रूप से कर्ता है और स्वयं को भोक्ता मानता है । तब वह स्वतन्त्ररूप से आकांक्षा रखता है । यह स्वतन्त्रता अनर्थ की उत्पादक हो जाती है । भक्ति एक प्रेरणा है, जो भगवान से आती है जिस में साधक किसी भी अन्य वस्तु को महत्त्व नहीं देता है । वह भगवान की प्रसन्नता के लिए सेवारत रहता है । ऐसी मानसिकता से उस साधक के मन में अनर्थ के प्रवेश की कोई गुञ्जाईश ही नहीं है । लेकिन जब स्वाभाविक रुचि नहीं होती है तब ''आदौ श्रद्धा'' की प्रक्रिया का वर्णन किया जाता है।

देहाभिमान होने से व्यक्तिका देह से तादात्म्य होता है, जिस से वह भगवान से बहिर्मुख होता है । दूसरे मार्गों के साधकों को इसी समस्या के कारण (पथ में) सङ्घर्ष आते हैं फिर वह चाहे ज्ञान हो अथवा योगमार्ग हो । वे उन पथ पर संघर्षरत रहते हैं। उनके लिए अविद्या को हटाना टेढ़ी खीर है ।

किन्तु भक्ति में प्रारम्भ से ही देहाभिमान – देह से तादात्म्य स्वाभाविक परित्यक्त होता है क्योंकि साधक स्वयं को भगवान का सेवक समझता है । जब उसे इस प्रकार का ज्ञान होता है एवं उसका आचरण भी उसके अनुसार होता है, तब पूर्ण सन्तुष्टि होती है और फिर मन में किसी भी अनर्थ की सम्भावना नहीं रहती है ।

मेरा अपना उदाहरण है, जब मैने एक बार अपने गुरु को स्वीकार किया तो मेरे मन में ऐसा विचार कभी नहीं आया कि मुझे अपने लिए कुछ अलग करना है - यथा एक

आश्रम बनाना, विद्या प्राप्त करना, अथवा कुछ बनना है । यद्यपि मैं ने व्यावहारिक रूपसे प्रत्येक विषय का अध्ययन किया लेकिन यह विचार कभी नहीं आया कि कुछ मैं अपने लिए करूँ । मैं हमेशा सोचता था कि मैं स्वयं अपने गुरु का एक सेवक हूँ और उनकी सेवा बिना मेरा अन्य कोई प्रयोजन नहीं था । जब तक वे जीवित थे तब तक मैं ने उनकी सेवा की । मेरा अपना अनुभव है कि भक्ति के पथ पर अनर्थ के प्रवेश करने की कोई सम्भावना नहीं है ।

जब शास्त्र पढ़ते हैं तो ऐसा वर्णन नहीं मिलता है कि भगवद्-भक्तों का कभी भी भक्ति के पथ पर पतन हुआ हो । किन्तु योगी और ज्ञानियों के ऐसे कई उदाहरण मिलते हैं - जैसे सौभरि मुनि और सनत्कुमारादि, (जिन्होंने वैकुण्ठ में जाकर भगवत्पार्षद जय-विजय पर क्रोध किया) जिनका व्यतिक्रम हुआ या जिन्होंने उत्पात किया । भक्त ऐसा व्यवहार नहीं करता है । चित्रकेतु का उदाहरण द्रष्टव्य है- जब उन्हें पार्वतीजी ने शाप दिया तब वे चाहते तो पार्वतीजी को भी शाप दे सकते थे, किन्तु उन्होंने कुछ नहीं कहा। वे तुरन्त अपने विमान से नीचे आए और पार्वतीजी के सामने विनयपूर्वक दोनों हाथ जोड़कर खड़े होकर बोलें - "मैं आपका शाप स्वीकार करता हूँ," अतः भगवान शिव ने भी इस पर यह टिप्पणी की कि "भगवान के भक्तों की महिमा देखो, कैसे वे पूर्णरूप में भयमुक्त है और यह चित्रकेतु आपके शाप से किञ्चित् मात्र भी भयभीत नहीं हुए, यद्यपि चित्रकेतु में भी आपको शाप देने की सामर्थ्यता थी" ।

भक्ति के पथ पर नितान्त किसी भी प्रकार के अनर्थों की सम्भावना नहीं है । भक्ति मार्ग की यह विशेषता है । किन्तु जब भक्ति मार्ग को नहीं समझते हैं, या जब कोई नया साधक आता है और इसे नहीं समझता है, तब उन लोगों के लिए भक्तिरसामृत सिन्धु में क्रमिक प्रक्रिया का वर्णन किया गया है । अन्यथा यह (उत्तमा भक्ति की) प्रक्रिया पूर्णरूप से सभी अनर्थ से मुक्त है ।

आपको भक्तिमार्ग का महत्त्व और वैशिष्ट्य समझने का प्रयास करना चाहिए । यह शब्द केवल प्रशंसा मात्र नहीं है, जो शास्त्र में लिखे गये हैं । शास्त्रों में भक्ति की जो विशेष प्रशंसा की गई है वह केवल शब्द मात्र नहीं है । यह एक सत्य है और इसका अनुभव होना आवश्यक है ।

******

प्रश्नः हम कैसे लौकिक वासनाओं से मुक्त हो सकते हैं ? क्या हमें कुछ अलौकिक आध्यात्मिक इच्छा करनी चाहिए ?

उत्तरः जब हम सांसारिक विषय भोगों की इच्छा को त्याग देंगे और आध्यात्मिक विषयक इच्छा करेंगे तब हमारी सांसारिक इच्छाएँ चली जायेगी । जैसे जब हम भौतिक विषय को चाहते हैं, तो हम भौतिक विषय के लिए कार्य करते हैं, ठीक वैसे ही यदि हम आध्यात्मिक होना चाहते हैं तो हमें आध्यात्मिक विषय के लिए कार्य करना चाहिए।

यह प्रक्रिया श्रद्धा से प्रारम्भ होती है । आदौ श्रद्धा ततः साधु-सङ्ग, ये इसके क्रमिक सोपान हैं, जिनका वर्णन शास्त्र में है । प्रथम आप एक सङ्कल्प करें । जैसे मनुष्य लौकिक सुखों के लिए सङ्कल्प करता है, उसी प्रकार साधक को आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिए दृढ़ निश्चय करना चाहिए और जब आपका इस प्रकार का निश्चय हुआ, तब आप उसकी प्राप्ति के लिए जुट जाओ । इससे लौकिक संस्कार मिट जायेंगे, जो अनेक जन्म-जन्मान्तर से सञ्चित थे । यही एक प्रक्रिया है ।

अतः साधक को दृढ़ निश्चयपूर्वक अनुकूलता से सेवा करनी चाहिए और सभी प्रतिकूल क्रिया-कलापों का परित्याग कर देना चाहिए । यदि कोई इस दृढ़ निश्चय से कार्य करता है तो वह गुरु और श्रीकृष्ण की कृपा प्राप्त करता है और उसी कृपा द्वारा ही समस्त वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं तब आपको अन्तः प्रेरणा प्राप्त होगी । मन्त्र का अर्थ उस प्रेरणा प्राप्ति के लिए प्रार्थना करना है ।

अभी इन्द्रिय, मन आदि की स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ सांसारिक विषयों के प्रति प्रेरित हैं । लेकिन जब भगवान की कृपा प्राप्त हो जाती है तब सांसारिक वासनाएँ दूर हो जाती हैं। कृपा अर्थात् आध्यात्मिक लक्ष्य के लिए कार्य करने की प्रेरणा प्राप्त करना । गुरु और भगवान की कृपा का यही अर्थ है । ******

प्रश्नः ऐसा वर्णन है कि यदि कोई साधक सच्चाई से गुरु-सेवा करता है एवं अपराधरहित है, तब अन्तरङ्गा शक्ति इन्द्रियों और मन के द्वारा प्रकट होती हैं । तो यह अनुभव भक्ति के कौन से स्तर पर होगा ?

उत्तरः अन्तरङ्गा शक्ति श्रद्धा के स्तर पर प्रकट होती है । यह श्रद्धा से शुरू होती है क्योंकि श्रद्धा बीज है । यदि श्रद्धा नहीं है, तो भविष्यमें कुछ भी होनेवाला नहीं है । यदि श्रद्धा है, तब अनर्थ निवृत्ति होगी अन्यथा यदि आरम्भ से ही श्रद्धा नहीं है तो अनर्थ-निवृत्ति नहीं होगी । जब किसी की श्रद्धा दृढ़ है, तब वह भजन-क्रिया करता है, जिसका अर्थ है विश्रम्भेण गुरूसेवा (भ.र.सि. १.२.७४) अर्थात् विश्वासपूर्वक वह कोई अन्य उद्देश्य के बिना श्रद्धा से गुरु की सेवा करता है । इस संसार में आप जो कुछ भी करते हैं वह सब अपने स्वार्थ के लिए, अपने उद्देश्य के लिए करते हैं । किन्तु भक्ति

में उस स्वतन्त्र उद्देश्य का परित्याग करना होता है । अतः जब भजन-क्रिया की जाती है तो उस से अनर्थ निवृत्ति होती है और तब उस तथ्य का और अधिक अनुभव होता है । अनर्थ निवृत्ति बिना भजन-क्रिया सम्पन्न नहीं हो सकती । भजन-क्रिया का अर्थ है सेवा । यह मात्र अध्ययन कर लेना या प्रवचन देना नहीं है, किन्तु साधक को गुरु के साथ रहकर उनकी सेवा करना है क्योंकि जब आप सेवा करते हैं, तब ही आप अपना दोष देख पायेंगे । वास्तव में आप समझ पायेंगे कि हमारे अनर्थ क्या हैं, और तब ही वे नष्ट हो पायेंगे अन्यथा वे हमारा पीछा नहीं छोड़ेंगे क्योंकि आप केवल वही कर रहे हैं जो आप अपनी इन्द्रिय प्रीति के लिए करना चाहते हैं । यह बहुत जटिल वस्तु है । वास्तव में अनर्थ क्या है और कैसे उस से मुक्ति हो ? जब कोई साधक वास्तव में सेवा करता है, तब वह अनर्थ का अनुभव करता है और केवल तब ही इन से छुटकारा पाना सम्भव है । आप श्रद्धा से प्रारम्भ करें और उस में निष्ठा रखें ।

इस मार्ग पर साधक को अपने (स्वतन्त्र) अस्तित्व का पूर्णरूप से विलोप कर देना है, किन्तु अद्धैतवाद दर्शन की तरह नहीं । एकत्व या आत्म विलोपन अर्थात् गुरु की सेवा छोड़कर अन्य कोई स्वतन्त्र उद्देश्य नहीं रखना है । केवल तब ही अनर्थ निवृत्ति की सम्भावना है । यही इसकी प्रक्रिया है । ******

प्रश्नः क्या इसका अर्थ यह है कि जब कोई साधक शास्त्रीय श्रद्धावान होता है और जानबुझ कर कोई अपराध नहीं करता है तब वह अपराधों से मुक्त हो जाता है ?
उत्तरः हाँ ! स्वाभाविक रूप से आप को अपराधों से भी मुक्त होना पड़ेगा, ये भी अनर्थ है । ******

प्रश्नः श्रद्धा के स्तर पर कोई साधक सेवा करना प्रारम्भ करता है, तब स्वयं में अनर्थ देखता है । लेकिन यदि श्रद्धा नहीं है तो क्या वहाँ अनुशासित होने की कोई सम्भावना है ?
उत्तरः सम्भावना हो या न हो किन्तु सेवा के बिना अनर्थ दूर नहीं होंगे । ******

प्रश्नः हम श्रद्धा के स्तर पर हुए बिना सेवा करते हैं, तब क्या ?
उत्तरः अन्य कोई प्रक्रिया काम नहीं करती है । बिना श्रद्धा के कुछ नहीं होगा ।
******

प्रश्नः जब हम अपने इन सभी अनर्थ को देखना आरम्भ करते हैं, तब क्या हमें शत-प्रतिशत समर्पण के लिए प्रोत्साहन मिलता है ?

उत्तरः अन्य कोई उपाय नहीं है, वगैर सेवा के अनर्थ से छुटकारा नहीं होगा । यदि आप अनर्थ को सन्मुख देखेंगे, तो भी वे बिना सेवाके दूर नहीं होंगे ।******

प्रश्नः आप सेवा करते हैं और अनर्थ देखते हैं, तो क्या फिर भी वे दूर नहीं होंगे जब तक आपकी दृढ़ श्रद्धा नहीं है ?
उत्तरः मैं वही कह रहा हूँ ।   ******

प्रश्नः क्या वे सेवा से दूर हो जायेंगे ?
उत्तरः केवल सेवा के द्वारा ही अनर्थ दूर होंगे । ******

प्रश्नः मैं ने सुना है कि भक्ति एक ज्ञान-प्रवाह है अतः इसके प्रतिपक्ष शत्रु अनर्थ को जानना चाहिए । प्रथम स्तर है कि जब अनर्थ दिखाई देते हैं तब उन से जागरुक होना चाहिए । शत्रु को निर्मूल करने से पहले उन्हें जानना चाहिए । लेकिन आपने बताया कि भक्ति अतीव शक्तिशाली है, तो फिर क्या यह आवश्यक है कि इन अनर्थों पर प्रथम ध्यान दें या सीधा भक्ति में संलग्न हो जाये ?
उत्तरः प्रारम्भ से ही भक्ति के मार्ग पर साधक अपने स्वतन्त्र अस्तित्व का परित्याग करता है और पूर्ण शरणागति स्वीकार लेता है, एवं अपनी सम्पत्ति पर से अहम्भाव को भी त्याग देता है । अतः वहाँ कोई अनर्थ की सम्भावना नहीं रहती ।

अनर्थ स्वतन्त्रता के कारण आते हैं । योग, ज्ञान और कर्म के मार्ग पर साधक प्रायः कुछ सांसारिक भोग या मुक्ति चाहता है । क्योंकि वह कुछ भुक्ति और मुक्ति की इच्छाएँ करता है, अतः वह स्वतन्त्र भाव रखता है । वह स्वतन्त्र भाव रखता है इसीलिए अनर्थ होते हैं । तब उसे यह समझना है और जानना है कि अनर्थ क्या है। वहाँ (योग, ज्ञान एवं कर्म के मार्ग में) सम्पूर्ण प्रक्रिया है कि कैसे अनर्थ से मुक्ति हों ।

किन्तु भक्ति में ऐसा नहीं है क्योंकि यहाँ साधक भुक्ति और मुक्ति की कामना नहीं करता है । वह सेवा के अतिरिक्त दूसरी इच्छा नहीं रखता है । अतः अनर्थ नहीं आते हैं । यदि अनर्थ हैं तो उन्हें हटाने के लिए आपको साधना करनी पड़ेगी । जब आप साधना में अधिक तल्लीन हो जायेंगे तब आप साध्य क्या है, लक्ष्य क्या है, इन सब को भूल जायेंगे । आपकी साधना और जटिल हो जायेगी । आप प्रत्याहार करें, इन्द्रियों को वश में करें एवं नियमों का पालन करें तब अन्ततोगत्वा आप के पास वास्तव लक्ष्य की प्राप्ति के लिए समय ही नहीं होगा । अतः ऐसा कहा गया है कि भक्ति की सहायता के बिना ज्ञान और योग स्वयं फल नहीं दे सकते हैं । कोई भी साधक सच्चा योगी और

ज्ञानी नहीं हो सकता क्योंकि वह साधना की प्रक्रिया में ही लग्न रहता है । वे उन में से निकल नहीं पायेंगे । अतः वे सत्त्वगुण में स्थित होने की प्रक्रिया का अनुसरण करते हैं । परन्तु सत्त्वगुण क्या है ? यह ही निश्चय नहीं है । सत्त्वगुण शुद्ध भी नहीं है एवं यह हमेशा अस्थायी है । आप कभी नहीं जान पायेंगे कि कब रजोगुण और तमोगुण के द्वारा सत्त्वगुण प्रभावित हो जाएगा ।

भक्ति मार्ग को योगादि मार्ग के साथ अमिश्रित समझना चाहिए । लोगों में यह समझ नहीं है कि भक्ति एक स्वतन्त्र मार्ग है, क्योंकि वे अन्य मार्गों के साथ इसका मिश्रण करते हैं । भक्ति पथ ऐसा नहीं है कि जो योग और ज्ञान के मार्ग के साथ मिश्रित किया जाय । भक्ति प्राकृतिक गुणों से परे है ।

अतः यह कहा गया है - "ज्ञानकर्माद्यनावृतम्" (शुद्ध भक्ति ज्ञान और कर्म से अनावृत है) । एक साधक मुक्ति के बाद ही भक्त बनता है । मुक्ति भक्ति की प्रथम कक्षा है । ऐसा नहीं है कि भक्त होने के बाद कोई मुक्त होता है क्योंकि भक्त को कोई दूसरी स्पृहा नहीं होती है । यथा-

भुक्ति-मुक्ति-स्पृहा यावत्पिशाची हृदि वर्तते ।
तावत् भक्ति सुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ।। (चै.च.मध्य १९.१७६)

"पिशाची जैसी भोग और मोक्ष की इच्छा जब तक हृदय में रहती है, तब तक उस हृदय में भक्ति-सुख का उदय कैसे हो सकता है ?"

जहाँ तक हृदय में इच्छाएँ हैं, तब तक भक्ति हृदय में स्थान कैसे ले सकती है ? भक्ति अपने से अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु सहन नहीं करती है । वह अनन्य अधिकार चाहती है ।

प्रारम्भ से ही भक्त मुक्त है । जब वह मुक्त है, फिर अनर्थ के आने की सम्भावना कहाँ है ? इच्छाओं के कारण अनर्थ आते हैं । यदि आरम्भ से इच्छाएँ नहीं है तो अनर्थ नहीं है । ज्ञान, कर्म और योग के मार्ग पर इच्छाएँ रहती हैं ।

जब तक यह पिशाचीरूपी भुक्ति और मुक्ति की इच्छा हृदय में है तब तक भक्ति हृदय में नहीं आती है क्योंकि हृदय मलिन स्थान है । भक्ति मुक्ति रूपी पिशाची इच्छा के साथ बैठना नहीं चाहती है । पहले आपको पिशाची इच्छा को हृदय से बाहर फेंक देना है ।

******

प्रश्नः किन्तु हम भक्ति उद्गम होने से पूर्व लौकिक वासनाओं से मुक्त कैसे हो सकते हैं? जहाँ तक मेरी समझ में है, यदि एक ग्लास है, तो पहले उस में पानी भरते हैं तब ग्लास की हवा बाहर निकल आती है । ऐसा नहीं होता है कि पहले हवा बाहर निकाले और तब पानी भरें ।

उत्तरः यह प्रक्रिया एक साथ घटित होती है । जब आप ग्लास में पानी डालोगे तब हवा भी साथ साथ बाहर हो जायेगी । ******

६ अनादि अविद्याः

प्रश्नः भक्ति सन्दर्भ में यह वर्णित है कि जीव की अविद्या अर्थात् उसकी कृष्ण-विमुखता अनादि है । उस अनादि समय से बिना कारण ही जीव अविद्याग्रस्त है । यह जीवका दोष है तो जीवके विषय में यह दोष क्यों है ?

उत्तरः अनादि अविद्या दोष है क्योंकि यह जीव को बहिर्मुख बनाती है अथवा भक्ति से विमुख करती है । किन्तु इस दोष का अन्त भी आ सकता है । जीव भगवान की तटस्था शक्ति का एक अंश है । उन में से कुछ जीव अकारण रूप से बहिर्मुख हैं । किन्तु इस अविद्या का यह गुण है कि उसका अन्त हो सकता है । अविद्या एक प्राग्-अभाव है । अर्थात् पूर्व में जिसका अभाव हो अर्थात् अस्तित्व नहीं हो (कुछ वस्तुओं का प्रारम्भ नहीं है, किन्तु अन्त है वह अनादि कहलाते हैं ।) जीव की अविद्या बिना किसी प्रारम्भ से है, अर्थात् उसका कोई आदि नहीं है । किन्तु उसका विनाश या अन्त हो सकता है । प्राग्-अभाव से इङ्गित हुआ कि इसका शीघ्र अथवा देर से अन्त आयेगा। यह अत्यन्त्य-अभाव या प्रध्वंस-अभाव नहीं है । प्रध्वंस-अभाव का प्रारम्भ है, लेकिन अन्त नहीं है । इन दोनों अभावो का अन्त नहीं होता हैं । परन्तु प्राग्-अभाव का (अविद्या का) अन्त आता है और यह तब घटित होता है जब यदृच्छया जीव भगवान के भक्त के सम्पर्क में आता है ।

जब जीव का भगवान के भक्त से सङ्ग होता है तो उसका सांसारिक अस्तित्व समाप्त हो जाता है । यह यदृच्छया यानि ईश्वरेच्छा से घटित होता है । अतः उस समय जीव को भगवद्भक्त का सङ्ग स्वीकार करना चाहिए । तब उसके दोषों का दूर होना शुरू हो जायेगा । अन्यथा वह संसार-सागर में ही डुबकी लगाता रहेगा ।

जैसा कि श्रीमद्-भागवत में उक्त है-

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः ।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं, भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ।। (भा.११/२/३७)

'ईश्वर से विमुख पुरूष को भगवद् माया से अपने स्वरूप की विस्मृति हो जाती है और इस विस्मृति से ही "मैं देवता हूँ, मैं मनुष्य हूँ"- इस प्रकार का भ्रम, विपर्यय हो जाता है । इस देह आदि अन्य वस्तु में अभिनिवेश तन्मयता होने के कारण वृद्धावस्था, रोग, मृत्यु आदि से भय होता है । अतः बुद्धिमान व्यक्ति को अपने गुरू को ही परम प्रियतम आराध्यदेव मानकर अनन्य भक्ति के द्वारा ईश्वर का भजन करना चाहिए ।'

जब ईश्वर के प्रति जीव बर्हिमुख होता है यानि कि शरीरादि में द्वितीय अभिनिवेश है तब स्मृति विपर्यय से भगवान से वह दूर हो जाता है । अर्थात् वह परतत्त्व को भूल जाता है, और मायाजाल में फँस जाता है, जब कि माया भगवान की ही है । यदि कोई माया से छुटकारा पाना चाहता है तो प्रभुका भजन करें । एक बुद्धिशाली व्यक्ति को गुरू-ग्रहण करना चाहिए और उनकी सेवा करनी चाहिए और उनको देवता, आत्मा के रूप में पूजना चाहिए एवं अपने आत्म के समान उनको प्रेम करना चाहिए।

भक्ति सन्दर्भ में श्री जीवगोस्वामी ने हमारे बन्धन का कारण दिखाया है । यद्यपि जीव की अविद्या बिना कारण है, फिर भी वे कारण कार्य सम्बन्ध स्थापित करने के लिये प्रयास करते हैं । यद्यपि वह अविद्या अनादि है, इस विलक्षण स्थिति में यह एक कारणात्मक परिस्थिति जैसी मानी जाती है । ******

प्रश्नः क्योंकि हम अनादि अविद्याग्रस्त हैं तो क्या स्वयं को दोषी मानें ?
उत्तरः नहीं, किन्तु अब इस अवसर का सदुपयोग करके श्री कृष्ण का भक्त बनना चाहिए । ******

७. अनुकम्पा / दया / करुणा

प्रश्नः वैष्णव के लिए करुणा होनी कितनी महत्त्वपूर्ण है ? क्या यह वैष्णव धर्म का एक अङ्ग है ? ईसाई धर्म में इस बात पर अधिक आग्रह दिया जाता है ।
उत्तरः वैष्णव का धर्म कृष्ण की निरन्तर सेवा करना है । यह सेवा अनुकूल भावना से, बिना किसी प्रयोजन के केवल कृष्ण की प्रसन्नता के लिए करनी है ।

ऐसी दया जो हम वर्तमान ईसाई धर्म में देख रहे हैं, वह बिना प्रयोजन की नहीं है । वे अपने ईसाई धर्म को प्रचारित करना चाहते हैं और इसी कारण वे अशिक्षित और

ग़रीब प्रजा की दया भाव से देखभाल करते हैं, जिस से वे बड़ी आसानी से उनका धर्म परिवर्तन करें व उन्हें ईसाई बना दे ।

साधक को हेतुरहित कृष्ण को अनुकूल हो ऐसी ही सेवा करने का अभ्यास करना चाहिए । प्रथम आप गुरु के साथ यह अभ्यास करें, फिर दूसरों की, जैसे विग्रह, गाय, ब्राह्मण आदि कि सेवा भी आप उद्देश्यरहित करें । गुरु के (पादाश्रय) बिना लोगों की सेवा निस्वार्थ भाव से करना असम्भव है । यह दुर्भाग्य की बात है कि साधक दीक्षा के गुह्य उद्देश्य को नहीं समझते हैं । अयोग्य व्यक्ति भक्ति मार्ग में प्रविष्ट हो जाते हैं और इसे नष्ट करते हैं । इसीलिए ऐसा दिखायी देता है कि वैष्णव दयालु नहीं है ।

******

प्रश्न: क्या इसका अर्थ यह होता है कि वैष्णव अस्पताल नहीं खोलते हैं अथवा ज़रूरतमंद को भोजन नहीं देते हैं ?
उत्तर: हमेशा ये समस्त क्रियाकलाप किसी उद्देश्य से व्यापार वृत्ति के लिए किए जाते हैं । ऐसे कार्य बिना किसी उद्देश्य से तभी सम्भव हो सकते हैं जब किसी योग्य गुरु से शिक्षा ली हो और उनके निर्देशन में कार्य किया हो । अन्यथा यह सभी प्रवृत्ति हमेशा सांसारिक प्रयोजन से की जाती हैं । एक सामान्य व्यक्ति के लिए इस बात को समझना थोड़ा कठिन है ।

******

प्रश्न: जीवदया का क्या अर्थ होता है ? (ईसाई धर्ममें "compassion for the soul" प्रसिद्ध उक्ति है)
उत्तर: वैष्णव धर्म का सार यह है कि वैष्णव प्रसन्न है यदि अन्य लोग प्रसन्न हैं और कृष्ण की सेवा में कार्यरत हैं ।

भगवान जैसे दयालु है वैसे ही उनके भक्त भी, क्योंकि सेवक में सेव्य के गुण निहित है । भक्त का हृदय करुणामय होता है और निजी उद्देश्य से मुक्त होता है, ठीक जैसे एक गाय का अपने बछड़े के लिए और माँ बाप का अपने बच्चे के लिए भाव होता है। भक्त प्रतिष्ठा की इच्छा से दूर होता है । वह नाम, यश, प्रशंसा और प्रतिष्ठा के लिए लालायित नहीं होता है । करुणाभाव के लिए मुख्य योग्यता है गुरु की सेवा करना और अपनी स्वतन्त्र प्रकृति को त्याग देना, अन्यथा वह गुप्त उद्देश्य से घिरा रहेगा, जैसे कि दान देकर प्रसिद्ध होने की इच्छा रखना ।

लोग वैष्णव धर्म को समझने के लिए कोई प्रयास नहीं करते हैं । सभी लोग कीर्तन के विषय में कहते हैं, बड़े बड़े मनकों की जपमाला रखते हैं, किन्तु वे वैष्णव की योग्यताओं के विषय में सुनना नहीं चाहते हैं (तृणादपि सुनीचेन...) । उनका अभिमान उनके स्वार्थी व्यवहार का एवं उनके पतन का कारण होता है । पहले लोग दीक्षा लेते हैं, किन्तु बाद में उन्हें गुरु की आवश्यकता नहीं रहती है । वे उनकी आलोचना करते हैं और सोचते हैं कि गुरुजी उन पर और उनके धन पर निर्भर है, किन्तु वैष्णव अभिमानी नहीं होता । वह सारे अच्छे गुणों से सम्पन्न है, तथापि अभिमान नहीं करता है । ******

८. अन्य सम्प्रदाय

प्रश्न: क्या यह सच है कि श्रीवल्लभाचार्य ने भी पण्डित गोस्वामी से दीक्षा ली थी ?
पुष्टिमार्ग का दर्शन क्या है ?
क्या वह श्रीमहाप्रभु के नित्य परिकर थे और इस बात को कैसे समझा जाय कि उन्होंने स्वयं अपने एक भिन्न सम्प्रदाय की स्थापना की ?
उत्तर: वल्लभाचार्य ने पण्डित गोस्वामी से दीक्षा ली थी और उनके सहयोगी भी थे । वे निष्ठावान थे, पर साथ में जब उन्होंने दीक्षा ली उसके पूर्व अपने सभी पुस्तकें लिख चुके थे और एक आचार्य की तरह स्थापित भी हो चुके थे । तत्पश्चात् उन्होंने कुछ भी नहीं लिखा और दीक्षा लेनेके बाद वह अधिक समय जीवित भी नहीं रहे ।

उनके पुत्र विठ्ठलनाथ भी श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी थे और महाप्रभु के विग्रह की सेवा करते थे । अर्थात् श्री वल्लभाचार्य ने अपने पुत्र को भी श्री महाप्रभु का अनुसरण करने के लिए प्रेरित किया था । यह एक ऐतिहासिक घटना है कि विठ्ठलनाथ तथा अन्य गोस्वामी, जैसे रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी का परस्पर गाढ़ सम्बन्ध था। सभी गोस्वामी मथुरा जाते और विठ्ठलनाथ के साथ ठहरते थे । एक कहानी भी है कि विठ्ठलनाथ ने रघुनाथ दास गोस्वामी के लिए चिकित्सक भी भेजा था । यदि वह उसी परिवार के न होते तो गोस्वामी उनके वहाँ उनके साथ कभी नहीं ठहरते । ऐसी स्थिति में उनके घर गोस्वामी भोजन भी ग्रहण नहीं करते । श्रीनाथजी गोपाल की सेवा, जो माधवेन्द्रपुरी का विग्रह था, वह भी उन्होंने ही सम्भाला था । आरम्भ में पण्डित गोस्वामी के शिष्य ने उस विग्रह की सेवा की थी ।

प्रायः ऐसा होता है कि यह सभी धर्म एक पीढ़ी तक टिके रहते हैं । उसके बाद विघटन शुरू हो जाता है । इसका कारण है कुछ समय के बाद उसमें व्यक्तिवाद रेंगने लगता है । फिर आती है कट्टरता । श्री हरिराय, जो वल्लभाचार्य की तीसरी पीढ़ी से थे जिन्होंने

एक भिन्न सम्प्रदाय का गठन किया । गोपाल मन्दिर से उन्होंने गोड़ीय वैष्णवों को निष्कासित कर दिया, उनकी कुटीरों को जला दिया और मन्दिर अधिकृत कर लिया । वे इन सभी बातों के लिए ज़िम्मेदार थे क्योंकि ऐसा करने से ही वह (परम्परा में) मुख्य आचार्य बन सकते थे, अन्यथा उन्हें (एक सामान्य) अनुयायी की तरह ही जीना पड़ता।

अभी नित्यानन्द प्रभु बहुत प्रचलित हैं और नित्यानन्द परिवार (वंश परम्परा) भी है । पर नित्यानन्द है कौन ? वे बलराम है इस में कोई शङ्का नहीं है, पर वे किसी भी वर्णाश्रम से जुड़े हुए नहीं थे । वे एक अवधूत रूप में प्रसिद्ध थे या ऐसी व्यक्ति जो किसी भी धर्म का आचरण पालन नहीं करते थे । इस परिस्थिति में न तो वह आचार्य बनने के लिए योग्य थे और न ही कोई परम्परा शुरू कर सकते थे । आचार्य का अर्थ ही यही होता है कि ऐसा व्यक्ति जिसका आचरण शुद्ध हो और दूसरों को ज्ञान-प्रदान भी कर सकता हो । महाप्रभु ने उन्हें आचार्य के स्थान पर नहीं बिठाया था । पर उनके नामका प्रचार फैलता रहा है और लोग पण्डित गोस्वामी को सम्पूर्ण भूल गए हैं जिनको महाप्रभु ने स्वयं अधिकृत किया था । यहाँ वृन्दावन के सभी मन्दिरों का रक्षण, पोषण एवं व्यवहार पण्डित गोस्वामी के अनुयायियों द्वारा किया जाता था ।

यही घटना ईसाई धर्म में भी हुई । ईशु के देहान्त के पश्चात् कई वर्ष के बाद बाइबल का (नया धार्मिक ग्रन्थ) न्यु टैस्टामेन्ट लिखा गया । उस में से भिन्न-भिन्न विचारधाराओं की भिन्न शाखाएँ विकसित हुई । ऐसी परिस्थिति में लोगों के व्यक्तिगत उद्देश्य के कारण सही वस्तु अल्पसमय के लिए रहती है और विघटन शुरू हो जाता है ।

******

प्रश्नः क्या वल्लभाचार्य भगवान के नित्य परिकर है ?
उत्तरः हाँ ।

******

प्रश्नः चैतन्य चरितामृत में प्रसङ्ग है जहाँ वल्लभाचार्य की महाप्रभु के साथ इस बात की चर्चा हुई थी कि उन्हें (वल्लभाचार्यको) श्रीधर स्वामी की टीका स्वीकार्य नहीं है । इस घटना से मेरे मन में यही छाप बनी है कि वह महाप्रभु का अनुसरण नहीं करते थे ।
उत्तरः वही तो मैं ने आगे कहा कि दीक्षा लेने से पूर्व वह एक पण्डित थे, एक विद्वान थे । वह महाप्रभु के अनुयायी नहीं थे । वह प्रचण्ड विद्वान थे । जब वह महाप्रभु को मिले तो श्री महाप्रभु ने उन्हें समझाया कि सभी को श्रीधर स्वामी का अनुसरण करना आवश्यक नहीं है पर उन की अवहेलना करना उचित नहीं है । पर इस बात से वह अति प्रभावित हुए और उन्होंने दीक्षा ली । जब उन्होंने महाप्रभु को अपने घर काशी

के पास अड़ैल गाँव में आमन्त्रित किया तब उन्हें तुलसीदल युक्त भोग दिया । (अर्थात्) श्री वल्लभाचार्य ने महाप्रभु को कृष्ण के रूप में स्वीकार किया । इसका उल्लेख उनकी वैष्णव-वार्ता पुस्तक में किया है । किन्तु उनके परवर्ती अनुयायियों ने इसे स्वीकार नहीं किया ।

******

प्रश्न: कल आपने बताया था कि मध्वाचार्य और रामानुजाचार्य सम्प्रदाय मुख्यतः वर्णाश्रम धर्म का पालन करते हैं, पर विदेशियों का इन सम्प्रदायों में दीक्षा लेनेका क्या अर्थ है?
उत्तर: मध्वाचार्य और रामानुजाचार्य सम्प्रदाय वैष्णव धर्म से जुड़े हैं । वर्णाश्रम सिद्धान्तों पर आधारित वे संन्यास लेते हैं । यह उनकी अपेक्षा होती है । मैं ऐसे कोई दृष्टान्त नहीं जानता जहाँ अवर्णाश्रम धर्मी को उन्हों ने दीक्षा दी हो । ******

९. अपराध

प्रश्न: अपराध को कैसे टाला जाय उस पर आप कुछ सलाह देंगे ?
उत्तर: सर्व प्रथम यह समझना होगा कि अपराध कौन-कौन से हैं ? दश नाम अपराध और ३२ सेवा अपराध (विग्रह सेवा) है । उन्हें जानने के बाद ध्यानपूर्वक उन से बचना होगा । जान बूझकर वह नहीं करने चाहिए ।

लोग क्यों अपराध करते हैं ? इसका कारण है अपना अभिमान । भक्ति का अर्थ है भगवान की प्रसन्नता अर्थात् गुरु की प्रसन्नता के लिए सेवा करना । सेवा इस प्रकार करनी चाहिए जिस से गुरु प्रसन्न हो और ऐसा कोई भी कार्य नहीं करना चाहिए जिस से गुरु अप्रसन्न हो ।

संसार में हम स्वतन्त्र नहीं है । जो कोई अल्प शक्तिमान सेव्य की सेवा करता है, तो वह सेव्य सेवक के अपराध को सहन कर लेगा परन्तु भगवान सर्वशक्तिमान व सम्पूर्ण स्वतन्त्र है (शेष सभी अस्वतन्त्र हैं) । जो कोई भी भगवान को अपने कार्य से अप्रसन्न करता है तो भगवान को (किसी दबाव में आकर) उसे सहन करने की आवश्यकता नहीं है । विवशता के कारण हमें सहन करना पड़ता है । हमें दूसरों की सहायता भी चाहिए परन्तु भगवान को ऐसी कोई सहायता की आवश्यकता नहीं है । भगवान के पास अपने सेवक हैं जो उनकी सेवा करते हैं । यदि आप कोई अपराध करते हो तो वे उसे नहीं सहेंगे । अतः अपराध को टालना चाहिए । ऐसा नहीं सोचना चाहिए कि मैं सेवा करता हूँ अतः अन्य की सलाह न मानूँ तो चलेगा, गुरु की भी नहीं । उदाहरण स्वरूप, कभी कभी लोग किसी नौकर को सेवा के लिए गोशाला लाते हैं । नौकर को सेवा के लिए बुलाने के कारण उस व्यक्ति में अहम् पैदा होता है कि वह उस नौकर

का नियन्त्रक है और अन्य किसी को "उसके" नौकर को परेशान नहीं करना चाहिए । यदि कोई उसके नौकर को कुछ कहेगा तो वह नाराज़ हो जाता है । आखिर में गोशाला का कार्य मेरी निगरानी के नीचे होता है और ऐसी स्थिति में मुझे ही सोचना पड़ता है कि, "यदि मैं इस नौकर को कुछ कहूँगा तो वह नाराज़ हो जाएगा । मुझे यह सहना होगा क्योंकि मुझे गोशाला का कार्य पूर्ण करवाना है ।" कृष्ण ऐसे व्यवहार को नहीं सहेंगे । अपराध होते हैं क्योंकि सभी को गर्व है कि, "मैं ही कर्ता हूँ, मेरे बिना यह काम नहीं होगा ।" ऐसी मानसिकता को मिटाना चाहिए । भक्ति एक सरल प्रक्रिया है क्योंकि वह प्रायोगिक है । यह अन्य प्रक्रिया जैसी नहीं है जहाँ कोई विशेष परिणाम पाने के लिए कोई ख़ास कार्य किया जाय । ठीक उसी प्रकार जैसे तेज़ गति पर चलने से लम्बा अन्तर अवश्य ज़ल्दी काट सकते हैं परन्तु भक्ति में ऐसा नहीं होता । ऐसा नहीं होता कि ज़्यादा जपमाला करो तो अधिक फल मिलता है और निश्चित समय तक विशेष सेवा करो तो फल का कुछ हिस्सा मिलता है । मुख्य बात है सेवा में निहित मानसिकता ।

यदि साधक सरल हृदय और स्पष्टवादी है तो अनर्थ दूर हो सकते हैं । यह भजन क्रिया अर्थात् सेवा से (अनर्थ दूर) हो सकता है । जैसे ही सेवा करना शुरू करते हैं, अनर्थ या अनचाही भावनाएँ जो हृदय में हैं वे बाहर निकलती हैं । इसका अर्थ है कि अनर्थ-निवृत्ति का प्रारम्भ हो गया है । यदि साधक को इस में श्रद्धा है तो वह हर कठिनाइयों को पार करेगा, परन्तु यदि अपराध करेगा तो कृष्ण उसका त्याग करेंगे । उनका साधक से कोई सम्बन्ध नहीं होगा । यदि वह जप भी करेगा तो भी भगवान उस से दूर रहेंगे यह सोच कर कि, "मैं नहीं जानता कि यह मेरे साथ क्या करेगा ।" ऐसा नहीं है कि जप से हमेशा कृष्ण आकर्षित होते हैं । जब अपराधी मानसिकता से जप किया जाय तो कृष्ण उस से प्रभावित नहीं होते हैं । इसी कारण अपराध से किसी भी हाल में बचना चाहिए । ******

प्रश्न: यदि हम से अपराध हुए हों तो किस प्रकार उन्हें (प्रायश्चित से) मिटाये जाएँ ?
उत्तर: प्रायश्चित, पछतावा या अपराध-स्वीकरण भक्ति-मार्ग में नहीं है, परन्तु ईसाई धर्म में है । इसका कारण है कि यदि कोई अपराध करता है और उसे क्षमा कर दें तो वह उसकी आदत सी बन जाएगी । इस से उसे अधिक प्रेरणा मिलेगी और वह फिर से अपराध करेगा इस सोच से कि, "मैं ने यह ग़लती की है जिसके लिए मुझे अधिक सावधान नहीं रहना है क्योंकि ग़लती करने पर मुझे माफ़ी मिलेगी या फिर मैं अपनी ग़लती का स्वीकार करूँगा ।" ऐसी स्थिति में वह विकास नहीं कर पाएगा ।

[कई बार मैं ने कहा है कि हरिनाम दयालु है और सबका मित्र है पर यदि कोई हरिनाम का अपराध करता है तो उसका पतन होता है ।

अधिकतर लोग गलती करते हैं और उन्हें क्षमा किया जाता है परन्तु भक्ति मार्ग में सेवा करनी होती है । साधक ईश्वर को समर्पित होता है और उनकी प्रसन्नता के लिए सेवा करता है । यह साधक के व्यक्तित्व में सुधार लाती है और वह अच्छा व्यक्ति बनता है । उसकी प्रगति चरम सीमा पर पहुँचती है अन्यथा उसका स्वतन्त्र स्वभाव बना रहेगा इस सोच से कि, "यदि मैं अपराध करूँगा तो प्रायश्चित और विलाप करूँगा।" जब ऐसा बताया जाता है कि अपराध की क्षमा नहीं मिलती तो साधक अपराध न करने का प्रयत्न करेगा । जानकर अपराध नहीं करने चाहिए क्योंकि अपराध का कोई उपचार नहीं है ।

छोटा हरिदास ठाकुर एक छोटे से अपराध का उदाहरण है । अपराध छोटा था तथापि श्री चैतन्य ने उन्हें क्षमा नहीं किया था क्योंकि यदि उन्होंने माफ़ किया होता तो लोगों में अपराध करने की मानसिकता सहज हो जाती । कई लोगों ने श्री चैतन्य से प्रार्थना की कि छोटा हरिदास को क्षमा कर दें, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया । यहाँ तक कि जब छोटा हरिदास ने आत्महत्या की, वे तटस्थ रहे । जब जब लोगों ने छोटा हरिदास के पक्ष में विनंती की, उन्होंने कहा, "मैं उसका चेहरा कभी नहीं देखूँगा। यदि किसी ने उसकी क्षमा के लिए मुझ से प्रार्थना की तो मैं यह धाम छोड़ कर अन्य स्थान चला जाऊँगा क्योंकि मुझे ऐसी व्यक्ति के साथ कोई लेना देना नहीं है ।" हालाँकि श्री चैतन्य सबसे दयालु अवतार माने जाते हैं, परन्तु वे (इस समय) बड़े कठोर थे । उसका कारण था कि यदि प्रायश्चित की सुविधा दी जाय तो लोग उसका दुरुपयोग करने लगेंगे ।

भक्ति-मार्ग साधक को उत्तम बनाने के लिए है इसीलिए साधक को जाग्रत रहना होगा कि उससे अपराध न हो । इसी कारण अपराधों का वर्णन प्रारम्भ से ही किया जाता है । यदि कोई सेवा करने आता है तो उस का क्यों अभिमान या अनादर करना चाहिए? ऐसा अवश्य टालना चाहिए ।

ईसाई-धर्म में लोग चर्च में जाते हैं और अपना दोष स्वीकार करते हैं और फिर से दोष करते हैं । भारत में कर्मकाण्डी भी वैसा ही करते हैं । यदि कोई पाप करते हैं तो कहा जाता है कि पाप के प्रायश्चित के लिए उन्हें गङ्गा स्नान करना चाहिए या कुछ दान पुण्य करना चाहिए । जब लोग यह समझते हैं कि अपने पाप को पश्चात्ताप करके मिटा दें तो उनकी उन्नति कभी नहीं होगी ।

इस पाप-प्रायश्चित की तुलना एक हाथी से करते हैं । हाथी की यह आदत होती है कि नदी में स्नान करने के बाद अपने पूरे शरीर पर धूल उड़ाता है । अर्थात् लोग पाप करते हैं, पश्चात्ताप करते हैं, पवित्र होते हैं और फिर से वही ग़लती करते हैं । इसी कारण भक्ति-मार्ग में प्रायश्चित नहीं करते हैं ।

******

प्रश्न: अपराध (हमारी) सत्य की समझ को ढक देता है । अपराध से जितने निर्मूल होते जायेगें, उतना ही सत्य को समझ पाएँगे । क्या शास्त्र का अभ्यास करना, भजन करना आदि से अपराध दूर कर सकते हैं ?

उत्तर: अपराध ज्ञान को ढक देता है और एक बार अपराध करने के बाद (उसके निवारण के लिए) उसका कोई प्रायश्चित नहीं है । प्रायश्चित केवल कर्मकाण्ड मार्ग में है। कर्मकाण्ड मार्ग में पाप को मिटाने के लिए कोई न कोई विधान से प्रायश्चित करते हैं परन्तु भक्ति में प्रायश्चित के लिए कोई विधान नहीं है । यदि साधक अपराध करता है तो भक्ति-मार्ग से पतित हो जाता है और भक्ति में उसकी रुचि कम हो जाती है । अपराध अभिमान को दृढ़ करेगा । साधक आत्मकेन्द्रित और अभिमानी बनेगा और दूसरों का अनादर करने लगेगा ।

अधिकतर लोग जान बूझकर अपराध करते हैं । वे जानते हैं कि वे जो कुछ भी करने जा रहे हैं वह अपराध है तथापि करते हैं । अतः ऐसे अपराध को मिटाने का कोई उपाय नहीं है । यदि आप अपराध जानबूझकर करते हो तो ढ़ेर सारे प्रायश्चित भी अपराध को नहीं मिटा पाएँगे ।

गुरु भगवान की प्रतिकृति है । वे शिष्य को अलौकिक ज्ञान देते हैं जिससे उसका हित हो । उनका अस्तित्व शिष्य की उन्नति के लिए है तथापि लोग उनसे दुर्व्यवहार और उनकी अवज्ञा करते हैं । ऐसा कहा गया है कि गुरु अवज्ञा श्रुति शास्त्र निन्दनम् अर्थात् गुरु की अवज्ञा नाम अपराध है, जो १० अपराधों में से एक है । सभी साधक यह जानते हैं फिर भी गुरु के साथ एक सामान्य व्यक्ति सा व्यवहार करते हैं । अब आप ही बताएँ कि किस प्रकार की सेवा ऐसे अपराध को मिटा सकती है ? उन्हें मिटाने के लिए कुछ भी नहीं है ।

अतः अपराध करके उन्हें मिटाने के बदले प्रारम्भ से ही सावधानी से अपराध से बचो। जानकर कभी-भी अपराध नहीं करने चाहिए एवं अपराध से बचना कठिन नहीं है ।

हम अपनी समझ और अपने अभिमान को हमेशा महत्त्व देते हैं । यह (महत्त्व) गुरु या शास्त्र की अवज्ञा के अपराध का मूल कारण बन जाता है । गुरु और शास्त्र की अवज्ञा से अन्य सभी समस्या आती है । अतः इन दो अपराधों से हमेशा बचना चाहिए ।

श्री चैतन्य महाप्रभु ने छोटा हरिदास को क्षमा नहीं किया यह दर्शाने के लिए कि यदि जानकर कोई अपराध करता है तो उसे क्षमा नहीं किया जाता है और अपराध की सज़ा भुगतनी ही पड़ती है । ऐसा नहीं है कि अपराध करने के बाद साधक कुछ जप या सेवा (इसको निर्मूल करने के लिए) कर सकता है । कर्मकाण्ड मार्ग में यदि आप कोई पाप करते हो या किसी की हत्या करते हो तो दण्ड के रूप में आप् गो-दान कर सकते हो जिस से पाप का निवारण हो जायेगा । भारत में यह प्रणाली है कि जो व्यक्ति मरणासन्न है उसके (जीवनभर के सञ्चित) पाप के निवारण के लिए गो-दान किया जाता है । भक्ति में ऐसे कोई विधान नहीं है क्योंकि यह प्रणाली या विधान लोगों को पाप करने के लिए बढ़ावा देता है ।

भक्ति भावना की उन्नति के लिए है । प्रायश्चित करने से भावना की उन्नति नहीं होती है बल्कि वही फिर से अपराध करने के लिए प्रोत्साहित रहता है । वे सोचते हैं, "ठीक है । यदि मैं पाप करता हूँ तो उसे प्रायश्चित करके मिटा दूँगा ।" वे लापरवाह बन जाते हैं । अतः अपराध से बचना चाहिए । जैसे आप किसी का अनादर करते हो तो उसका आदर भी कर सकते हो । उसमें कोई आपत्ति नहीं है । यदि अवज्ञा कर सकते हो तो आज्ञापालन भी कर सकते हो । यदि कोई निष्ठावान और विचारशील है तो उसे केवल आदेश का पालन करना चाहिए । उस में कोई हानि नहीं है ।   ******

प्रश्न: अपराध और पाप में क्या अन्तर है ?

उत्तर: अपराध और पाप समानार्थी शब्द हैं । एक का विशाल क्षेत्र है, दूसरे का मर्यादित है । एक सामान्य अर्थ में है और दूसरा विशिष्ट अर्थ में लिया जाता है । पाप का सामान्य अर्थ होता है मूर्खता से कार्य करना या आदेशों का उल्लङ्घन करना । अपराध में भी उच्छृंखलता से कार्य करना और नियमों का उल्लङ्घन करना है । इस अर्थ में अपराध भी एक प्रकार का पाप है परन्तु अपराध कोई विशेष क्षेत्र में होता है। यह ऐसा कार्य है जो सीधा भगवान को अप्रसन्न करता है ।

उदाहरण स्वरूप, हर राज्य में संविधान और दण्ड संहिता होती है । हर नागरिक से उसका पालन करने की अपेक्षा रखी जाती है और यदि कोई उसका उल्लङ्घन करता है तो दण्ड मिलता है । यदि कोई महसूल नहीं भरता, चोरी या ख़ून करता है तो वह

दण्डित होता है । राज्य के क़ानून का उल्लङ्घन करके वे राज्य के प्रति पाप करते हैं । अब सोचो कि यदि कोई राजा का व्यक्तिगत सेवक है या उसके महल में काम करता है और वह राजा के आदेश का उल्लङ्घन करता है या ऐसा कुछ करता है जिससे राजा असन्तुष्ट हो तो उसे अपराध कहते हैं ।

अतः अपराध भगवान की सेवा से जुड़ा है और पाप समाज की व्यवस्था से जुड़ा है। यदि कोई धार्मिक संहिता का उल्लङ्घन करता है तो वह पाप है । यदि कोई साक्षात् रूप से भगवान को असन्तुष्ट करने का कार्य करता है तो वह अपराध है । अतः अपराध विशेष भयानक है क्योंकि वे साक्षात् भगवान की सेवा से और उन की असन्तुष्टि से जुड़े हुए होते हैं ।

पाप के लिए दूसरा भेद यह भी है कि उनके लिए प्रायश्चित का प्रावधान है । यदि कोई अनजाने में पाप करता है तो पश्चात्ताप करके उसकी असर से मुक्त हो सकता है, परन्तु अपराध के लिए कोई प्रायश्चित नहीं होता । इसी कारण अपराध करना अति भयानक है ।

भक्ति में साधक निश्चय करता है कि वह भगवान की प्रसन्नता के लिए कार्य करेगा और स्वयं को प्रभु सेवा के लिए समर्पित करता है । यदि वह स्वतन्त्र होकर या प्रतिकूल भाव से सेवा करता है तो उसका कोई समाधान नहीं है । वह अपने सङ्कल्प से प्रतिकूल कार्य करता है ।

भक्ति-मार्ग में अपराध सबसे बड़ी बाधा है क्योंकि भक्ति वह है जो भगवान को प्रसन्न करने के लिए की जाती है और अपराध वह है जिससे भगवान अप्रसन्न होते हैं । अधिकतर लोग अपराध के कारण ही भक्ति से प्राप्त नहीं कर पाते हैं । अधिकतम लोग नाम अपराध करते हैं जो भक्ति में बाधा है । इसी कारण सावधानी से अपराध से बचना चाहिए । शास्त्र यह बार-बार कहता है: वर्जनीयानि प्रत्यत्नेन अपराधानि (सचेत होकर निरन्तर प्रयास से अपराधों को टालना चाहिए ।)

******

प्रश्न: दशवाँ नाम अपराध दर्शाते हैं कि साधक को सांसारिक आसक्ति से दूर रहना चाहिए । इसका अर्थ क्या होता है ? क्या इसका अर्थ यह होता है कि हमें कुछ भी त्याग करना नहीं है परन्तु सब कुछ भगवान के लिए करना है ? मैं यह नहीं समझ पा रहा हूँ कि इन दोनों का कैसे सामञ्जस्य हो ?

उत्तर: अपराध का अर्थ होता है प्रतिकूल रीति से कार्य करना । सभी अपराधों में दो अपराध अधिक महत्त्वपूर्ण हैं: एक है गुरु की अवज्ञा या अनादर करना और दूसरा है शास्त्र की अवज्ञा करना (गूरोरू अवज्ञा एवं श्रुतिशास्त्र-निन्दनम्) ।
वास्तव में उन दोनों में से एक अधिक महत्त्वपूर्ण है और वह है गुरु की अवज्ञा या अनादर करना । उनका अनादर करना अर्थात् उन्हें सामान्य मनुष्य की तरह देखना । जब आप गुरु से स्पर्धा करना शुरू करते हो तब परिणाम स्वरूप आप उन के और स्वयं के विषयमें भी भौतिक विचारधारा बनाते हो । इससे देह और उससे सम्बन्धित वस्तुओं में मोह बढ़ेगा । इससे अधिक अपराध करोगे । गुरु स्वयं कृष्ण है इस भाव से यदि सेवा करोगे तो कोई लौकिक भावना नहीं रहेगी ।

सांसारिक सुख में मग्न रहना या आप सभी चीज़ों को स्वतन्त्र रूप से भोगना चाहते हो तो यह बात भगवान को अप्रसन्न करती है । एक तरफ़ यह कहते हो कि "मैं समर्पित हूँ और सब कुछ आपकी सेवा के लिए है" और दूसरी ओर आपको जो पसन्द है उन्हीं चीज़ों को भोगना चाहते हो । यदि ऐसा साधक जप करता है तो वह भी भगवान को प्रसन्न नहीं करता है । भगवान ऐसे साधक से अप्रसन्न होते हैं और उस से चिढ़ते भी हैं । भगवान सोचते हैं, "वह कहता कुछ और है और उसकी भावना कुछ और है एवं मेरा नाम भी लेता है ।" इस से भगवान चिढ़ते हैं । अतः यह अपराध है । अपराध अर्थात् जो अप्रसन्नता दे ।

उदाहरण स्वरूप, पहले भारतीय संस्कृति में एक शिष्टाचार था कि यदि किसी के अपने विद्यार्थी या शिष्य हैं और वह शिष्य अपने गुरु के साथ जाता है तो वह उनके सामने अपना परिचय विद्यार्थी या शिष्य के रूप में नहीं कराएगा । क्योंकि यदि वह ऐसा करता है तो इसका अर्थ यह होगा कि वह गुरु के साथ प्रतियोगिता कर रहा है और शिक्षक बनने पर गर्व कर रहा है । गुरु समक्ष हमें विनम्र होना चाहिए और अपने अभिमान पर इतराना नहीं चाहिए ।

जब आप गुरु को एक सामान्य मनुष्य मानते हो तब अपराध होता है । बस इसी एक सिद्धान्त से सब कुछ होता है । जब गुरु के लिए लौकिक मनोभाव होते हैं तब सब कुछ अपराध के रूप में प्रकट होते हैं ।

यदि साधक "गुरु पूजनीय है" इस भावना से गुरु की प्रसन्नता के लिए सेवा करे और जैसे अपने देह की देखभाल करता है ऐसे ही सेवा करे तो वह अन्य अपराध नहीं करता है । गुरु की अवज्ञा करना सब से महान अपराध है ।   ******

प्रश्न: क्या तीसरा अपराध "गुरु अवज्ञा" को विस्तृत रूप से समझाएँगे क्योंकि यह अपराध प्रत्यक्ष या परोक्ष हो सकता है ?

उत्तर: अवज्ञा यानि अनादर अर्थात् गुरु को महत्त्वपूर्ण न मानना, आदर न करना, गुरु बेहतर है इस बात को न स्वीकारना अथवा मानना कि गुरु से मैं बेहतर हूँ एवं अपने अस्तित्व को गुरु से अधिक मानना । परिणामतः ऐसी मानसिकता अपने व्यवहार में दिखायी देगी चाहे वह प्रत्यक्ष हो या परोक्ष हो । एक बार आप यह मान लोगे कि गुरु मुझसे बेहतर नहीं है तब आप उनका अनादर करने लगोगे क्योंकि आप सोचेंगे कि, "वे जानते नहीं हैं", "मैं (उनसे) अधिक जानता हूँ", या "वे निर्णय नहीं ले पा रहे हैं ।" इस प्रकार (आपकी) भावना दिखाई देगी । इस भाव का मूलभूत कारण है गुरु को सामान्य पुरुष समझना । जैसे ही गुरु को सामान्य समझने लगोगे तो ऐसे ही सोचोगे कि, "वे पूर्ण नहीं हैं", "वे अज्ञानता में हैं", "मैं उनसे अधिक जानता हूँ", या "उन का क्यों आदर करना चाहिए ?" ऐसे सभी विचार मन में आएँगे और आप उनकी अवज्ञा करोगे । गुरोर् अवज्ञा का मूल अर्थ है गुरु का अनादर करना और उनके आदेशों की अवहेलना करना ।******

प्रश्न: प्रथम अपराध जो कि वैष्णवों की आलोचना न करना है उस के विषय में हम कैसे विवेकी बन सकते हैं ? वैष्णवों की आलोचना करना और यह जानना कि भक्त कुछ ग़लत कर रहे हैं इन दोनों में क्या भेद है ? उदाहरण स्वरूप, यदि साधक को उचित धारणा नहीं है और वह भक्ति मार्ग पर है तो हमें उसका अनुसरण नहीं करना चाहिए । यदि हमें उसका अनुसरण नहीं करना है तब उसकी धारणा की आलोचना करनी पड़ेगी ।

उत्तर: आलोचना घृणा का एक प्रकार है । जब घृणा की भावना होती है तब आलोचना करते हो अर्थात् उस विशेष व्यक्ति का सर्वनाश करना चाहते हो । सही ग़लत का विवेक होने में और आलोचना में भेद है । यह भेद अपने और उनके उद्देश्य की विषमता पर आधारित है । आलोचना का उद्देश्य घृणा या नापसन्द करना है । आप उस व्यक्ति को समाप्त करना चाहते हो । किसी त्रुटि को जानने का उद्देश्य है कि आप सही बात को स्वीकारना चाहते हो । इस प्रकार की निन्दा को आलोचना नहीं कहते क्योंकि आप का उद्देश्य निन्दा करना नहीं है परन्तु जो सही है उसका स्वीकार करना और उस पर चलना है ।

भेद आप के उद्देश्य में है । यदि आप का उद्देश्य सही क्या है यह जानना है, तो उसके लिए क्या ग़लत है यह भी जानना होगा, जो आलोचना नहीं कहलाएगी । किन्तु यदि

उद्देश्य कुछ और है तो वह आलोचना होगी । मानो स्वच्छ पानी है और गन्दा पानी है। यह पानी स्वच्छ है यह जानना है तो पानी को गन्दा कहना यह आलोचना नहीं होगी क्योंकि आप का उद्देश्य स्वच्छ पानी पीना और गन्दा पानी का त्याग करना है । यदि आप का उद्देश्य गन्दे पानी की आलोचना करना नहीं है, बल्कि उसी पानी को स्वच्छ करके पीने का आग्रह है, तो वह आलोचना नहीं होगी ।

विशेषकर आचार्य या शिक्षक का कार्य है यह निर्देश करना कि सही क्या है और ग़लत क्या है क्योंकि उन्हें वास्तव वस्तु स्थापित करनी होती है । इसके लिए उन्हें आलोचना करनी होगी । यह आलोचना निन्दा करने के लिए नहीं किन्तु सही वस्तु स्थापित करने और सही मार्ग दिखाने के लिए होती है । अन्यथा उनके अनुयायी सही और ग़लत का भेद नहीं समझ पाएँगे ।

******

प्रश्न: जब एक भक्त दूसरे भक्त का कड़ा आलोचक बनता है तो क्या यह उसके आक्रमक स्वभाव का प्रकटन है या वह सेवा से संलग्न नहीं है उसकी निशानी है ?
उत्तर: यह अज्ञानता, अभिमान और इन्द्रिय-सुख में मग्न होने का परिणाम है । इसका भक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है । निम्न मानसिकता के कारण वह दूसरों की त्रुटियाँ और ग़लतियों को ढूँढता है और निन्दा करने में आनन्द पाता है ।

******

प्रश्न: विग्रह सेवा, सेवा अपराध के विषय में अधिक समझाएँगे ।
उत्तर: इस विषय में अधिक जानना है तो वराह पुराण में बताए ३२ अपराध और हरिभक्ति-विलास एवं भक्ति-रसामृत-सिन्धु में दर्शाये अपराधों का अध्ययन करना होगा। उनमें से कुछ अपराध है: ऊँचा बोलना, विग्रह के समक्ष गपशप करना, द्वादशी के दिन भगवान के चरणों से तुलसी हटाना या पौधे से तुलसी चयन करना, अस्वच्छ स्थिति में पूजा करना, पूजा के समय अपान वायु छोडना इत्यादि ।

सेवा-अपराध के साथ साथ नाम-अपराध से बचना चाहिए जो कुल दस है । गुरु की अवज्ञा करना और शास्त्रके आदेशों की आलोचना करना मुख्य नाम अपराध है ।

******

१०. अरुचि

प्रश्न: कल आपने लोगों की भगवान के प्रति रुचि और अरुचि के विषय में कहा था। क्या अरुचि अनादि अविद्या से आती है अथवा स्वेच्छासे निश्चित की हुई है कि वह व्यक्ति भगवान के विरुद्ध है ?

उत्तर: अरुचि अज्ञान (अनादि अविद्या) के कारण है । अज्ञानता के कारण व्यक्ति स्वार्थी प्रकृति का हो जाता है । अर्थात् वह देहके प्रति अत्यासक्त है । ******

प्रश्न: आप ने कहा था कि यह द्वेष भगवान के लिए रुचि में कभी भी बदल नहीं सकता। इस से प्रतीत होता है कि यह व्यक्ति का अन्तिम निर्णय है, किन्तु साधु-सङ्ग से अथवा शास्त्र-श्रवण से क्या द्वेष से मुक्त नहीं हो सकता है ?

उत्तर: भगवान के प्रति अरुचि करने की प्रवृत्ति से मुक्त होने की सम्भावना है, किन्तु यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि अरुचि भक्ति में बदल सकती है । कुछ लोग सोचते हैं कि अरुचि स्वयं रुचि में बदल जायेगी । फिर भी, जैसे मैं ने पहले कहा, अरुचि रुचि में नहीं बदलेगी । आप को अरुचि को त्यागना ही होगा । कामुकता प्रेम में बदल जायेगी यह अवधारणा ही सम्पूर्ण ग़लत है । ******

प्रश्न: मानो अभी एक व्यक्ति अरुचि रखता है, तो भगवान और शास्त्र के लिए क्या उसे कभी रुचि नहीं होगी ?

उत्तर: उसे रुचि कभी नहीं होगी क्योंकि उसने अपनी रुचि अन्य वस्तुओं के लिए की है और सही वस्तु, जो भगवान है उनके लिए अरुचि विकसित की है । परिणामतः वे निरन्तर भगवान की उपेक्षा कर के अन्य को पसन्द करेंगे, दल बनाएँगे, समान दल में मिल जाएँगे और अपनी रुचि और अरुचि में दृढ़ रहेंगे । वे हमेशा समाज के साथ मिलकर चलते हैं, सामाजिक सोच और परम्पराओं में रहते हैं । यदि आप उन्हें शास्त्र से कुछ कहने का प्रयत्न करोगे तो वे उसे स्वीकार नहीं करेंगे । इसीलिए श्रीकृष्ण ने कहा है:

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्वतः ।। (गीता ७.३)

"सहस्र मनुष्यों में से कोई एक सिद्धि प्राप्त करने लिए प्रयत्न करता है; और उन प्रयत्न करनेवालों में भी सिद्धि प्राप्तिवाले में से भी मुश्किल से कोई मुझे यथार्थ रूप में जानता है ।"

केवल यदि कोई साधु-सङ्ग प्राप्त करता है तो वह शास्त्रको स्वीकार कर सकेगा, अन्यथा व्यक्ति निरन्तर सांसारिक प्रयोजन और रुचिमें व्यस्त रहेगा । ******

११. अवतार

प्रश्नः आवेश अवतार के दो प्रकार हैं। प्रथम वह विशेष आत्मा जो भगवान से शक्ति प्राप्त करती है और द्वितीय वह है जहाँ भगवान स्वयं एक आत्मा में प्रवेश करते हैं। यह कैसे सम्भव हैं ?

उत्तरः आवेश अवतार जिन में भगवान प्रवेश करते हैं, उन में मनुष्यों के शिक्षार्थ यह 'अहम्' होता है कि "मैं" भगवान हूँ। उदाहरण के लिए वेदान्त में एक सूत्र है (१-१-३०) जहाँ ऋषि वामदेव के विषय में उपनिषद् का एक कथन है। उस ऋषि ने कहा, "मैं मनु हुआ, मैं सूर्य हुआ, मैं चन्द्रमा हुआ" अर्थात् वह सर्वात्मा है। वह उन में से कुछ भी नहीं बना है (वह मनु आदि के रूप में नहीं हुआ है) यथार्थ में यह मात्र शिक्षा देने के लिए कहा गया है। उदाहरण स्वरूप अगर कोई सरकारी दफ़्तर में कार्य करता है, और वह कहता है, "मैं सरकार हूँ," अथवा "मैं सरकार से जुड़ा हूँ," इसका अर्थ हुआ कि वह सरकार का एक प्रतिनिधि है। तथापि सामान्य जन उसे सम्मान देते हैं क्योकि वह सरकार का प्रतिनिधित्व करता हैं। एक राजदूत जो विदेश से आता है उसके साथ उस देश के प्रधान के रूप में व्यवहार किया जाता है, यद्यपि वह प्रधान नहीं है। वह किसी अपराधिक कार्य या पुलिस कार्यवाही से उन्मुक्त है। उसे जेल में बन्द नहीं कर सकते और न्यायालय में नहीं बुलाया जा सकता। उसे वैसी ही सुविधाएँ प्राप्त हैं, ठीक जैसी किसी देशके प्रधान को प्राप्त हैं। आवेश अवतार इसी तरह मनुष्यों को शिक्षा प्रदान के लिए है। वे कह सकते हैं कि "भगवान की शरण ग्रहण करो" अथवा "मेरी शरण ग्रहण करो"। वे मात्र मानव शिक्षा के लिए है। ******

प्रश्नः श्रीमद्-भागवत में वर्णन है कि नृसिंह देव स्वर्ग में प्रकट हुए थे। क्या दक्षिण भारत का तीर्थ स्थान अहोवलम मूल स्थान है जहाँ नृसिंह देव प्रकट हुए थे ?

उत्तरः श्रीनृसिंह देव विभिन्न कल्पों में भिन्न-भिन्न स्थानों पर प्रकट हुए थे। ठीक जैसे भागवत् में एक वाराह भगवान नहीं अपितु अनेक वाराह अवतार का वर्णन है। यद्यपि उनका वर्णन ऐसे किया गया है जैसे कि वे एक विभिन्न वाराह हैं। ******

प्रश्नः अर्थात् श्री नृसिंह देव का अवतार अहोवलम में हुआ था ?

उत्तरः हाँ। ******

प्रश्नः क्या कभी दूसरे कल्प में उनका अवतार स्वर्ग में होता है ?

उत्तरः हाँ। ******

प्रश्नः मैं ने पढ़ा है कि प्रत्येक कलियुग में युगावतार होता है, किन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभु ब्रह्माजी के केवल एक दिन में अवतार लेते हैं, तो ये दूसरे कलियुग अवतार कौन है?
उत्तरः इन अवतारों (के अवतरण-क्रम) का सुनिश्चित उल्लेख नहीं है । जब श्रीकृष्ण अवतरित होते हैं, तब उनके बाद आनेवाले कलियुग में श्रीचैतन्य महाप्रभु अवतरित होते हैं । श्रीकृष्ण प्रत्येक द्वापर युग में अवतार नहीं लेते हैं । अन्य अवतार होते हैं किन्तु कौन आते हैं, यह सुनिश्चित नहीं है । ******

१२. असुर (देव-शत्रु)

प्रश्नः क्या असुर कृष्णलीला में विभिन्न अनर्थों का प्रतिनिधित्व करते हैं ?
उत्तरः श्रीकृष्ण का पृथ्वी पर आने का मुख्य कारण यह है कि वे धर्म की स्थापना धर्म-संस्थापनार्थाय (गीता ४/८) और असुरों का विनाश करना चाहते हैं । वे यही कार्य करते हैं । मनुष्य व्याख्या कर सकते हैं कि असुर-गण अनर्थों के प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु मूल अर्थ यही है जो कृष्ण ने इस श्लोक में कहा है कि वे धर्म की स्थापना के लिए आते हैं अर्थात् – अनुशासन के लिए अवतरित होते हैं ।

असुर वे हैं, जो अनुशासन को स्वीकार नहीं करते हैं और जो विघ्नों को उत्पन्न करते हैं । उनका मुख्य आक्रमण ब्राह्मणों पर होता है - अर्थात् शिक्षा पर आक्रमण । अतः वे (शिक्षास्थान) यज्ञ-विध्वंस करते हैं और ब्राह्मणों को कष्ट देते हैं या हत्या करते हैं, क्योंकि एक बार शिक्षा नष्ट हो जाये तो वे मनुष्यों पर शासन कर सकते हैं । अशिक्षित व्यक्तियों को शोषण करना सहज है जब कि शिक्षित व्यक्तियों को सहज से मूर्ख नहीं बनाया जा सकता है । अतः श्रीकृष्ण असुरों को मारते हैं क्योंकि उन्हें शिक्षित करना सम्भव नहीं है । उनके साथ कोई संवाद किया जाय, उपदेश दिया जाय या उन्हें कुछ सीख दी जाये उसके बजाय वे उन्हें नष्ट ही कर देते हैं ताकि दूसरे लोग उनके (कृष्णके) आदेश का शान्तिपूर्वक पालन कर सकें । असुरों को मारने का यही वास्तविक अर्थ है, चाहे वह कंस हो या दूसरे कोई असुर । *******

प्रश्नः तो क्या यहाँ असुर अनर्थ के रूपकात्मक नहीं है ?
उत्तरः यदि यह रूपक है, तो इसका यह अर्थ नहीं है कि यह वास्तविक नहीं है । रूपकात्मक का अर्थ है कि कोई वस्तु जिस प्रकार वर्णित है उस प्रकार अस्तित्व में नहीं है । यह सब श्रीकृष्ण की लीलाएँ हैं और उन्हें केवल रूपकात्मक के रूप में नहीं लेना चाहिए । ******

प्रश्नः क्या श्रीकृष्ण-लीला में असुर हमेशा विरोधी हैं ?

उत्तरः वे हमेशा विरोधी हैं, यह उनका भाव है । जब श्रीकृष्ण उनको चाहते हैं तब वे उनकी लीलाओं में भाग लेते हैं, अन्यथा वे उनके धाम में मूर्त्तियों के रूप में अवस्थित रहते हैं । जब श्रीकृष्ण वीर रस का आस्वादन करना चाहते हैं, अर्थात् शौर्य या वीरता, तब उन्हें सक्रिय कर देते हैं और असुर उनकी लीलाओं में भाग लेते हैं ।
भक्त लेकिन भगवान के विरोधी नहीं होते हैं । अतः ये असुर भक्त नहीं हैं, लेकिन वे परिकर हैं ।

भगवान में सब कुछ है । उन में परस्पर विपरीत गुणों का भी समावेश है । वे प्रत्येक वस्तु को बिना किसी संघर्ष के अपने में समायोजित कर सकते हैं । उनके लिए ये कोई समस्या नहीं है । असुरों के साथ अपनी लीलाओं में भगवान अपने कुछ विशेष गुण प्रकट करते हैं, जो अन्यथा प्रदर्शित नहीं होते हैं । जब प्रतिस्पर्धी रहते हैं, तब आप कुछ अलग गुण प्रकट करते हैं, लेकिन जहाँ विरोध नहीं हैं, तब (आपका) यह विशेष स्वभाव दिखाई नहीं देता है ।

१३. अहङ्ग्रह-उपासना

प्रश्नः भक्ति सन्दर्भ में यह वर्णन है कि कोई भी जो अहङ्ग्रह-उपासना कर रहा है (स्वयं की भगवान के रूप में पूजा) वह सारूप्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है । यदि अहङ्ग्रह-उपासना भक्तिके विरूद्ध है तो वह कैसे सारूप्य मुक्ति प्राप्त कर सकता है ?
उत्तरः उन्हें मुक्ति मिलती है, भक्ति नहीं । सारुप्य प्राप्त होने का यह अर्थ नहीं है कि वह भक्त बन गया । भगवान के लिये यह कोई समस्या नहीं है कि ऐसे लोगोंको अपने धाम में निवास करने दें । भक्ति का अर्थ है सेवा । भगवान उन व्यक्तियों को भक्ति क्यों देंगे जो उनकी सेवा करना पसन्द नहीं करते हैं ?   ******

१४. आत्म समर्पण

प्रश्नः "मैं अपने गुरु-जन का सेवक हूँ" मैं यह भाव कैसे विकसित कर सकता हूँ ?
उत्तरः जब आप दीक्षा लेते हो स्वयं को गुरु को समर्पित करते हो, तब स्वयं आपके मन में यह अहम्भाव प्रकट होता है कि आप अपने गुरु के और कृष्ण के सेवक हो, परन्तु इसके लिए आप को निष्ठा से कार्य करना होगा ।
यह एक सरल बात है । उदाहरण स्वरूप, जब आप किसी कम्पनी में किसी संचालक या प्रोग्रामर की पदवी के लिए नियुक्त होते हो तो आप यह नहीं कहते कि, "मैं कैसे यह अहम्भाव बनाऊँगा कि मैं एक प्रोग्रामर हूँ ?" इसके लिए आप को कुछ भी विशेष करने की आवश्यकता नहीं है । और यदि आप कोई दुकान चलाते हो तो आप यह नहीं सोचते कि, "मुझे दुकानदार का अहम्भाव लाने के लिए क्या करना चाहिए ?"

आप मात्र दुकान चलाते हो इस अहम्भाव से कि मैं दुकानदार हूँ । यह अहम्भाव लाने के लिए आप को कुछ भी विशेष नहीं करना होता है ।
दीक्षा के समय जब आत्मसमर्पण करते हो, तो आप में ऐसा अहम्भाव होता है कि आप एक सेवक हो । नहीं तो, यदि लोग आत्मसमर्पण न करें और यह सोचे कि यह मात्र एक विधि है जो करनी पड़ती है, फिर उनकी रुचि संसार में रहेगी । ऐसे में उनकी प्रगति भौतिक रूप से लौकिक सुख पाने में ही होगी । प्रायः लोग आध्यात्मिक जीवन में लौकिक उन्नति के लिए दीक्षा अपनाते हैं, न कि इस अहम्भाव को विकसित करने के लिए कि, "मैं एक सेवक हूँ ।" मौखिक यह कहेंगे, पर अहम्भाव नहीं होगा क्योंकि वे उस प्रकार व्यवहार नहीं करते हैं ।

दीक्षा लेने के बाद आप आत्म-समर्पण करते हो और उस प्रकार व्यवहार करते हो, तो आप में ठीक अहम्भाव आएगा । ऐसा अहम्भाव स्वयं स्फुरित होता है जिस से आप को और कुछ करने की आवश्यकता नहीं रहेगी ।

कई लोग दीक्षा लेते हैं और उसके बाद उनका गुरु के साथ कोई व्यवहार नहीं रहता है । वे अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखते हैं । उन्हें गुरु पसन्द भी नहीं आते । आप यह कैसे आशा कर सकते हो कि वे अपने कर्म से मुक्त हो सकते हैं तथा एक सेवक का अहम्भाव प्राप्त करेंगे ? वे इसीलिए दीक्षा लेते हैं कि यह एक सामाजिक विधि है । जब कोई आप को पूछता है कि आप के गुरु कौन हैं तब कहने के लिए आप के कोई गुरु हैं । परन्तु दीक्षा का यह वास्तविक उद्देश्य नहीं है । ******

प्रश्न: यदि कोई आत्म-समर्पण न करे तो क्या होगा?
उत्तर: आप का कहने का तात्पर्य क्या है ? ******

प्रश्न: कुछ समय के लिए वह इसका पालन नहीं करता है ।
उत्तर: सर्व प्रथम तो आप को आत्म-समर्पण का अर्थ समझना होगा । आत्म-समर्पण का अर्थ यह है कि आप स्वतन्त्र नहीं हैं । यही मुख्य सिद्धान्त है । जब आप सोचते रहेंगे कि, "मैं स्वतन्त्र हूँ", तो जब आप गुरु को कुछ आर्थिक सहायता दोगे तब भी यही सोचोगे कि, "मैं एक धनी व्यक्ति हूँ और मेरे गुरु दीन हैं, तो चलिए उन्हें कुछ पैसे दे देता हूँ ।" यह आत्म समर्पण नहीं है । आत्म-समर्पण का अर्थ होता है कि शिष्य में यह भावना और अहम्भाव होता है कि, "मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ, परन्तु अपने गुरु का सेवक हूँ ।" यही अहम्भाव हर पल आप के मन में होना चाहिए ।

•

आप को यह अहङ्कार हो सकता है, "मैं यह हूँ, मैं माता, पिता या बहन हूँ," परन्तु यह सब लौकिक सम्बन्ध है । गुरु के साथ आप का आध्यात्मिक सम्बन्ध होना चाहिए और इसका अर्थ यह है कि आप हमेशा के लिए उनके सेवक हैं, चाहे आप कहीं भी जाओ या कुछ भी करो । जब यह भावना आप के मन में होगी तभी आप सब कुछ सही ढंग से कर पाओगे । ऐसा नहीं है कि आप ने निश्चय किया कि, "ठीक है, मैं ५०% समर्पित होता हूँ ।" ******

प्रश्न: परन्तु यदि किसी को अपने परिवार और अपने ऑफ़िस काम के लिए और कुछ करना पड़े तो क्या ?

उत्तर: आप जो कुछ भी कर रहे हो, उसे करते रहो । उसे करने के लिए आप को कोई रोक-टोक नहीं है । यदि आप विवाहित हैं और मानो आप पति हैं, तो ऑफ़िस में काम करते समय भी आप पति ही रहोगे । ऐसा नहीं है कि ऑफ़िस में काम करते समय या कोई व्यापार करते समय आप पति नहीं रहोगे । आप जो कुछ भी कर रहे हो उस समय आप यह नहीं भूलते कि आप किसी के पति हो । आप सारा समय न अपनी पत्नी और बच्चों को देते हो और न ही सारा पैसा उन पर व्यय करते हो, फिर भी आप का अन्तर्भाव यही रहता है कि आप अपनी पत्नी के पति और बच्चों के पिता हैं । आप हर समय उनके बारे में नहीं सोचते हो और शायद अपना ५०% समय भी उन्हें नहीं दे सकते हो । गुरु के सम्बन्ध में भी ऐसा ही होता है । परन्तु आप यह नहीं सोचोगे कि गुरु के लिए मैं इतना समय बिताऊँगा और फिर गुरु प्रति मेरा कर्तव्य पूर्ण हो जाएगा क्योंकि ऐसा करने से गुरु के प्रति मैं मेरा उत्तरदायित्त्व पूर्ण करूँगा । "मैं गुरु का सेवक हूँ" ऐसा भाव सदा बना रहता है । यह कोई सौदा नहीं है जहाँ आप ५०% समय गुरुसेवामें देते हो ।

जब एक भारतीय कन्या का विवाह होता है तो विवाह के बाद उसका भाव बदल जाता है कि, "मैं अब एक पत्नी हूँ और यह मेरे पति हैं ।" पति की मृत्यु के बाद भी उसका भाव यही रहता है, जब तक वह पुनः विवाह[2] न करे तब तक । यह भाव मात्र लौकिक देह पर आधारित है । यह अप्राकृतिक सम्बन्ध नहीं है । वह अपने पति को स्वीकार करती है और अपने परिवार, माता, पिता, भाई, बहन, गाँव, जन्मस्थान और सभी वस्तुओं का त्याग करती है । वह अपने पति के साथ रहने उसके घर जाती है और अपना नाम भी बदल देती है । यह सब लौकिक पद है, फिर भी उस में यह भाव

---

[2] भारत देश में प्राचीन समय में पुनः विवाह की प्रथा नहीं थी ।

आता है, "मैं इसकी पत्नी हूँ"। ऐसा गुरु के साथ क्यों नहीं होता ? पत्नी यह सोचती नहीं है कि, "मैं ५०% पत्नी हूँ या ५०% विवाहिता हूँ ।"

जिस क्षण उसका विवाह होता है, उसी क्षण से वह अपना भाव बदल देती है । विवाह के बाद एक पत्नी की सभी ज़िम्मेदारी वह निभाती है । विवाह के बाद पत्नी बाबुल या पिहर जाएगी तो ऐसा कभी नहीं कहेगी कि, "अब मैं बाबुल के घर में हूँ इसीलिए यहाँ मैं विवाहित नहीं हूँ और वह मेरे पति नहीं है ।" वह जहाँ भी है, वह एक विवाहित नारी ही है । अपने पति के घर को अपना घर मानती है और बाबुल के घर को विवाह के बाद अपना नहीं मानती । यदि अपने पिता और पति के बीच कलह होता है, तब भी वह अपने पति का पक्ष लेगी ।

ऐसा ही गुरु के साथ होता है । मानो दूर रहने के कारण आप उन्हें देख नहीं पाते हो, तो इसका अर्थ यह नहीं होता है कि आप शिष्य नहीं हो या फिर आप मात्र ५०% या ९०% ही समर्पित हो । आप १००% गुरु को समर्पित हो ऐसा ही भाव रखो ।

******

प्रश्न: क्या यह सच है कि चाहे हम कुछ भी करते हों, परन्तु जितना हम गुरु के प्रति जाग्रत होंगे, उतना ही अधिक प्रेम उनके लिए बढ़ेगा ?

उत्तर: हाँ, यह उनके प्रति भाव की बात है । जब एक बार यह भाव आ जाए तो कर्म या किसी और वस्तु के सहारे की आवश्यकता नहीं रहती । कर्म कहीं साथ नहीं रहता। कर्म तभी बनते हैं जब आप सोचते हैं कि आप स्वतन्त्र हैं । जब आप की यह भावना होगी कि, "मैं अपने गुरु का सेवक हूँ और वह मेरे सदैव स्वामी है", फिर जो कुछ भी आप सामाजिक जीवन में कर रहे हैं वह सब करते रहेंगे । ऐसा नहीं है कि आप इस लौकिक जगत में नहीं जिओगे, या वास्तव में आप लोगों से सम्बन्ध नहीं रखेंगे या फिर कोई व्यापार नहीं करेंगे । आप यह सब कुछ करेंगे, परन्तु हर क्षण यह भाव आप के मन में रहेगा कि, "मैं अपने गुरु का सेवक हूँ ।"

******

प्रश्न: बौद्धिक स्तर पर शरणागति की सङ्कल्पना को समझना एक बात है, पर व्यावहारिक स्तर पर उसे आप कैसे अपनाओगे ? कोई कैसे शरणागति की समझ को कार्य में बदल सकता है ?

उत्तर: यदि आप यह समझ जाओगे तो अपने आप उसे अपने व्यवहार में अपनाने लगोगे। एक बार बौद्धिक ज्ञान और सही धारणा आप ने ग्रहण कर ली, तो फिर अपने आप सही कार्य होते जाएँगे क्योंकि आपके कार्य आपकी समझ के अनुसार होते हैं । आप ने जो कुछ भी समझ पाई उस में यदि आप को पूरा विश्वास है, तो आप उसे

स्वीकार कर के आचरण करोगे । यदि आप यह समझते हैं और स्वीकार भी करते हैं कि शरणागति का अर्थ अनुकूल कार्य करना है और प्रतिकूल कार्य नहीं करना है, तो फिर आप उचित कार्य ही करोगे । आप को केवल अनुकूल ही करना और प्रतिकूल को त्याग देना हैं । ******

प्रश्न: कोई दृढ़ सङ्कल्प कैसे कर सकता है ? उसके हृदय में ऐसा क्या होता है कि उसे दृढ़ विश्वास होने लगता है, क्योंकि भक्ति-रसामृत-सिन्धु ग्रन्थ में यह कहा है कि व्यक्ति को लौल्यम् (दृढ़ विश्वास के लिए तीव्र इच्छा) होनी चाहिए) ।
उत्तर: यह दृढ़ता भगवान की इच्छा से होती है, क्योंकि वही प्रेरणादेव है । जब वह किसी को स्वीकारना चाहते हैं, तो भगवान उस के मन में ऐसी भावना या दृढ़ इच्छा स्थापित करते हैं जिस से वह व्यक्ति स्वाभाविक रूप से अनुकूल कार्य करने लगता है और अन्य इच्छाओं का त्याग करता है ।

लौकिक जगत में व्यक्ति के पूर्व संस्कार और स्वभाव जो उस ने पाया है उसके अनुसार वह सङ्कल्प करता है । यह सङ्कल्प उसे भिन्न-भिन्न इच्छाएँ और उनकी पूर्ति करने की शक्ति देता है । परन्तु भक्ति के प्रति आसक्ति होना यह लौकिक नहीं है क्योंकि भक्ति लौकिक नहीं है । जैसे भक्ति भगवान से आती है, वैसे भक्ति की इच्छा भी भगवान से आती है । दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा भी भगवान से ही आती है ।

******

प्रश्न: गुरु द्वारा दी गयी साधना क्या व्यक्तिगत है या फिर सबके लिए एक जैसी है ?
उत्तर: वह सब के लिए समान है क्योंकि वह गुरु के नेतृत्त्व में ली जाती है, जिसका प्रथम सोपान है स्वयं को पूर्ण रूप से गुरु को समर्पित करना । फिर साधना के भिन्न-भिन्न अङ्ग, जैसे कि श्रवण, कीर्तन, स्मरण, सेवा करना, प्रणाम करना इत्यादि । साधक अपनी पसन्द, रुचि और श्रद्धानुसार भक्ति का एक विशेष अङ्ग अपनाता है । वह साधक की अपनी पसन्द पर आधारित है, क्योंकि यह मार्ग व्यक्तिगत पसन्द पर भी आधारित है । ऐसा नहीं है कि आप को पालन करने के लिए निश्चित नियम दिए जाते हैं । मात्र एक ही नियम है, और वह है स्वयं को समर्पित करना । उसके बाद आप अपनी रुचि अनुसार कार्य करो ।

भक्ति में साधना और साध्य भिन्न-भिन्न नहीं है । साधना भी सेवा है और परिणाम भी सेवा है । भेद मात्र साधक के भाव में है । शुरू में कदाचित् ममत्त्व न हो, पर अन्त में उसकी भगवान में आसक्ति हो जाती है । बस यही मात्र भेद है । आप अपना कार्य करते रहो और आप की रुचि बढ़ती जाएगी ।

अन्य मार्ग में साधना और साध्य के बीच भेद होता है । उदाहरण स्वरूप, यदि आप कहीं प्रस्थान करना चाहते हो तो आप प्रायः कार का उपयोग करोगे । कार की तुलना साधना से की जा सकती है, क्योंकि वह एक साधन है और गन्तव्य स्थान साध्य है । जब आप गन्तव्य स्थान तक पहुँच जाओगे, तो साधन की आप को आवश्यकता नहीं रहेगी, परन्तु भक्ति में साधना और साध्य दोनों एक ही है और वह है भक्ति । भेद केवल साधक के भाव में है । आरम्भ होता है श्रद्धासे, अर्थात् भगवान और गुरु की वाणी में विश्वास रखना और उसी आधार पर साधक प्रगति करता है ।

अन्य मार्ग में आरम्भ और अन्त में भेद होता है । जो भक्ति-मार्ग को ठीक से नही जानते हैं वे भी यही कहते हैं । वे कहते हैं कि यदि आप भक्ति करोगे तो मुक्ति पाओगे। परन्तु उत्तमा-भक्ति में साधना और साध्य में कोई अन्तर नहीं है। आप सेवा करते हो और परिणाम स्वरूप सेवा ही पाते हो । ******

प्रश्न: शरणागति क्या है ? क्या वह एक क्रिया है या ऐसा कुछ है जो मेरे हृदय में होता है ?
उत्तर: यह एक भाव है जो एक भावना की तरह प्रकट होती है और व्यवहार में भी प्रकट होती है । ******

प्रश्न: क्या आप मुझे शरणागति का विशिष्ट अर्थ समझाएँगे ? क्या मुझे अपना पूर्ण जीवन, मेरा अस्तित्व, या और कुछ समर्पित करना होगा ?

उत्तर: आप को स्वयं को समर्पित करना होगा । समर्पण एक भाव है कि "मैं सदैव अनुकूल कार्य करूँगा, प्रतिकूल कार्य नहीं करूँगा", और यह भावना आप में होना आवश्यक है । यही शरणागति का सारांश है । यदि आप में एक वार भी यह भाव आ जाय, तो आप के सभी कार्य इसी सिद्धान्त के आधार पर होंगे । आरम्भ में अपने ज्ञान और अपनी इस समझ से कार्य करोगे और सिद्ध स्तर पर वह कार्य स्वाभाविक रूपसे होगा क्योंकि आपने प्रीति प्राप्त कर ली है । प्रीति का मुख्य लक्षण यह है कि आप प्रीति के विषय (आलम्बन यानि प्रभु) को प्रसन्न करना चाहते हो । शेष सभी कार्य स्वाभाविक रूप से होते रहेंगे एवं सभी कार्य भगवान को प्रसन्न करने की शुद्ध भावना से करते रहोगे ।

अन्य मार्ग में साधक स्वतन्त्र रहता है और कोई विशेष फल पाने के लिए कार्य करता है । परन्तु भक्ति में आप ने स्वयं को समर्पित किया है अतः कर्मफल जमा नहीं होते हैं। आप स्वयं को स्वतन्त्र न समझकर एक सेवक मानते हो । कर्मफल को कहीं न कहीं टंगना ही है । जैसे कपड़े को खूँटी पर टांगते हैं परन्तु यदि खूँटी ही नहीं है, तो कपड़े कैसे टाँगोगे ? उत्तमा-भक्ति में कर्म का मूल अहङ्कार "मैं स्वतन्त्र हूँ", निरस्त हो जाता है । अतः ऐसा कहा जाता है कि भक्ति में साधक तुरन्त ही मुक्त हो जाता है । यदि वह समर्पित है तो उसके पास अपने भूत, भविष्य और वर्तमान के कर्मों का फल प्राप्त नहीं होता है । वह अब बिल्कुल भी स्वतन्त्र नहीं है, परन्तु स्वयं को भगवान और गुरु का सेवक मानता है । इस प्रकार भक्ति का प्रारम्भ होता है और भक्ति बढ़ती ही जाती है । बाद में यह आप का सहज व्यवहार बन जाता है ।

शरणागति एक स्थायी लक्षण है, क्योंकि वह लौकिक गुण का आविष्कार नहीं है । वह विशुद्ध सत्त्व (भगवान की अन्तरङ्गा शक्ति) है । समर्पण का भाव अति गहरा होता जाता है ।

******

प्रश्न: शरणागति के लक्षण क्या है और जो समर्पित हुआ है उसमें क्या बदलाव आते हैं ?

उत्तर: शरणागति के लक्षण है कि आप को भगवान और गुरु के लिए अनुकूल कार्य करना अच्छा लगता है और प्रतिकूल कार्य करने से बचते हो । आप को अपना सहयोग देना अच्छा लगता है और अपने गुरु और गुरुवाणी के प्रति कभी भी अरुचि नहीं होती है । एक समर्पित साधक के विचार उसके गुरु के विचार से कभी भिन्न नहीं होते हैं । वह कभी भी ऐसी (अपनी) कुभावना नहीं रखेगा जो गुरु के उद्देश्य से विपरीति हो, और न ही वह भक्ति सम्बन्धित या गुरु की इच्छा से विपरीत ऐसा कोई कार्य करेगा जिसमें अपना स्वार्थ निहित हो ।

******

प्रश्न: ऐसी शरणागति सैद्धान्तिक रूप से एक क्षण की है, परन्तु इसे क्या क्रम से कार्यान्वित किया जा सकता है ?

उत्तर: वह क्रमिक हो सकती है, परन्तु कभी कभी वह शीघ्र भी हो सकती है । किसी को उपदेश देने से या मनाने से उत्तमा-भक्ति नहीं मिल सकती । वह भगवान और गुरु की कृपा से होती है । एक बार आप निश्चय करोगे तो कभी भी उसमें अस्थिरता नहीं आएगी और भक्ति बढ़ती ही जाएगी ।

यह अस्थिरता अन्य मार्ग में है जो प्राकृतिक गुणों से सम्बन्ध रखते हैं । योग, ज्ञान और कर्म मार्ग में अस्थिरता है क्योंकि वहाँ व्यक्ति स्वतन्त्र रहता है । कुछ आध्यात्मिक साधना दी जाती है । परन्तु यह मुख्य समस्या का समाधान नहीं देता । वे कुछ कसरत, योगादि करते हैं एवं भिन्न साधना करते हैं, परन्तु अन्त में किसी भी प्रकार की आध्यात्मिकता प्राप्त नहीं होती है ।

उत्तमा-भक्ति ही एक केवल ऐसी भक्ति है जो सीधी और सरल है, जो समस्या को जड़ से दूर करती है क्योंकि वह भगवान की अनुकूल सेवा पर आधारित है । एक बार व्यक्ति शपथ ले लेता है और अपने गुरु के निर्देशों का पालन करता है तो समझो कि वह सही मार्ग पर जा रहा है । ऐसा न विचार-विमर्श से होता है और न ही किसी के उपदेश से होता है । ऐसा केवल भगवान की कृपा से ही होता है । अतः उत्तमा-भक्ति लौकिक वस्तु पर आधारित नहीं है । अतः इसे कोई क्यों पसन्द करता है उसका कोई कारण नहीं है । यह अकारण है । क्यों किसी को सेवा करना अच्छा लगता है ? इस का कोई कारण नहीं है क्योंकि यदि कोई कारण है तो इसका अर्थ होता है कि उसका कोई लौकिक कारण है ।

जगत में जो लोग अज्ञानी है, उन्हें इन्द्रिय-सुख में आसक्ति होती है । किसी को उन्हें समझाने की आवश्यकता नहीं होती कि उन्हें लौकिक सुख पाना चाहिए । इन्द्रिय सुख की आसक्ति के लिए न तो उन्होंने कोई साधना की है और न ही किसी ने उन्हें इस बात के लिए समझाया है । ऐसा स्वयं ही हो जाता है । यह कोई विवेचन या अभ्यास पर आधारित नहीं है । जैसे लोगों को सांसारिक सुख अच्छा लगता है, ठीक उसी प्रकार भक्तों को सेवा करना अच्छा लगता है ।　******

प्रश्न: मुझे ऐसा लगता है कि मैं यह पुनः पुनः सङ्कल्प करूँ । यदि मैं इसे बार बार करता हूँ तो स्वाभाविक है कि वह सङ्कल्प नहीं है ।
उत्तर: यह कोई ऐसा सङ्कल्प नहीं है जिसे जब जी चाहा पसन्द किया, नहीं तो छोड़ दिया ।
******

प्रश्न: कोई सम्पूर्ण समर्पित न होकर आंशिक समर्पित हो तो क्या होगा ? उसको पूर्ण लाभ मिलता है ?
उत्तर: आंशिक समर्पण जैसा कुछ नहीं है ।　******

प्रश्न: क्या आप नवधा भक्ति के विषय में विशेष समझाएँगे ?

उत्तर: श्रवण, कीर्तन, स्मरण आदि ऐसा नवधा भक्ति का वर्णन श्रीमद् भागवत ७.५.२३-२४ में किया है, वह गुरु को समर्पित होने के बाद की जाती है । इन नवधा भक्ति में से आत्मनिवेदन मुख्य है और अन्य प्रकार उसके अंश है । इसका अर्थ होता है कि समर्पण मुख्य है । एकबार समर्पण हो जाय तो भक्ति के अङ्ग स्वतः आ जायेंगे।

आत्म निवेदन के बिना अन्य अङ्गो को भक्ति नहीं मानते । सर्व प्रथम गुरु-शरण में जाकर स्वयं को समर्पित करना होता है और तत्पश्चात् सेवा में लग्न होते हैं । यद्यपि आत्मनिवेदन भी भक्ति का एक अङ्ग है, पर साथ में इन सभी (नवधा भक्ति) में यह मुख्य या सामान्य रूप से रहती है, चाहे वह श्रवण, कीर्तन, समर्पण या इन आठ शेष में से कोई भी प्रकार क्यों न हो । ******

प्रश्न: आत्म निवेदन और शरणागति में क्या भेद है ?
उत्तर: दोनों में कोई भेद नहीं है। आनुकुलस्य सङ्कल्पः प्रतिकूल्यस्य वर्जनम् (चै.च. मध्य २२.१००, ह.भ.वि. ११.६७६), यह शरणागति का मार्ग है और उसका अर्थ होता है अनुकूल कार्य करो, प्रतिकूल कार्य न करो। ******

प्रश्न: क्या कई जन्मों तक गुरु सम्बन्ध रहते हैं ? क्या यह नित्य है ? यदि शिष्य पुनः जन्म लेता है तो क्या गुरु भी पुनः आते हैं ?
उत्तर: यदि आप गुरु-स्वीकार करते हो तो आप पुनर्जन्म नहीं लेते ।

******

प्रश्न: यदि आप सम्पूर्ण रूप से समर्पित हैं तो क्या पुनर्जन्म नहीं !
उत्तर: स्पष्टतः, यदि आप पूर्ण समर्पित नहीं हुए हो और गुरु-ग्रहण करते हो तो गुरु-शिष्य सम्बन्ध का कोई अर्थ नहीं है । ******

प्रश्न: यदि कोई सही में समर्पित होना चाहता है, परन्तु उसके संस्कार सम्पूर्ण समर्पण में अन्तराय करे, ऐसी स्थिति में समर्पण के लिए विशेष समय लगता है तो क्या सद्य सम्पूर्ण समर्पित होना आवश्यक है ?
उत्तर: हाँ, यह सद्य समर्पण ही सम्पूर्ण है । जो वास्तव अर्थ में दीक्षा लेता है, उसके लिए कोई पुनर्जन्म नहीं है । ******

प्रश्न: फिर तो शत-प्रतिशत के सिवा कुछ दीक्षा नहीं है । क्या ९९.१% समर्पण भी दीक्षा नहीं होती ?
उत्तर: चाहे वह १%, ५०% हो या ९९% हो, सब एक ही है । ******

प्रश्न: क्या परन्तु रूप गोस्वामी ने प्रारब्ध कर्म के उदाहरण नही दिए हैं ?
उत्तर: यह भिन्न वस्तु है । अर्थात् वह समर्पित है इसलिए वह पुनः जन्म नहीं लेंगे । भक्तिरसामृत सिन्धु यही कहता है: उसके सारे कर्म कूट, बीज, प्रारब्ध एवं अप्रारब्ध समाप्त हो जाते हैं । ******

प्रश्न: १००% समर्पण से ही दीक्षा होती है, और अन्य सब कुछ पाखण्ड है । परन्तु आप उन सभी को दीक्षा देते हो जो किसी भौतिक लाभ के लिए दीक्षा की याचना करते हैं?
उत्तर: हाँ, मैं उनके लिए सामाजिक सेवा करता हूँ । ******

प्रश्न: शरणागति के नाम पर कई बार भक्त दुराग्रही और दायित्त्वहीन बन जाते हैं । जैसे कि कुछ माताएँ अपने बच्चों को छोड़ कर प्रवचन सुनने के लिए जाती है । उनका ऐसा भाव है कि, "यदि हम भक्ति करेंगे तो कृष्ण हमारे बच्चों का ध्यान रखेंगे।" कोई अपना पासपोर्ट यह सोच कर फेंक दे कि, "मैं कृष्ण को समर्पित हो गया हूँ और कृष्ण मेरा ध्यान रखेगा ।" योगानन्द ने भी यही सोच कर अपनी शिक्षा में पूरा ध्यान नहीं दिया और सोचा कि, "मैं ईश्वर निर्दिष्ट मार्ग पर चल रहा हूँ, जो मुख्य कार्य है ।" क्या आप इस तर्क पर कुछ टिप्पणी दे सकते हैं ?
उत्तर: इस प्रकार की शरणागति लौकिक है । वह सही ज्ञान पर आधारित नहीं है । सच्ची शरणागति ज्ञान पर, विशेष कर देह और आत्मा के बीच के भेद की समझ पर आधारित है । शरणागति आध्यात्मिक उद्देश्य के लिए है अतः वह वैदिक शास्त्रीय समझ पर आधारित है । ऐसा नहीं है कि व्यक्ति शरणागति स्वीकारते हैं क्योंकि वह आसान है या वे अन्यजनों का सहयोग पाना चाहते हैं । शरणागति इस उद्देश्य से नहीं करते हैं कि वह एक सामाजिक परम्परा या प्रथा है । सच्ची शरणागति का उद्देश्य स्वाभिमान को प्रसन्न करने के लिए या कुछ सुविधाएँ प्राप्त करने के लिए नहीं होता है । शरणागति का यह प्रयोजन नहीं है । यह ज्ञान पर आधारित है और उसका उद्देश्य भगवान की सेवा करना है । लौकिक अनुराग से उद्भूत गौरव को त्याग करना आवश्यक है ।

भक्ति-मार्ग पर चलनेवालों में से अधिक लोगों को भक्ति की सही समझ नहीं है । न तो वे सही अर्थ में समर्पित हैं और न ही वे भक्ति के सन्दर्भ में अधिक जानते हैं । यह तो केवल धर्मान्धता है जो अज्ञानता के कारण है । ******

प्रश्न: जब प्रवचन सुनने का समय हो और उसी समय कोई लौकिक ज़िम्मेदारी आ जाय, जैसे कि बच्चों को सुलाना हो, तो ऐसी परिस्थिति में साधक को क्या करना चाहिए ?
उत्तर: आप को ज़िम्मेदार होना चाहिए । उदाहरण स्वरूप, मानो आप को पेटदर्द हो तो ऐसी स्थिति में अपना पेटदर्द सम्हालेंगे या कथा सुनने जाएँगे ? यदि आप कथा सुनने चले भी गए तो क्या कथा ठीक से सुन भी पाओगे ? ठीक उसी प्रकार यदि आप का उत्तरदायित्त्व किसी की देखभाल करना है, तो आप को वह भी करना चाहिए। यदि ऐसा नहीं करते तो आप बड़े निर्दयी हो । भागवत कथा हमें निर्दयी बनना नहीं सिखाती है । एक भक्त की योग्यता को भागवत में दर्शाते हुए कहा है कि भक्त निर्मत्सर - सत्, अर्थात् ईर्ष्यालु नहीं है । उसके मनमें अन्य व्यक्ति की प्रगति से मत्सरता नहीं होती, वह दयालु है ।

सर्वभूतहितः सदा (भा. ३.२२.३८) होकर दूसरों के कल्याण का आप ध्यान रखें । भगवान भी सब में रहते हैं । यह ठीक नही है कि आपको कथा श्रवण करनी है इसलिए आप दूसरों की देखभाल न करें। ऐसा सोचना ठीक नहीं है । उदाहरण स्वरूप, जब गुरु शुश्रूषा करने का समय हो तब शिष्य कहे कि, "ओ गुरुदेव, मैं अभी जप कर रहा हूँ इसलिए अभी उपलब्ध नहीं हूँ ।" पर जब भोजन समय होता है तब वह सब से आगे होता है । यह सत्यनिष्ठा नहीं है । भक्ति सत्यनिष्ठा एवं दया का मार्ग है, कपटता, वञ्चना और स्वार्थपरता का मार्ग नहीं है । ******

प्रश्न: यदि प्रवचन का समय सायं ९ बजे का है और अपने बच्चे को उस समय सुलाना भी है तो क्या करें ?
उत्तर: आप उसे पहले सुला दो । ******

प्रश्न: तो क्या उस प्रवचन का सम्पूर्ण त्याग करें ?
उत्तर: हाँ । ******

प्रश्न: यह तो ऐसा लगता है जैसे लौकिक जीवन अलौकिक जीवन से अधिक महत्त्वपूर्ण है ?
उत्तर: लौकिक और अलौकिक जीवन जैसा कोई विभाजन नहीं है । सब कुछ अलौकिक है यदि आप भगवान को समर्पित हुए हो तो । बच्चे को सुलाना भी एक सेवा ही है । यह लौकिक है और यह अलौकिक है ऐसा विभाजन आप ही करते हो।
******

प्रश्न: अर्थात् उत्तरदायित्त्व प्राधान्य है ।
उत्तर: सभी उत्तरदायित्त्व अलौकिक है ।

******

प्रश्न: भक्ति सन्दर्भ में हमने स्वरूप-सिद्ध भक्ति के विषय में सुना और आप ने यह दृष्टान्त दिया कि गोपियाँ कृष्ण की सेवा निष्काम भाव से करती थीं हालाँकि कृष्ण उनका पालनपोषण नहीं करते थे । दूसरी ओर शरणागति के षड् लक्षणों में से एक लक्षण है कि कृष्ण अपने भक्तों के पालक और पोषक हैं परन्तु उन्होंने गोपियों का पालन नहीं किया तो कृष्ण को कैसे पालक और पोषक समझा जाय ?
उत्तर: गोपियों को भी ऐसी अनुभूति होती थी कि कृष्ण उनके पालक हैं । जब भी कोई समस्या खड़ी हुई, उन्होंने कृष्ण को सहायता के लिए पुकारा था ।

गोपियाँ साधना सिद्ध नहीं है, परन्तु नित्य सिद्ध परिकर हैं । वे कोई साधना नहीं करती थीं । शरणागति एक मार्ग है । गोपियाँ आदर्श उदाहरण है, जब कि न उन्होंने किसी गुरु से दीक्षा ली थी और न ही कोई शास्त्रों का अध्ययन किया था । कृष्ण के प्रति उनका भाव सहज और अकारण था । वे कृष्ण की स्वरूप शक्ति हैं ।
शरणागति एक प्रक्रिया है जो भगवान तक पहुँचने का मार्ग दिखाती है । कोई भी यह नहीं समझ सकता कि गोपियाँ भक्त हैं क्योंकि वे गृहस्थी हैं । वे अपने परिवार की सभी घरेलु जिम्मेदारियाँ सम्भालती हैं । उनके लिए कोई सत्सङ्ग नहीं है । प्राचीन समय में स्त्रियों को घर से बाहर जाना और किसी से मिलने का निषेध था, इसलिए वे (छिप-छिप के) कृष्ण को मिलती थीं । अतः कोई विद्धान भी यह नहीं समझ सकते है कि गोपियाँ भक्त कैसे हैं । चैतन्य महाप्रभु ने हमें मार्ग दिखाया है ताकि हम उस पर चल सकें और उसका प्रारम्भ है शरणागतिः ।

आनुकूलस्य सङ्कल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्तृत्वे वरणं तथा ।
आत्मनिक्षेप-कार्पण्ये षड्-विधा शरणागतिः ।। (चै.च. मध्य २२.१००)

"शरणागति के छः लक्षण हैं:

1 सङ्कल्प कि भगवान के प्रति नित्य अनुकूल भाव से सेवा करना ।
2 भगवान को जो प्रतिकूल है उसका त्याग करना ।
3 भगवान मेरी सुरक्षा करेगा ऐसा विश्वास होना ।
4 केवल भगवान ही मेरा संरक्षक है इस बात को स्वीकार करना ।
5 समर्पित होना ।

6   नम्र होना ।"

यदि कोई इतना करता है, फिर सब कुछ स्वतः होने लगेगा । कृष्ण को अपना संरक्षक मात्र मानना कोई महान बात नहीं है क्योंकि ऐसा करने से आप कृष्ण पर आधारित हो जाते हो और कोई सेवा कार्य नहीं करते हो । यह तो एक आरम्भ का प्रथम सोपान मात्र है, न कि भक्तिपथ पर प्रगति का संकेत । भक्ति के उच्च स्तर पर भी शरणागति भाव रहता है परन्तु गुप्त रूप से । कुछ लोग प्रायः इतना ही करते हैं और शेष कृष्ण पर आधारित होकर स्वयं कुछ भी सेवा नहीं करते । ऐसे लोगों का कृष्ण के साथ तटस्थ सम्बन्ध होता है या कोई भी सम्बन्ध नहीं होता । इसलिए मात्र शरणागति उत्तम प्रकार की भक्ति नहीं है ।

उच्च श्रेणी के भक्तों में भी शरणागति भाव दिखाई देता है, परन्तु उन में केवल इतना ही नहीं होता, इससे कई और अधिक भाव भी होते हैं । गोपियों के सम्बन्ध में वास्तविकता है कि सब कुछ कृष्ण के लिए था । वे इतनी हद तक समर्पित थीं कि उन्होंने अपनी प्रतिष्ठा और कुलधर्म के बारे में भी ध्यान नहीं दिया था । कोई भी इस प्रकार समर्पित नहीं होता है । वे कृष्ण के लिए कोई बोझ़ नहीं थीं, पर आपात क़ालीन परिस्थिति में उन्होंने कृष्ण की शरणागति भी ली थीं । जब इन्द्र ने वर्षा भेजी तब सभी ने कृष्ण की शरण ली थीं । कृष्ण ने उनकी सुरक्षा भी की थी । केवल अपने वस्त्र बदलकर भक्त के वस्त्र पहनकर कोई इस भाव तक नहीं पहुँच पाता है, जहाँ गोपियाँ पहुँची थीं । व्यक्ति को शरणागति से आरम्भ करना चाहिए एवं कम से कम सत्यवादी होना चाहिए । सामान्य लोग सत्यवादी भी नहीं है । वे दीक्षा तो ले लेते हैं और फिर दीक्षाके आदेशों का भी पालन नहीं करते हैं ।   ******

प्रश्नः नवद्वीप में कुछ गौड़ीय वैष्णव हैं जो इस विचार का प्रचार करते हैं कि श्री चैतन्य महाप्रभु ने नवद्वीप की नागर लड़कियों के साथ नागरी भाव का आस्वादन किया था। वे इस बात की पुष्टि लोचनदास ठाकुर, कविकर्णपूर और अन्य लोगों के लेखन से (अपने विचार का) समर्थन देते हैं । इस बात को हम कैसे समझें ?

उत्तरः नागरी-भाव भक्ति की एक अनुभूति है । इस भाव को समझाने के लिए एक सती स्त्री का उदाहरण दिया है क्योंकि नागरी भाव स्त्रियों से सम्बन्धित है । एक सती स्त्री अपने पति को समर्पित होती है और जीवन पर्यन्त कभी भी अन्य पुरुष से स्वप्न में भी सङ्ग नहीं करती । वास्तव में एक साधु या सन्त पुरुष को कैसा व्यवहार करना चाहिए यह समझाने के लिए सती स्त्री का उदाहरण दिया गया है, जो अपने पति से भिन्न अन्य किसी पुरुष के विषय में नहीं सोचती है । एक भक्त भी भगवान को इसी

तरह समर्पित होता है । भारतीय लड़की अपने मातापिता के घर जन्म लेती है, पर विवाह पश्चात् अपने मातापिता का गृहत्याग करती है और पति के घर जाती है, जहाँ वह अपने पति के परिवार के सदस्यों को अपना परिवार समझकर पूरी तरह समर्पित हो जाती है । पति के घर आते समय वह अपने अतीत से कुछ भी अपने साथ नहीं लाती, जैसे कि अपना नाम आदि और फिर उस (पति के) परिवार के नियमानुसार रहने लगती है । यह पूर्ण समर्पण का उदाहरण है । जब कोई भक्त बनता है तो उसको इसी तरह समर्पित होना चाहिए । विवाहित स्त्री अन्य किसी पुरुष के विषय में नहीं सोचती है और अपने पति और उसके परिवार के सदस्यों के लिए अनुकूल कार्य करती है । प्रथानुसार भारत में स्त्रियाँ ऐसी ही होती थीं । वे गृहकार्य करेंगी, सबको भोजन कराएँगी और स्वयं अन्त में भोजन लेंगी । संयुक्त परिवार में स्त्री कभी पहले भोजन नहीं करेगी । सब के भोजन कर लेने के बाद ही वह भोजन ग्रहण करेगी । जो कुछ भी शेष भोजन है, वह प्रसन्न होकर ग्रहण करेगी और सन्तुष्ट रहेगी । बस यही भक्ति है: गुरु को अनुकूल हो ऐसे कार्य करना और स्वयं के लाभ के लिए कुछ भी न सोचना। दूसरा उदाहरण उस स्त्री का है जो एक माता है । माता होने से उसका हृदय अधिक कोमल होता है क्योंकि उसे अपने बच्चे का पालन-पोषण करना होता है । शिष्य को अपने गुरु की सेवा ऐसे करनी चाहिए, जैसे की माता अपने बच्चे का निस्वार्थ भाव से पालनपोषण करती है । सेवा और समर्पण के ऐसे गुण स्त्रियों में होते हैं । केवल स्त्री सच्ची सेवा करती है । स्त्री यानी मात्र देह नहीं, परन्तु सहज रूप से जो भाव उसके पास है वह । उसके मन की रचना पति और बच्चों का पालन-पोषण करने के लिए ही की गयी है । प्राचीन समय में विवाह में सम्भोग मुख्य नहीं था । विवाह का उद्देश्य वंश ज़ारी रखने के लिए एवं पितृ-तर्पण या भगवत्सेवा के लिए था । पत्नी को जाया कहते है, जिसका अर्थ होता है माता क्योंकि पुरुष पहले माँ से पैदा होता है और फिर अपनी पत्नी से वह पुत्र पैदा करता है । यह ऐसे लगता है जैसे वह फिर से जन्म ले रहा हो क्योंकि बेटे को अपनी आत्मा माना जाता है, आत्मा वै जायते पुत्रः । संभोग का केवल यही उद्देश्य है ।

रस शास्त्रानुसार जो सामाजिक या सहृदयी है या जो सत्त्वगुणी है, और शिक्षित है, वे स्त्री के साथ संभोग का नहीं परन्तु मधुर प्रेम-सम्बन्ध का आस्वादन करते हैं । रस शास्त्रानुसार सम्भोग सुख की तुलना में प्रेममय सम्बन्ध अधिक आनन्दप्रद होता है। इस प्रकार स्त्री के माध्यम से स्त्री के सहजभाव का निरूपण किया गया है । जब नागरी-भाव, मञ्जरी-भाव या सखी-भाव की बात करते हैं, तो यही भाव, यानि कि निष्ठा सम्पूर्ण शरणागति, सेवा, निस्वार्थ स्वभाव, प्रेममय सेवा का ही व्यञ्जना से वर्णन किया गया है, न कि शारीरिक प्रक्रिया ।

पर आधुनिक स्थिति ऐसी है कि स्त्री और पुरुष में कोई अन्तर नहीं है और सब कुछ मानो शारीरिक सुख के लिए है । लोगों को सम्बन्ध में कोई रुचि नहीं है, जैसे कि पति, पत्नी, बच्चे आदि । रुचि है तो बाह्य शरीरादि में । अतः ऐसे उदाहरण का अब कोई अर्थ नहीं रहता है । ******

प्रश्न: जब लोचन दास ठाकुर जैसे आचार्य इस प्रकार के ग्रन्थ लिखते थे तो क्या वे इस प्रकार की सम्पूर्ण शरणागति भाव को प्रस्तुत करते थे ?

उत्तर: हाँ, वे भाव के विषय में कहते हैं और फिर यह उदाहरण देते हैं । भाव सूक्ष्म है। उसे समझने के लिए आप को कोई उदाहरण देना होता हैं । उसके अनुरूप कोई उदाहरण है, तो वह है चरित्रवान स्त्री । यदि पति की मृत्यु होती है, तो वह अपने को पति की चिता के साथ सती हो जायेगी । उसे सती होना ही है ऐसी कोई प्रथा नहीं थी, परन्तु उसे अपने पति से इतना प्रेम और स्नेह था कि वह उसके बिना जीवित नहीं रह सकती । वह पति में इतनी समर्पित थी कि पति-रहित स्वतन्त्र अस्तित्त्व की कल्पना भी नहीं कर सकती थी । उसका हृदय और सम्पूर्ण अस्तित्त्व केवल पतिमय था । अतः उसे पति की अर्धांगिनी माना जाता था । पति के मृत्यु के बाद उसके बिना वह जीवित नहीं रह सकती थी अतः वह स्वेच्छा से सती होती थी । यह उदाहरण भक्ति समझाने के लिए देते हैं । अतः इसे भाव कहते हैं । परन्तु अब ऐसा उदाहरण देखने को नहीं मिलता है । इसी कारण से लोगों को समर्पण और भक्ति को समझने में बड़ी कठिनाई होती है । ******

१५. आत्मा

प्रश्नः यद्यपि आत्मा शरीर से भिन्न है तथापि उसके कर्तापन को हम सामान्य जन को कैसे समझाएं?

उत्तरः पश्चिम देशो में मनुष्यों को आत्मा को समझने में कठिनाई होती है क्योंकि बहुत से पाश्चात्य दार्शनिक (एवं उनके अनुगामी) आत्मा को मन कहते हैं, या शरीर को ही आत्मा कहते हैं ।आत्मा का मुख्य अर्थ है - ईश्वर, सर्वत्र व्याप्त एवं सर्व-रक्षक । हम अपने देह में आसक्त हैं क्योंकि हम आत्मा में आसक्त हैं जो परमात्मा का अंश है । मृत्यु का अर्थ है आत्मा का देह से अलग होना । जब देह रोग, वृद्धावस्था, अथवा किसी दुर्घटना के कारण स्वेच्छाओं की पूर्ति के लिए अनुपयोगी हो जाता है, तब कर्म के द्वारा आत्मा को देह से निष्कासित कर दिया जाता है । अतः आत्मा नवीन देह की इच्छा करता है । तब वह नया जन्म प्राप्त करता है (अर्थात् आत्मा नूतन देह में प्रवेश करता है ।) । चेतना आत्मा का एक विशिष्ट गुण है । आत्मा के बिना शरीर मरा हुआ

है । इस देह में आसक्ति आत्मा की उपस्थिति के कारण ही है । मृत शरीर को कोई भी व्यक्ति प्यार नहीं करता है । भागवत् के दशम स्कन्ध में वर्णन है कि जब श्रीकृष्ण स्वयं गो-वत्स और गोप बालक बने तब कैसे बृजवासियों ने अपने निजी बालकों से भी अधिक स्नेह उन नये वत्स एवं बालकों पर प्रकट किया था । इस से यह दिखाया गया है कि यद्यपि वह अपने देह और सन्तान को प्यार करते हैं, किन्तु श्रीकृष्ण के प्रति उनका स्नेह उनसे भी अधिक उत्कट है क्योंकि श्रीकृष्ण परम आत्मा हैं ।

गहरी नीन्द में आप आत्मा का कुछ अनुभव करते हैं । जब आप जागते हैं तो कहते हैं कि "मैं सुखपूर्वक सोया ।" जिन्होंने सुख का अनुभव किया है वे ही अपने अनुभव के विषय में कुछ बता सकते हैं (दूसरे नहीं) । गहरी नीन्द (सुषुप्ति) में मन और इन्द्रियाँ कार्य नहीं करती हैं । वैज्ञानिक भी यह स्वीकार करते हैं । अगर आत्मा नहीं है, तब कौन गहरी निद्रा के सुख का अनुभव कर रहा है (क्योंकि मन एवं इन्द्रियाँ सुषुप्त दशा में हैं) और जागने पर कौन इसका स्मरण करता है ? केवल वह व्यक्ति जिस ने इसका (सुख का) अनुभव किया है वही इसका स्मरण कर सकता है । आत्मा की उपस्थिति ही शरीर को क्रियाशील बनाती है । आत्मा एक चालक जैसी है, जो वाहन में बैठी है, जिसकी तुलना शरीर से हो सकती है । व्यक्ति अपनी आर्थिक क्षमता के अनुसार एक नई या पुरानी कार प्राप्त कर सकता है । वह जिस प्रकार की कार प्राप्त करता है उसी के द्वारा सीमित हो जाता हैं । अगर उसके पास एक स्पोर्ट्स कार है तो वह उसे तीव्र गति से संचालित कर सकता है, किन्तु यदि कार पुरानी और जर्जर है, तब वह उसे ठीक नहीं चला सकता है । ठीक ऐसे ही अपने पिछले कर्मों के अनुसार मनुष्य देह प्राप्त करता है । जैसे कार गति में है, उसका संचालक या बैठी सवारी गतिमान नहीं है वैसे ही कोई भी कार्य केवल शरीर में ही घटित होता है । आत्मा एक साक्षी है । किन्तु आत्मा का देह में होने से कर्त्तापन घटित होता है । अगर कार का अकस्मात या दुर्घटना होती है तब कार के प्रति कोई भी प्रतिफल नहीं आता है, अपितु कार-संचालक को इसका फल भुगतना पड़ता है । कार चलती है क्योंकि उसमें संचालक है जो उसका नियन्त्रण करता है । आत्मा अहम् (अहङ्कार) का विषय है । अहङ्कार आत्मा से सम्बन्धित है । आत्मा के देहाभिमान के कारण ही अहङ्कार का देह पर अध्यारोपण होता है। कर्म-विधान (मानव पर) इस अध्यारोपण के कारण ही लागू होता हैं ।

******

प्रश्नः आत्मा और शरीर का परस्पर कोई मेल नहीं है फिर भी आत्मा सम्पूर्ण शरीर में कैसे व्याप्त है ?

उत्तरः ठीक एक दीपक की भाँति जो एक स्थान में रखा गया है तथापि उसका प्रकाश सम्पूर्ण कमरे में फैल जाता है, उसी प्रकार से आत्मा जो एक स्थान यानि कि हृदय में स्थित है, वहीं से इसकी शक्ति सम्पूर्ण शरीर को प्राप्त होती है । शक्तिशाली वस्तुएँ अपनी शक्ति का प्रसारण अन्य वस्तुओं के सीधे सम्पर्क के बिना भी कर सकती हैं। एक विशेष प्रकार का चन्दन है जिसे हरि-चन्दन कहा जाता है । यदि आप इस हरि-चन्दन का लेप शरीर के किसी एक भाग पर करेंगे तो सम्पूर्ण शरीर शीतलता का अनुभव करता है । चुम्बक के विषय में भी ऐसा ही है, जिसके स्पर्श विना ही समीपस्थ लोहे का टुकड़ा घूमने लगता है । ऐसे ही आत्मा शरीर का संचालन करती है । यद्यपि उसके साथ जुड़ा नहीं है । ठीक जैसे एक चुम्बक अपने चारों ओर एक चुम्बकीय क्षेत्र बनाती है, आत्मा भी अपने चारों ओर चेतना का क्षेत्र बनाती है । यह क्षेत्र आत्मा से युक्त देह द्वारा सीमित होता है ।

आत्मा के विषय में विभिन्न दर्शन हैं । उदाहरण के लिए जैन दर्शन कहता है कि आत्मा जिस शरीर में स्थित है, उसका जितना आकार है, आत्मा भी उतने ही आकार वाली है । जैसे एक हाथी का आकार जितना बड़ा है, उतना ही बड़ा आकार आत्मा का भी है । यह आत्मा की समुचित अवधारणा नहीं है । अन्यथा, एक हाथी की आत्मा उसके दूसरे जन्म में चूहे के शरीर में कैसे सही बैठ सकती है ? (जैन दर्शन पुनर्जन्म मानते हैं) तब आप को स्वीकार करना होगा कि आत्मा एक भौतिक पदार्थ की भाँति परिवर्त्तनशील है । तथापि वास्तविकता यह है कि आत्मा में किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता है । यह इसका भौतिक पदार्थ से मौलिक अन्तर है ।
हम आत्मा का देह के साथ गलत तादात्म्य स्थापित करते हैं, और देह को "मैं" शब्द से सम्बोधित करते है । लेकिन जब हमारे देह का एक अङ्ग बीमार हो जाता है तब हम मृत्यु से बचने के लिए उस अङ्ग का शल्यचिकित्सा (सर्ज़री) के द्वारा दूर कराने की इच्छा भी करते हैं । अतः तब शरीर का कौन सा अङ्ग वास्तवमें "मैं" है । क्या विच्छेद किया हुआ अङ्ग भी "मैं" है ? हमें ऐसा नहीं लगता है कि देह के किसी भी अङ्ग को अलग हो जाने के बाद भी "मैं" में कोई कमी आ गई हो । जब हम दीक्षा लेते हैं तब अपनी वास्तविक "मैं" की पहचान करते हैं - श्रीकृष्ण के एक अंश के रूप में ("मैं") शुद्ध आत्मा है । अतः दीक्षा के बाद हम मुक्त हो जाते हैं । कर्म (फ़ल) से मुक्त हो जाते हैं क्योंकि अब "मैं" जो कि एक अंश (जीव) है वह सम्पूर्ण (भगवान) की सेवा करता है । दीक्षा के समय हम "मैं कृष्ण का दास हूँ और मेरा कर्त्तव्य उनकी सेवा करना है" सिद्धान्त के अनुसार कार्य करने के लिए सङ्कल्प करते हैं । अलौकिक देह का अर्थ है स्वयं को श्रीकृष्ण का शुद्ध सेवक मानना ।

******

प्रश्नः क्या जड़ पदार्थों में आत्माएँ होती हैं यथा - पत्थर में ?
उत्तरः आत्माएँ सर्वत्र हैं ।

******

१६. आदर (सम्मान)

प्रश्न: आज मैं पढ़ रहा था कि गाय, ब्राह्मण, उपदेशक और गुरु की परछाइयों पर पाँव नहीं रखना चाहिए । क्या इसका अर्थ यह है कि हमें ऐसे व्यक्ति के समीप नहीं जाना चाहिए या उसका कोई अन्य अर्थ है ?
उत्तर: वह सम्मान के विरुद्ध है । जैसे कि आप कोई सम्मानित व्यक्ति के चित्र पर पाँव नहीं रखते, ठीक उसी तरह परछाइयों पर पाँव नहीं रखते ।

******

प्रश्न: गाय के विषय में हमें क्या करना चाहिए ?
उत्तर: जब हम गाय की सेवा करते हैं, उस समय की बात अलग है । गाय, गुरु और ब्राह्मण पूजनीय है, अतः उनकी परछाई पर पाँव रखना उनका अनादर है ।
गाय के विषय में, जब हम उनकी सेवा करते हैं तब परछाइँ पर पाँव न रखना अपरिहार्य है । जब आप उसकी सेवा नहीं कर रहे होते, उस समय यह नियम निभाना आवश्यक है । परन्तु जब आप गुरु की सेवा कर रहे हो, तब भी इस नियम का पालन करना चाहिए, नहीं तो वह गुरु का अपमान माना जाएगा ।
जिस आसन पर बैठ कर आप प्रभु-सेवा करते हो, उस समय अपने पाँव से उस आसान को नहीं हटाना चाहिए । कभी-कभी लोग ऐसा करते हैं, पर यह भगवान का अपमान है ।

गुरु और कृष्ण के साथ आप के सम्बन्ध सेवक जैसे होने चाहिए और हमेशा ऐसे ही रखने चाहिए । यह सही शिष्टाचार है । यदि कोई इस शिष्टाचार का उल्लंघन करता है, तो उसके अपराध की मात्रा बढ़ती ही जाएगी । इस से बचने के लिए कुछ नियम हैं ।

******

१७. आध्यात्मिक एवं सांसारिक अहङ्कार

प्रश्न: दीर्घ काल से हम यही मान रहे थे कि हम "यह देह हैं" और यह सोच हमारा स्वभाव हो गया है । "मैं यह देह नहीं हूँ" सिर्फ इतना सोचने से ही कि क्या हम वास्तव में इस भौतिक अहङ्कार से मुक्ति पा सकते हैं ?
उत्तर: कैसे आत्मा देह से भिन्न है इसकी व्याख्या विभिन्न दर्शन करते हैं और इस भेद को समझने की क्षमता प्राप्त करने की विभिन्न प्रक्रियाएँ निर्धारित की गई हैं । साथ-

साथ में भक्ति की भी एक प्रक्रिया है । यदि आप भगवान और गुरु को पसन्द करते हो, तो इस से आप भक्ति में तन्मय हो जाते हैं । एक बार तन्मय हो जाने पर देह के प्रति आपका लगाव अपने आप छूट जाता है । अन्यथा ये सभी दार्शनिक सिद्धान्त और प्रक्रियाएँ व्यर्थ हैं ।

उदाहरण स्वरूप, अर्जुन, जो बचपन से श्रीकृष्ण का मित्र था, और खाना, घूमना, बातें करना जैसे कई कार्य उसने एक साथ श्रीकृष्ण-सङ्ग किए थे । वह श्रीकृष्ण के साथ रथ पर बैठा था और उस रथ को श्रीकृष्ण चला रह थे, फिर भी अर्जुन की अपनी शारीरिक आसक्ति अटूट थी । अतः ये अन्य सभी दर्शन काम नहीं करते । फिर भी भगवद् गीता सुनने के बाद भी अर्जुन वैसा ही था । लोग पूछते हैं कि क्या वे आध्यात्मिक भावनाएँ और अनुभव रखते हैं, परन्तु अर्जुन की आध्यात्मिक भावनाएँ कहाँ थीं ? जब कि वह तो कृष्ण के समीपस्थ ही बैठा था फिर भी उसकी आध्यात्मिक भावनाएँ थीं, "ये (सामने खड़े है वे) मेरे मित्र, भाई, चाचा और भतीजे हैं।"

अब आप ही देखो कि अन्य कोई दर्शन काम नहीं आते । इन दर्शनों का अभ्यासी भी नहीं समझ पाते हैं कि आत्मा और देह में क्या भेद है । यदि आप इन दर्शनों को पढ़ते हैं एवं उस पर प्रवचन देते हैं और अन्य कई प्रयोग भी करते हैं, फिर भी आप इस भेद को समझ नहीं पाओगे । इसका केवल एक ही समाधान है, और वह है श्री चैतन्य महाप्रभु का दर्शन, जो है भक्ति । साधक को उत्तमा भक्ति करनी चाहिए, हालाँकि उसे समझना बहुत कठिन है ।

सब से पहला चरण है सहयोग का अभ्यास करना । यदि आप भक्ति को समझते हैं और भक्त बनते हैं, तो साक्षात्कार स्वाभाविक होगा । प्रारम्भ में थोड़ा सा कठिन होगा, फिर भी सहयोग करें । उदाहरण स्वरूप, जब श्रीचैतन्य महाप्रभु यहाँ थे तो उनके सभी परिकर अलग अलग स्थानों से यहाँ आए थे । उनके परिकर उनके परिवार के सदस्य नहीं थे किन्तु वे सभी उनके साथ सहयोग करते थे । वे सभी पूर्णरूप से उन्हें समर्पित थे । इस प्रकार यदि कोई सहयोग देता है और समर्पित होता है तो अपने देह या उस से सम्बन्धित वस्तुओं के साथ आसक्ति का प्रश्न उपस्थित नहीं होता है । ऐसा नहीं है कि ये वस्तुएँ या आप का देह आप से दूर हो जाएगा अथवा एक पुरुष स्त्री बन जाएगा। वे फिर भी यही कहेंगे, "मैं एक पुरुष हूँ", पर उनकी तन्मयता भगवान में और उनकी सेवा करने में होगी ।

दूसरा दृष्टान्त है जब श्रीमहाप्रभु ने नित्यानन्द प्रभु को चले जाने के लिए कहा और

पुरी कभी वापस न आने का आदेश दिया तब नित्यानन्द बङ्गाल में रहे और वही किया जो उन्हें करने को कहा था । यह सहयोग कहलाता है । उन्होंने वही किया जो कहा गया था और स्वतन्त्र रूप से अपने विचार अनुसार कुछ भी नहीं किया । उनकी आसक्ति उनके देह के साथ नहीं रही । बस यही प्रक्रिया काम करती है, और सरल भी है ।

यदि कोई साधक इस प्रकार सहयोग नहीं करता है, तो वह वहीं का वहीं रहता है, जैसा अर्जुन के साथ हुआ था । अर्जुन अर्जुन ही रहा । भगवद् गीता में अर्जुन एक सामान्य व्यक्ति की भावना का प्रतिनिधित्व करता है । भगवद् गीता भक्ति की व्याख्या नहीं करती है । यह एक सांसारिक व्यक्ति कैसे व्यवहार करता है उसकी व्याख्या है । यदि भगवान भी सामने उपस्थित हैं, फिर भी ऐसे लोग बोलते हैं 'यह मेरा है', 'यह तेरा है' ।

******

प्रश्न: ऐसा प्रतीत होता है कि केवल भक्ति मार्ग में ही आप अपना अहम्भाव त्याग सकते हैं । इसलिए क्या यह मार्ग प्रारम्भ में बहुत कष्टदायी होता है ?
उत्तर: भक्ति में अहम्भाव त्याग का प्रश्न ही नहीं है । वास्तव में, इस मार्ग पर साधक अपना पूर्ण अहम्भाव रखता है । केवल अन्य मार्गों में अहङ्कार त्यागने के लिए कहा जाता है । वे प्रयत्न करते हैं, पर सफल नहीं हो पाते क्योंकि यह असम्भव है । परन्तु भक्ति में अहङ्कार त्याग का प्रश्न ही नहीं है । यदि आप अहम्भाव का ही त्याग करोगे तो कार्य कैसे करोगे ? व्यक्ति को यह बात समझना चाहिए कि "में शरीर नही हूँ" और अज्ञानता का त्याग करना चाहिए । यह बिलकुल सीधा मार्ग है । आप अपने यथार्थ अहम्भाव में स्थिर रहो, बस इतना ही काफ़ी है । अन्य मार्गों में वे अपनी बुद्धि की मदद से शारीरिक और मानसिक व्यायाम करते हैं । वे अपना अहङ्कार मिटाने का प्रयत्न करते हैं, किन्तु कभी सफल नहीं होते । भक्ति ऐसा मार्ग है जहाँ आप अपने वास्तविक अहम्भाव के साथ स्वयं को पहचानते हो और उस प्रकार कार्य करते हो । यह पूर्ण अहम्भाव का मार्ग है ।

अहङ्कार अथवा "मैं" अन्ततः आत्मा को सम्बोधित करता है । जब हम "मैं" कहते हैं तो "मैं" अर्थात् आत्मा और आत्मा का त्याग कभी नहीं हो सकता । इसलिए भक्ति में आप को कहा जाता है कि "आप यही हो" और देह के साथ की यह पहचान जिसे आप "मैं" और "मेरा" – "यह मैं हूँ" और "यह मेरा है" समझते हो, वह अज्ञानता है। मृत्यु के समय जब देहत्याग करते हो तब इस अहङ्कार को छोड़ना पड़ेगा । मृत्यु के समय कोई भी व्यक्ति देह को कायम (बनाए) नहीं रख सकता, उसे देह के साथ अहङ्कार

अथवा पहचान और इससे सम्बन्धित वस्तुएँ भी छोड़नी होंगी। किन्तु यथार्थ अहम्भाव को कोई भी व्यक्ति त्याग नहीं सकता।

भक्ति-पथ पर आप की यथार्थ पहचान क्या है इसका ज्ञान दिया जाता है और वह यथार्थ अहम्भाव भगवान से जुड़ा है। दूसरा अहङ्कार भौतिक है। यथार्थ अहम्भाव होना कोई जटिल और ग़लत बात नहीं है। अतः जब आप इसे समझेंगे अथवा दीक्षा लेंगे तब आप अपने यथार्थ अहम्भाव के साथ पहचान बनाएँगे। फिर समस्या क्या है? वास्तव में सभी समस्या इसी समझ से हल हो जाती है। यह बड़ी सरल प्रक्रिया है, अन्यथा जैसे कि न्यायदर्शन में आप को मुक्त होना पड़ता है, अर्थात् इक्कीस प्रकार की यातनाओं से मुक्त होना पड़ता है। कैसे आप उसको कर सकोगे? अतः आप जो भी करते हैं, आप अपने देह के साथ पहचान बनाए रखते हैं और अन्य साधनों के उपयोग की मदद से स्वयं को इस पीड़ा से मुक्त करने के प्रयत्न करने पर भी आप मुक्त नहीं हो पाते हैं।

भक्ति में आप अपना पहला क़दम ही सही दिशा में रखते हो। अतः आप माया से मुक्त हैं और कोई जटिलता नहीं है। यह सब से सरल प्रक्रिया है। अहम्भाव को त्यागने का प्रश्न ही नहीं उठता।

******

प्रश्नः भक्ति में अहङ्कार का विनाश कैसे होता है?

उत्तरः इसका अर्थ होता है आप अपने यथार्थ अहम्भाव का अनुभव करें। विनाश यानि सांसारिक पहचान का त्याग करना। यदि यथार्थ अहम्भाव का विनाश हो गया तो आप अपना अस्तित्व ही खो देंगे। अन्य मार्गों में वे अहङ्कार के विनाश की बातें करते हैं, किन्तु भक्ति में उस अर्थ में विनाश की बात नहीं है। आप एक सेवक है यह समझना ही आप का यथार्थ अहम्भाव है। यदि कोई अहम्भाव ही नहीं है तो आप कार्य कैसे करेंगे? किन्तु लोग कार्य करना नहीं चाहते क्योंकि वे मुक्ति चाहते हैं, सेवा नहीं चाहते। अतः वे अहङ्कार का त्याग करने की या उसका विनाश करने की बातें करते हैं।

******

१८. आध्यात्मिक जीवन में प्रगति

प्रश्नः मैं प्रायः २० वर्ष से इस मार्ग से जुड़ा हुआ हूँ, पर समर्पण के विषय में बार बार सुनके मुझे ऐसा अनुभव हो रहा है कि मैं ने भक्ति में कोई प्रगति नहीं की है और इस बात से मुझे डर लगता है। ऐसी परिस्थिति में मुझे क्या करना चाहिए?

उत्तरः आप जो कुछ भी समझे हैं, वैसा ही करते रहो, उसे बढ़ाते रहो, उस पर काम करते रहो और अपने भूतकाल को भूल जाओ । यह अन्धकार में से उजाले में आने जैसा है । जब आप अन्धकार में से उजाले में आओ तो फिर उजाले में ही रहना चाहिए, अन्धकार में वापस नहीं लौटना चाहिए । ऐसा भी होता है कि जब कोई व्यक्ति दीर्घ समय से अन्धकार में रहने के बाद प्रकाश में आता है तब उसकी आँखें मुन्द जाती है । ऐसे में ख़ुद के प्रति भाव भी यही रहता है कि पुनः अन्धकार में जाना ही ठीक होगा, पर सही अर्थ में प्रकाश में रह कर आगे बढ़ना ही ठीक होगा ।

******

प्रश्नः मेरे डर का एक कारण यह है कि अब मेरे पास योग्य गुरु है, पर मुझे लगता है कि मैं योग्य शिष्य नहीं हूँ क्योंकि मेरी अनेक इच्छाएँ हैं, मनमें कई अनर्थ हैं, कई भ्रान्त धारणाएँ हैं ।

उत्तरः योग्यता की बात करें तो कोई भी योग्य नहीं है । योग्यता भगवान की कृपा से आती है । अन्यथा हमारी क्या योग्यता है ? यदि हम समझ पाएँ और हमारे सन्देह मिट जाएँ तो समझो कि हम पर भगवान की कृपा हुई । जब कोई भी निर्णय स्पष्ट और योग्य समझ से लिया जाय तो भगवान हमें योग्यता प्रदान करते हैं क्योंकि अन्त में वही है जो हमें प्रेरणा देता है ।

अतः इस मार्ग पर डरने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि यदि आप योग्य मार्ग पर हो तो डरना क्यों ? डर तब होता है जब आप ग़लत मार्ग पर जा रहे हो । डर अन्धेरे में होता है, प्रकाश में नहीं ।

अधिकांश ऐसा होता है कि जब लोग अयोग्य गुरु को मिलते हैं, वे तुरन्त उन्हें स्वीकार कर लेते हैं । कोई भी ग़लत बात स्वीकारने में ज़्यादा समय नहीं लगता है । वह कार्य तुरन्त एवं शङ्का-रहित होता है । कुछ लोग शीघ्र विश्वास कर लेते हैं । इसका कारण उस व्यक्ति की त्रुटियाँ है, उसकी अच्छाइयाँ नहीं ।

पर जब कोई योग्य गुरु को स्वीकारता है, तो वह उसकी त्रुटियों के कारण नहीं, पर उसकी अच्छाइयों के कारण । ऐसी स्वीकृति ज्ञान से होती है । अन्य स्वीकृति अज्ञानता से, दूसरों के प्रभाव में तुरन्त आने से या अलंकृत भाषण को सुनकर मुग्ध हो जाते हैं। जब कोई ऐसा गुरु चुनता है और जब किसी और की लच्छेदार बातें सुनता है तो प्रायः अपना गुरु भी बदल देता है ।

किसी को इस लिए एक गुरु को नहीं स्वीकारना चाहिए क्योंकि उसके पास कुछ विशेष शक्ति है, उदा. भूत, भविष्य और वर्तमान का ज्ञाता है, पर इस लिए स्वीकारना चाहिए क्योंकि उस में शास्त्र की समझ है । उसे सुनने के बाद आप की शङ्काओं का समाधान हो जाता है । योग्य विचार-विमर्श से, न कि कोई भावना में आकर और न कि वह एक महान प्रचारक है ।

इस तरह का निर्णय लेना और उसका दृढ़ता से पालन करना ही एक शिष्य की योग्यता है । तदनन्तर विशेष जानकारी मिलती है । अतः डरने की कोई बात नहीं है । डर लगता है क्योंकि वह सोचता है, "मैं ने एक गुरु का त्याग तो कर दिया, अब इस गुरु को भी छोड़ दूँगा तो ? यदि आप सही समझ से योग्य गुरु को स्वीकार करेंगे तो ऐसा नहीं होगा । वास्तव में एक बार यथार्थ आस्वादन होने के बाद आप गुरु को कभी नहीं छोड़ोगे क्योंकि ऐसा आस्वादन कहीं भी नहीं होगा ।

आप अन्य मार्ग त्याग सकते हैं क्योंकि वे सब लौकिक है अतः परि-वर्तनशील है । पर यदि आप एक बार भक्ति के सही मार्ग पर आ गए तो उसे त्यागने का प्रश्न ही नहीं उठता । अतः निर्णय उचित ज्ञान से लेना चाहिए । डरने की बात ही नहीं है क्योंकि इस मार्ग को त्यागना प्रायः असम्भव है । भक्ति त्यागने के बाद आप कहाँ जाओगे ? भक्ति से बढ़ कर कुछ भी उत्तम नहीं है ।

आप को उस भक्त की मानसिकता का अध्ययन करना चाहिए जो यह मार्ग अपनाता है । भक्ति मार्ग की योग्यता यही है कि उस भक्त में इस मार्ग पर चलने की दृढ़ इच्छा विकसित होती है । दृढ़ इच्छा के अनन्तर उसका मन कभी भ्रान्त नहीं होगा । उसका मन इसी मार्ग पर स्थिर रहेगा और कभी विचलित नहीं होगा ।

लालसा क्या है इसका पहले आप को अभ्यास करना चाहिए । यदि कोई वस्तु की लालसा है, तो देखोगे कि किस तरह आप का मन उस के आसपास घूमता रहता है। वहाँ से हटता ही नहीं । जब आप किसी बच्चे का मन पढ़ोगे तो लगेगा कि उसे कुछ खाना पसन्द है, मान लो कोई मिठाई, रसगुल्ला आदि, और उसका मन वहीं स्थिर रहता है । जब तक उसे वह नहीं मिलता, तब तक वह अन्य कुछ सोचता भी नहीं है। यही योग्यता इस भक्ति मार्ग की है । यह मार्ग अनुभव, विज्ञान और दृढ़ इच्छा पर आधारित है । जहाँ यह सब कुछ है, वहाँ आप कभी फिसलोगे नहीं ।

आप को अनुभूति होगी कि यह सब से महत्त्वपूर्ण वस्तु है । यह अनुभूति किसी भावनाओं के कारण नहीं होगी, पर इसलिए होगी क्योंकि आप ने स्वयं अनुभव किया है । आप को शास्त्राधारित ज्ञान है । भक्ति ज्ञान पर आधारित है, और यही सबसे अद्भुत ज्ञान है । उसकी ऊँचाई पर चलने की साधक की तीव्र इच्छा होती है।

कम से कम आप को उसे समझने का प्रयत्न करना चाहिए । यदि आप उसका पालन न करें फिर भी आप को उसे जानने का प्रयत्न करना चाहिए । उसे मानना ही इतना अद्भुत है तो जिसको इसकी तीव्र इच्छा है उसका तो कहना ही क्या ! यदि एक बार ऐसा हो जाय तो उस मार्ग को त्यागने का तो प्रश्न ही नहीं उठता ।

अन्यथा यह मार्ग तो इतना महान है कि स्वयं ब्रह्मा, शिव और नवयोगेन्द्र भी इस भाव से भगवान को नहीं पा सकते हैं । यदि आप ने योग्य समझ से निर्णय लिया है तो कृष्ण भक्ति प्रदान करने के लिए चाह रहे हैं । अतः इस प्रक्रिया में डर का स्थान नहीं होना चाहिए । भय तभी लगता है जब आप अज्ञान अवस्था में हो ।

संसारी लोग व्यापार करते हैं । वे धनोपार्जन, कुछ नाम और कीर्ति कमाते हैं और आनन्द करते हैं । जब अन्य कोई व्यक्ति यह देखता है और फिर सोचता है, "मुझे भी ऐसा बनना है ।" फिर उसका मन वहीं स्थिर हो जाता है । वह धनोपार्जन की अनेक सारी योजनाएँ बनाता है । दिन रात वह काफ़ी कठिनाईयों से गुज़रता है, पर अपने विचार को कभी नहीं छोड़ता । यदि वह उस में असफल हो, तो भी वह अपने प्रयत्न जारी रखेगा । पर इस प्रकार का निश्चय अज्ञान के कारण है, जो उसे मात्र दुःख की ओर ही ले जाएगा । तो सोचो, जिसके पास ज्ञान है, वह भक्त कितना दृढ़ सङ्कल्पवाला होगा ? वह अवश्य अपने कार्य में सफल होगा । अतः इस प्रक्रिया में विचलित होने या डरने का कोई प्रश्न ही नहीं रहता । ******

प्रश्न: कोई भक्ति में कैसे प्रगति कर सकता है और रुचि तक पहुँच सकता है ?
उत्तर: सर्व प्रथम आप को भक्ति को समझना होगा । लोगों के लिए भक्तियोग को समझना कठिन है । श्रीमहाप्रभु ने रूप और सनातन गोस्वामी को केवल कुछ संकेत दिए और वे सब कुछ समझ गए । उन्होंने कुछ सूत्र सुने, सारांश निष्कर्ष पर पहुँचे और अनेक अच्छी पुस्तकें लिखीं, मन्दिर बनाएँ और अनेक अच्छे काम किए । वे भगवान के नित्य परिकर हैं । अतः भक्ति योग को समझना उनके लिए सहज सम्भव था । हमारे लिए सर्व प्रथम भक्ति को समझना आवश्यक है । उपनिषद में कहा है:
भक्तिरस्य भजनम् इहामुत्र उपाधिनैरास्येन अमुष्मिन् मनः कल्पनम् ।

"भक्ति सेवा है और यहाँ या अन्यत्र, भगवान में अन्याभिलाषा-शून्यभाव से मन को स्थिर करना है । इस संसार में जन-समुदाय की केवल दो मुख्य इच्छा होती है: अर्थ और काम और कुछ नहीं चाहिए । वास्तव में उन्हें इन्द्रियसुख चाहिए और तदर्थ धन चाहिए । ऐसे लोगों के लिए भक्तिको समझना अति कठिन है ।
भगवत्कृपा से ही किसी को भक्ति को समझने की प्रेरणा मिलती है । यदि उसे हम भगवत्कृपा समझें और उद्देश्य रहित भक्ति करें तो हमारा मन कृष्ण में स्थिर होगा । फिर वह इस मार्ग को अपनाएगा और गुरु को भी अपनाएगा । एक बार गुरु को अपनाएगा, फिर भक्ति-बीज वपन हो जायेगा । तदनन्तर, आप सेवा सच्चे मन से, छलकपट रहित होकर करोगे तो आगे कृष्ण आप की सहायता करेगा, यद्यपि दीक्षा के समय यह (दिव्य ज्ञान) बताया जाता है, पर हमारे विचलित मन के कारण वह हम समझ नहीं पाते हैं ।

भक्ति भगवान की संवित एवं ह्लादिनी शक्ति है । ज्ञान और परम आनन्द भगवान की अन्तरङ्गा शक्ति है । अतः भक्ति करने से ज्ञान आता है । यह भी दीक्षा का हेतु है, जिस से ज्ञान मिलता है । जब कोई अहैतुकी सेवा करता है, उसे इसका (भक्तिका) रसास्वाद होता है । यही उसका अनुभव होता है कि इस मार्ग में वह आगे बढ़ रहा है। पहले उसकी श्रद्धा बढ़ती है और फिर वह सेवा करता है । सेवा से रुचि होती है और अन्तमें वह भक्ति की ओर विकास करता है । भक्ति कृष्ण की शक्ति है । कृष्ण और भक्ति में कोई अन्तर नहीं है. कृष्ण स्वयं भक्ति देते हैं । ******

प्रश्न: जब कोई रागानुगा मार्ग पर चलता है तो क्या शुरू से निरुपाधि सेवा है ?
उत्तर: दीक्षा लेने के बाद उसे यह स्वीकारना होता है । निरूपाधि का अर्थ है अन्य कोई भी लक्ष्य न हो । यदि निरूपाधि नहीं है तो आप अपनी सांसारिक इच्छाएँ पूरी करते हो । शुरू से ही रागानुगा निरूपाधि है । ******

प्रश्न: आध्यात्मिक प्रगति के विभिन्न स्तरों को हम कैसे समझ सकते हैं ? कभी प्रगति की विभन्न गति और कभी आध्यात्मिक जीवन में पूर्व स्थिति में आ गये ऐसा अनुभव होता है । क्या यह व्यक्ति की शिष्टाचारता और उस के व्यक्तित्व पर निर्धारित रहता है या फिर उसे कृष्णकृपा ही कहते हैं ?
उत्तर: भक्ति मार्ग में प्रगति भगवत्कृपा पर आधारित होती है । भक्ति ज्ञान, योग या कर्म मार्ग से भिन्न है । अन्य मार्ग में व्यक्ति साधना करता है, उदा. फल पाने के लिए वे कर्म-मार्ग में कर्म करते हैं । फल कार्य पर आधारित है । सामान्य लोगों को भक्ति को समझना अतिकठिन है । अतः ऐसे प्रश्न उपस्थित होते हैं क्योंकि हमने अन्य मार्ग

के विषय में भी सुना है, या भक्ति का अन्य मार्ग में मिश्रण होते हुए भी देखा है। भक्ति अयोग्य रीति से प्रस्तुत हुई है।

भक्ति भगवान की अन्तरङ्गा शक्ति है। भक्ति स्वयं भगवान है क्योंकि उनकी शक्ति उनसे स्वतन्त्र नहीं है। जब कोई दीक्षा लेता है तब भगवान स्वयं उसको स्वीकार करते हैं और उसे भक्ति प्रदान करते हैं। भक्ति भगवान से अलग नहीं है। भगवान अपनी इच्छा और कृपा से भक्ति देते हैं और फिर भक्तिसे जुड़कर उस साधक की प्रगति होती है। अन्य मार्ग में व्यक्ति साधना करता है क्योंकि उसकी कुछ सांसारिक इच्छाएँ हैं, जिन्हें वह पूरी करना चाहता है। वह अपने प्रयत्न पर ही आधारित रहता है। भक्ति में भी लोगों के वही विचार रहते हैं। लोग सोचते हैं, "मैं ऐसा करूँगा, फिर मेरी प्रगति होगी।" प्रगति करना यानी मैं कुछ बनूँगा।

ऐसी धारणाएँ त्याग देनी चाहिए। अर्थात् कपटभरी मानसिकता से मुक्त होना, धर्मः प्रोज्झितकैतवः। भक्ति मार्ग में 'मुझे कुछ बनना है' ऐसे अन्य मार्गों के जैसे विचार का दूषण भी फैला हुआ है। यह भगवान से स्वतन्त्र होने की इच्छा सूचित करते हैं। अन्यथा मुझे भगवान को प्रिय हो वही कार्य करना है, इस विचार के सिवाय और कोई विचार इस मार्ग में आने नहीं चाहिए। जब यही उद्देश्य और ध्येय हो तो भक्त अन्य प्रगति के विषय में सोचेगा भी नहीं। कुछ बनने का विचार अर्थात् भक्ति से भिन्न और भक्ति के विरुद्ध होना।

उत्तमा भक्ति में सेवार्पण करने से ही सन्तोष मिलता है। उस में (सेवा में) कोई प्रतिबन्ध नहीं है और विशेष उन्नति करना भी आवश्यक नहीं है। भक्तिमार्ग में सब भगवत्कृपा से होता है। तथापि दीक्षा लेने के बाद उसे यह अवश्य स्वीकारना होगा कि वह गुरु का सेवक है और इसी भाव से सहयोग और सेवा करेगा। प्रगतिशील बनने का लक्ष्य भक्ति मार्ग में दोष है।

भगवान उन्हीं पर अपनी कृपा करते हैं जो लोग कपटरहित हैं। उनकी कृपा से महाभागवत का सत्सङ्ग मिलता है। तदनन्तर यदि कोई कपटरहित महाभागवत की शरण में आता है तो उस पर भगवान की विशेष कृपा होती है। भक्त को अपने पार्थिव देह के प्रति आसक्ति को त्यागना होगा, देह अल्पायु है, जो अधिकांश कुत्ते और गिद्धों का भोजन है। यदि कोई (अपरिचित) व्यक्ति मर जाता है तो कुत्ते और गिद्ध रास्ते में फेंके देह को खाएँगे। जब तक "मैं" और "मेरा" की भावना गुरु से भिन्न रहेगी, तब तक उस पर भगवत्कृपा नहीं होगी। उद्देश्य-रहित गुरुशरण में जाना अर्थात् इस पार्थिव

देह को कोई प्राधान्य नहीं देना । मात्र ऐसे ही लोग भगवत्कृपा पा सकते हैं ।

******

प्रश्न: आप उत्तमा भक्ति के उच्च स्तर का वर्णन कर रहे हैं जैसे कि समर्पण के अनन्तर और कोई भौतिक इच्छाएँ आदि नहीं रहती है, परन्तु मेरे विषय में अभी भी मुझे भौतिक इच्छाएँ हैं । मैं क्या करूँ ?

उत्तर: आप अपनी सेवा और मन्त्रजप करते रहिए । विषादी हृदय-भंगी न बनें ।

******

प्रश्न: मैं अचरज में हूँ कि कितने जीवन यहाँ (संसार में) होंगे ? आप ने आगे कहा था कि यदि शिष्य समर्पित हो तो यह उसका अन्तिम जन्म होगा और यदि वह समर्पण नहीं करता तो गुरु के साथ के सम्बन्ध का तो कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता ? ऐसी स्थिति में क्या आशा रख सकते हैं ?

उत्तर: शिष्य की सर्व प्रथम शर्त है सादगी और सरलता । अर्थात् उसका कृष्ण या गुरु के प्रति न कोई कपटपूर्ण झुकाव होना चाहिए और न ही द्वेष, घृणा और अनादर होना चाहिए । सच्चाई तो यह है कि शिष्य ने भक्तिमार्ग अपनाया है वही भगवान की कृपा है । यदि भक्त सरल हृदयी है और अपनी सेवा जारी रखता है तो भगवत्कृपा से उसकी प्रगति होगी और हृदय-ग्रन्थि निर्मल होगी । ******

१९. आध्यात्मिक पथ को त्याग देना

प्रश्न: हम देखते हैं कि लोग आध्यात्मिक जीवन की ओर आकर्षित होते हैं परन्तु फिर उसे छोड़ देते हैं । ऐसा क्यों होता है और हम कैसे इसे रोक सकें ?

उत्तर: यदि आप को वह पसन्द नहीं है या उसमें रुचि नहीं है तो छोड़ देते हो ।

******

प्रश्न: क्या यहाँ भी पसन्दगी का प्रश्न है ?

उत्तर: अवश्य । आप को पसन्द है इसलिए यहाँ हो और यदि पसन्द नहीं है तो कल से यहाँ नहीं आओगे । उसमें कौनसी बड़ी बात है ? यदि किसी को जाकर कहो कि, "मैं गो सेवा करने प्रतिदिन गोशाला जाता हूँ ।" फिर वह आप को कहेगा कि ये लोग आप का शोषण कर रहे हैं, आप का अनुचित लाभ उठा रहे हैं । फिर आप सोचोगे, "हाँ, इस बात में कुछ दम है । मुझे क्यों अपना समय बिना कारण बरबाद करना चाहिए ? मैं कुछ काम करके पैसे कमा सकता हूँ । गो सेवा करके मुझे क्या मिलेगा?" और फिर आप चले जाओगे ।

वास्तव में हम में भक्ति के संस्कार नहीं है । हमारे सभी पूर्व संस्कार लौकिक सुख के हैं । कभी-कभी हम लोगों से सुनते हैं कि भक्ति यह है, भक्ति वह है और उन्हें सुनकर हम भक्ति के बारे में कुछ जानने लगते हैं । आप सोचोगे कि भक्ति कदाचित ऐसी होगी, पर सत्य कहें तो लोगों में भक्ति की ज़रा भी समझ नहीं है । इस कारण शुरू में वे जो करते थे वही करते रहते हैं । आप देख सकते हो कि भक्ति के नाम पर लोग न जाने क्या क्या करते हैं और यह भक्ति की आड़ में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष का भाग है । ऐसा इसलिए होता है क्योंकि भक्ति क्या है यह लोग जानते नहीं हैं । आप कैसे वह कर सकते हो जिसके बारे में कुछ जानते ही नहीं हो । उनके (भक्ति-मार्ग में) आने-जाने का कोई अर्थ नहीं है । लोग किसी समझ या किसी उद्देश्य के साथ आते हैं और जब इस समझ में कोई चुनौती आती है या उद्देश्य अपूर्ण रहता है तो वे भक्ति छोड़ देते हैं या वे चले जाते हैं ।

मैं हमेशा कहता हूँ, "दीक्षा लेने के बाद शिष्य यही चाहता है कि गुरु उसके पदचिह्न पर चले," और यही वास्तविकता है । "शिष्य के पदचिह्न पर चलना" का अर्थ यह नहीं होता कि शिष्य गुरु को आदेश देता है और गुरु वह करता है, परन्तु दीक्षा के बाद शिष्य यह सोचता है कि उसकी जो अपेक्षाएँ गुरु के लिए हैं उसी प्रकार के लक्षण गुरु में हो । शिष्य की अपेक्षाएँ होती हैं कि 'सही' गुरु को क्या करना चाहिए, कैसे व्यवहार करना चाहिए और यदि गुरु उसमें सफल नहीं होते तो शिष्य गुरु को त्याग देता है । अर्थात् गुरु को समझने के बजाय शिष्य चाहता है कि गुरु उसकी धारणानुसार व्यवहार करे । गुरु या साधु के लिए सबके अपने विचार होते हैं । उदाहरण स्वरूप, वे कदाचित ऐसा मानते हैं कि साधु या गुरु वह है जो सुबह जल्दी उठते हैं या वह जो ६४ बार माला जप करते हैं । दीक्षा के बाद भी यदि यही सोचते हो और कभी ऐसा लगता है कि गुरु आप की धारणा अनुसार नहीं जी रहे हैं तो स्वाभाविक रूप से आप सोचेंगे, "मुझे दूसरे गुरु अच्छे लगते हैं" और आप दूसरे गुरु के पास चले जाएँगे ।

यदि भक्ति का सही अर्थ समझे बिना उसके लिए प्रयत्न करते रहोगे तो आप इस पथ पर टीक नहीं पाओगे । वास्तव में भक्ति श्रद्धा का विषय है । यदि श्रद्धा ही नहीं है तो आने-जाने का होना कोई बड़ी बात नहीं है ।   ******

प्रश्न: यदि श्रद्धा हो तो क्या वह नहीं छूट सकती ?
उत्तर: हाँ । वह बढ़ती ही जाएगी । सिर्फ ऊर्ध्वगमन ही सम्भव है । ******

२०. आयुर्वेद

प्रश्नः मैं ने सुना है कि आयुर्वेद, अथर्ववेद का एक उपवेद है, जब कि दूसरे लोग कहते हैं कि यह ऋग्वेद का एक उपवेद है । सत्य क्या है ?

उत्तरः आयुर्वेद अथर्ववेद का एक उपवेद है । ******

प्रश्नः प्राचीन आयुर्वेद शास्त्र चरक संहिता और सुश्रुत संहिता में विशिष्ट रोगों के लिए मांस खाने का प्राविधान देते हैं । क्या प्राचीन समय में इन शास्त्रों में ऐसा आदेश था? मूल आयुर्वेद ग्रन्थ जो अब उपलब्ध नहीं है, क्या ये आदेश उन में भी थे ?

उत्तरः मूल आयुर्वेद ग्रन्थ में ऐसे आदेश नहीं थे । मानवीय वृत्ति दो प्रकार की है, दैवी और आसुरी । इन वृत्तिओं का निर्भर सत्त्व, रजस् एवं तमस् तीनों प्राकृतिक गुणों पर है । ये लोग विभिन्न प्रकार के खाद्य पदार्थ सेवन करते हैं जिसका वर्णन शास्त्रों में किया गया है, ठीक जिस प्रकार भगवद् गीता में कृष्ण ने भी तीन प्रकार के भोजन के विषय में चर्चा की है । यह इस पर निर्भर करता है कि मनुष्य सात्विक, राजसिक और तामसिक गुणों में से अपनी रुचि के अनुसार किस प्रकार का भोजन पसन्द करता है। कभी-कभी (अधिकांश) मानव सत्त्व गुण में होते हैं तब वे धार्मिक ग्रन्थों के आदेशों का पालन करते हैं । किन्तु जब वे सत्त्व गुण में नहीं होते हैं तब वे अपनी निजी इच्छाओं का पालन करते हैं, अपने निजी मन का अनुसरण करते हैं । अतः सभी प्रकार के वर्णन और सभी प्रकार के शास्त्र मिलते हैं । यह हम पर निर्भर करता है कि भगवान के द्वारा निर्धारित अनुशासन का हम पालन करना चाहते हैं या नहीं । (आसुरिक लोग उसका अनुसरण नहीं करना चाहते हैं) ।

दृष्टान्त रूप, यह विधान है कि वैष्णवों को एकादशी व्रत करना चाहिये, लेकिन अब एक बहुत बड़ी समस्या हो गई है । मनुष्य इस सन्दर्भ में अनेक प्रश्न पूछते हैं, जैसा कि वे यह वस्तु खा सकते हैं या वह वस्तु खा सकते हैं और कितना खा सकते हैं । यदि कोई रोगी हो गया है और डाक्टर उसे आदेश देते हैं, कि "भोजन मत करो" तब वह बिना कोई प्रश्न पूछे उस के निर्देश का पालन करता है । किन्तु जब कुछ आध्यात्मिक नियमों के पालन की बात आती है तब इस प्रकार की समस्या खड़ी हो जाती है । कोई मनुष्य कहते हैं कि एकादशी तिथि पर स्त्री को माँस खाना ही चाहिए अन्यथा उसका पति मर जायेगा । ऐसे इस विषय में अनेक प्रकार की मान्यताएँ हैं । यदि आप भली प्रकार से प्रगति करना चाहते हो तो आप उचित आदेशों का पालन करें । ******

प्रश्नः क्या मूल आयुर्वेद जो धन्वन्तरि ने दिया था, उस में मांस खाने के सन्दर्भ में ऐसा कुछ कथन कहा गया है ?

उत्तरः यह सब बाद में जोड़ा गया क्योंकि मनुष्य की रुचि ऐसे खान-पान में रही ।

******

प्रश्नः क्या ये आदेश मूल आयुर्वेद ग्रन्थ में नहीं थे ?

उत्तरः नहीं, वे बिल्कुल नहीं थे । किसी ने भी ऐसे आदेश नहीं दिये थे । चरक भी ऐसा आदेश नहीं देता है, कि आप मांस खाए । श्रीकृष्ण ने कहा है कि भोजन तीन प्रकार का होता है । वे यह आदेश नहीं देते हैं कि "आप यह खाइए या वह खाइए" । उन्होनें तामसिक भोजन खाने के लिए आदेश नहीं दिया है । वे तामसिक भोजन के प्रकार एवं उसके गुण का ही वर्णन करते हैं एवं राजसिक भोजन के भी प्रकार और गुण के वर्णन करते हैं । उन्होंने कहाँ कहा है कि व्यक्ति को यह खाना चाहिए ?

******

प्रश्नः हमने अपने आयुर्वेदिक अध्यापक से आयुर्वेदिक प्रवचनों में सुना है कि आपने उससे कहा था कि आत्मा की चिकित्सा आत्मा से होती है । क्या आप समझा सकते हैं कि इसका वास्तविक अर्थ क्या है ?

उत्तरः मैं ने इसको उस रूप में नहीं कहा है । आप क्या कह रहे हैं इसका आशय मुझे भी समझ नहीं आ रहा है । आत्मा को आत्मा से स्वास्थ्य लाभ करना क्या है ? आत्मा देह की तरह रोगी नहीं होती है । किन्तु आयुर्विज्ञान का उदाहरण आध्यात्मिक विज्ञान को समझने के लिए दिया गया है । दोनों के बीच एक सादृश्य है । जैसे देह बीमार होता है, ऐसे ही भव-रोग यानि सांसारिक बन्धन बीमारी है अर्थात् भौतिक अस्तित्व की बीमारी । जैसे आयुर्विज्ञान में बीमार व्यक्ति डाक्टर के पास पहुंचता है और उस में पूर्ण श्रद्धा रखता है । डाक्टर उसकी बीमारी का विश्लेषण करके उसे दवाई देता है । तब व्यक्ति दृढ़ता से डाक्टर के निर्देशों का अनुपालन करता है ।

एक अच्छा रोगी डाक्टर के आदेश का पालन उचित रूप से करता है, डाक्टर जो कहता है वही करता हैं और डाक्टरने जो मना किया है वह नहीं करता है । डाक्टरने जैसे दवा लेने के लिए कहा है, वैसे ही दवा लेता है । उस डाक्टर का चिकित्सा करने में प्रवीण होना ज़रूरी है, अर्थात् उसने आयुर्विज्ञान का समुचित अध्ययन किया है । उसने अपने अध्यापक से चिकित्सा का प्रयोगात्मक ज्ञान प्राप्त किया है और वह जानता है कि किस प्रकार की विशेष औषधि का कैसे उपयोग करना है और कब कैसी दवाई देनी चाहिए । अतः चिकित्सा के लिए जो व्यक्ति बीमार है, उसका रोग-निदान किया जाता हैं और उसको दवाई दी जाती है । उस में विधि-निषेध होते हैं उसके बारे में भी सूचना दी जाती है, और इन सब में मरीज को डाक्टर में पूर्ण विश्वास रखना ज़रूरी है । यदि आप डाक्टर में और दवाई में विश्वास नहीं रखेंगे तो वह चिकित्सा ठीक से काम नहीं करेगी क्योंकि आप उसके निर्देशों का पालन नहीं करेंगे ।

आध्यात्मिक जीवन भी वैसा ही है । गुरूदेव डाक्टर के समान है, जो सांसारिक बन्धन की बीमारी को छुड़ाते हैं । वे बीमारी का विश्लेषण करके चिकित्सा की विधि निर्देश करते हैं । वे आपको उन वस्तुओं के बारे में कहते हैं जिनसे बचना चाहिए । आप को उन में पूर्ण विश्वास रखना है । गुरु वही है जिसने शास्त्रों का भलीभाँति अध्ययन किया है, स्वानुभव किया है और समुचित रूप से शास्त्र समझ लिया है तथा सांसारिक बीमारी का निदान कर सकता है ।

आप अपने जीवन को एक डाक्टर के हाथ में रख देते हैं । आप नहीं जानते कि वह कौन सी दवाई दे रहे हैं, एवं यह भी पता नहीं है कि यह दवाई कैसे काम करेगी फिर भी वह जो कहता है आप उसका पालन करते हो । यद्यपि इन दवाई से आपकी प्रायः मृत्यु भी हो सकती है ।

उसी तरीके से आपको गुरु के आदेशों का पालन करना चाहिए, जिस से आप संसार रूपी रोग से मुक्त हो जायेंगे । इस अर्थ में आध्यात्मिक जीवन को समझाने के लिए आयुर्विज्ञान का यह उदाहरण दिया गया है । अन्यथा इस आध्यात्मिक जीवन को समझना बहुत कठिन है । यहाँ गुरु-डाक्टर, विधि-चिकित्सा, संसार-मुक्त – रोग-मुक्त, इस प्रकार दोनों में सादृश्य है । जो नियम चिकित्सा विज्ञान में अनुसरण किये जाते हैं वही आध्यात्मिक जीवन में भी पालन किये जाते है । ******

२१. ईर्ष्या

प्रश्न: हमें किसी से ईर्ष्या हो या कोई हम से ईर्ष्या करता हो तो क्या करना चाहिए ?
उत्तर: किसी के प्रति मन में ईर्ष्या है और इस बात को जानते भी हो तो उसका त्याग करो क्योंकि यह उचित नहीं है और आप उसको जानते भी हो । यदि कोई आप से ईर्ष्या करता है तो ऐसे में आप कुछ नहीं कर सकते । उचित यही होगा कि आप उन से दूर रहें और उन से सङ्ग न करें । कुछ लोग ऐसे अवश्य होंगे जो आप से नफ़रत करते हों या ईर्ष्या करते हों जिनको आप बदल नहीं सकते । ******

प्रश्न: क्या ईर्ष्या ईश्वर के प्रति होती है ?
उत्तर: भगवान की प्रकृति, सृजन और मानवगण के प्रति ईर्ष्या हो सकती है । ईर्ष्या भगवान के प्रति नहीं हो सकती क्योंकि मनुष्य भगवान को जानता नहीं है । किन्तु अपने स्वार्थी स्वभाव के कारण मनुष्य अन्य लोगों का और प्रकृति का शोषण करना चाहता है ।

उत्तमा-भक्ति में ऐसे ईर्ष्यालु भाव को त्यागना होता है । ऐसे भाव का त्याग साधु पुरुष अर्थात् गुरु के सङ्ग से आता है । श्रीमद् भागवत के प्रारम्भ में एक उदाहरण दिया है जिस में नारद मुनि की कहानी है, जिनको भगवान के भक्तों का सङ्ग मिला था । नारदजी ने उन भक्तों की सेवा की, जिससे उनकी कथा-श्रवण में रुचि हुई । वे भक्तों के साथ बैठते और उनकी वाणी सुनते थे । यद्यपि वे छोटे बालक थे, परन्तु उन में शिष्य बनने की सभी योग्यता थी एवं वे शिष्ट थे, अपनी इन्द्रियों पर निग्रह था और उच्छृखंल नहीं थे यद्यपि बड़े आज्ञाकारी थे । इसी कारण नारद को उन सन्तों का आशीर्वाद प्राप्त हुआ था । वे समदृष्टि रखते थे और कोई भेदभाव नहीं रखते थे, तथापि नारद मुनि को ही उन्होंने आशीर्वाद दिए थे, दूसरों को नहीं । उन्हीं के आशीर्वाद के कारण ही संसार से उनकी आसक्ति छूट गई । उत्तमा-भक्ति को श्रेष्ठ (परम-धर्म) माना गया है क्योंकि अन्य धर्म साधकों को ईर्ष्यालु स्वभाव से मुक्त नहीं करते हैं ।

******

२२. - उत्तमा भक्ति या रागानुगा भक्ति

प्रश्नः आप ने उल्लेख किया था कि भक्तिरसामृत-सिन्धु ग्रन्थ का "अन्या-भिलाषिता शून्यम्" श्लोक (भ.र.सि. १.१.११) श्रीमद्-भागवत का सार है । क्या आप इस श्लोक की पुनः व्याख्या करेंगे ?

उत्तरः अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम् ।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरूत्तमा ।। (भ.र.सि. १.१.११)

श्रीकृष्ण और उनके भक्तों की अनुकूलता से निरन्तर सेवा करना उत्तमा भक्ति कहलाती है । यह सब सांसारिक इच्छाओं से रहित और ज्ञान-कर्मादि से अनावृत होनी चाहिए। ज्ञान अर्थात् अद्धैतवाद ज्ञान और कर्म अर्थात् लौकिक कर्मफलों की इच्छा नहीं होनी चाहिए ।

यह श्लोक उत्तमा भक्ति की व्याख्या करता है । जिसे रागानुरागा भक्ति भी कहते हैं । रागानुगा भक्ति समझने के लिए सर्व प्रथम आपको जानना होगा कि रागात्मिका भक्ति क्या है । रागात्मिका की परिभाषा भक्ति-रसामृत-सिन्धु में दी गई है ।

इष्टे स्वारसिकी रागः परमाविष्टता भवेत् ।
तन्मयी या भवेद् भक्तिः साऽत्र रागात्मिकोदिता ।। (भ.र.सि. १.२.२७२)

"इष्ट-देवता में स्वाभाविक जो परम आविष्ट मन होता है उसे राग कहते हैं । उस रागमयी भक्ति को ही यहाँ पर रागात्मिका कहा गया है ।"

ब्रज में भक्त अपने इष्टदेव के प्रेम के विषय में पूर्ण तन्मय थे । स्वारासिकी अर्थात् ''स्वाभाविक'' परमाविष्टता अर्थात् - "पूर्ण तन्मयता के साथ किसी अन्य विचार की कोई गुञ्जाईश नहीं'' ।

जब आप किसी वस्तु की गहरी इच्छा रखते हो तब आप उस में आविष्ट हो जाते हो। उत्तमा भक्ति में तन्मयता उसी प्रकार है । यह बृजवासियों की मनोदशा है एवं उनके द्वारा की गयी भक्ति रागात्मिका कहलाती है ।

यदि साधक इस भाव प्राप्ति के लिए लालसा रखता है तब वह उसका अधिकारी कहलाता है अथवा उस भाव प्राप्ति के लिए योग्य है । यदि कोई व्यक्ति इस विषय में निश्चित कुछ नियमों का पालन करता है या थोड़ा सोचता है तो भी यह भाव घटित नहीं हो सकता है क्योंकि यहाँ लालसा होनी चाहिये । लालसा का अर्थ है आपके अन्दर इसे प्राप्त करने की उत्कट इच्छा होना । तत्पश्चात् आप इसके सचमुच अधिकारी हो सकते हो । जब कोई व्यक्ति इस प्रकार अभिलाषी होता है, तब वह रागानुगा भक्ति के लिए योग्य होता है ।

अन्यथा इस पञ्च भौतिक देह में भक्ति प्राप्ति करने की कोई सम्भावना नहीं है । हम काम से उत्पन्न हुए हैं और यह हमारा मूल भाव है क्योंकि हम इस शरीर से जुड़े हैं । शरीर काम (मैथुन) से उत्पन्न हुआ है अतः इस शरीर को काम-इच्छा रहती है । इससे कोई चाहे कुछ भी कर ले मुक्त नहीं हो सकता है । इसके निवारण के लिए भक्ति ही एकमात्र मार्ग है । भक्ति स्वप्रयास से या कोई अन्य कार्य-कलाप करने से नहीं आयेगी। यह केवल भक्त की कृपा से आती है ।

इस श्लोक में अन्याभिलाषिता-शून्यम्, ज्ञानकर्माद्यनावृतम् और आनुकूल्येन कृष्णानु-शीलनम् इन तीन वस्तुओं को समझना चाहिए ।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम् - आनुकूल्य अर्थात् आप जो कार्य, प्रवृत्ति जिस व्यक्ति (कृष्ण) के लिए कर रहे हो, उस प्रवृत्ति से वह प्रसन्न हो । ऐसा नहीं है कि तुम कुछ कार्य अपनी पसन्द के अनुसार करते हो । सेवा कार्य के समान नहीं है । सेवा और कार्य दोनों अलग अलग है । कार्य का अर्थ है अनुकूलता का अभाव एवं प्रसन्न करने

की इच्छा का अभाव । तुम यह प्रायः अनादर से करते हो चाहे दूसरा व्यक्ति यह पसन्द करे या नहीं । जब कार्य समाप्त हो गया, तब आप प्रसन्न होते हैं । यह सेवा नहीं है ।

सेवा में संवेदनशीलता अथवा आनुकूल्य भाव है । जो कार्य कर रहे हो वह जिस व्यक्ति के लिए करते हो उसे अच्छा लगना चाहिए । अर्थात् दूसरे व्यक्ति को यह पसन्द आना चाहिए । जब तुम यह प्रवृत्ति करते हो तो यह तुम्हें भी सन्तोष देती है क्योंकि आपका भाव अपनी सेवा से सेव्य-विषय को प्रसन्न करना है ।

यह सेवा कैसे करनी चाहिये ? - कृष्णानुशीलनम् । अनुशीलनम् व्यक्ति को एक विशेष कार्य के लिए ही प्रतिबन्धित नहीं करती है । यद्यपि सामान्यतः हम भक्ति को श्रवण, जप, स्मरणादि के रूप में सुनते हैं । उत्तमा भक्ति प्रत्येक वस्तु से जुड़ी हुई है। ऐसा नहीं है कि अपनी दिनचर्या में कुछ घन्टों के लिए तुम भक्ति करो और बाद में तुम रूक जाओ (और अपना मनपसन्द कार्य करो) । यह एक सम्पूर्ण जीवन शैली है । अतः अनुशीलनम् समस्त क्रिया कलापों का समावेश है, जिन सबको साधक कर सकता है। हर समय, चाहे वह व्यक्ति नींद ले रहा है, जागृत अवस्था में है या गहरी नींद में है, साधक समस्त परिस्थितियों के अन्तर्गत कृष्ण का अनुशीलनम् करता है । अर्थात् समस्त क्रियाएँ केवल कृष्ण के लिए और उनकी प्रसन्नता के लिए की जाती है । अतः यह सभी वस्तु एवं क्रियाकलाप उन से सम्बन्धित है । चाहे उनकी सेवा का सीधे उन से सम्पर्क है, या अप्रत्यक्ष रूप में है । आपको भी अपने निजी देह को स्वस्थ रखना है और स्वास्थ्य की देखभाल भी उत्तमा भक्ति से स्वतन्त्र नहीं होनी चाहिए ।

अनुशीलनम् (क्रिया) दो प्रकार की हैः या तो आप कुछ स्वीकार करें या कुछ परित्याग करें । जब भी आप कोई कार्य करते हैं तो आप एक वस्तु को स्वीकार कर रहे हैं और दूसरे को छोड़ देते हैं । आप जो कर रहे हैं उसका स्वीकार कर रहे हैं । अतः स्वाभाविक है कि दूसरी वस्तुएँ या क्रियाओं को साथ-साथ में त्याग रहे हैं । जो कुछ भी आप स्वीकार या अस्वीकार कर रहे हैं, वह आनुकूल्य होना चाहिये, यानि उस में कृष्ण को प्रसन्न करने का भाव होना चाहिये । यदि आप कुछ स्वीकार करते हैं, तो वह भी कृष्ण को आनुकूल्य होना चाहिये और यदि आप अस्वीकार करते हैं, तो वह भी कृष्ण को आनुकूल्य होना चाहिये । अर्थात् वह कृष्ण और उनके भक्तों की अनुकूलता के लिए ही है । कृष्णानुशीलनम् अर्थात् कृष्ण के लिए अथवा उनके भक्त-परिकरों के लिए एवं उन से सम्बन्धित वस्तुओं के लिए, दोनों ही इस में समावित हैं। इसका यह अर्थ हुआ कि आप जो करते हैं वह उन्हें सन्तुष्टि और प्रसन्नता देनेवाला हो । आप का कार्य वास्तव में उन्हें प्रसन्न करता हो, न हि कि उसे मज़बूरी से "धन्यवाद" कहना पड़े!

अन्याभिलाषिता का अर्थ होता है कि सेवा में कोई अन्य उद्देश्य की अपेक्षा नहीं होनी चाहिए। जब भी व्यक्ति कुछ कार्य करता है, तो वह हमेशा उससे कुछ फल की इच्छा रखता है । कुछ भी करने के बदले में हमेशा कुछ फलेच्छा रहती है । यदि कोई फलेच्छा नहि है तो फिर भी आप यह सोचकर कि "मैं ने कार्य पूरा कर लिया है" प्रसन्न होते हैं । यह एक प्रकार की मुक्त होने की इच्छा है। आप सोचते हैं कि "कार्यपूर्ति हो गई, अब मैं स्वतन्त्र हूँ" । यही अन्य-अभिलाषा है । तात्पर्य है कि आप वास्तव में कार्य में रूचि नही ले रहे हैं, किन्तु आपकी रुचि उसके पूर्ण होने में है और स्वयं को मुक्त होने में और फिर कुछ और करने में है । जब कार्य को पसन्द नहीं करते हैं तब आप उसे शीघ्र ही पूर्ण करना चाहते हैं और उससे छुटकारा पाना चाहते हैं । उसे करने में आपकी कोई रुचि नही है । अवश्य, आप को कार्य पूरा करना है, किन्तु उद्देश्य यह नहीं है कि वह पूरा हो परन्तु उस कार्य भार से मुक्त होना हैं । यह उत्तमा भक्ति नहीं है ।

उत्तमा भक्ति में आपको (सदा) अनुकूल करना है । यह कितना समय लेगा इसकी कोई गिनती नहीं होती है । महत्त्व की बात यह है कि सेवा से कृष्ण या गुरुदेव प्रसन्न होते हैं कि नहीं । सेवा के पीछे उद्देश्य है कि सेव्य व्यक्ति उस सेवा से प्रसन्न हुआ कि नहीं। अन्यथा, उस सेवा से आप मुक्ति या भुक्ति चाहते हो । अर्थात् आप कार्य करते हैं और उसके फल की इच्छा रखते हैं इस जन्म में या परवर्ती जन्म में अथवा जब भी फल मिले । अथवा आप कार्य पूर्ण करना चाहते हैं, क्योंकि उसके बाद आपको (कोई और) एक अपना कुछ कार्य करना है । एवं आपका मन कर्मफल पर टिका हुआ है, सेवा पर नहीं । किन्तु भक्ति में आप एक सेवा-कार्य करते हैं और उसके बाद दूसरा सेवा-कार्य करते हैं, ऐसे सभी कार्य भक्ति के अन्तर्गत है ।

अतः अन्याभिलाषिता का अर्थ है कि जिस में एक के अतिरिक्त अन्य इच्छा नहीं होती है और वह इच्छा मात्र सेवा करने के लिए ही है । जब सेवा करने के लिए इच्छा है, तब ऐसा नहीं सोचा जाता है कि मुझे यह शीघ्र पूरा करना है, और मैं फिर मुक्त हो जाऊँगा । सेवा के पीछे अधिक सेवा अनुगमन करती है । इसको ही आविष्ट चित्त कहते हैं ।

एक दूसरी महत्त्वपूर्ण बात है "अन्याभिलाषिता" शब्द में तद्धित का "ता" प्रत्यय । इस "ता" प्रत्यय का अर्थ होता है कि (भक्ति के अतिरिक्त) अन्य इच्छा नहीं रखना या पूर्ण इच्छारहित होना । वस्तुतः आपका भाव सम्पूर्ण अभिलाषा-रहित रहे क्योंकि यह सम्भव है कि कभी आपको किसी भी वस्तु की इच्छा न हो, किन्तु वहाँ गुह्य संस्कार

है जो इच्छाओं का बीज आपके भीतर छिपा हुआ है । आप कोई मिष्टान्न खाने की इच्छा रखते हैं, उसे पाते हैं और उसका सेवन भी करते हैं । यदि कोई व्यक्ति वही मिष्टान्न तुरन्त बाद ही आपको देता है तो आप उसे नहीं चाहते हैं, उसको मना करते हैं । किन्तु कुछ समय बाद आप पुनः उसका सेवन करना चाहेंगे । अपनी इच्छा को कुछ घंटों या कुछ दिनों के लिए रोक ही सकते हो, तथापि कुछ समय के बाद, आप उसे फिर चाहेंगे, यह अन्याभिलाषिता नहीं है (अल्पकालिन समय के लिए इच्छारहित होना अन्याभिलाषिता नहीं है) ।

जब व्यक्ति बीमार हो जाता है तब उसकी प्रायः किसी विशिष्ट भोजन की इच्छा समाप्त हो जाती है । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वह भविष्य में भी उस भोजन के लिए पुनः इच्छा नहीं करेगा । अतः श्रीरूप गोस्वामी ने भक्ति की परिभाषा में "अभिलाषिता" शब्द प्रयुक्त किया है । अर्थात् आपके अन्दर कोई भी संस्कार शेष न रहे जिस कारण आप कोई अन्य (भक्ति के अतिरिक्त) इच्छा करें । यदि संस्कार चित्त में नहीं है, तो निश्चितरूपसे आप उसकी इच्छा भी नहीं करेंगे । अन्यथा, आप हजार साल के बाद भी इच्छा कर सकते हैं । उदाहरण के लिए – सौभरि मुनि को अकस्मात् विवाह करने की इच्छा हो गई । यदि कोई व्यक्ति उसे बहुत समय से निरीक्षण करता, तो शायद सोचता कि ''ओह'' देखो यह मुनि पूर्णतः कामेच्छा रहित है । यद्यपि वह मुनि बहुत लम्बे समय से इच्छा-शून्य (का भास होता) था पुनः उन्हें इच्छा हो गई क्योंकि उनके हृदय में प्रच्छन्न संस्कार थे । अर्थात् अभिलाषिता शून्य नहीं था, जो उत्तमा भक्ति का द्वितीय लक्षण है । तीसरा गुण उत्तमा भक्ति का है "ज्ञानकर्माद्यनावृतम्" कार्य निष्पादन है, किन्तु उस कार्य के पीछे कोई गुप्त उद्देश्य नहीं रखना है । मोक्ष की या भोग की इच्छा न होना ही ज्ञानकर्माद्यनावृतम् है ।

गोपियाँ वही करती है जिस से कृष्ण प्रसन्न हो । यदि आप उनकी जीवन शैली देखेंगे, तो आप को ज्ञात होगा कि वे आम व्यक्ति हैं । वे किसी आश्रम में नहीं रहती हैं किन्तु पारिवारिक जीवन में हैं और पारिवारिक जीवन में उन्हें अनेक कर्तव्यों को निभाना है। उन्होंने उनका त्याग नहीं किया है । लोग कभी पूछते हैं, "क्या हमें अपने माता-पिता को सम्मान देना चाहिये ?" गोपियाँ मानवमात्र को सम्मान देती हैं । वे अपने पतियों की सेवा करती हैं, दूसरे सम्बन्धियों की और अपनी सन्तानों की भी, तथापि उनका मन पूर्णरूप से श्रीकृष्ण की अनुकूल सेवा करने में ही तल्लीन रहता हैं। एवं साधक भी बिना किसी वस्तु की इच्छा से सेवा कार्य करें । "मैं मुक्त हो जाउँ" ऐसी इच्छा न करें। वस्तुतः मुक्ति आत्महत्या करना बराबर है । सामान्यतः (संसारसे) मुक्त होने की इच्छा हमारे मनके भीतर में प्रच्छन्न रहती है और यह इच्छा बहुत दृढ़ होती है ।

हम या तो सुखी होना चाहते हैं या कुछ काम करना नहीं चाहते हैं । ये दो मुख्य वृत्तियाँ हमारे अन्दर हैं । यदि हम कुछ कार्य करना चाहते हैं तो अपने कार्यों के परिणामों से सुख प्राप्ति की इच्छा रखते हैं, - यह भुक्ति है । यदि आप की सोच है कि "मुझे कुछ नहीं करना पड़े, और कोई अन्य व्यक्ति इस कार्य को कर दे ।" तब यह मुक्ति कहलाती है । मुक्ति का अर्थ है, मेरा मन जो करना चाहे वह मैं करूँ, कृष्ण या गुरू की चाह अनुसार मुझे कार्य न करना पड़े । ऐसी मानसिकता से भक्ति या सेवा नहीं हो सकती।

इन दो वृत्तियों से मुक्त होकर मात्र श्रीकृष्ण (या गुरु) के लिए ही कार्य का अनुष्ठान करना उत्तमा भक्ति कहलाती है । जब कोई समझता है कि ब्रज भक्तों में (कृष्ण प्रति) स्वाभाविक राग हैं, जिसको रागात्मिका भक्ति कहते हैं और कोई साधक उसे प्राप्त करने के लिए अति उत्कट इच्छा रखता है, तब वह उत्तमा भक्ति के लिए योग्य होता है ।

वह अपने गुरू से यह सीखे कि इसका पालन कैसे करना है । आप श्रीकृष्ण स्मरण करें, और साधु सेवा करें, अर्थात् गुरू की सेवा करें । आप शारीरिक अथवा अपने मन से ब्रज में निवास करें । यह भाव निरन्तर, सदा दिनभर, यानि चौबीसों घन्टों रहे तो वह उत्तमा भक्ति कहलाती है ।

यदि व्यक्ति ऐसी मनोवृत्तिवाला है, तब स्वाभाविक है कि उसे किसी दूसरी समस्याओं की कोई गुंजाईश नहीं है, जिसे आम जनको, पवित्र-हृदय की कमी के कारण सामना करना पड़ता है । उदाहरण के लिए कामुकता और अन्य सभी प्रकार के दुराचार (से हृदय दूषित बनता है) । अपवित्रता के नाश के लिए अन्य कोई प्रक्रिया नहीं है, जिससे हृदय पवित्र हो । व्यक्ति शुद्ध या पवित्र होने के लिए भिन्न भिन्न साधना करता है, किन्तु वह पवित्र बन नहीं पाता । पवित्र होने के बजाय सभी इच्छाएँ बनी रहती हैं । सांसारिक इच्छाएँ तब तक दूर नहीं होगी, जब तक साधक कृष्णानुशीलनम् नहीं करेगा। यह अनुशीलनम् बिना किसी उद्देश्य से करे । आप अनुशीलनम् इस कामनासे भी कर सकते हैं कि जिसके लिए अनुशीलनम् करता हूँ वह मुझ पर प्रसन्न हो जाय, ताकि मैं उस से कुछ लाभ प्राप्त कर सकूँ । यह उत्तमा भक्ति नहीं है ।

उत्तमा भक्ति परम उत्कृष्ट वस्तु है अतः इसे समझना बहुत कठिन है क्योंकि इस संसार में ऐसी और किसी वस्तु का अनुभव हो ऐसा दृष्टान्त नहीं है ।

ब्रह्म-विमोहन लीला में ब्रह्माजी ने ब्रज में सभी ब्रजवासी किस प्रकार से पूर्णतः समर्पित थे इसका अनुभव किया, वह श्रीमद्-भागवत में (१०/१४/३५) वर्णित है । न हि वे अन्य कोई उद्देश्य रखते थे और न हि अपने सम्बन्धियों, मित्रों, या अपनी धन सम्पत्ति में आसक्त थे । सामान्य जन जिस में चाह रखतें हैं उन विषयों से भी वे निर्लेप रहते थे। वे मात्र कृष्ण के लिए ही कार्य करते थे, न किसी अन्य वस्तु के लिए । जब ब्रह्मा ने यह देखा तो वे भी आश्चर्यचकित हो गए । उन्होंने जाना कि जब पूतनाने केवल गोपी जैसा रूप धारण किया था तब श्रीकृष्ण ने उसे भी धात्री रूप दे दिया ।

जो वास्तव में व्रजगोपियाँ हैं, उनके लिए तो कहना ही क्या ? वे केवल गोपी भाँति श्रृगांर ही नहि करती हैं, परन्तु पूर्णरूप से श्रीकृष्ण समर्पित हैं । ब्रह्मा आश्चर्यचकित हो गये कि उनके पास इन व्रजगोपीओं को देने के लिए अब क्या रह गया है, कारण कि कृष्ण से बढ़कर कोई तत्त्व नहीं है । गोपी के वेष में पूतना उन्हें विष देने के लिए आई थी तो उसे श्रीकृष्णने स्वयं को दे दिया अब वे इन गोपीओं को क्या देंगे ? इन गोपीयों को तो पूतना से भी कुछ और विशेष देना चाहिए । अतः ब्रह्माजी ने कहा, "इस विषय में मेरी मति भ्रमित हो गई है" । ब्रह्माजी भी उत्तमा भक्ति को नहीं समझ सके तो एक सामान्य व्यक्ति कैसे समझेगा कि ये सभी ब्रजवासी श्रीकृष्ण को इतने समर्पित कैसे हो सकते हैं ?

******

प्रश्नः अनुकूल सेवा का वास्तविक अर्थ क्या होता है ?

उत्तरः मूल सिद्धान्त है कि सेवक की अन्तश्चेतना कहाँ है । लोग संसार में भी सेवा करते हैं किन्तु उनके आशय भिन्न होते हैं । वे अपने लिए कुछ अर्जित करना चाहते हैं। यदि कोई आनुकूल्य भाव से सेवा करना चाहता है तो उसे भगवद् भाव हृदय में रखकर सेवा करनी चाहिए । यदि कोई (वस्तुतः) भक्ति में श्रद्धा रखता है तो वह अन्य को धोखा नहीं देता और अन्य कोई उद्देश्य भी नहीं रखता है । यदि वह गुरुजी की सेवा करता है तो उसका भाव होना चाहिए कि, "गुरु जी ही मेरे भगवान हैं" अथवा "यदि मैं गो सेवा कर रहा हूँ, तब वे भी मेरे भगवान हैं या पूजनीय हैं" । केवल तब ही हम अपनी अन्तर्भावना को सही रख सकते हैं । अन्यथा जो भी हम करेंगे हम उससे कुछ लाभ पाने का प्रयत्न करेंगे ।

उदाहरणार्थः व्यक्ति हृदय में गुह्य उद्देश्य रखते हैं । यदि उनको मन्दिर की भी कोई वस्तु खरीदने के लिए कुछ धन दिया जाता है, तो उस में से वे दुकानदार से कमीशन लेंगे या वे खरीदी रसीद में हेराफेरी करके कुछ धन अपने पास रखेंगे । कभी-कभी वे मन्दिर में ठाकुर जी की पूजा करते हैं जहाँ दान पेटी होती है तो उसमें से कुछ धनराशि

निकालने की भी उनकी बुरी आदत होती है । यदि आप भगवद्-भाव से सेवा नहीं करते हैं तो उस से आपको यह अभिमान भी हो जायेगा कि "मैं बहुत अधिक सेवा कर रहा हूँ" और आप हर व्यक्ति को नियन्त्रण में रखना चाहेंगे । यदि आप गुरुजी की सेवा करते हैं तो भी आप सोचते हैं "अब मैं उन्हें भी नियन्त्रित कर सकता हूँ । यदि मैं सेवार्थ नहीं आता अथवा मैं यह कार्य नहीं करता हूँ तब वे मुझ पर निर्भर हो जायेंगे"। जब इस प्रकार की सोच आती है तब वह साधक भगवद्-भाव शून्य होता है। यदि साधक भगवद्-भाव से सेवा करता है, तब वह आनुकूल्य रीति से सेवा करने लगेगा । आनुकूल्य भाव से सेवा करना एक अनुभव का विषय है, साधक स्वयं ही इसका अनुभव करेगा । वह अनुभव होने लगेगा जब साधक प्रथम सहयोग देना प्रारम्भ करता है । जहाँ साधक आनुकूल्य भाव से युक्त होगा वहाँ शोषण या नियन्त्रण वृत्ति नहीं होगी, न ही कोई लाभ प्राप्त करने की, न धन, पद, यश अथवा प्रशंसा की वृत्ति होगी । ऐसे उद्देश्य वहाँ नहीं होने चाहिए ।

******

प्रश्नः कृपया आप श्रीमद्भागवत् के १.१.२ श्लोक की व्याख्या करें, विशेष रूप से "धर्म प्रोज्झित कैतव" शब्द की ?

उत्तरः

धर्मः प्रोज्झित कैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः
सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ।। (भा.१-१-२)

यह सुन्दर श्रीमद्-भागवत परम धर्म जो सभी प्रकार के कामना (कपट) रहित का निरूपण करता है, एवं जिसका पालन शुद्धान्तःकरण मात्सर्यहीन सत्पुरूष करते हैं । यह परम तत्त्व शुभदा है एवं तीनों तापों का मूल से नाश करता है । श्रीमद्-भागवत महामुनि वेदव्यास द्वारा निर्मित है, अतः और किसी साधन या शास्त्र की क्या आवश्यकता है । जब सरल हृदय सज्जन इसे सुनने की इच्छा करता है, तब भगवान अविलम्ब उनके हृदय में आकर बन्ध जाते हैं ।

कपट का मूल देह में गाढ़ आसक्ति है, क्योंकि यह देह हमारा अपना मूलभूत स्वरूप नहीं है । जब आप देह में आसक्त हो जाते हैं तब आप शरीर के द्वारा सुख प्राप्त करने के लिए प्रयास करते हैं । धर्म, अर्थ काम और मोक्ष कपटभाव को ही प्रकट करते हैं। जो इन चार पुरूषार्थों का पालन नहीं करते हैं उनके बारे में तो क्या कहें ? सामान्यतः लोग धार्मिक कार्य करते हैं, ताकि वे दूसरे जन्म में कुछ सुख प्राप्त कर सकें । इस

जीवन में कुछ तपस्या करते हैं या दान करते हैं ताकि अगले जन्म में कुछ सुख प्राप्त हो, स्वर्ग में निवास मिले आदि । जैसे अभी लोग कुम्भ मेले में जा रहे हैं, वहां इस ठंड मौसम में स्नान करेंगे । वे यह क्यों कर रहे हैं, क्योंकि वे सोचते हैं कि स्नान करने से वे स्वर्ग में जायेंगे । यदि आप धार्मिक कार्य करना चाहते हैं तब आपको धन की आवश्यकता होती है, अतः आप अर्थोपार्जन करेंगे । एक बार धन प्राप्त कर लेने के बाद आप सुख भोग करेंगे, जिसे काम कहते हैं । जब आपको इन सभी से निराशा मिलती है, तब आप मुक्त होना चाहेंगे, जो मोक्ष कहलाता है ।

ये सभी मूलतः आप के देह सम्बन्धित हैं, चाहे वह धर्म, अर्थ, काम या मोक्ष हो । यह (चार पुरुषार्थ) आप का अपना मूलभूत स्वरूप आत्मा से सम्बन्धित नहीं है । आपका स्वरूप या अस्तित्व भगवान की सेवा के लिए है । अतः सभी क्रियाकलाप, जो इन चार पुरुषार्थ से किसी भी प्रकार से जुड़े हुए हैं वे सभी कपट हैं । भक्ति करने के लिए इन सब को आपको छोड़ना पड़ता है । इन सब का त्याग किए बिना हम भक्ति नहीं कर सकते हैं, क्योंकि भक्ति में हम बिना किसी उद्देश्य की प्राप्ति से सेवा करते है और किसी भी लौकिक वस्तु की इच्छा अपने लिए नहीं करते हैं । कोई पद प्राप्ति, सुख, या मुक्ति की कामना अथवा वैकुण्ठ जाने की कामना या इच्छाएँ ये सभी कपट के अन्तर्गत आते हैं । यदि आप इन में से कोई भी चाहते हैं तो वह अन्याभिलाषा है अर्थात् आपकी भक्ति में वास्तविक अभिरुचि नहीं हैं । तब यदि आप भक्ति कर रहे हैं, तो आप केवल भक्ति से भिन्न कुछ और वस्तु प्राप्त करना चाहते हैं ।

भक्ति अथवा परमधर्म का अर्थ है कि केवल सेवा करने के लिए सेवा करना और उसके बदले में किसी भी वस्तु की चाह नहीं रखना है । जब तक आपका मन और उद्देश्य इस प्रकार का नहीं है तब तक सेवा का कोई प्रश्न ही नहीं है । सब कुछ कपट है यद्यपि कपट विभिन्न तरीकों में प्रकट हो सकता है । यह धार्मिक नीतिनियम के रूप में प्रकट हो सकता है । जैसे प्रातः काल ब्रह्ममुहूर्त में उठ जाना, पूजा करना, तपस्या करना, अथवा परिक्रमा करना इत्यादि । इसके बहुत सारे प्रकार हो सकते हैं किन्तु यह उत्तमा भक्ति नहीं है क्योंकि आपका लक्ष्य कुछ और है और यह सभी अन्ततः इस पार्थिव देह के लिए है । आप इस जीवन में एवं परवर्ती जन्म में सुख और बाद में मुक्ति अर्थात् नित्य सुख चाहते हैं । ये समस्त वस्तुएँ मात्र कैतव मानी जाती है ।

"धर्मः प्रोज्झित कैतवोऽत्र परमो" अथवा परमधर्म वह है जो सभी स्थूल या सूक्ष्म कैतव से पूर्णतः रहित है । परम धर्म में इन कैतवों का कोई अंशमात्र भी नहीं है । यह उत्तमा भक्ति है । भिन्न-भिन्न व्यक्तियों ने धर्म की विभिन्न व्याख्या की है । स्वयं श्रीकृष्ण के

द्वारा परिभाषा दी गई है कि "धर्म-मद्भक्ति-कृत प्रोक्तः" धर्म का अर्थ है "मेरी भक्तिपूर्वक (भाव से) सेवा करना" । यथा - (भा.११.१९.२७)

धर्मो मद्भक्तिकृत प्रोक्तो ज्ञानं चैकात्म्यदर्शनम् ।
गुणेष्वसङ्गो वैराग्यमैश्वर्यं चाणिमादयः ।।

वास्तविक धर्म वह है जो (साधक के हृदय में) भक्ति लाता है । वास्तविक ज्ञान परमात्मा को सर्वत्र देखना है । यथार्थ वैराग्य विषयों से इन्द्रियों की पूर्ण अनभिरुचि है । अणिमादि सिद्धियों की प्राप्ति वास्तविक ऐश्वर्य है ।

अन्य धर्म (की विभिन्न व्याख्याएँ) श्रीकृष्ण द्वारा त्यज्य है ।
धर्म की व्याख्या यज्ञ के रूप में एवं वर्णाश्रम में कर्त्तव्य पालन के रूप में भी परिभाषित की गई है । पूर्व मीमांसा दर्शन वैदिक विधि निषेधों के अनुपालन के रूप में धर्म की व्याख्या करता है ।

किन्तु श्रीमद्-भागवत परम धर्म की व्याख्या (भिन्नरूप से) करता है । वहाँ श्रीकृष्ण कहते हैं कि "मेरी सेवा करना यथार्थ धर्म है" । 'अन्य कोई धर्म नहीं है और उनका परित्याग करना आवश्यक है । जब तक कोई उसे नहीं छोड़ता है, तब तक कोई अपने निजी (यथार्थ) धर्म में स्थापित नहीं हो सकता है । ******

प्रश्नः फिर भी भा. १-१-२ श्लोक की अन्तिम पङ्क्ति "सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात्" मुझे स्पष्ट नहीं है कि वह अनुभूति अविलम्ब कैसे होती है ?
उत्तरः यह पङ्क्ति वही कहती है जैसा उसमें वर्णन किया गया है । यदि कोई योग्य व्यक्ति है तो हृदय में अनुभूति शीघ्र होती है । उदाहरण के लिए "मैं आपको कहता हूँ कि आप सूखी घास पर माचिस की प्रज्वलित तीली रखो तो वह जल उठती है । तब आप मुझ से प्रश्न करते हैं कि मैं इसे समझने में असमर्थ हूँ, तब मैं फिर से पूछता हूँ, वह क्या है जो आप नहीं समझे ? आप जलती हुई एक माचिस की तीली लीजिए, उसे घास के पूञ्ज से स्पर्श कराइए तब वह उसे जला देती है ।" यह सम्पूर्ण श्लोक कहता है कि यदि व्यक्ति निर्मत्सर (ईर्ष्या-रहित) है तथा वह सुनने का इच्छुक है, तब अविलम्ब भगवान उसके हृदय में आकर विराजमान हो जाते हैं । यदि कोई (शास्त्रीय) श्रद्धा, जो भगवान की स्वरूप शक्ति है, उसे प्राप्त कर लेता है, तो वह शीघ्र भक्ति करने के लिए निश्चय कर लेता है । उसके लिए कोई अनर्थ शेष नहीं रहते हैं, वह भगवद् अनुभूति कर लेता है । ******

प्रश्नः जब मुझ में अनर्थ हैं तब मैं किस स्तर पर हूँ ? मैं कहाँ हूँ ?

उत्तरः इसका वर्णन भक्तिरसामृत सिन्धु ग्रन्थ में हुआ है । भक्ति के विभिन्न स्तर हैं, जैसे साधुसङ्ग, भजन-क्रिया, अनर्थ निवृत्ति इत्यादि ।

मैं जो व्याख्या कर रहा था वह थी कि उत्तमा भक्ति में यह कैसे घटित होता है । भागवतम् उत्तमा भक्ति के विषय में बताते हैं जहाँ "धर्मः प्रोज्झित कैतव" कहा गया है। यदि कोई प्रोज्झित कैतव है अर्थात् मन में किसी भी प्रकार की कपटता नहीं है, तब उसमें कोई अनर्थ नहीं है । अनर्थ का अर्थ है - कैतव, धोखा देना । लौकिक वस्तुओं की कामना शारीरिक सुख के लिए करना ही सब प्रकार की धोखेबाजी का मूल है । यदि व्यक्ति उससे मुक्त है, तब उसे कोई बाधा नहीं है । ******

प्रश्नः आपने कहा कि गोस्वामियों ने सही दर्शन लिखें क्योंकि दूसरे दर्शन अपूर्ण थे । लेकिन मुझे आश्चर्य हो रहा है कि श्रीकृष्ण ने भगवद्-गीता और उद्धव गीता का ज्ञान पाँच हजार वर्ष पूर्व दिया किन्तु उन्होंने वही ज्ञान नहीं दिया जो जीव गोस्वामी ने दिया?

उत्तरः मांग के अनुसार कोई भी वस्तु दी जाती है या बिक्री की जाती है । श्रीकृष्ण के समय में वर्णाश्रम व्यवस्था का प्रचलन अधिक था । लोग कर्मफल में बहुत आसक्त थे और मुक्ति ही सर्वोत्तम मानी जाती थी । लोग भी बहुत ईर्ष्यालु प्रकृति के थे अतः एक दूसरों के साथ झगड़ा करते या (निर्बल का) शोषण करते थे । इसलिए कृष्ण को बहुत वर्षों तक युद्ध करना पड़ा एवं असुरों का वध करना पड़ा, क्योंकि वे उन्हें शिक्षा नहीं दे सकते थे । तथापि उन्होंने भक्ति के बीज को बोया और यहाँ ब्रज में प्रेमभक्ति को दिखाया । किन्तु बहुत अधिक लोग भक्ति को स्वीकार करने के इच्छुक नहीं थे क्योंकि वर्णाश्रम व्यवस्था का विशेष प्रचलन था ।

जब बाद में अनुकूल समय आया, तब श्रीचैतन्य महाप्रभु आए और भक्ति का प्रसार प्रचार किया । ऐसा कहा गया है कि कोई व्यक्ति बहुत खिन्न है या भूखा है और यदि आप उसे कोई दर्शन की अच्छी शिक्षा देंगे तो भी उसकी उस में कोई अभिरुचि नहीं होगी । यदि व्यक्ति भूखा है, तो प्रथम उसे कुछ भोजन खाना चाहिए, अन्यथा वह दर्शन सुनने में कोई अभिरूचि नहीं लेगा । श्रीकृष्ण के काल में मनुष्य सांसारिक कर्मफल में अधिक आकृष्ट थे अतः उन्हें भक्ति में कोई अधिक रुचि नहीं थी । ठीक एसी स्थिति अन्य युग जैसे त्रेता और सत्ययुग में थी । अनुकूल परिस्थिति के अनुसार ही वस्तु प्रस्तुत की जाती है ।

******

प्रश्नः उस समय लोग भक्ति क्यों नहीं स्वीकारते थे ? क्या पाँच हजार वर्ष पूर्व की अपेक्षा चेतना अब अधिक विकसित है ?
उत्तरः अब मानव अधिक विकसित नहीं है । सत्य यह है कि वे पूर्णतः गिरे हुए और निम्न श्रेणी के हैं । उस समय (पाँच हजार वर्ष पूर्व) मनुष्य उच्च विकसित थे अतः वर्णाश्रम का पालन करने के लिए योग्य थे, क्योंकि वर्णाश्रम धर्म में शास्त्र के आदेश का पूर्णतः पालन करना होता है । वे कभी उनका व्यतिक्रम अथवा उल्लंघन नहीं करते थे, और न ही वे भ्रष्ट थे । वे कुशलतापूर्वक सिद्धान्तों का पालन करते थे । परन्तु इस समय लोगों में यह योग्यता बिल्कुल नहीं है । यह सब से भ्रष्ट युग है अतः इसे कलियुग कहा जाता है । हर स्थान पर आप लड़ाई, दङ्गा और झगडा देख सकते हैं। चारों ओर पाखण्ड है । ऐसे कलियुग के जन-समुदाय को ऊपर उठाने के लिए आपको सर्व श्रेष्ठ उपाय की आवश्यकता है, क्योंकि इस के अतिरिक्त और कोई समाधान नहीं है । अभी लोगों में कोई योग्यता नहीं है, और न ही अनुशासित हो सकते हैं । वे ठीक वही करना चाहते हैं, जो उनका स्वयं का मन कहता है । इन परिस्थितियों में वे न तो वर्णाश्रम धर्म का पालन कर सकते हैं, न अन्य योगादि मार्ग जिसमें कठोर अनुशासन है उसे अपना सकते हैं । इसलिए उन पर सर्व शक्तिशाली प्रक्रिया का उपयोग किया गया इस आशय से यह उनके लिए लाभप्रद हो । ......

प्रश्नः जब आप भक्ति मार्ग की जिस प्रकार व्साख्या करते हैं वह तब यह मार्ग साधना भक्ति और साध्य भक्ति के साथ कैसे जुड़ा है ?
उत्तरः भक्ति मार्ग में प्रारम्भ और अन्त में कोई भेद नहीं होता । प्रारम्भ भी भक्ति से होता है और अन्त भी भक्ति से होता है । आप जो भी नाम उसे दे, वह भी भक्ति है। यद्यपि साधना भक्ति और साध्य भक्ति के मध्य विभाग है, (अभ्यास का स्तर और पूर्णतः का स्तर) फिर भी वह भक्ति ही है । यह सब कुछ भक्ति ही है क्योंकि वह लौकिक नहीं है । लौकिक यानि कोई भी लौकिक कार्य करने से उसका फल पाना ।

भगवान अपनी कृपा से साधक को इस मार्ग पर चलने के लिए प्रेरित करते हैं यदि वह गुरु का आश्रय लेता है तो गुरु-कृपा और कृष्ण की कृपा से इस मार्ग में उसकी श्रद्धा बढ़ती है । यह कृपा पाना ही भक्ति है और इसका प्रारम्भ यहाँ से होता है।

भक्ति से भक्ति आती है । तात्पर्य यह है कि यदि व्यक्ति इस शुभ अवसर का दुरुपयोग न करें तब वह उन्नति करेगा और निरन्तर भक्ति करता रहेगा । प्रारम्भ से भगवान ही है जो उसे भक्ति देते हैं, वही है जो प्रेरित भी करते हैं एवं वही है जो भक्त का सङ्ग

देते हैं । यदि वह उस अवसर का सदुपयोग करता है और अनुकूल क्रिया करता है, तो प्रगति करता है । अतः प्रारम्भ से ही यह भक्ति है ।

यह नहीं कि प्रारम्भ में आप कुछ कर रहे हैं और फिर भक्ति उत्पन्न होगी । प्रारम्भ से ही वही भक्ति का बीज रहता है । भक्ति बाद में अधिक गाढ़ बनती है यदि वह आनुकूल्य करता है एवं अपराध से बचता है तथा भगवान और गुरु से ईर्ष्यालु नहीं है । यह सम्पूर्ण वस्तु भक्ति का पथ कहलाती है ।

यह अन्य मार्ग की तरह नहीं है, जहाँ आप की साधना या अभ्यास है जो अन्तिम परिणाम से भिन्न है । यहाँ आप श्रवण, कीर्तन इत्यादि से प्रारम्भ करते हैं और आनुकूल्य सेवा करते हैं । अन्तिम पर्यन्त आप यही करते रहते हैं । यह सम्पूर्ण वस्तु ही भक्ति मार्ग कहलाती है ।

******

प्रश्नः क्या प्रारम्भ से ही शरणागति और श्रद्धा है ?
उत्तरः हाँ । यह बीज है जो व्यक्ति को फल देना प्रारम्भ करता है, जब वह अनुकूलमयी सेवा करता है । किन्तु यदि कोई आनुकूल्य कार्य नहीं करता है, तब उसको फल नहीं मिलता ।

******

प्रश्नः अतः बीज स्वयं भक्ति है परन्तु क्या वह अभी तक अविकसित अवस्था में हैं ?
उत्तरः हाँ । यही बीज का अर्थ है ।

******

प्रश्नः यदि श्रीकृष्ण समर्पण के लिए प्रेरित करते हैं, तो इस प्रक्रिया में हमारा सही कर्तव्य क्या है ?
उत्तरः श्रीकृष्ण प्रेरणा देते हैं । प्रेरणा का अर्थ है यह सोच - "यह सही है या यह गलत है", आप इस मार्ग का चुनाव करते हैं । जैसे संसार में लोग सांसारिक क्रियाकलापों में आसक्ति रखते हैं जिस में बहुत अधिक विघ्न आते हैं, तथापि वे अपनी इच्छानुसार कार्य करने का आग्रह रखते हैं । (भक्त भी उसी तरह अपने मार्ग पर स्थिर रहता है ।

ऐसे ही श्रीकृष्ण (सांसारिक अनुभव द्वारा दृष्टान्त सहित) समझ देते हैं कि यह संसार (मानव उत्थान के लिए) सही नहीं है परन्तु आध्यात्मिक जीवन शैली (उत्थान के लिए) सही है । वे शास्त्र के माध्यम से भी ज्ञान देते हैं । सही चुनाव करना आपका कर्तव्य है । आप पूर्णतः एक पत्थर के टुकड़े के समान चेतनारहित नहीं हैं । आप चुनते हैं,

चेतना के कारण (सजागता होती है जिससे) अनुभव होता है और उस के आधार पर आप निर्णय लेते हैं । यदि आप जानते हैं, "यह सही है", तब उस (अनुभव) के आधार पर आपको उचित निर्णय लेना चाहिए । यदि आप जानते हैं, "यह गलत हैं", तो उसे मत करो । "यह सही है" ऐसा जानने के बाद भी यदि आप गलत पथ पर चलना चाहते हो तो भगवान आपको रोकेंगे नहीं । ऐसा घटित नहीं होगा । जैसे लोग सांसारिक पथ नहीं छोड़ते हैं चाहे कितना ही अधिक कष्ट और कठोर पीड़ा क्यूँ न भुगतनी पड़े, ठीक उसी प्रकार साधक को तीव्र सजागता से भक्ति के पालन का दृढ़ निश्चय करना चाहिए । जब किसी को सांसारिक जीवन का अनुभव हो चुका है एवं सही मार्ग पर जाने के लिए प्रेरणा मिली है और ज्ञान भी है, तब संसार के चक्र में पुनः पुनः क्यों नियुक्त रहेगा, यद्यपि वह उन कष्ट का बार बार अनुभव कर चुका है । अतः व्यक्ति को श्रीकृष्ण द्वारा प्रदत्त प्रेरणाका अनुसरण करना चाहिए । यही आपको करना है ।

******

प्रश्नः विभिन्न भक्त भिन्न-भिन्न भक्तिपरक क्रियाओं का आग्रह रखते हैं । कुछ लोग चौसठ माला जप करते हैं, कोई एक सौ आठ माला जप करते है । अन्य लोग अधिक समय विग्रह सेवा पूजा में व्यतीत करते हैं और कुछ लोग पाकशाला में सेवा में समय बिताते हैं । भक्ति सन्दर्भ में कहा गया है कि भक्ति के सभी अङ्ग पूर्णता प्रदान करते हैं। भक्ति की किस प्रक्रिया पर मुझे विशेष ध्यान देना होगा ? मुझे कितना जप करना होगा, कितनी गो सेवा करनी होगी या क्या यह भक्त की उन्नतिस्तर के अनुसार करना होगा ?

उत्तरः भक्ति सन्दर्भ में उत्तमा भक्ति को समझने के लिए विस्तार से सम्पूर्ण विश्लेषण किया गया है । लेकिन लोग भक्ति में रुचि नहीं रखते हैं । भक्ति निष्काम कर्म से परे है । भक्ति में आप बिना किसी उद्देश्य या फल की इच्छा से सेवा करते हैं । लोगों की निष्काम कर्म में भी अभिरुचि नहीं है तो भक्ति के विषय में तो क्या कहना है जो निष्काम कर्म से भी परे हैं । उन लोगों को आकृष्ट करने के लिए यह सम्पूर्ण विश्लेषण दिया गया है और प्रत्येक क्रिया कलाप की महिमा का वर्णन किया गया है । जेसे आप गोपाल सहस्रनाम का पाठ करते हैं, या दान देते हैं, तो उनका फल मिलेगा इत्यादि । जब व्यक्ति इन सब चीज़ो को सुनता है, तब प्रायः कोई विशेष प्रक्रिया के प्रति आकृष्ट होगा ।

जैसा कि भगवद् गीता में कहा है -

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद् यतति सिद्धये ।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन् माम् वेत्ति तत्त्वतः ।। (गी. ७-३)

"हजारों मनुष्यों के मध्य में कोई एक सिद्धि के लिए प्रयत्नशील होता है । ऐसे बहुत से सिद्धि प्राप्त करनेवालों के मध्य में भी कोई एक मुझे वास्तवमें जान पाता है ।"
विशेष में "अनेक जन्मों के बाद जिसे वास्तव में ज्ञान होता है, वह मुझे सभी कारणों का कारण जानकर मेरी शरण में आता है । ऐसा महान व्यक्ति अत्यन्त दुलर्भ है ।" (गीता ७-१९)

अतः अनेक जन्म-जन्मान्तर के बाद ज्ञानी पुरुष कदाचित शरणागति लेता है । उत्तमा भक्ति में साधक को गुरुदेव की आज्ञा का पालन करना आवश्यक है । किन्तु लोगों की इस विषय में कोई धारणा नहीं है । गुरु की शरणागति लेने के बाद वह (प्रायः) भूल जाते हैं कि जो अनुकूल नहीं है वह त्याज्य है और जो अनुकूल हो उसे ही ग्रहण करना चाहिये । अपने गुरु से आपको सीखना होता है कि आपको क्या करना है । यही महत्त्वपूर्ण है । जब आप अपने मन से विश्लेषण करते हैं, तब प्रत्येक वस्तु आकर्षक दिखती है । लोगों को किसी वस्तु से आकर्षित करने के लिए उसे उसी रीति में वर्णित किया जाता है । किन्तु जब आप किसी विषय में पढ़कर आकर्षित होते हैं, तब आप उसे अपने निजी उद्देश्य से करते हैं । लेकिन निजि उद्देश्य पूर्ति के लिए भक्ति न करें । भक्ति वही वस्तु है जो मात्र भगवान की प्रसन्नता के लिए ही की जाती है । पश्चात् उस में स्वाभाविक रुचि होती है ।

******

प्रश्नः क्या इसलिए हम नहीं जानते हैं हमें क्या करना चाहिए क्योंकि उस में हमारी स्वाभाविक रुचि नहीं है ? अतः हमें अधिक सहायता और मार्गदर्शन की आवश्यकता है ।
उत्तरः सर्व प्रथम शास्त्र आपको "परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम्" की धारणा पर ले आते हैं । अर्थात् "दूसरों का कल्याण करना पुण्य है और दुःख पहुँचाना पाप है" । यह प्रारम्भिक स्तर (एवं मूल आधार) है और जब आप उस स्तर पर आ जाते हैं तब उसके बाद (यहाँ से) भक्ति शुरु होती है, किन्तु लोग समझते नहीं है कि यह मूल आधार है । अतः शास्त्र में अनेक वस्तुओं के बहुत से विधान दिए गये हैं, और आशा है कि आप उस में से कुछ ग्रहण करोगे । परन्तु जब आप एक बार भक्ति के पथ पर आते हो तब आपको गुरुदेव के मार्गदर्शन में ही कार्य करना पड़ता है, आप स्वतन्त्र रूप से चयन मत करो ।

******

प्रश्नः श्रीचैतन्य चरितामृत मध्यलीला के श्लोक २२-१०७ का क्या अर्थ है ? यह श्लोक जीव में "प्रसुप्त प्रेम है" इस सिद्धान्त के प्रमाण के लिए प्रयोग होता है ।

नित्यसिद्ध-कृष्णप्रेम साध्य कभु नय ।
श्रवणादि शुद्धचित्ते करये उदय ।।

उत्तरः यह श्लोक भक्ति कैसे प्राप्त होती है उस का वर्णन करता है । यह वास्तव में भक्ति-रसामृत-सिन्धु ग्रन्थ के एक श्लोक का अनुवाद है, जिसका वर्णन प्रारम्भ में हो चुका है ।

नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता (भ.र.सि.१.२.२)
नित्य सिद्ध भक्ति का प्रकटन साध्य कहलाता है और यह नित्यसिद्ध भक्तों से आता है। "कृष्ण-प्रेम नित्यसिद्ध" का अर्थ है कि भक्ति भगवान के नित्य भक्तों में है एवं वह उन से ही आती है ।

सामान्यतः धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के शास्त्र में यह वर्णित है कि जब आप साधना करते हैं तो उस से आप अपना साध्य प्राप्त करेंगे । आप क्या प्राप्त करते है या क्या चाहते हैं, उसे साध्य कहते हैं । आप जिसका अभ्यास करते हैं, जो धार्मिक क्रिया कलाप करते हैं वह साधना कहलाती है । दूसरे शब्दों में साधना कारण और साध्य कार्य के मध्य कर्म और फल का सम्बन्ध है । परिणामरूप, फल साध्य और कर्म साधना कहा जाता है ।

सामान्यतः सांसारिक जगत् में हम देखते हैं कि आप एक निश्चित कार्य करते हैं तब कार्य के अनुरूप फल प्राप्त होता है, जो स्थूल (गोचर) या सूक्ष्म (अगोचर) होता है । जो क्रिया आप ने की है उसी पर आधारित फल आप को प्राप्त होता है । सामान्यतः जैसे आप जब दो चीज़ों का मिश्रण करते हैं (साधना) तब तीसरी चीज़ (साध्य) उत्पन्न होती है ।

भक्ति भी साध्य कहलाती है क्योंकि उसे प्राप्त करने का माध्यम साधना भक्ति है । अतः कोई साधक सोचेगा, "यदि यह साधना है, तब मुझे कुछ कर्म करना पड़ेगा और मेरे कर्म से फल प्राप्त होना चाहिए" । यह स्वाभाविक है, क्योंकि लोगों का यही अनुभव है। लेकिन (उत्तमा) भक्ति से इसका सम्बन्ध नहीं है । यद्यपि भक्ति के सन्दर्भ में भी साध्य शब्द का प्रयोग होता है, परन्तु यह उस अर्थ में नहीं है, जैसा कि कर्मकाण्ड में होता है । उदाहरण स्वरूप, जहाँ आप एक यज्ञ का अनुष्ठान करते हैं, उसके फलस्वरूप

आप स्वर्ग जाना चाहते हैं । यहाँ यज्ञ-क्रिया साधना है और स्वर्ग साध्य है (आपके कर्म का सीधा फल है) । यदि आप इसे विधि-पूर्वक करेंगे तो आप को फल अवश्य मिलेगा। उस का वह फल कोई भी रोक नहीं सकता है ।

किन्तु कुछ कर्म विशेष करना भक्ति नहीं है, जिस कर्म के परिणामरूप आप भक्तिरूपी फल प्राप्त कर लेंगे । यद्यपि भक्ति साध्य है, परन्तु इस अर्थ में साध्य नहीं है । भक्ति इस अर्थ में साध्य है कि वह उन भक्तों से आती है, जिनके पास भक्ति है। वह कैसे आती है ? वह भक्तिमान् गुरु की कृपा से आती है । भक्ति श्रीकृष्ण और उनके भक्तों की कृपा से प्राप्त होती है, न कि किसी निश्चित यान्त्रिक क्रियाकलाप के करने से । अन्यथा, यदि मैं निश्चित क्रियाएँ करता हूँ और उनके फलस्वरूप भक्ति आती है, तब वह लोकोत्तर नहीं हो सकती । भक्ति लौकिक साध्य नहीं है, जैसा कि स्वर्ग-गमन । यदि भक्ति लौकिक क्रियाओं का फल है तो वह कुछ समय बाद नष्ट हो जायेगी ।

भक्ति नित्य है, अतः किसी भौतिक वस्तु का परिणाम नहीं है । भक्ति साधक के हृदय में प्रकट होती है । यदि साधक सरल और सीधा है एवं अनुकूल आचरण (सेवा) करता है, तब गुरु (भक्त) और भगवान प्रसन्न होते हैं, एवं गुरु के हृदय से साध्य भक्ति अनुकूल सेवा करने वाले साधक के हृदय में स्थापित की जाती है । उस भक्त के हृदय से आप के हृदय में भक्ति का आविर्भाव होता है । यह भक्ति का हृदयमें आर्विभाव होना ही साध्य कहलाता है ।

भक्ति एक प्रकार की भावना है जिस में साधक सेवा करना पसन्द करता है । अच्छा लगना या पसन्दगी कोई भौतिक क्रिया का परिणाम नहीं हो सकती । यह सम्भव नहीं है कि "मैं आपको किसी व्यक्ति को प्रेम करने के लिए आदेश दूँ और आप उस व्यक्ति को प्रेम करना शुरू कर दें ।" प्रेम किसी विशेष क्रिया का फल नहीं हो सकता है, चाहे आप इस व्यक्ति को पसन्द करें या न करें । यद्यपि संसार में यह उदाहरण पूर्णरूप से लागू नहीं होता है क्योंकि किसी के सङ्ग से या वार्तालाप के बाद, आप उसे शायद पसन्द कर सकते हैं । यह भी सम्भव है कि कुछ समय पश्चात् आप उस व्यक्ति को पसन्द न करें । किन्तु सारांश यहाँ यह है कि भक्ति के प्रति ऐसी रुचि, जिसमें कोई सांसारिक उद्देश्य एवं प्रयोजन न हो, वह किसी कर्म के फलस्वरूप नहीं होती है। यह असम्भव है किसी क्रियाकलाप के फलस्वरूप भक्ति मिले । एक बार सेवा के लिए रुचि हो गई तो वहाँ कभी भी अरुचि नहीं होगी ।
भक्ति नित्यसिद्ध भक्तों की कृपा से आती है । हृदय में भक्ति का प्रकटन ही साध्य कहा जाता है ।

"नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम साध्य कभु नय" - यह पयार कहता है कि कृष्णप्रेम साध्य नहीं है, यद्यपि वह साध्य कहा जाता है । प्रथम निषेध करते हैं कि हम प्रायः जैसा कृष्णप्रेम को समझते हैं वैसा साध्य नहीं है ।

तब फिर भी साध्य क्यों है ? इसका उत्तर उपरोक्त पयार की द्वितीय पंक्ति में दिया गया है - "श्रवणादि शुद्ध चित्ते करये उदय" । तथापि यदि आप श्रवण, कीर्तन, साधु सङ्गादि करते हैं, जो कि भक्ति भी है, नामतः साधन भक्ति है, तब जिससे हृदय पवित्र हो गया है ऐसे हृदयमें प्रेमका उदय होता है । पवित्रता का अर्थ है स्वतन्त्रता अथवा जीव के नित्य स्वरुप की अज्ञानता का परित्याग करना । जीव ईश्वर से स्वतन्त्र रहना चाहता है । वह शरणागति नहीं चाहता है । अतः भक्ति में सर्व प्रथम शरणागति है ।

अज्ञानता (अविद्या) शरणागति स्वीकार करते समय ही दूर हो जाती है, यदि कोई इसे सत्यता से स्वीकार करे तो अन्यथा लोग दीक्षा लेते हैं और फिर भी स्वतन्त्र रहते हैं या वे चले जाते हैं और गुरु के विरुद्ध हो जाते हैं । जिसके कुछ उदाहरण हमने स्वयं देखे हैं । वह व्यर्थ है । अतः यदि भक्ति दी भी जाय तो भी आप इसे ग्रहण नहीं करेंगे जब तक आप इसे लेने की इच्छा नहीं रखते हैं । सम्पूर्ण प्रक्रिया इस प्रकार हैः ईश्वर की इच्छा से आप भक्ति के प्रति आकर्षित होते हैं एवं यदि आप भक्त की प्रसन्नता के लिए कार्य करते हैं, तब वह प्रगति की ओर बढ़ती रहेगी ।

अन्यथा जीव की अविद्या (अज्ञान) यह भाव लाती है कि "मैं स्वतन्त्र हूँ, मैं एक विशेष व्यक्ति हूँ," यह अविद्या किसी दूसरी प्रक्रिया, जैसे योग या ज्ञान मार्ग से दूर नहीं हो सकती है । वह नहीं जायेगी, क्योंकि जो भी साधना आप करते हैं, उसका आप अपना स्वतन्त्र अभिमान रखते हैं, और वास्तव में आपका अभिमान अधिक ठोस बन जाता है। योग या कुछ और करने से आप अल्प शक्ति प्राप्त कर लेते हैं, जिससे आपका लौकिक अभिमान और अधिक बढ़ जायेगा । सांसारिक रोग से मुक्ति पाने के बजाय आप अधिक रोगग्रस्त हो जायेंगे । यद्यपि सामान्य व्यक्ति की दृष्टि में आप कुछ प्रशंसा, नाम और यश प्राप्त कर लेगें, तथापि आध्यात्मिक दृष्टि-कोण से कोई उन्नति अर्जित नहीं होगी बल्कि वास्तवमें आपकी अवनति ही होगी ।

अतः भक्ति ही केवल उस अज्ञान को दूर कर सकती है और यह नित्य सिद्ध भक्तों से आती है । "नित्यसिद्ध कृष्णप्रेम" यह एक समास पद है । नित्य सिद्ध का तात्पर्य है - नित्य परिपूर्ण और कृष्णप्रेम अर्थात् -कृष्ण का प्रेम । कृष्णप्रेम नित्य परिपूर्ण भक्तों में

है, जो भगवान के परिकर हैं । अतः नित्यसिद्ध भक्तों से भक्ति आती है । भक्ति किसी अन्य प्रक्रिया से उत्पन्न नहीं हो सकती है । यह नित्यसिद्ध भक्तों के पास है, और वे इसका परिपालन करते हैं । वे कृष्णसेवा में सदा तल्लीन रहते हैं । उनकी प्रसन्नता से ही उनका भाव हम पर अन्तरित हो सकता है । यह साध्य कहलाता है ।

******

प्रश्नः क्या यह केवल परम्परा से आता है ?

उत्तरः (उत्तमा) भक्ति परम्परा के द्वारा गुरु से आयेगी । अगर कोई वस्तु किसी से प्राप्त होती है तो इसका अर्थ है कि उस व्यक्ति ने भी अन्य व्यक्ति से पायी होगी । यह स्वाभाविक नियम है ।

******

प्रश्नः नित्यसिद्ध भक्तों का क्या अर्थ है ?

उत्तरः भगवान के परिकर ।

******

प्रश्नः अभी तक हम योग्य गुरु एवं सम्प्रदाय से सम्बद्धित नहीं हुए हैं, और जो कुछ भी हमने बहुत वर्षों तक किया क्या वे सब क्रियाकलापों से केवल समय नष्ट किया है, या फिर भक्ति में उस से कुछ प्राप्ति अथवा उन्नति आयी है ?

उत्तरः इसे पुण्य कर्म के रूप में लिया जा सकता है, किन्तु भक्ति नहीं । भगवान के निर्देशानुसार आप जो करते हैं वह भक्ति है, न कि जिसको आपने या किसी अन्य ने बनाया है और आप उसका पालन करते हैं । सेवा भगवान के आदेशानुसार की जाती है अर्थात् शास्त्र का पालन करना भक्ति है । यदि (सेवा) किसी व्यक्ति विशेष की विचार-धारा पर आधारित होकर की जाती है, तो वह भक्ति नहीं हो सकती । यह केवल पुण्य कर्म माना जाता है ।

उत्तमा भक्ति एक योग्य गुरु को स्वीकार करने से आरम्भ होती है क्योंकि भक्ति स्वतन्त्र रूप से नहीं की जाती है । यह सर्वदा गुरु के संरक्षण में होती है । यदि योग्य गुरु नहीं बनाया है, तो वह भक्ति नहीं है । वह क्यों है क्योंकि इसकी अपराध में गणना की गयी है । गुरु अवज्ञा (अपमान) मुख्य अपराधों में से एक अपराध है । इसका तात्पर्य है कि आप अपराध कर रहे हैं । गुरु अवज्ञा और शास्त्र नहीं मानना ये अपराध है, स्वभावतः यह भक्ति नहीं है ।

******

प्रश्नः क्या उत्तमा भक्ति रागानुगा का पयार्य है और वैधी भक्ति का भी ?

उत्तरः सर्व प्रथम आपको रागानुगा और रागात्मिका भक्ति को समझना है ।

रागात्मिका भक्ति केवल भगवान के नित्य परिकर में ही पायी जाती है । रागात्मिका भक्तगण भगवान के नित्य परिकर हैं । वे श्रीकृष्ण की प्रसन्नता के लिए किसी उद्देश्य रहित प्रेमपूर्वक उनकी सेवा करते हैं ।

यदि श्रीकृष्ण और उनके नित्य परिकरों के बीच प्रेमालाप और प्रेममय व्यवहार के विषय को सुनने से उसके प्रति आकांक्षी होकर आकृष्ट होते हैं और भगवान की सेवा करने की इच्छा होती है, ऐसा व्यक्ति रागानुगा साधक कहलाता है । वह जब भगवान प्रसन्न हैं तो स्वयं प्रसन्नता अनुभव करता है । रागानुगा भक्त रागात्मिका भक्त का अनुसरण करता है । प्रेम की परिभाषा सेवा करना है । जो प्रेमपात्र है उसकी प्रसन्नता के लिए सेवा करना है ।

रागानुगा, उत्तमा भक्ति, ब्रज भक्ति और मञ्जरी भाव ये सभी पर्यायवाची है । मुख्यरुप से उत्तमा भक्ति शब्द रागानुगा भक्ति के लिए ही प्रयुक्त होता है । ******

प्रश्नः जब कोई व्यक्ति कोई कार्य कर रहा है, जो उसके लिए स्वाभाविक है, तो वह उस कार्य को बहुत अच्छी तरह से कर सकता है एवं आसानी से उसमें तन्मय भी हो सकता है । जिस व्यक्ति में किसी विशेष क्रिया-कलाप के लिए स्वाभाविक रूचि नहीं है, उसके लिए समर्पण, उस साधक की तुलना में जो स्वाभाविक सेवा में रुचि रखते हैं, और भी कठिन है । यदि कोई वास्तविक समर्पण करता है लेकिन उसकी सेवा विशेष करने में स्वाभाविक रुचि न हो तो क्या श्रीकृष्ण शक्ति प्रदान कर सेवा करने के लिए उसे योग्य बनाते हैं ?

उत्तरः यदि आप अपनी पसन्द के अनुसार कार्य कर रहे हैं, तब स्पष्टतः उस में आपका कोई समर्पण नहीं है क्योंकि आप जो भी करते हो वह अपनी रूचि अनुसार करते हो। मुख्य बात यह है कि निर्देश का अनुपालन करना, चाहे आप उसे पसन्द करते हैं या नहीं । परन्तु यदि निर्देश आपकी चाहत के अनुसार हो, और आप उसका पालन करते हो तो यह समर्पण नहीं है । यहाँ पसन्दगी और अपसन्दगी महत्त्वपूर्ण नहीं है, मात्र गुरुदेव की आज्ञा-पालन को पसन्द करना महत्त्वपूर्ण है । पसन्दगी गुरु के लिए होनी चाहिए । अतः भक्ति के पथ पर आपको अपने प्राकृतिक स्वभाव से गुणातीत होना है, केवल तब आप भक्ति कर सकते हैं । स्वभाव से ऊपर उठने का तात्पर्य है कि आपको जो सेवा दी गई है वह सेवा करना आपको पसन्द है। जब आप गुरु का आदेश पालन करना पसन्द करते हैं तब आप कुछ भी (गुरु की प्रसन्नता के लिए) करेंगे । परन्तु यदि अपनी रूचि अनुसार आप जो कुछ भी करते हैं तो आप केवल अपनी मनमानी ही करते हैं, यद्यपि उसे तथाकथित सेवा कहा जाता है । आप स्वतन्त्र रहते हैं जब आपकी सेवारूचि समाप्त हो जाती है तब आप उसे करना बन्द कर देंगे । अतः केवल

सच्चे समर्पण से ही आप अपने स्वभाव से ऊपर जा सकते हैं । जब आप आदेश पालन करना पसन्द करते हैं, तब आप स्वाभाविक रुप से जो कोई भी सेवा दी गई है उसे करना पसन्द करते हैं । यदि उसे करने में कोई रूचि नहीं है तो भी अनुशासन का पालन करते हैं ।

भक्ति के दो प्रकार हैं - वैधी और रागानुगा । वैधी भक्ति का अर्थ है कि आप शास्त्र के आदेशों के अनुसार कार्य करते हैं । आपको उसे करना चाहिए, क्योंकि शास्त्र कहता है । दूसरी भक्ति रागानुगा है, अर्थात् आप स्वभावतः आदेश पालन करना पसन्द करते हैं । जब आप आदेश पालन करते हैं तब आप कुछ भी करेंगे और आप प्रसन्न रहेंगे। आपको वास्तव में उसके लिए रूचि होगी चाहे वह आपका स्वभाव है या नहीं । जब आप (रागानुगा) गुरु के आदेश पालन करना पसन्द करेंगे तब आप अलौकिक (गुणातीत) भाव में स्थित हैं एवं आपका स्वभाव बन जायेगा कि जो कुछ करना है वह गुरुदेव की प्रसन्नता के लिए ही करना है । आप जो कुछ भी करेंगे वह उनकी प्रसन्नता के लिए ही करेंगे । यह आपका मूल स्वभाव हो जाता है ।
वैधी भक्ति में आप सेवा करते हैं क्योंकि आपको सेवा करनी चाहिए यद्यपि यह आपका स्वभाव नहीं है । आप उसे करें क्योंकि वह शास्त्र के अनुसार होना चाहिए । दोनों भक्ति के बीच यह भेद है ।

आध्यात्मिक जीवन में ही नहीं, किन्तु लौकिक जीवन में भी समर्पण भाव की आवश्यकता है । जब आप डाक्टर के पास जाते हैं, आप अपने को डाक्टर को समर्पण कर देते हैं। जब आप वकील के पास जाते हैं, तो वकील को समर्पण कर देते हैं और उसे सब तथ्य बताते हैं । आप डाक्टर और वकील से झूठ नहीं बोलते हैं अन्यथा वे आपकी सहायता नहीं कर सकते । यदि आप के पास एक नौकर है, तो भी आप उसे समर्पित होते हैं । यदि आप सिर मुंड़वाने के लिए नाई के पास जाते हैं, तो आप उसे समर्पण कर देते हैं । नाई के हाथ में तीक्ष्ण अस्त्र है जो आप को कुछ भी कर सकता है । जब आप एक कार में सवार हैं, तब आप चालक को समर्पित हो जाते हैं, जो आपका जीवन उसके हाथ में रखता है । हवाई जहाज में यात्रा के दौरान आप पाइलेट को समर्पण कर देते हैं । लोग हमेशा दूसरों को समर्पण करते हैं, किन्तु जब वे गुरु के पास आते हैं, तब वे विचारविमर्श करते हैं, "यदि मैं समर्पित हुआ तो वह मुझे क्या करेगा" ?

यदि आप कोई भौतिक शिक्षा प्राप्त करना चाहते हैं, जिसकी आपको पूर्व जानकारी नहीं है, वह सीखने के लिए आपको तत्पर रहना पड़ता है । आप स्कूल के अनुशासन

का अनुपालन करते हैं अन्यथा आप कुछ भी सीख नहीं सकते । यदि आप कुछ सीखने के लिए गम्भीर हैं तो आपको अनु-शासित होना होगा । भक्ति में भी इस प्रकार की प्रक्रिया हैं । ******

प्रश्नः पहले मैं सोचता था कि लोगों की दक्षता विभिन्न विषयो में होती है और वे यदि अपनी दक्षता तथा रूचि के अनुसार कार्य करें तो उसका परिणाम अच्छा आयेगा क्योंकि उनमें रूचि के साथ कुशलता एवं क्षमता भी है । अब आप कहते हैं कि जब कोई भक्ति का पालन समर्पित होकर करता है, तब अच्छे परिणाम होंगे । अपनी रूचि को भूल जाओ । तो क्या उद्देश्य गुरुदेवके निर्देश का ही अनुपालन करना है ?
उत्तरः हाँ । ******

प्रश्नः क्या रागानुगा मार्ग केवल मानवों के लिए ही है या देवताओं के लिए भी है ?
उत्तरः यह भक्ति और कहीं उपलब्ध नहीं है । यह केवल इसी स्थान वृन्दावन में ही उपलब्ध है । यह केवल ब्रजीय कृष्ण और वृन्दावन में श्रीकृष्ण के परिकरों के पास ही है, क्योंकि अन्यत्र इस पथ के अनुसरण करने की योग्यता लोगों में नहीं है ।
आपको प्रथम रागानुगा भक्ति समझनी चाहिए । राग का अर्थ है स्वाभाविक आकर्षण। "स्वाभाविक" का अर्थ है किसी भी अन्य वस्तु पर सापेक्षित नहीं है, जैसे कि कोई निर्देश, कोई अन्य विषय, कोई व्यक्ति या अपनी योग्यता । यह अन्य किसी वस्तु से पूर्णतः स्वतन्त्र (निरपेक्षित) है । स्वाभाविक आकर्षण का सामान्य उदाहरण है एक नवयुवक का एक नव-युवती के लिए या नवयुवती का नवयुवक के लिए आकर्षण । आकर्षण किसी प्रशिक्षण (अध्ययन) पर आधारित नहीं है, अथवा न कोई अन्य हेतु या निर्देश के कारण होता है । यह केवल दृष्टि से घटित होता है । एक लड़का और एक लड़की के मध्य आकर्षण के लिए प्रेम लोक प्रचलित शब्द है । प्रेम दृष्टि से या देखने से होता है । यह आकर्षण अतिशक्तिशाली होता है, क्योंकि वह किसी विधि-निषेध की परवाह या चिन्ता नहीं करता है । प्रेमी प्रेमिका को या प्रेमिका प्रेमी को मिलने के लिए बहुत तीव्र अभिलाषा रखते हैं ।

इस प्रकार का स्वाभाविक आकर्षण श्रीकृष्ण-परिकरों में श्रीकृष्ण के लिए विद्यमान है। जब श्रीकृष्ण ने जन्म लिया और गोपियों ने मात्र उनका नाम ही सुना तो वे उन पर आकृष्ट हो गयीं । इस आकर्षण का विशिष्ट गुण यह है कि आकर्षित व्यक्ति सदा आनुकूल्य करना चाहती है । अपने प्रेमी को प्रसन्न रखना ही सेवा है । प्रेमी यहाँ श्रीकृष्ण है । यहाँ मन की पूर्ण तन्मयता है । जहाँ मनका किसी वस्तु में स्वाभाविक आकर्षण हो जाता है तो वह तन्मय हो जाता है । रागानुगा भक्ति मन के आकर्षण के

इस गुण (विशेषता) पर आधारित है । एक नवयुवक का एक नवयुवती के प्रति आकर्षण का यह उदाहरण भी परिपूर्ण नहीं है क्योंकि आकर्षण का यह प्रकार लौकिक संस्कारों पर आधारित है । यह आकर्षण विषय (प्रेमी या प्रेमिका) के आनुकूल्य के लिए नहीं है, किन्तु अपनी प्रसन्नता के लिए है । अतः यह स्थायी नहीं है, यह अस्थायी है । इस उदाहरण से हम राग का किञ्चित् अनुमान कर सकते हैं ।
इस प्रकार का दृढ़ आकर्षण केवल श्रीकृष्ण के परिकरों में विराजमान है और अन्य किसी स्वरूप में अथवा भगवान के अन्य किसी भी अवतार में नहीं है । भगवान का प्राकट्य उनके परिकरों के विशिष्ट गुणवत्ता के अनुसार होता है । किसी भी अवतार की महानता उनके परिकरों की प्रेमवैचित्री, आकृष्टता, प्रेमगाढ़ता से जानी जाती है । श्रीकृष्ण परमोत्कृष्ट अवतार माने जाते हैं, क्योंकि उनके परिकरों का उन के प्रति प्रेम सर्वश्रेष्ठ है । "सर्वश्रेष्ठ" का अर्थ है उनके हृदय बिना किसी उद्देश्य या इच्छा रहित श्रीकृष्ण-प्रेम से आपुल्त हैं । यह भाव भगवान के अन्य अवतारों के परिकरो में नहीं पाया जाता हैं । यह केवल यहाँ ब्रज में ही उपलब्ध है, मथुरा एवं द्वारका में भी नहीं है ।

भगवद् गीता में निष्काम भक्ति की बात है । निष्काम भक्ति किसी के द्वारा भी वाँञ्छित नहीं है, क्योंकि अधिकांश लोग सकामी है । अर्थात् भक्ति के नाम में वे सदा कुछ सम्पति आदि प्राप्त करना चाहते हैं, जैसे कि सुख, मुक्ति, कोई पद, सत्ता और कुछ अन्य लौकिक वस्तुएँ । निष्काम भक्ति भी आसानी से प्राप्य नहीं है और यह सब गीता में बताया गया है । ब्रज भक्ति या उत्तमा भक्ति के बारे में तो कहना ही क्या, जो किसी की भी अवधारणा से परे हैं । एक बार आप यह (सिद्धान्त) समझ लें, फिर आप जानेंगे कि अन्यत्र कहीं भी उत्तमा भक्ति की कोई सम्भावना नहीं है ।

******

प्रश्नः क्या देवता जानते हैं कि ब्रज भक्ति जैसी कोई वस्तु है ?
उत्तरः वे नहीं जानते हैं, और श्रीकृष्ण ने ये लीलाएँ केवल उन्हें यह समझाने के लिए की हैं । यदि वे जानते तो इन्द्र ने जैसा आचरण किया वैसा आचरण नहीं करता । श्रीकृष्ण ने इन्द्रयज्ञ बन्द करा दिया था अतः उसने कृष्ण पर क्रोध किया था ।

******

प्रश्नः एक दर्शन में आपने कहा कि भक्ति समझने के लिए व्यक्ति को अन्य उद्देश्य से मुक्त होना है, इस लिए ब्रह्मा और लक्ष्मी भी उत्तमा-भक्ति प्राप्त नहीं कर सकें । उन्होंने क्या इच्छाएँ की थी ?
उत्तरः वे अपना पद नहीं छोड़ना चाहते थे।

******

प्रश्नः क्या उनके विषय में यह बाधा थी ?
उत्तरः अवश्य । यदि आप कुछ चाहते हैं तो आपको कुछ छोड़ना पड़ता है ।
******

प्रश्नः क्या वे अपने को सेवक जैसा अनुभव नहीं करते थे ?
उत्तरः उत्तमा भक्ति में सेवक को सभी अन्य धारणा और प्रयोजन को छोड़ना होता है। हनुमान एक सेवक हैं, पाण्डव भी सेवक है, और इसी प्रकार ध्रुव महाराज और प्रहलाद भी । किन्तु प्रत्येक की किसी वस्तु या पद के लिए रूचि है अर्थात् वे ब्रज भक्ति के लिए योग्य नहीं है ।
उत्तमा भक्ति में, हमें चैतन्य महाप्रभु का भाव रखना होता है, जो जगन्नाथ-पुरी में रथयात्रा के कीर्तन के समय प्रार्थना कर रहे थे ।

नाहं विप्रो न च नरपतिः नापि वैश्यो न शूद्रो
नाहं वर्णी न च गृहपतिर् नो वनस्थो यतिर्वा ।
किन्तु प्रोद्यन् निखिल-परमानन्द-पूर्णामृताब्धेर्
गोपी-भर्तुः पद-कमलयोर् दासदासानुदासः ।। (चै.च.मध्य.१३-८०)

मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, मैं क्षत्रिय नहीं हूँ, मैं वैश्य नहीं हूँ, और शूद्र भी नहीं हूँ । ब्रह्मचारी भी मैं नहीं, गृहस्थ भी, वानप्रस्थी और संन्यासी भी नहीं हूँ । मैं केवल भगवान श्रीकृष्ण के चरण-कमल के दास के दास का दास हूँ, जो गोपियों के भर्ता (पालन-पोषणकर्ता) हैं, और समस्त परमानन्द के प्रकाश एवं परिपूर्ण अमृत समुद्र हैं । ब्रह्मा और लक्ष्मीदेवी में गोपियों जैसा सेवक होने का भाव नहीं है । ******

प्रश्नः कुछ व्यक्ति सोचते हैं कि वे उत्तमा भक्ति में संलग्न हैं । वे भी गुरु स्वीकार करते हैं और उनके गुरु भी कहते हैं कि भक्ति अन्याभिलाषिता शून्यम् है लेकिन यह सम्भव है कि उन्हें यह पता न हो कि उन्हें भक्तिके मूल स्वभावके बारे में भ्रान्ति है ?
उत्तरः भक्ति का अर्थ है सब प्रकार के उद्देश्य का परित्याग करना, समस्त उपाधियों, पदों को छोड़ देना । आप कोई उपाधि नहीं रखते हैं ।

भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधि नैरास्ये ।
नैवामुष्मिन्मनसः कल्पनमेतदेवञ्च नैष्कर्म्यम् ।। (गोपालतापनी उपनिषद् १५)

यह भक्ति की परिभाषा है । जब आप सूक्ष्म या स्थूल शरीर के साथ कोई अभिज्ञान नहीं रखते हैं और इस जीवन में या दूसरें में कोई अभिलाषा नहीं करते हैं, सिवाय भगवान की सेवा और भगवान में अपना मन लगाना - यह नैष्कर्म्य या कर्म से मुक्ति कहलाता है ।

अधिकांश लोग उत्तमा भक्ति नहीं समझते हैं - तथापि वे श्रीचैतन्य महाप्रभु के अनुयायी होने का दावा करते हैं ।

भक्ति शब्द अनेक तरह प्रयुक्त होता है, जैसे मातृ-भक्ति, पितृ-भक्ति, देश-भक्ति, और अन्य देव-भक्ति, किन्तु (उत्तमा) भक्ति उन सब से भिन्न है । दूसरे शब्दों में भक्ति का समुचित अर्थ है - उत्तमा भक्ति । यह बहुत विरल है और किसी की भी समझ से परे है जब तक वे श्री चैतन्य महाप्रभु द्वारा प्रस्तावित दर्शन का अध्ययन न करें तथा इसे समझें नहीं ।
श्रीमद् भागवत भी कहता है - श्री उद्धव उवाच

ज्ञानं विशुद्धं विपुलं यथैतद्वैराग्य-विज्ञानयुतं पुराणम् ।
आख्याहि विश्वेश्वर विश्वमूर्ते त्वद्-भक्तियोगं च महद्-विमृग्यम् ।। (भा.११.१९.८)

उद्धव जी ने कहा- कृपया मुझे निर्णयात्मक रूपसे आपका ज्ञान और वैराग्य से युक्त अनुभवगम्य मार्ग समझाइये जिसे आध्यात्मिक दार्शनिकों के द्वारा प्रमाणित किया गया है । हे विश्वेश्वर, हे विश्वमूर्ते ! मुझे उत्तमा भक्ति के बारे में बताइये जिसकी महात्माएँ भी खोज करते हैं ।

महत्-विमृग्यम् का अर्थ है कि बड़े-बड़े महात्मा केवल उस (भक्तिपरक) ज्ञान को खोजते हैं, किन्तु वे उसे प्राप्त नहीं कर पाते हैं । ऐसे ज्ञानीभक्त आनुकूल्य सेवा करते हैं किन्तु वे कुछ उद्देश्यों के साथ करते हैं । (सकाम) भक्ति कुछ उद्देश्यों के साथ की जा सकती है । कोई उस से (सकाम भक्ति से) सन्तुष्टि, सुख का अनुभव, आनन्द अथवा कुछ अनुभूति प्राप्त करता है । लेकिन यह उत्तमा भक्ति से भिन्न है । ये दोनों (सकाम एवं उत्तमा) मिश्रित नहीं करनी चाहिए, यद्यपि वे समान दीख सकती हैं । उस में अवान्तर भेद करना चाहिये ।

गोस्वामीकृत साहित्य में उत्तमा भक्ति की बहुत सुन्दर परिभाषा की गयी है । अन्य साहित्य में भक्ति की परिभाषा स्पष्ट रूप से वर्णित नहीं है । जैसे साहित्य में भक्ति

देव-प्रवणता कही जाती है, अर्थात् साधक को कोई विशिष्ट देवता के प्रति श्रद्धामय भाव होता है । यह भाव हमेशा एक निश्चित उद्देश्य के साथ रहता है । वास्तव में कृष्ण के अतिरिक्त किसी अन्य में अहैतुकी भक्ति का प्रश्न ही नहीं है । यह सम्भव नहीं है।

साहित्य या काव्य में भक्ति साहित्य जैसी समान शब्दावली प्रयुक्त है । कवि भी निश्चित बोध और अनुभूति प्राप्त कर सकते हैं, और वे व्याख्याएँ और अनुभूतियाँ या अनुभव भक्ति के समान दिख सकती है । परन्तु, ब्रज-भक्ति या उत्तमा-भक्ति फिर भी उन से सम्पूर्ण भिन्न है । यह (भक्ति) गोस्वामी साहित्य में वर्णित प्रक्रिया से आती है। उन्होंने भक्ति-मार्ग को निर्धारित किया है । प्रारम्भ में श्रद्धा तत्पश्चात् साधु-सङ्ग और भजन-क्रिया, यह इस की प्रक्रिया है ।

अन्य प्रकार की भक्ति साधु-सङ्ग या शरणागति के बिना भी सम्भव है । अतः उस प्रकार की भक्ति उत्तमा-भक्ति से भिन्न है । ******

प्रश्नः जहां तक कुछ गलत अवधारणा है, क्या वहाँ कुछ अलग उद्देश्य होना आवश्यक है ?

उत्तरः हाँ ! यदि आप गलत अवधारणा रखते हैं तो आप अपना उद्देश्य कैसे छोड़ेंगे ? यह सम्भव नहीं है यदि आप किसी का मार्गदर्शन नहीं लेते हैं तो आप कैसे समझेंगे कि भक्ति क्या है और आपकी अवधारणाएँ क्या है । आप समझ यह भी नहीं पायेंगे कि आपका कोई उद्देश्य है जिसे आपको छोड़ना चाहिए ।

प्रत्येक व्यक्ति भुक्ति और मुक्ति चाहता है । यह स्वाभाविक है । व्यक्ति भुक्ति, उपभोग या मुक्ति चाहता है । अतः वह भक्ति के लिए इच्छा क्यों करेगा, जिस में उसको भुक्ति व मुक्ति की इच्छा छोड़नी पड़ती है । यह अपने आप नहीं घटेगा । सम्भव है व्यक्ति गलत अवधारणाओं के सहित उत्तमा भक्ति के विषय में वार्तालाप भी करें । प्रत्येक शब्द कुछ स्वाभाविक शक्ति रखते हैं । अतः जब आप शब्द सुनते हैं तब आप उनके विषय में कुछ अवधारणा बना लेते हैं । ये शब्द भी आपको कुछ ज्ञान देंगे, कुछ अनुभव देते हैं । जब आप बात करते हैं तब इन शब्दों का प्रयोग करते हो किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि आप इन शब्दों का वास्तविक अर्थ समझ गए ।
यदि आप मुक्ति की कामना रखते हैं, तब मुक्ति और उत्तमा भक्ति दोनों एक साथ सम्भव नहीं है । प्रथम तो आप किसी अन्य व्यक्ति को ईश्वर के रूप में स्वीकार नहीं करेंगे तथा स्वयंको उससे नीचा स्वीकार नही करोगे । यदि आप (अपने से उच्च व्यक्ति को) स्वीकार करते हैं तो आप उसके सेवक हैं तथा आप स्वतन्त्र नहीं है, तब तो मुक्ति का

प्रश्न ही नहीं है (क्योंकि आप दूसरे पर निर्भर हैं) । द्वितीयतः आप किसी अन्य वस्तु से भिन्न रूप में अपना अहम्भाव रखेंगे, तब द्वैत (आप एवं अन्य वस्तु) रहेगा परन्तु मुक्ति में अहम्भाव लीन हो जाता है, द्वैत नहीं रहता है । अतः जब आप मुक्ति की इच्छा रखते हैं, तो आप भगवान को स्वीकार नहीं कर सकते और न स्वयं को एक व्यक्तिगत रूप में स्वीकार कर सकते हैं । दोनों आपकी मुक्ति के लिए बाधक होगी । यदि जहाँ दो वस्तुएँ (भगवान एवं जीव) हैं तो वहाँ एक सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध प्रचलित अर्थ में मुक्ति नहीं है । जब भी मुक्ति के लिए कोई इच्छा है, तब वह प्रबल इच्छा आपकी परम-तत्त्व की स्वीकृति के लिए एक बाधा हो जायेगी। जब आप स्वीकार करते हैं कि परम-तत्त्व या भगवान है और मैं स्वयं एक जीव हूँ तब एक स्वामी और सेवक का सम्बन्ध होता है जो प्रचलित अर्थ में मुक्ति नहीं है । जाने या अनजाने में वह स्वयं कठिनाई उत्पन्न करेगी । कोई क्यों उसे पसन्द करेगा ?

अतः यह अवधारणा बहुत स्पष्ट होनी चाहिये और वह अपने प्रयत्न से घटित नहीं होती है । अतः भक्ति में प्रत्येक स्वतन्त्र इच्छा को त्यागना है, जैसा कि ज्ञानकर्माद्यनावृतम्' श्लोक में वर्णित है । भक्ति समस्त ज्ञान और कर्म से रहित होनी चाहिए, अन्यथा भक्ति सम्भव नहीं है । ज्ञान और कर्म का आवरण तब तक नहीं जायेगा जब तक किसी भक्त-कृपा या सत्सङ्ग प्राप्त नही होता है और वह सत्सङ्ग एक उत्तम भक्त का होना आवश्यक है । सत्सङ्ग और साधु अनेक प्रकार के होते हैं । कोई भी एक ज्ञानी सत्पुरुष या एक योगीके सत्सङ्ग से भक्ति प्राप्त नहीं कर सकेगा ।

******

प्रश्नः निष्ठा के स्तर पर क्या ये विक्षेप, कषाय (लौकिक आसक्ति की धूल), रसास्वादन (भोगाकांक्षा) अप्रतिपति (अपूर्णता, असफलता, अप्राप्ति) उपस्थित नहीं है अथवा वे हैं तथापि एक भक्त को विचलित नहीं करते हैं ?

उत्तरः यदि कोई योग-मार्ग के पथ का अनुसरण करता है तो यह लय, विक्षेप, कषाय आदि बाधाएँ करते हैं किन्तु उत्तमा-भक्ति में ऐसा नहीं है । भक्ति-पथ पर जब साधक की रुचि बढ़ती है, तो वह इस प्रक्रिया को पसन्द करता है और समुचित अर्थ में भक्ति, जो भगवान की स्वरूप शक्ति है, प्राप्त की है तो ये विघ्न उसको परेशान नहीं करते हैं। वे उसे भक्ति-साधना से विचलित नहीं करते हैं । एक बार भक्त जब अपनी भक्ति में दृढ़ और निष्ठावान हो गया, तो बाधाओं से व्याकुल एवं विचलित नहीं होगा ।

दूसरे पथों पर, जैसे योग में बाधाएँ आती हैं जो शास्त्र में वर्णित हैं । यह दूसरे मार्गों के लिए हैं, क्योंकि शास्त्र इसका मिला-जुला वर्णन करते हैं । अतः साधक को भेद

करना सीखना चाहिए और शास्त्र के केवल उन भागों को अपनाएँ जो भक्ति से सम्बन्धित हैं ।

******

प्रश्नः ऐसा प्रतीत होता है कि ब्रह्म-साक्षात्कार की अपेक्षा इस ब्रजभक्ति को प्राप्त करना अधिक कठिन है ।

उत्तरः निराकार ब्रह्म की पूजा नहीं है । निराकार शब्द को छोड़कर संस्कृत भाषा में प्रत्येक शब्द का वाच्य है जो एक वाचक वस्तु, श्रेणी या विभाग, गुण या क्रिया है। यह निराकार शब्द की कोई भी वाच्य वस्तु आदि नहीं है । निराकारवादी पथ उस साधक के लिए है, जिसे भगवान में कोई रुचि नहीं है । अतः भगवान ऐसे व्यक्तियों के लिए प्रकट नहीं होते हैं ।

वास्तव में निराकार और निर्गुण का अलग स्वतन्त्र अस्तित्व श्रीकृष्ण के बिना नहीं है। ये शब्द सही रूप में श्रीकृष्ण का ही वर्णन करते हैं जो भौतिक नहीं है किन्तु एक दिव्य अलौकिक देहवाले हैं । निराकार अर्थात् भौतिक रूप का अभाव और निर्गुण अर्थात् भौतिक गुणों से रहित ।

वास्तव में, जिसका कोई रूप नहीं, उसकी कोई कैसे पूजा कर सकता है अथवा अनुभूति कर सकता है ?

भक्ति सरल है, किन्तु अति-दुर्लभ है । यह आसान है, क्योंकि भक्ति प्राप्त करना, ब्रह्म-प्राप्ति की अपेक्षा सहज है, किन्तु यह दुर्लभ है क्योंकि भक्ति केवल भगवान की कृपा द्वारा प्राप्त है एवं वास्तव में इस में किसी की रुचि नहीं होती है । इन दो मार्गों के बीच तुलना करना कठिन है ।

भक्ति-पथ पर इसे प्राप्त करने के लिए साधना करनी पड़ती है, यद्यपि अन्ततः तो यह कृपा पर आधारित है । किन्तु जिस प्रकार से निराकारवादी ब्रह्म की परिभाषा बताते हैं, वह अबोधगम्य है । इसे प्राप्त करना असम्भव है क्योंकि वह अस्तित्व विहीन है ।

******

प्रश्नः कुछ व्यक्ति कहते हैं कि भगवान नियन्ता हैं अतः भक्तों को कुछ करने की आवश्यकता नहीं है, यथा प्रचार करना, सामाजिक कार्य, सेवा, पूजा आदि करने की आवश्यकता नहीं है । हमें उन्हें कैसे उत्तर देना चाहिए ?

उत्तरः इस प्रकार का सोचना भ्रामक कथन है । इस प्रकार बोलना स्वार्थता की चरम सीमा है ।

भक्ति का अर्थ श्रीकृष्ण और उनके भक्तों की आनुकूल्य सेवा करना है । श्रीकृष्ण संसार के रक्षक और पालक हैं और यदि कोई व्यक्ति श्रीकृष्ण का भक्त है तब वह भी उनके अनुसार व्यवहार करता है । ठीक जैसे श्रीकृष्ण दयालु हैं, भक्त भी दूसरों के प्रति करुणामय होता है ।

जो कोई इस प्रकार कहता है वह स्वार्थी है । वह सिर्फ अपने भरण-पोषण, इन्द्रिय-सुख आदि में ही पूर्णग्रस्त रहता है, किन्तु वह दूसरों के लिए कुछ नहीं करना चाहता है । ऐसा व्यक्ति भक्ति में कैसे उपयुक्त हो सकता है ? यह भक्ति नहीं है, क्योंकि भक्ति का अर्थ सेवा है, श्रीकृष्ण की सेवा और उनसे सम्बन्धित लोगों की भी सेवा । श्रीकृष्ण पोषक हैं अतः भक्त भी (पोषण में) सहायता करना पसन्द करता है । उसका हृदय करुणामय होता है और वह दूसरों का कल्याण करना पसन्द करता है । जो ऐसा कहता है कि हमें कुछ नहीं करना है उसे युक्ति वैराग्य कहते हैं । जैसे युक्त वैराग्य है, ठीक वैसे ही युक्ति वैराग्य है, जिसका अर्थ है दूसरों को धोखा देने के उद्देश्य से वैराग्य लेना । यह वैराग्य एक दिखावा है ।

जब मैं प्रथम वृन्दावन आया, तब कुछ व्यक्तियों ने मुझे भी ऐसा सिखाने का प्रयास किया । वे मुझसे कहते थे कि घर कभी नहीं बनाना, क्योंकि यदि मैं ने घर बनाया तब बहुत बड़ी परेशानी हो सकती है । मुझसे यह भी कहा गया था कि अपने पास कभी जल नहीं रखना, क्योंकि अगर मैं पानी रखता हूँ, तब कोई भी उसे पीने के लिए आ सकता है और उस से मेरे भजन में बाधा होगी । उन्होंने कहा, "अगर आप अपने पास कुछ भी नहीं रखते हैं, तब कोई परेशान नहीं करेगा" । व्यक्ति दिखावे के लिए चालाकी के सभी प्रकार का प्रयोग करता है, जिस से वह सब कुछ त्याग दे । वे स्वयं भीतर के कपड़े उत्तम पहनेंगे, किन्तु वे बाहरी आवरण ऐसा रखेंगे जिससे वे गन्दा और सस्ता दीखे । वे एक बहुत जीर्ण-शीर्ण स्थान में निवास करेंगे और सभी अपनी अच्छी वस्तुएँ अन्य स्थान पर रखेंगे । वे अच्छी वस्तुओं के रखने के लिए किराया भी देंगे । वे पैसा नहीं रखेंगे किन्तु किसी को सूद पर धन उधार देंगे । जब व्यक्ति इन समस्त प्रकार की युक्तियों का प्रयोग करते हैं तब यह सब युक्ति वैराग्य कहलाते हैं और भक्ति के साथ इसका कोई सम्बन्ध नहीं है ।

******

प्रश्नः भक्ति में पूर्ण श्रद्धा नहीं रखते हैं अतः हमें कुछ सन्देह रहते हैं, जिनके प्रति हम सचेत नहीं हैं । मुझे कोई सन्देह नहीं है किन्तु मैं दृढ़ निश्चयी भी नहीं हूँ । क्या ये सन्देह अप्रकटित रहते हैं ?
उत्तरः जब सन्देह आता है इसका अर्थ है कि आपने दृढ़ सङ्कल्प नहीं किया है ।

******

प्रश्नः किन्तु मुझे बोध नहीं है कि मुझ में कोई सन्देह है ?
उत्तरः तब उस में समस्या क्या है ? यदि आप में कोई सन्देह नहीं है, तो समस्या क्या है ? यह तो बहुत अच्छा है ।

******

प्रश्नः लेकिन मैं सन्देह नहीं रखता हूँ और मैं दृढ़ निश्चयी भी नहीं हूँ तो ?
उत्तरः यदि आपको कोई सन्देह नहीं है तो मतलब है कि आप निश्चयी है ।

******

प्रश्नः यदि मैं दृढ़ निश्चयी हूँ तो मुझे मन्त्र-जप के दौरान नींद नहीं आयेगी । जब मैं सो जाता हूँ, तो यह प्रतीत होता है कि मैं दृढ़ निश्चयी नहीं हूँ ?
उत्तरः प्रथम आपको समझना चाहिए कि मार्ग दो हैं, एक प्रवृत्ति मार्ग या लौकिक लगाव और दूसरा निवृत्ति मार्ग या अलौकिक आसक्ति ।

प्रवृत्ति मार्ग (प्र - पूर्णतः, वृत्ति – सांसारिक अस्तित्व, मार्ग – पथ) लोग इस का सामान्यतः पालन करते हैं क्योंकि शरीर और इन्द्रियाँ लौकिक विषय में प्रयुक्त होती हैं और लौकिक वस्तुएँ सुख प्राप्ति के लिए होती हैं । प्रत्येक व्यक्ति का सांसारिक विषय की ओर दौड़ना स्वाभाविक है, क्योंकि मन भौतिक है एवं इन्द्रियाँ भी भौतिक हैं । अनेक पथ हैं जो स्वार्थ या प्रवृत्ति मार्ग से निवृत्ति मार्ग की और जाने की शिक्षा का प्रचार करते हैं । प्रवृत्ति मार्ग का अर्थ होता है कि व्यक्ति में स्वार्थ है, वह स्वार्थी है । (स्व-अर्थ - निजी हित) स्वार्थी स्वभाव अर्थात् अपने शरीर और इन्द्रियों को और उनसे संलग्न वस्तुओं के लिए अनुकूल कार्य करना । यह स्वाभाविक है । उसके लिए शिक्षा की आवश्यकता नहीं है । निवृत्ति मार्ग (नि - नहीं, भौतिक नहीं, वृत्ति - अस्तित्व) का अर्थ है भगवान या उनके प्रतिनिधि अथवा उनके प्रकट-रूप गुरू के लिए कार्य करना। भगवान के लिए कार्य करने को परार्थ कहा जाता है । पर का अर्थ भगवान और स्व अर्थात् व्यक्ति का देह । कुछ प्रक्रियाएँ हैं जैसा कि ज्ञान और योग में हैं, वे आपको कहते हैं कि यदि आप अपना मन नियन्त्रण करो, ध्यान लगाओ अथवा अपने प्राकृतिक गुणों को सत्त्वगुण की ओर ले जाओ तब आप स्वार्थ या प्रवृत्ति मार्ग का त्याग कर सकते हैं । किन्तु कदापि उस तरीके से सफलता नहीं मिलती । ये तकनीकें जो वे

लोग वर्णन करते हैं या बात करते हैं वे सब केवल भौतिक तकनीक हैं । कोई भी भौतिक प्रक्रिया या तकनीक से आप भौतिक विषय से परे नहीं हो सकते हैं । सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात समाधि मन के नियन्त्रण की सर्वोच्च स्थिति है । इन स्थितियों में भी मन और बुद्धि भौतिकता से मुक्त नहीं होते हैं, क्यों कि (वे दोनों) महत्तत्व से सम्बन्धित हैं, एवं उस में से बुद्धि तत्त्व उत्पन्न हुआ है। मन द्वारा भी गुणातीत अवस्था प्राप्त नहीं होती है । सौभरि मुनि का दृष्टान्त मन की आसक्ति को स्पष्ट रूप से निरूपित करता है ।

यथार्थ प्रक्रिया भक्ति-मार्ग है, जो प्रभावशाली है क्योंकि भक्ति में साधक गुरु की आनुकल्य सेवा करता है । तात्पर्य यह है कि जब गुरु (सेवा से) प्रसन्न होते हैं, तब साधक (भगवानकी) अन्तरङ्गा शक्ति प्राप्त करता है । यह शक्ति परार्थ के प्रति और भगवान के लिए कार्य करने के लिए साधक को दृढ़ बनाती है, क्योंकि यह शक्ति भगवान की ओर स्वभाविक रूप से अन्तर्मुख करती है, ठीक जैसे भौतिक शक्ति स्वाभाविक रूप से भगवान से बहिर्मुख करती है । अन्तरङ्गा शक्ति भगवान को प्रकट करती है और बहिरङ्गा शक्ति भगवान को छिपाती है । जब कोई अन्तरङ्गा शक्ति को प्राप्त करता है तब उसे अपनी उन्नति के स्तर को समझने की समस्या नहीं रहती है । साधक को आत्मनिरीक्षण करना चाहिए कि अपना मन खुद की प्रसन्नता की इच्छा रखता है या भगवान अथवा गुरु की सेवा की इच्छा रखता है । आप मन विश्लेषण के द्वारा समझेंगे कि आप वास्तव में निश्चय रखते हैं अथवा नहीं रखते हैं ।

लोग सांसारिक जगत में अर्थोपार्जन अथवा इन्द्रिय प्रीति, 'अर्थ और काम पूर्ति' के लिए निश्चय करते हैं । वे हमेशा अपनी इच्छापूर्ति में दृढ़ सङ्कल्पित रहते हैं । अतः उनका मन इच्छापूर्ति के लिए हमेशा कार्यरत रहता है । जहाँ कहाँ भी वे जाते हैं, वे अपनी इच्छापूर्ति का एक अवसर ढूँढते है । उदाहरण के लिए - अगर वे अर्थोपार्जन में बहुत संलग्न हैं तो जहाँ भी वे जायेंगे वे अर्थप्राप्ति के लिए विभिन्न तरीके ढूंढेंगे । यदि वे इन्द्रिय-तृप्ति में बहुत डूबे हुए हैं तब वे भोगविलास के लिए सदा कुछ उपाय ढूँढते हैं । उसी प्रकार जब भक्तिपूर्वक सेवा अथवा आनुकूल्य सेवा करने के लिए मन ठोस हो जाता है, निश्चय कर लेता है, तब वह मन भी प्रत्येक वस्तु को सेवा-अवसर से देखता है, जैसा कि हर प्रसङ्ग सेवा करने का एक नया अवसर हो । इस स्थिति में यह सम्भावना नहीं है कि मन इधर-उधर दोड़ेगा अथवा इन्द्रिय सुखके लिए कोई योजना बनायेगा ।

ये दोनों (प्रवृत्ति मार्ग और निवृत्ति मार्ग) सम्पूर्णतः भिन्न मार्ग हैं और उनके बीच में कोई समानता नहीं है । भक्ति के पथ पर आप प्रत्येक वस्तु यथास्थिति रखते हैं, अन्यमार्ग में ऐसा नहीं है । अन्य पथ पर वे आपसे आपको एक एकान्त स्थान पर वास करने के लिए या अपना परिवार एवं व्यवसाय त्यागने के लिए कहेंगे । भक्ति सर्व श्रेष्ठ व्यावहारिक प्रक्रिया है । आप जहाँ भी हैं जिस स्थिति में हैं, उस में बने रहना है और जो कुछ भी आपके पास है उसे रखना है, मात्र विचारधारा बदलनी है। बदलाव मन अथवा चित्त के स्तर पर घटित होता है, जो सभी समस्याओं का मूल कारण है । उत्तमा भक्ति के पथ पर मूलभूत कठिनाई का स्थान है एकमात्र मन, जो स्वयं स्वार्थ में सँल्लिप्त है, किन्तु परमार्थ में नहीं । जब बुद्धि परमार्थ में अनुरक्त हो जाती है, तब परित्याग अथवा अपनी बाह्य परिस्थिति को बदलने की कोई आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वे हमें अब परेशान नहीं करेगी ।

प्रथम साधक गुरु के साथ सहयोग प्रारम्भ करता है । जब आप सहयोग करते हैं तब आगे की वृत्ति प्राप्त होती है या उनकी कृपा के द्वारा आपको शक्ति प्राप्त होती है। इसलिए वह आपका मन केवल आध्यात्मिकता की ओर रुचि लेने लगता है । तब संसार की तरफ लगी समस्त रुचि पूर्णतः नष्ट हो जाती है ।

ये दो मार्ग अत्यन्त भिन्न हैं । भक्ति से भिन्न अन्य मार्ग मूलतः आध्यात्मिकता के नाम पर सांसारिक प्रक्रियाएँ हैं । वे आध्यात्मिक फल प्रदान नहीं करते हैं ।

एक शास्त्रीय श्रद्धा है और एक सांसारिक श्रद्धा है जो प्रकृति के गुणों पर आधारित है । शास्त्रीय श्रद्धालु व्यक्ति भगवान के वाक्यों में एवं गुरुवाणी में विश्वास रखता है । भक्त देखता है कि गुरू भगवान से भिन्न नहीं है । तब मन में इन्द्रियसुख की इच्छा का कोई प्रश्न ही नहीं रहता है । जब शास्त्रीय श्रद्धा नहीं है तब लौकिक श्रद्धा होती है अतः मन चंचल रहता है ।

साधक को इसे समझना आवश्यक है और यह समझ आत्मनिरीक्षण करने से आती है। तब उसे ज्ञात होता है वह कौने से स्तर पर स्थित है । आपको अन्य किसीको यह बताने की ज़रुरत नहीं है क्योंकि आप स्वयं ही अपने मन के ज्ञाता हैं । आप अपने मन को समझ सकते हो और जान भी सकते हो कि मन में क्या हो रहा है । मन क्या चाहता है । यह आपको अपने मन से पूछना चाहिए । "मुझे क्या चाहिये" और तब आप भलीभाँति जानेंगे कि आप कहाँ स्थित (अर्थात् आध्यात्मिक मार्ग के कौन से स्तर पर) हैं । यदि मन भगवान की आनुकूल्य से सेवा करना चाहता है तो यह निवृत्ति

मार्ग है, किन्तु यदि वह कुछ और वस्तु चाहता है तब वह प्रवृत्ति मार्ग है।

******

प्रश्नः गृहस्थी निवृत्ति मार्ग का आचरण कैसे कर सकता है ?

उत्तरः भक्ति निवृत्ति मार्ग है जो सभी के लिए है चाहे वह गृहस्थी है अथवा अगृहस्थी, क्योंकि मानव मात्र का भक्ति करने का अधिकार है । पुरूष, स्त्री, कोई भी, कहीं भी जीवन की किसी अवस्था में भक्ति का पालन कर सकता है । भक्ति ही केवल निवृत्ति है क्योंकि इस पथ पर साधक पूर्णरूपसे समर्पण करता है और सभी प्रकार की उपाधियों से मुक्त हो जाता है, चाहे इस जीवन की अथवा परवर्ती जन्म की हो, एवं साधक का मन केवल परम पुरूष में संलग्न (दृढ़) हो जाता है । अतः भक्ति प्रत्येक वस्तु से पूर्णतः अनासक्ति प्रदान करती है ।

भगवान के उच्च कोटि की भक्त गोपियाँ गृहस्थ थीं । वास्तव में पाण्डव और अन्य भक्तगण जिनका श्रीमद् भागवत में वर्णन है, वे सब गृहस्थी थे । जब प्रियव्रत हिमालय में तपस्या कर रहे थे तब ब्रह्मा जी उसके पास आए और उसे राजा बनने का आदेश दिया और पर्वत से नीचे आने को कहा । उन्होंने आदेश पालन किया और बहुत दीर्घ समय तक पृथ्वी पर शासन किया । प्रश्न पूछा जाता है कि वे वहाँ (पर्वत) से नीचे क्यों आए और राज्य शासन किया और कैसे वे एक भक्त बने रहे ? यह सब विवरण किया गया है । अब प्रश्न गोपियों के सन्दर्भ में पूछा गया है । यह कैसे सम्भव है कि वे केवल कृष्ण से ही प्रेम करती थी और उन्हें परम पुरूष के रूप में भी वे जानती नहीं थी तथापि सब से उच्चकोटि की भक्त-गण हुई ।

इस (उत्तमा) भक्ति को समझना अतिकठिन है क्योंकि यह एक ऐसा ज्ञान है जो मनुष्यों ने अन्य मार्गों से जो सुना है इस से सर्वथा भिन्न है । महान व्यक्ति जैसे ब्रह्मा, उद्धव और अन्य भी भ्रमित थे कि गोपियाँ कैसे भक्त हो सकती हैं । उन्होंने भगवान कृष्ण की क्या सेवा की ? क्योंकि वे अपने गृहस्थ धर्म निभा रही थीं । यहाँ तक कि रासलीला में कृष्ण से मिलने के बाद और उन्हें प्राप्त करके वे पुनः अपने घर और पारिवारिक जीवन में वापस आ गईं । सारांश यह है कि गोपियाँ अपने भाव में दृढ़ थीं। उन्होंने कृष्ण को अपना लिया था और वे मन से केवल उन्हीं में पूर्णतः समर्पित थीं। प्रवृत्ति अर्थात् स्वार्थ, जिसका अर्थ होता है केवल अपने लिए कार्य करना और निवृत्ति का अर्थ है परमार्थ, केवल कृष्ण और गुरू के लिए कार्य करना । गोपियों ने श्रीकृष्ण को प्रेमी के रूप में अपनाया था अतः वे निवृत्ति पथ पर थीं । श्री कृष्णने भगवद् गीतामें भी यही कहा है और श्रीमद् भागवत में भी उसी प्रकार का वर्णन है ।

******

प्रश्नः कल के प्रश्न के अनुसन्धान में निवृत्ति मार्ग और प्रवृत्ति मार्ग के विषय में.......
उत्तरः भक्ति वास्तविक निवृत्ति मार्ग है ।
भक्ति के प्रसार प्रचार से पूर्व, अन्य मार्ग जैसे योग और ज्ञान ही निवृत्ति मार्ग के रूप में प्रचारित किये गये थे । उन मार्गों पर बाह्य निवृत्ति का आचरण कर अन्ततः उद्देश्य मोक्ष प्राप्त करना है, किन्तु यह सब काल्पनिक है क्योंकि मोक्ष के उस पथ पर अहम्भाव का त्याग करना है जो कभी सम्भव नहीं है । जीवात्मा नित्य है तो कैसे अहम्भाव नष्ट हो सकता है । सामान्यतः धर्म, अर्थ, काम, और मोक्ष का प्रचार प्रसार किया गया ताकि मनुष्य अपनी चंचलता एवं चपलता को छोड़ दे, और उन कार्यों को करना बन्द कर दे, जो समाज को हानिकारक है । अन्यथा लोग विनाशात्मक क्रिया कलाप में संलग्न रहेंगे ।

यह एक भूत या जिन जैसी कहानी है, जिसके पास प्रचुर शक्ति है । उसे निरन्तर किसी कार्य करने में नियुक्त करना होता है । यदि उसके पास कोई कार्य करने के लिए नहीं है तो वह आपको मार देगा । इसलिए आप उस जिन को कहते हैं कि "तुम एक खम्भे पर ऊपर-नीचे जाते रहो (जब तक मैं कुछ न कहुँ तब तक ।)", जिन (भूत) आपको परेशान नही करेगा क्योंकि उसका कार्य कभी समाप्त नहीं होगा । यद्यपि वह अपने श्रम का कुछ भी फल प्राप्त नहीं कर सकेगा, न ही वह आपको हानि कर पायेगा। इस तरह, ये अन्य मार्ग प्रचलित हैं ताकि आप उसमें लगे रहें और एवं दूसरों के लिए विघ्न का कारण न बनें । अन्यथा अकेला व्यक्ति व्यापक विनाश की एक बड़ी क्षमता रखता है ।

प्रत्येक व्यक्ति का अन्तिम उद्देश्य यह है कि उसे सुख कहाँ मिलेगा । वह इस विषय में जिज्ञासु-रत है । किन्तु सुख की व्याख्या इन मार्गों में नहीं की गई है । कहा जाता है कि निवृत्ति मार्ग का उद्देश्य मोक्ष है, जिस में आपका अहम्भाव नष्ट हो जाता है । यदि स्वयं का अहम्भाव (कर्तापन) नष्ट हो गया तो सुख एवं आनन्द का प्रश्न ही कहाँ है ? (तब सुख कोन भोगेगा ?)

अतः वे कहते हैं कि मुक्ति की स्थिति अनिर्वचनीय और अवर्णनीय है । यह अवर्णनीय क्यों है ? यह अवर्णनीय है क्योंकि यह काल्पनिक है ।

यथार्थ में प्राणीमात्र अपना अहम्भाव नष्ट नहीं कर सकता । कभी कभी कोई व्यक्ति जब अधिक बाधा (विघ्न) उत्पन्न करते हैं, तो भगवान उनको अपनी कान्ति में छिपा देते

हैं ताकि वे किसी और को बाधक न बने । यानि की ब्रह्म सायुज्य मुक्ति दे देते हैं । वहाँ भी अहम्भाव नष्ट नहीं होता है । निवृत्ति का यथार्थ मार्ग भक्ति है ।

बुद्धीन्द्रियमनः प्राणान् जनानामसृजत्प्रभुः ।
मात्रार्थं च भवार्थ च, आत्मनेऽकल्पनाय च ।। (भा.-१०-८७-२)

भगवान ने जीवों के लिए भौतिक बुद्धि, इन्द्रिय, मन और प्राणवायु की सृष्टि की है ताकि वे इन्द्रियतृप्ति या भोगविलास कर सकें, जन्मजन्मान्तर से कर्मफल के कारण पुनर्जन्म भोगते रहे, परवर्ती जीवनमें उत्थान हो और अन्ततोगत्वा मोक्ष प्राप्त कर लें । भगवान ने एक निश्चित उद्देश्य से जीवमात्र के शरीर, मन और इन्द्रियों को उत्पन्न किया है । उन्होंने आप को यह शरीर, मन, इन्द्रियाँ और उस से सम्बन्धित कई वस्तु इसलिए नहीं दी है ताकि आप इस जगत को, स्वयं को, देह को नकार दो और कहो कि यह ठीक एक मिथ्या और काल्पनिक है ।

दृष्टि-सृष्टि-वाद का दर्शन है कि इस संसार का वास्तविक कोई अस्तित्व नहीं है । जब आप अपनी आँखें खोलते हैं तो यह संसार अस्तित्व में आ जाता है और जब आप अपनी आँखें मून्द लेते हैं तब इसका अस्तित्व नहीं रहता है । यह अद्धैतवाद की धारणाओं का एक मुख्य दर्शन है । ये समस्त आसुरिक विचारधाराएँ हैं ।

ईश्वर वास्तविक सत्य है और उसने इस ज़गत को बनाया है । अतः यह ज़गत भी वास्तविक है, क्योंकि यह उनकी शक्ति है । इसका (ज़गत का) अस्तित्व हमारी आँखें मून्द लेने और खोलने पर आधारित नहीं हैं, किन्तु जब व्यक्ति परम पुरूष को समझने में अभिरुचि नहीं लेते हैं, तब उन्होंने मानव को कुछ करने के लिए दिया है, ताकि वे व्यस्त रहें । कुछ करने से वे ज़गत में शान्ति बनायें रखेंगे । अन्यथा भक्ति सर्वश्रेष्ठ शुभ मार्ग है । यह श्लोक स्वयं कह रहा है (भा.१०-८७-२) कि यह सृष्टि "मात्रार्थम् च भवार्थ च ... आत्मनेऽकल्पनाय" के लिए की गई है । इन्द्रियाँ हैं और इन्द्रियों के विषय हैं ताकि कोई भी उसका उपयोग कर सके और संसार चलता रहे। यह एक उद्देश्य है। सृष्टि का अस्तित्व अपनी इन्द्रिय-तृप्ति या संतुष्टि के लिए है और अन्ततोगत्वा भगवान के साथ अपना सम्बन्ध बोध करने के लिए है एवं संसार-बन्धन से मुक्त होने के लिए है । यह चरम लक्ष्य है ।

भक्ति एक सरल प्रक्रिया है और प्रारम्भ से जब कोई साधक गुरुदेव की शरण लेता हे और बिना-कपट सेवा अर्थात् अमायया-अनुवृत्ति करता है तब वह साधक निवृत्ति मार्ग

पर स्थित हो जाता है । तब उसे ज्ञान, योग और कर्म जैसे कठिन मार्ग को अपनाने की कोई आवश्यकता नहीं है, जिसमें बहुत सी जटिल प्रक्रियाओं का अनुसरण करना होता है । भक्ति में इन सब जटिलताओं की आवश्यकता नहीं है ।

यदि किसी का व्यवहार सत्यपूर्ण है तब सब समस्याओं का समाधान हो जाता है और वह साधक यहाँ प्रसन्नता और परमानन्द में रहेगा । यदि साधक विश्वसनीय है, तब गुरु और शिष्य के बीच एवं गुरु या गुरु से निकटवर्ती के साथ कोई कपटता नहीं होती है । तब वह प्रसन्नतापूर्वक रहेगा अन्यथा व्यक्ति हमेशा भय, सन्देह और चिन्तित रहेगा, जैसा वह दूसरों के साथ व्यवहार में बहुत आशङ्का से भरे रहता है ।

भक्ति दर्शन के आचरण से आप सत्यनिष्ठ एवं राग-द्वेष से मुक्त बनेंगे और इस देहत्याग के बाद आप भगवान जो सत्य-मूर्त्ति हैं उनके साथ निवास करेंगे । इस दर्शन में व्यावहारिक और पारमार्थिक दोनों की समान स्थिति है अन्यथा बहुत भेदपूर्ण व्यवहार करना पड़ता है, जैसे कि यह संसार है, इसे आपको त्यागना होगा, यह सब माया है आदि (कहा जाता है)। अतः यथार्थ निवृत्ति मार्ग भक्ति है । ******

प्रश्नः (शास्त्रों में) कुछ स्थानों पर भक्ति अति सुलभ है और कहीं अन्य स्थानों पर यह दुर्लभ वर्णित है । यह भी कहा गया है कि भक्ति के उच्चतम स्तर भी सुलभतया प्राप्त है । यह (विरोधाभास) कैसे समझ सकते हैं ?

उत्तरः भक्ति सहज है, क्योंकि आपको अधिक कुछ नहीं करना है, जैसे अजामिल के विषय में जिसने नामाभास से ही भक्ति प्राप्त कर ली । किन्तु समस्या यह है कि हम उसे चाहते नहीं हैं क्योंकि भक्ति से किसी उद्देश्य की प्राप्ति नहीं होती है । लोग सरल और ईमानदार नहीं है । जब तक साधक सरल और सच्चा नहीं होता तब तक वह भक्ति प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि हमारी बेईमानी और धोखादारी की मानसिकता भक्ति प्राप्त करने में बाध करती है ।

अद्धैतवाद के एक ग्रन्थ पञ्चदशी में एक कथा है । गुरु जी पढ़ा रहे थे कि कैसे मुक्ति में कोई भी रुचि नहीं रखता है, किन्तु उनका शिष्य उनसे सहमत नहीं हुआ । इसलिए गुरुजी ने उसे एक सुअर बना दिया । अब, जब शिष्य सूअररिया (मादा सूअर) बना तो उसके दस बारह बच्चे हुए और वे सभी कीचड़ में लेट रहे थे तब गुरुजी आए और कहा, तुम मेरे शिष्य हो मैं तुम्हें इस सूअर देह से छुटकारा दूंगा और मुक्त कर दूंगा । कृपया इन बच्चों को छोड़ दो और मेरा अनुसरण करो । शिष्य ने कहा, "नहीं, यहाँ बहुत अच्छा है । मैं इन बच्चों के साथ इतना अधिक आनन्दित हूँ और यहाँ इस कीचड़ के जल में इतना प्रसन्न हूँ कि मैं जाना नहीं चाहता हूँ । उसने उस सूअर के नारकीय शरीर को भी छोड़ना नहीं चाहा ।

साधारणतः लोग भक्ति नहीं चाहते हैं । जब वे इसे चाहते ही नहीं हैं, तब इसे कोई दे भी नहीं सकता । अन्यथा, यदि कोई इसे चाहता है, तो वह एक भक्त का सङ्ग प्राप्त करता है और तब उसकी सेवा करता है और भक्ति प्राप्त करता है । यद्यपि भक्ति बहुत सहज है, पर अति दुर्लभ है, क्योंकि किसी की भी इस में वास्तविक अभिरुचि नहीं हैं।

******

प्रश्नः क्या अजामिल भक्ति चाहता था ?

उत्तरः बिना चाहे एवं कोई भक्तिसाधना किए बिना और इसकी अल्प इच्छा भी नहीं रखते हुए उसे भक्ति मिली । यह दृष्टान्त हमें यह समझाने के लिए है कि भक्ति कितनी सहज प्राप्त है । उसने इसे (भक्ति का) अस्वीकार नहीं किया । एक बार उसने इसके (भक्ति के) महत्त्व का अनुभव किया तब उसने समस्त वस्तुओं के प्रति अपनी आसक्ति का परित्याग कर दिया ।

******

प्रश्नः क्योंकि वह सरल और निष्कपट था, इसलिए क्या उसने भक्ति प्राप्त कर ली ?

उत्तरः हाँ, वह सरल था, यद्यपि वह पापी था । इस से यह दिखाना है कि भक्ति की प्रक्रिया यथार्थ में कितनी सहज (सरल) है ।

******

प्रश्नः श्री चैतन्य महाप्रभुने रागानुगा भक्तिका प्रचलन किया, तो उसके पूर्व क्या था ?

उत्तरः वे ही एक हैं जिन्होंने इसे प्रचारित किया, किन्तु भक्ति सदैव अस्ति-त्ववान है । वे एक मात्र हैं जिन्होंने इसका ज्ञान अवगत कराया ।

******

प्रश्नः क्या अज्ञात सुकृति जैसी कोई वस्तु है या एक मनोवैज्ञानिक विचार है ?

उत्तरः अज्ञात सुकृति जैसी कोई वस्तु नहीं है । भक्ति भगवान और भक्त की कृपा से आती है और भक्ति उस प्रकार नहीं है कि आप अपने नियन्त्रण से या अपनी युक्ति से किसीके पास कुछ करवा लो तब वह भक्त बन जायेगा अथवा उस कार्य के द्वारा वह भक्तिमार्ग में प्रगति करेगा । यह व्यक्ति को प्रचार के लिए यकीन दिलवाते हैं अथवा मात्र धन-संग्रह या दूसरे से कुछ वस्तु प्राप्त करने के लिए प्रोत्साहित करते हैं ।

******

प्रश्नः अतः क्या वास्तव में यह मनोवैज्ञानिक कल्पना है ?

उत्तरः अज्ञात सुकृति जैसी कोई वस्तु नही है तथा कोई ऐसी क्रिया भी नही है जो किसी साधक को भक्ति की ओर ले जा सके । भक्ति निष्काम है । यह केवल ज्ञान और समुचित समझ (विवेक) पर आधारित है । आप अज्ञानी को कुछ करने के लिए प्रेरित नहीं कर सकते हैं, जिसको कोई क्रियाकलाप करने से भक्ति मिले । यह सम्भव

नहीं है ।

******

प्रश्नः इस परिप्रेक्ष्य में निष्काम का क्या अर्थ है ?
उत्तरः अर्थात् भक्ति कुछ सांसारिक क्रियाकलाप से नहीं आती है अथवा न आप की भौतिक इच्छा सहित कुछ करने से आती है । भक्ति सभी प्रकार की सांसारिक इच्छाओं से परे (मुक्त) है । (मात्र) धार्मिक ग्रन्थ खरीदने से एक व्यक्ति भक्ति की क्रिया निष्पादित नहीं करता है । (वह क्रिया भक्ति नहीं मानी जायेगी।) ******

प्रश्नः भक्ति सन्दर्भ ग्रन्थ में स्वरूप सिद्ध भक्ति का वर्णन है, जो व्याख्या करता है कि साधक अनजाने स्वरूपसिद्ध भक्ति भी कर सकता है, जैसा कि प्रह्लाद महाराज के उदाहरण में है ।
उत्तरः वह अज्ञात सुकृति नहीं है । भक्ति भक्त की कृपा से प्राप्त होती है । प्रह्लाद ने यह कृपा उस दौरान प्राप्त की थी, जब वह अपनी माता के गर्भ में था । अज्ञान सुकृति जैसी कोई वस्तु नहीं है । ******

प्रश्नः अतः ये समस्त कहानियाँ भक्ति सन्दर्भ में उद्धृत हैं, यथा- बाघ मनुष्य को खा गया जिसने प्रसाद खाया था और उसका लाभ बाघ को प्राप्त हुआ, इसके विषय में क्या समझा जाये ?
उत्तरः ये सब भक्ति सम्बन्ध क्रिया-कलाप हैं । वे कहानियाँ भक्ति-परक क्रियाओं की शक्ति को दिखाने के लिए हैं । वे अज्ञात सुकृति के अंशरूप नहीं है । अज्ञात सुकृति जैसा कोई शब्द नहीं है ।

******

प्रश्नः तो क्या यह एक मन-घडन्त शब्द ही है ?
उत्तरः हाँ, मैं नहीं जानता कि किसने इस का आविष्कार किया । भक्ति प्रत्यक्ष अनुभवगम्य है । अगर अज्ञात सुकृति जैसी कोई वस्तु है, जो भक्ति की ओर ले जाती है, तब उसके कुछ उदाहरण भी होने चाहिए । यदि आप कहते भी हैं, कि उसे दूसरे जन्म में (अज्ञातसुकृति के फल) से भक्ति की प्राप्ति होगी तब इसका कोई प्रमाण (साक्ष्य) नहीं है । आप किस प्रकार जानेंगे ? ******

प्रश्नः यदि मैं ने इसे भलीभाँति समझ लिया कि एक साधक भक्तिपरक कार्य करता है जो स्वरूप सिद्ध भक्ति है तो क्या उन का अनुभव तुरन्त ही करेगा ?
उत्तरः हाँ, वह ऐसा अनुभव करता है, अगर (भक्ति का) प्रभाव अपराध द्वारा ढका (आवृत) नहीं है । लोग कहते भी हैं कि यदि आप राधाकुण्ड में स्नान करोगे तो आपको

कृष्णप्रेम मिल जायेगा । किन्तु किसने इसे प्राप्त किया है ? यदि आपको प्राप्ति नहीं हुई है, तब कुछ तो कहीं पर गलत होना चाहिए । ******

प्रश्नः क्या यह अपराध से आवृत है ?
उत्तरः हाँ इसका यह अर्थ नहीं होता है कि आप इसे परवर्ती जन्म में प्राप्त करेंगे । आप इसे अभी अनुभव करेंगे । भक्ति प्रत्यक्ष अनुभव देती है । यह कर्म की तरह नहीं है । यहाँ आप अभी कुछ पुण्य कर्म करते हैं और उसका फल आप दूसरे जन्म में प्राप्त करें । आप यह विश्वास करते हैं, जो भी आप प्राप्त करोगे उसका आप इसी जीवन में अनुभव करोगे । ******

२३. उत्तर दायित्व

प्रश्न: जब मैं आश्रित बनने का प्रयत्न करता हूँ, तब मैं अपना (गुरु के प्रति) उत्तरदायित्व छोड़ देता हूँ । मैं कैसे सही सन्तुलन पा सकता हूँ ?
उत्तर: जब आप शरण में जाते हो या अपनी स्वतन्त्रता का त्याग करते हो, फिर उत्तरदायी से मुक्त होने के बजाय उत्तरदायित्व बढ़ जाता है क्योंकि सेवक अर्थात् अधिक उत्तरदायी ।

भक्ति यानि सेवा कार्य । भक्ति निष्क्रियता नहीं है, पर मुक्ति का मार्ग है । भक्ति में भक्त अन्य लोगों से अधिक कार्य करता है और उसके लिए कोई अवकाश दिन नहीं होता। वह कृष्ण की तरह उत्तरदायी है, जो (गीता में) कहते हैं कि "मैं नित्य कार्य करता रहता हूँ, तथापि उन्हें कुछ भी प्राप्त नहीं करना है ।" विष्णु यानि जो पोषण करते हैं और एक व्यक्ति जिसका पोषण का उत्तरदायित्व है उसे यह कार्य हर समय करना पड़ता है। उसे अवकाश कभी नहीं होता । भक्त को भी ऐसा ही उत्तर-दायित्व निभाना है । सेवक वह है जो स्वामी से भी स्वयं को अधिक उत्तरदायी समझता है क्योंकि वह स्वामी की सेवा करके उन्हें उनके उत्तरदायित्व से विश्राम देना चाहता है। बात मात्र यही है कि सेवक स्वतन्त्र नहीं है अतः वह हमेशा शरणागत रहता है, उत्तरदायित्व लेता रहता है और कार्य करता रहता है । ******

२४. उत्सव

प्रश्न: प्राकट्य दिन, जैसे कि कल ग़ौर पूर्णिमा है, तो उस दिन हमारे भाव कैसे होने चाहिए ? क्या विशेष रूपसे उत्सव मनाया जाए या कुछ विशेष चिन्तन किया जाए ?
उत्तर: जहाँ तक भाव की बात है, वैसा ही होना चाहिए जो हर दिन होता है । जहाँ तक कुछ विशेष करने की बात है तो वह एक सामाजिक कार्य है । सामाजिक रूप से

आप कुछ करते हो, एक महोत्सव, विशेष पूजा, प्रीति-भोज और अभिषेक करते हो। अन्यथा आप का भाव वही है जो हर दिन होता है। ******

प्रश्न: उन दिनों जो विशेष सेवादि करते हैं तो क्या वह उनकी भक्ति का बाह्य भाव है? और क्या उनके हर दिन के भाव के समान नहीं है ?
उत्तर: हाँ। वह हमेशा सामाजिक होता है। कुछ सामाजिक रीतियाँ हैं जिसे आप निभाते हो किन्तु इसका केवल सामाजिक उद्देश्य ही है। ******

प्रश्न: क्या उन दिनों हमें उपवास करना चाहिये ?
उत्तर: हाँ। ******

प्रश्न: जो इन (उत्सव के) दिनों को सामाजिक परम्परा से मनाते हैं तो क्या उन्हें उसका कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं मिलता है ?
उत्तर: आध्यात्मिक लाभ का क्या अर्थ है आपका ? ******

प्रश्न: भाव में कोई लाभ (परिवर्तन) नहीं होता है ?
उत्तर: यदि उनकी भगवान के प्रति जागरूकता होती है और उनका मन भगवान पर केन्द्रित होता है तो वह लाभ है। यदि ऐसा नहीं होता है तो स्वाभाविक है कि उसका कोई लाभ नहीं होगा। यदि वह उन्हें भगवान की याद दिलाता है और आध्यात्मिक कार्य करने के लिए प्रेरित करता है तो वह लाभ है।
उत्सव के दो पहलू हैं:

1 एक तो वह है जो भक्त भगवान को निशदिन भजता है और भक्ति भाव से आविष्ट रहता है। ऐसे में यदि वह भगवान को किसी उत्सव दिन पर भजे तो प्रतिदिन की तरह वह उनका स्मरण तो कर रहा है। इसमें कुछ विशेष नहीं है।

2 दूसरा है विशेष कार्यक्रम या उत्सव को मनाना अर्थात् प्रीतिभोज का वितरण। इसका उद्देश्य लोगों को ख़ुश करना है। इसका व्यवहारिक लाभ है कि लोग प्रशंसा करेंगे, उत्सव के नाम पर आप दान ले सकते हैं, या फिर किसी और प्रकार से सहयोग मांग सकते हैं। इस लाभ के अलावा एक भक्त भगवान को सदैव याद करता है। यदि वह भगवान के लिए कुछ सेवा करता है तो उस में कोई दिखावा नहीं होता। सामान्य प्रणालिका यह होती है कि उत्सव का आयोजन करोगे, लोग एकत्रित होंगे और भोजन करेंगे। ऐसा करने से सब सन्तुष्ट होते हैं और जब लोग सन्तुष्ट होंगे तो उनका सहयोग मिलेगा। ******

प्रश्न: जब श्री चैतन्य महाप्रभु इस जगत में थे तब क्या उनका प्राकट्य दिन मनाया जाता था या उनके तिरोभाव के बाद उत्सव दिन मनाना शुरू हुआ ?
उत्तर: यह उनके तिरोभाव के बाद शुरू हुआ । वे जब प्रकट थे उस समय नहीं होता था । उन्हें याद करने के लिए ही यह मनाया जाता है, जिस से उनका जीवन और उनकी शिक्षा याद रहे । उनकी लीलाओं का स्मरण करना, जो शिक्षा दी और प्रचार किया उन सब कार्यों को याद करना चाहिए । इसी तरह इस त्यौहार को मनाया जाना चाहिए ।

......

२५. उत्साह / जोश

प्रश्न: अब हम किसी सद्-गुरु के सम्पर्क में आते हैं तब भी कभी कभी मैं ऐसा अनुभव करता हूँ कि अब मुझ में समर्पण करने की शक्ति नहीं रही है क्योंकि उस शक्ति को मैं ने पूर्व में ही ख़र्च कर दी थी[3] । पहले मैं शक्तिशाली था, किन्तु अब मैं कमज़ोर हूँ । मुझे क्या करना चाहिए ?
उत्तर: यह स्वाभाविक है कि जब हम कोई भी कार्य आरम्भ करते हैं, तो हम बहुत उत्साही होते हैं, पर धीरे धीरे यह उत्साह कम होता जाता है । आप का उत्साह इसलिए कम नहीं होता है क्योंकि आप इस मार्ग पर दूसरे मार्ग से आए हैं । इस प्रक्रिया का अनुसरण करते रहने के पश्चात् भी समय बीतने पर आप निरुत्साहित हो सकते हो । यह उत्साह वास्तविक उत्साह नहीं है, किन्तु अज्ञानता का एक उत्पाद है। इस मार्ग में कोई दीक्षा लेने के पूर्व अन्य दीक्षित व्यक्ति से अधिक उत्साही हो सकता है ।

यद्यपि, भक्ति के यथार्थ मार्ग पर कभी गिरावट नहीं आती है । उत्साह हमेशा बढ़ता है क्योंकि वह अज्ञानता और धर्मांधता के बदले सही ज्ञान और समज़दारी पर आधारित है । इसलिए व्यक्ति को इसे सही तरीक़े से समझने का प्रयास करना चाहिए और जब आप इसे समझ लेते हैं तो आप का उत्साह घटने के बजाय बढ़ता रहेगा । भक्ति (और वास्तविक उत्साह) और समझ अनुभव पर आधारित है, जब कि मिथ्या उत्साह अज्ञानता और ग़लत अनुभव पर आधारित है । इसे प्राकृत स्तर अथवा प्रारम्भिक स्तर कहा जाता है, जो हमेशा इसी तरह है ।

......

२६. उपदेश देना, शिक्षा देना, शिक्षित करना

प्रश्न: भगवद्गीता में एक श्लोक है:

---

[3] पहले मुझेमें समर्पण करने की दृढ़ श्रद्धा थी, किन्तु अब सद्-गुरु मिलने पर भी समर्पण करने के लिए कुछ संकोच का अनुभव कर रहा हूँ ।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन् ।। (गीता ३.२६)

"एक विद्वान को अज्ञानी एवं कर्मासक्त का मन विचलित नहीं करना चाहिये । तथापि स्वधर्म निभाते हुए, युक्त होते हुए उन लोगोंको कर्म में नियुक्त करना चाहिये ।"
अतः जब कोई फलदायी कर्मो में अत्यासक्त है और भक्ति के प्रति जाता है, तो उसे कैसे कार्यो में से जोड़ना चाहिए ?

उत्तर: विद्वान का अर्थ होता है ज्ञानी व्यक्ति, जो शिक्षक और गुरु है । गुरु एक वैद्य या डाक्टर की भाँति है । वैद्य को उचित औषधि देनी होती है, जैसे कि यदि किसी को तेज़ बुखार है तो वैद्य उसे हल्का भोजन और विशेष दवाएँ देगा और यदि किसी को हल्का बुखार है तो उसे अलग प्रकार की औषधि दी जाती है । बिमार को रोग के अनुसार अलग अलग चिकित्सा दी जाती है । उसी तरह गुरु भी अपने शिष्य को उसकी सांसारिक आसक्ति की मात्रा को ध्यान में रखकर शिक्षा देता है ।

एक ऐसे व्यक्ति का उदाहरण लो जो अभी भी सांसारिक सुख में निमग्न है । वह एक ऐसे गुरु से मिलता है जो उसे त्याग एवं अनासक्ति के विषय में शिक्षा देता है । वह प्रायः अपनी गुरुवाणी का सम्मान करता हो, पर अपनी पुरानी जीवन शैली को भी न त्याग सकता हो । ऐसी स्थिति में वह कर्तव्य विमूढ़ हो जाता है । न तो वह अपनी पुरानी जीवन शैली जी सकता है और न ही वह गुरुशिक्षा को आचरण में ला सकता है । उसकी ग्रहण शक्ति से अधिक गुरुशिक्षा से वह कर्तव्यविमूढ़ हो जाता है ।

उद्देश्य है कि उस साधक को उसके हितार्थ कितना निर्देश देना है । इसका अर्थ है कि बिना किसी व्यापारिक हेतु से उसे पहले मात्र आवश्यक ज्ञानप्रदान करना । यदि वह साधक उसमें रुचि दिखाता है, तदनन्तर ही उसे अधिक ज्ञान देना चाहिए ।

दुर्भाग्य यह है कि योग्यतारहित लोगों ने भक्ति मार्ग को भ्रष्ट कर दिया है । इससे या तो लोगों को भगवान में एवं भक्ति मार्ग में विश्वास नहीं रहा या फिर जो भी विश्वास था वह नष्ट हो रहा है । इस श्लोक में आगे कहते हैं कि गुरु को स्वयं दृढतापूर्वक इस मार्ग पर आचरण करते रहना चाहिए । ******

प्रश्न: भक्ति मार्ग का अनुसरण करने के लिए एवं उसके विषय में निर्देश प्राप्त करने के लिए अल्पतम क्या योग्यता होनी चाहिए ?

उत्तर: भक्ति के विषय में यर्थाथ ज्ञान देना महत्त्वपूर्ण है, पर उसे व्यक्ति की ग्रहण शक्ति को ध्यान में रखकर धीरे धीरे देना चाहिए । मुख्य उद्देश्य है कि इस ज्ञान से अपना हितार्थ पाएँ । साथ में स्वयं भी उसका आचरण करें । अपने कहने के बजाय स्वाचरण का असर अधिक गहरा होगा ।

जब नारद मुनि शिकारी मृगारि को मिले, उन्होंने कुछ समय तक उसे थोड़े थोड़े समय पर थोड़ी थोड़ी शिक्षा दी । पहले नारदने उस शिकारी के मन में कुछ शङ्काएँ जगाई ताकि वह कुछ प्रश्न पूछे । यदि कोई जिज्ञासु उत्सुक है तो आप को भी वैसा ही करना है, थोड़ी थोड़ी बातें करनी है और वह भी मात्र भक्ति-विषय में । नहीं तो बात को वहीं बन्द कर दो ।

******

प्रश्न: लोग इस में रुचि ले इसके लिए क्या यह समय एवं शक्ति का व्यय नहीं है ?
उत्तर: नहीं, क्योंकि ऐसा करने से ही ज्ञात होता है कि वह व्यक्ति वस्तुतः भक्ति में रुचि रखता है कि नहीं ।

******

प्रश्न: हम जीव स्कूल ऑफ़ फ़िलोसोफ़ी का एक पाठ्यक्रम आरम्भ कर रहे हैं एवं उन शिक्षाधारित पुस्तकों का प्रकाशन भी करेंगे । मुख्य उद्देश्य है कि सभी गोस्वामीके दर्शनशास्त्र का सारांश अंग्रेज़ी भाषा में प्रस्तुत एवं प्रकाशित करना ।

ऐसा करने में हमें यह लगता है कि वर्तमान समाज में जो धारणा प्रचलित है उसे भी दर्शाएँ और कुछ प्रारम्भिक पुस्तकें प्रकाशित करें जिसमें गोड़ीय दर्शन का मुख्य सारांश हो । हम देख रहे हैं कि पिछले ३० वर्ष में विदेशी लोगों की रुचि प्राच्य दर्शन में, विशेष रूप से बौद्धवाद और अद्वैत वेदान्त में बढ़ी है । आधुनिक विचारधारकों की मानसिकता को मान्य करती हुई और उनके विचारों के निचोड़ को दर्शाती हुई पुस्तकों का बाज़ार में जैसे ढेर लग गया है । ऐसा लगता है कि पढ़े लिखे लोगों को यदि हम अपना सिद्धांतसार दिखाना चाहते हैं तो आधुनिक विचारों को ध्यान में रख कर हमें अपना निष्कर्ष प्रस्तुत करना चाहिए, जैसे कि जीव गोस्वामी ने पहले षड्-दर्शन और अद्वैत वेदान्त की तुलना में भक्ति की सर्वश्रेष्ठता प्रतिपादित की थी । अब हमें लगता है कि आध्यात्मिकता को आधुनिक मानसशास्त्र, विज्ञान, विश्व-धर्म से जोड़कर भक्ति की उपयोगिता स्थापित करनी होगी । यह विचार सही है कि नहीं ?
उत्तर: ऐसा करना उचित होगा । यह दर्शन भारत देश में भी प्रसिद्ध नहीं है, तो विदेश की बात ही क्या करें ? भारत में सामान्य जन इसके विषय में कुछ नहीं जानते । अरे, सामान्य जन को छोड़ो, विद्वान लोग भी नहीं जानते । जैसे कि प्रसिद्ध गीताप्रेस, जो

कल्याण नामक एक परिपत्र प्रकाशित करती हैं और हर वर्ष ४०० पन्ने का विशाल विशेष अङ्क भी प्रकाशित करती है । वे कोई विशेष विषय पसन्द करते हैं और अनेक विद्वान उस विषय पर लिखते हैं । एक बार विषय था 'भारत के संत' । उसमें हमारे सम्प्रदाय के विषय में कुछ भी लिखा नहीं गया था । वह मानव धर्म पर विशेष अङ्क था पर उस में अपने दर्शन के विषय में कोई भी निर्देश नहीं था । विविध दर्शनों की चर्चा की गयी थी, पर श्रीचैतन्य महाप्रभु के सन्दर्भ में किसीने कुछ भी नहीं कहा था। सामान्य जनसमुदाय के लिए पुस्तकें लिखना आवश्यक है क्योंकि उन्हें बड़ी पुस्तकें पढ़ना और गहराई से उनका अध्ययन करने का समय नहीं होता है । हमें विद्वान लोगों के लिए भी पुस्तकें लिखनी चाहिए । दोनों समुदाय के लिए होनी चाहिये ।

******

प्रश्न: आधुनिक रीति है कि किसी भी ज्ञानपद्धति में जो भी उचित हो, चाहे वह मनोवैज्ञानिक या धर्मशास्त्र का हो उसकी सराहना करनी चाहिए । यह प्रवृत्ति अभी अध्यात्मवाद एकता की ओर है जो दुनिया की सबसे महान परम्पराओं में से श्रेष्ठज्ञान को अन्तर्निहित करती है ।

१. संयुक्त अध्यात्मवाद का प्रथम कार्य है कि सर्वव्यापी सिद्धान्तो या प्राथमिक सत्य जो सर्वमान्य रीति से है वह मानवता के लिए उपयोगी हो ।

२. सर्वमान्य सिद्धान्तो के अरसपरस सार को इस तरह ग्रन्थन करना जिस में कौन सी रीति उचित है और कौन सी अनुचित, यह पूछने के बजाय मान लेते हैं कि सभी रीति सही पर भेदभावयुक्त हैं और फिर इन सभी भेदभावयुक्त सत्य को मिलाकर आपस में जोड़ दें । ऐसा नहीं होता कि किसी एक को अपनाकर दूसरों को छोड़ दे ।

३. इस रीति में तीसरा कार्य है एक नया आलोचनात्मक वाद बनाना । आलोचना उनका सत्य नहीं होता, पर वह उनका भेदभाव पूर्ण स्वभाव होता है । अन्य धर्मों के विचारों की धारणा योग्यता (validity), ज्ञान पाने की प्रणाली से हमें भक्ति की श्रेष्ठता और परिपक्वता दिखाना और किस तरह से वे अन्य धर्म भेदभावपूर्ण हैं, वह हमें बताना अच्छा होगा । इस रीति से हमारा उद्देश्य यह दिखाना है कि भक्ति किस तरह मानवभावना का सर्वोत्तम विकास है । क्या यह रीति स्वीकार्य है ?

उत्तर: वास्तव में यह एक संस्कृत साहित्य की रीति है । जब वे किसी दर्शन को स्थापित करना चाहते हैं तो अन्य प्रचलित पद्धतियों को अपूर्ण दिखाते हैं । जैसे कि भगवद्गीता में भक्ति को स्थापित किया है, जब कि अन्य पद्धतियों का भी उल्लेख किया है, चाहे वह योग, सांख्य, ज्ञान या कर्म हो और साथ में वे स्वतन्त्र रूप से कैसे अपूर्ण हैं वह भी दिखाया है । जैसे ज्ञान के विषय में कहा है:

"जिन साधकों का मन अव्यक्त-तत्त्व से जुड़ा है, तो उन का कष्ट अधिक है क्योंकि देहधारियों के लिए अव्यक्त-साध्य अति कठिनाईयों से पाया जाता है" । (गीता १२.५) भगवद्गीता में कृष्ण कहते हैं, "ज्ञानी भी मेरे पास आते हैं", पर वह स्पष्ट कहते हैं कि यह अति कठिन मार्ग है । कई बार अर्जुन प्रश्न पूछते हैं कि श्रेष्ठ क्या है ? वे कहते हैं कि आप इस मार्ग का गुणगान गाते हो, उस पथ का गुणगान गाते हो, पर सही में श्रेष्ठतम क्या है ?" यही सूचित करता है कि कृष्ण मात्र एक मार्ग की बात नहीं करते हैं । वह एक विशेष मार्ग की बात करते हैं, तदनन्तर इससे कुछ अच्छा मार्ग बताते हैं और अन्त में भक्ति को एक उत्तम मार्ग के रूपमें स्थापित करते हैं । श्री कृष्ण कहते हैं, "यह अत्यन्त गुह्यत्तम है ।"

सिखाने की यही योग्य रीति है । आप कालानुसार प्रचलित प्रत्येक दर्शन की व्याख्या करो । तब उस दर्शन में क्या त्रुटि थी उसे पूर्वपक्ष की भाँति प्रस्तुत करो । अन्त में भक्ति को श्रेष्ठतम दर्शन स्थापित करो । यही करना उचित है ।

******

प्रश्न: दूसरे शब्दों में कहें तो गीता में जैसा दिखाया गया है वैसी विशिष्ट पद्धति की प्रामाणिकता हैं । कृष्ण यह नहीं कहते कि ज्ञानयोग या कर्मयोग में कोई प्रासंगिकता नहीं है, परन्तु वे दोनों विकास के निश्चित स्तर पर आंशिक प्रासंगिक है । यदि कोई स्पष्ट समझ पाना चाहता है तो उसे यह देखना होगा कि सम्पूर्ण दर्शनों में कौनसा योग सही है ।

उत्तर: हाँ । यही कृष्ण ने दिखाया है । विशेष में वह यह भी कहते हैं कि भक्ति के बिना अन्य मार्ग कार्यपरक नहीं रहते । जैसे कि कर्ममार्ग है, पर कृष्ण ने कर्म को भक्ति में समाविष्ट कर समझाया है । यहाँ तक कि योग और ज्ञान मार्ग को भी भक्ति से

******

जोड़ा है ।

प्रश्न: ऐसा नहीं है कि कुछ अग्रणी पश्चिम दर्शन के विद्वान सही अर्थ में महान भक्त थे और क्या उनके जीवन का मुख्य दर्शन प्रभु-प्रेम और प्रभुसेवा थी ? क्या यह सम्भव है कि भगवान ने उन्हें प्रमाणित परम्परा के बिना सीधे इस निर्णय पर आने के लिए प्रेरणा दी थी ?

उत्तर: श्री चैतन्य और उनके अनुयायी के सिवा कोई भक्ति या प्रभु-प्रेम के विषय में नहीं जानता । जहाँ तक अन्य लोगों का तथाकथित प्रभुप्रेम या प्रभुसेवा है, वह मात्र बातें हैं । भगवान कौन है और प्रेम क्या है वह अन्य लोग परिभाषित भी नहीं कर सकते । 'प्रेम' शब्द के बार बार उपयोग से किसीको यह नहीं सोचना चाहिए कि

श्रीचैतन्य का दर्शन और अन्य जो प्रेम के विषय में कथन करते हैं, उसमें कोई अन्तर नहीं है । ऐसी बातें आप हर कहीं पर सुन पाओगे ।

उदाहरण स्वरूप, मधुसूदन सरस्वती जो एक महान अद्वैतवादी, प्रखर द्वैतवाद के विरोधी विद्वान थे, जो चैतन्य महाप्रभु के परवर्ती थे, उन्होंने एक प्रख्यात श्लोक की रचना की जिस में उन्होंने कृष्ण की सुन्दरता का वर्णन किया है । वह कहते हैं: "मैं कृष्ण से अधिक श्रेष्ठ कुछ नहीं जानता।" पर यह वही व्यक्ति है जिसने सम्पूर्णरूप से द्वैत या भक्ति मार्ग का खण्डन किया है और अद्वैतवाद की स्थापना की है । पुस्तक का नाम भी दिया है 'अद्वैत सिद्धि' या 'अद्वैत की स्थापना' । कृष्ण का अर्थ उनके लिए क्या है या जब कहते हैं कि "कृष्ण परमश्रेष्ठ हैं," "कृष्ण अतिसुन्दर हैं" यह अर्थहीन है, पर शब्दजाल में लोग बहक जाते हैं । उन्होंने 'भक्ति रसायन' और 'भक्ति का अमृत' नामक पुस्तकें भी लिखी हैं तथापि वह कट्टर अद्वैतवादी थे ।

ऐसे लोग भी हैं जिनमें अच्छा बोलने और लिखने की विशेष क्षमता है, पर उन्हें ज्ञात नहीं है कि वे क्या कह रहे हैं । ऐसे ही जैसे कि कवि सुन्दर कविताएँ लिखते हैं, सुन्दर कल्पना करते हैं, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वास्तव में वे जो भी लिखते हैं उसके विषय में वे जानते हैं या अनुभव करते हैं । उन लोगों को प्रेरणा होती है । अधिकतम लोग ऐसा ही करते हैं । नहीं तो यदि आप को भगवान से प्रेम है तो उसका अर्थ बताना चाहिए । जैसे कि यदि आप प्रीति-सन्दर्भ का अभ्यास कर रहे हैं, उस में जीव गोस्वामी प्रीति के विषय में समझाते हैं, प्रेमी आश्रय है, और विषय (कृष्ण) है । भगवान कौन है ? उसे प्रेम करने का अर्थ क्या है ? ऐसा प्रेम कैसे पा सकें ? अन्य कोई भी इन विषयों को स्पष्ट रूप से नहीं समझाते हैं ।

अन्य उदाहरण है रामकृष्ण परमहंस का, जिन्हें कुछ लोग राम और कृष्ण दोनों का मिश्रण समझते हैं । उन्होंने हर तरह की बातें कही है, पर अन्त में तो वे अद्वैतवादी थे तथापि उन्हें एक महान भक्त मानते हैं । वे कीर्तन करते थे तब स्वदेह में श्री चैतन्य महाप्रभु की भाँति भिन्न भिन्न भाव प्रकट करते थे । पर उसका अर्थ क्या, विशेषकर जब अद्वैतवाद का गुणगान गाते हैं ? श्रीशंकराचार्य का भी दृष्टान्त है । कलियुग में तो सर्व विदित है कि शंकराचार्य अद्वैतवाद के संस्थापक हैं । उन्होंने एक विख्यात गीत लिखा है:

भज गोविन्दं, भज गोविन्दं, भज गोविन्दं मूढ़मते ।
सम्प्राप्ते सन्निहिते काले, न हि न हि रक्षति डुकृञ् करणे ।।

"ओ मूढ़, केवल गोविन्द को भज, गोविन्द को भज, गोविन्द को भज । मृत्युकाल में तेरी विद्वता कोई सहायता नहीं करेगी ।"

यह गीत लिखने का क्या अर्थ है ? शंकराचार्य हमेशा स्वयं विद्वता, वाद-विवाद और खण्डन-मण्डन में व्यस्त रहते थे । वे कभी गोविन्द के भजन नहीं गाते थे । सर्व अद्वैतवादी अनुयायी शास्त्राध्ययन करते थे, पर यह श्लोक अध्ययन करने की आलोचना करता है । वे कभी भगवान के भजन नहीं गाते थे, तथापि 'भज गोविन्द' गीत की धुन गाते थे, भाषण देते थे और अनुयायी एकत्रित करते थे ।

वृन्दावन में अनेक सम्प्रदाय हैं जो केवल राधाकृष्ण की, उनके प्रेम की बहुत बातें करते हैं, पर उन सब का दर्शन क्या है ? वह है मात्र कामवासना क्योंकि उनके लिए सब से मुख्य बात है राधा और कृष्ण का विवाह । इसे एक महोत्सव के रूप में सब मनाते हैं । एवं वे निकुञ्जलीला या कुञ्जलता में राधा-कृष्ण के मिलन की बात करेंगे, पर इसका प्रीति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है ।

एवं जो कुछ भी अच्छा लगा उसकी नक़ल की । ये लोग भक्ति के बारे में कुछ नहीं कहते, चर्चा करते हैं मात्र प्रेम और रास की । अरे! यह रसप्रद है कि प्रेम की बात तो करते हैं पर उन्हें तो प्रेम और रास का अर्थ भी ज्ञात नहीं है ।

इन शब्दों का अर्थ कोई भी नहीं जानता । वह केवल श्री चैतन्य महाप्रभु हैं जिन्होंने भगवान श्री कृष्ण को (अग्रणी रूपमें) स्थापित किया । गोस्वामियों को राधाकृष्ण को स्थापित करना एवं उन की सेवा-पूजा स्थापित करनेमें अति परिश्रम उठाना पड़ा । ऐसी बातें तो हर कोई कर सकता है । वास्तव में इस संसार में युवा लड़के लड़कियाँ भी प्रेम की बातें करते हैं, पर उनकी ये बातें मात्र दोहराई हुई बातें हैं जो उन्होंने सुनी है । आप समाचार-पत्र पढ़ते हैं, जिसे पढ़ने के बाद आप भी कई विषयों पर चर्चा कर सकते हो, ऐसे ही जैसे आपको इन विषयों की काफ़ी जानकारी है । कुछ लोग जो समाचार-पत्र के लिए सदा काम करते हैं वे कोई भी विषय पर लिख सकते हैं । बिल्कुल ऐसा ही है राधा-कृष्ण के प्रेम और रास के विषय में बात करना । इसका भक्ति, प्रीति आदि बातों से कोई लेन देन नहीं है । वे लोग तो इन (भक्ति, प्रीति, प्रेम) शब्दों का अर्थघटन भी नहीं कर सकते ।

यह आवश्यक है कि प्रचार हो । पहले चैतन्य महाप्रभु आए, फिर आए गोस्वामीगण, जिन्होंने इस पूरे उपदेश को लिखने में बहुत परिश्रम किया । चैतन्य महाप्रभु का दर्शन का ज्ञान होना चाहिए । तभी लोगों को ज्ञात होगा कि वास्तविकता क्या है, चाहे लोग उसे अपनाए या न अपनाए । अतः सरल बोध के लिए पतली, लघु किताबें लिखना आवश्यक है ।

समाज पर टिप्पणी करने की आवश्यकता भी नहीं है जैसे अन्य जन करते हैं । उन्हें गलत नाम से बुलाना या गाली देना भी ठीक नहीं है । आप को पूर्वपक्ष का वर्णन करना चाहिए पर कठोर शब्दों में उनकी आलोचना नहीं करनी चाहिए । ऐसे लोगों के लिए न तो प्रीति होनी चाहिए और न ही द्वेष । ऐसा करना उचित नहीं है ।

हमारे पास गोस्वामियों का विपुल साहित्य है । दर्शन सम्बन्धी सभी मुद्दे साहित्य में समाहित किए गए हैं अतः इस साहित्य को योग्य रीति से बताना होगा । ये दो प्रकार के होंगे । प्रथम प्रकार का प्रचार के लिए होगा और द्वितीय गहन-अध्ययनार्थियों के लिए होगा ।

कोई एक ऐसा स्थान तो होना ही चाहिए जहाँ चैतन्य महाप्रभु के दर्शनशास्त्र का लोग जीवन में आचरण करते हो । यह मात्र धर्मोपदेश देने के लिए नहीं है, पर मुख्यतः जीवन में आचरण के लिए है । सामान्य जन समुदाय को इससे सम्बन्धित व्याख्या और दृष्टान्त की आवश्यकता होगी । अतः एक ऐसा स्थान होना चाहिए जहाँ साधु लोग इसका अभ्यास करते हों और उचित आचरण करते हों ।

यदि एक व्यक्ति भी निष्ठापूर्वक ऐसा करता है और दूसरे व्यक्ति को इस मार्ग पर ला सकता है, तो यह सफलता होगी । भगवान और आचार्य प्रसन्न होगें । अतः लगनपूर्वक प्रयत्नशील रहना चाहिए ।

अब प्रोद्योगिकीय उन्नति (आधुनिक उपकरणों) के कारण उपदेश देने की अनेक पद्धति उपलब्ध है और उन सब का उपयोग किया जा सकता है । पहले यह कार्य अतिकठिन था । पहले तो मुद्रणालय भी नहीं थे । अब तो हर संदेश हर जगह पहुँचाना सरल है तो इस कार्य को योग्य रीति से करना चाहिए । इसे व्यापार नहीं बनाना चाहिए कामवासना और पैसों के लिए कोई भी दर्शन की आवश्यकता नहीं है । इस दर्शन का उद्देश्य पैसे बनाना और कामवासना के प्रचार के लिए नहीं होना चाहिए । इसका किसी भी रीति से दुरुपयोग नहीं होना चाहिए । ******

प्रश्न: क्या आप जीव संस्थान के विषय में कुछ बता सकते हो, विशेष कर श्री महाप्रभु की इन शिक्षा का प्रचार करने के साधन के रूप में ?
उत्तर: आप को ऐसे लोगों को आकर्षित करना होगा जो उत्तमा भक्ति को समज़ सके और उस में निष्ठा हो । यह मात्र शिक्षा से सम्भव है । जीव संस्थान की स्थापना इसी हेतु हुई है । आप कैसे इसका प्रचार करोगे वह आप पर निर्भर है । प्रचार मात्र एक रीति से हो सकता है और वह है शिक्षा । शिक्षा नींव है । ध्यान उस पर केन्द्रित करना होगा । गोस्वामियों ने अगणित साहित्य लिखा है, तो एक ऐसा स्थान होना चाहिए जहाँ लोग जाकर अभ्यास कर सके । वर्तमान में ऐसी कोई संस्था नहीं है जहाँ जाकर ऐसा अभ्यास कर सके । इसकी पूर्ति के लिए ही जीव संस्थान की स्थापना की गयी है । इससे गोस्वामियों के साहित्य की रक्षा भी हो जाएगी और उनकी शिक्षा को जन समुदाय तक प्रसारित भी किया जाएगा । गोस्वामियों के साहित्य को उपलब्ध कराना होगा, लोगों को शिक्षा देना होगा और उसका आचरण करना होगा । जनसमुदाय के लिए आप एक अच्छा उदाहरण बनें ।

उत्तमा भक्ति सामान्य जनसमुदाय के बीच कभी लोकप्रिय नहीं होगी, जैसे अन्य मार्ग हैं । यदि लोकप्रिय बनाना है तो लोगों को दो वस्तु की अनुमति देनी होगी: भोजन, जैसे कि माँस और शराब और दूसरा है कामवासनापूर्ति । यही तो लोग चाहते हैं - भोजन और इन्द्रिय सुख । उन्हें कहो धर्म के नाम पर ये चीज़ें लो और फिर देखो आप को कितना विशाल समुदाय मिलेगा । अन्यथा लोगों को भगवान में कोई रुचि नहीं है।

उत्तमा भक्ति कभी सार्वजनिक नहीं बन सकती, किन्तु यदि आप इस अभियान में दृढ़ हो तभी सम्भव होगा । जब आप के पास ऐसे लोग हैं जिनका विश्वास दृढ़ है और दर्शन को ठीक से समझ सकते हैं । यह शिक्षा से ही सम्भव हो सकता है ।
धर्म का अर्थ है भगवान के द्वारा दिया गया अनुशासन । अर्थात् उनकी विधि-विधानों का आचरण-पालन करना, पर जैसे मैं ने आगे बताया कि लोगों की इसमें रुचि नहीं है ।

******

प्रश्न: कृष्ण भावना सिखाने के लिए व्यक्ति की क्या योग्यताएँ होनी चाहिए ?
उत्तर: योग्यताएँ हैं, सबसे पहले आप दृढ़, सत्यवादी, प्रामाणिक, दर्शन-ज्ञाता, और लोगों के साथ कैसे व्यवहार करना ऐसे कौशल आप में होने चाहिए । साधक में यह दर्शन समझने की कितनी योग्यता और क्षमता है यह मूल्याङ्कन करने की शक्ति होनी चाहिए । तदनन्तर दर्शन समझा सकते हो । यही योग्यताएँ हैं ।

******

प्रश्न: श्री चैतन्य की शिक्षा फैल रही है यह आप कैसे देख सकते हैं ?

उत्तर: इस दुनिया में चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा को प्रचलित करने की विशेष आवश्यकता है क्योंकि यही शिक्षा समाज में शांति, समृद्धि, एकता, निर्भयता और सुरक्षा स्थापित कर सकती है ।

मुख्य बात यह है कि इस अभियान को किसी व्यापारिक उद्देश्य या अन्य कोई उद्देश्य का न होकर प्रामाणिकता से करना होगा । तदर्थ उस व्यक्ति को सर्व प्रथम इस शिक्षा को उचित अर्थ में समझना होगा, उस में निष्ठा रखनी होगी और उसका आचरण भी करना आवश्यक होगा । तभी वह किसी और को यह उपदेश दे सकता है ।

किसी और को यह शिक्षा समझाना अति कठिन है क्योंकि अधिकांश लोगों का मन सांसारिक होता है, जो अन्त में विनाशकारक मानसिकता बन जाती है, जिसे आसुरी भाव कहते हैं । अतः उपदेशक को निष्ठावान होना, प्रामाणिक होना, और अपने जीवन में शिक्षा में निर्दिष्ट नियमों का पालन करना होगा तब अन्य को इस शिक्षा के विषय में समझाना कठिन नहीं है, तभी जनसमुदाय तक यह उपदेश प्रसार करने का कोई माध्यम तैयार कर सकता है ।

अन्यथा उपदेशकों की कोई कमी नहीं है । पूरी दुनिया में श्रीचैतन्य महाप्रभु की शिक्षा को सिखाया गया, पर वह उद्देश्य सही तरह सफल नहीं हुआ जिस के लिए श्रीचैतन्य महाप्रभु अवतरित हुए थे । उनके उद्देश्य के अनुसार कुछ भी नहीं हुआ है । ऐसी शिक्षा जो नाम, सन्मान, धनोपार्जन, एवं अनुयायी एकत्रित करने के उद्देश्य से दी जाती हो, उस से समाज का कभी हित नहीं होता । श्री चैतन्य की शिक्षा का अर्थ है जनसमुदाय को सुख, शांति, प्रगति और निर्भयता देना । मैं चाहता हूँ कि जीव संस्थान समाज के उत्थान के लिए श्री चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा के प्रचार में पूरा योगदान देगा । तदर्थ आप को अपनी बुद्धि और क्षमता का उपयोग करना होगा । यह एक महान सेवा होगी और भगवान उस से प्रसन्न होंगे ।

******

प्रश्न: जब आप कहते हो, "शिक्षा जिस से लोगों को निष्ठा मिलती है", तो इसका अर्थ क्या पुस्तकें पढ़ना है ?

उत्तर: हाँ । अतः गोस्वामियों ने विपुल साहित्य तैयार किया, जिस में व्याकरण, साहित्य, अलङ्कार और अन्य विषयों का समावेश है । अन्यथा लोगों की अपनी स्वाभाविक वृत्ति और संस्कार होते हैं वे उसी तरह आचरण करते हैं । यदि आप उन्हें कृष्ण के विषय में बताएँगे तो भी उनके पूर्व-संस्कार ही आगे आएँगे । मात्र शिक्षा से ही पूर्व-संस्कार

मिटाए जाते हैं । तदनन्तर ही वे उस शिक्षा को अपनाएँगे और उनमें सच्ची श्रद्धा होगी।

******

प्रश्न: यदि कोई संस्कृत पढ़ सकता है और समझ भी सकता है तथापि क्या इन पुस्तकों के स्वपठन से समझ आएगी ?
उत्तर: मैं पुस्तकों के पठन की बातें नहीं करता हूँ । मैं उनका अभ्यास करने की बातें करता हूँ । शिक्षा का अर्थ पुस्तक-पठन ही नहीं है ।

******

प्रश्न: क्या यह किसी गुरु से पढ़नी होंगी ?
उत्तर: हाँ ।

******

प्रश्न: यदि हम एक महाभागवत के स्तर पर न हों, पर किसीको सिखाने का अवसर मिले तो क्या उसे स्वीकारना चाहिए और हम जो जानते हैं और हमारी जो समझ है उसे क्या सिखा सकते हैं ?
उत्तर: जो वह जानता है वह कोई भी कह सकता है, पर उसका कोई महत्त्व नहीं यदि उसका इस मार्ग पर दृढ़ सङ्कल्प नहीं है । फिर वह एक दर्ज़ किया हुआ अभिलिखित सन्देश सुनने जैसा है । यदि आप के पास मुँह है, तो आप बोल सकते हो और ऐसा करने से आपको कोई रोक नहीं सकता, पर पहले आपको दृढ़ श्रद्धा होनी चाहिए । आप में दृढ श्रद्धा होनी चाहिए और उसका आचरण होना चाहिए, तभी आपका प्रभाव दूसरों पर रहेगा । यह धर्म आचरण या स्वानुभव पर आधारित है । आचरण सब से प्रथम है । सब को दूसरों का साथ चाहिए और आप को साथ मिलेगा प्रवचन से । अतः यदि आप अच्छे वक्ता हैं तब कुछ अनुयायी मिलेंगे । पर यह धर्म नहीं है । धर्म का अर्थ है आप आचरण करें । इसका मूल आचरण में है । यह सर्व प्रथम है, और यदि आप आचरण नहीं करते हैं, तो वह मात्र व्यापार होगा ।

******

प्रश्न: आचरण का अर्थ क्या है ? क्या ब्रह्मचर्य का आचरण करना अर्थात् कामवासना से मुक्त होना ? मैं संन्यासी बनने की कोशिश करूँ अर्थात् क्या लोभ से मुक्त हूँ ?
उत्तर: यह पाखण्ड है और यही मैं कह रहा हूँ । मैं यह नहीं कह रहा हूँ कि पाखण्डी तरीके से आचरण करो । आचरण का अर्थ है वास्तविक वस्तु का निष्ठापूर्ण पालन करना । अतः मैं ने यही कहा कि दृढ़ रहो । उस में श्रद्धा होनी चाहिए और आचरण करते रहना चाहिए । पाखण्डी क्यों बनना है ?

******

प्रश्न: मैं कामवासना से मुक्त नहीं हूँ तो मैं कैसे उपदेश दूँ कि "काम-वासना से मुक्त रहो" । क्या इसका अर्थ यह होता है कि जब तक मैं कामवासना से मुक्त न हो जाऊँ, तब तक अन्य लोगों को ऐसे नहीं कहना चाहिए, चाहे उसमें मेरा पूरा जीवन चला जाय ?

उत्तर: मैं वही कह रहा हूँ । आप कह सकते हो, पर उसका कोई प्रभाव नहीं होगा ।

******

प्रश्न: क्या इसका अर्थ यह होगा कि जब तक अनुभूति न हो तब तक इस सन्दर्भमें किसी अन्य के साथ चर्चा नहीं करनी चाहिए क्योंकि वह व्यर्थ है ।

उत्तर: सर्व प्रथम आपको भक्ति में श्रद्धा होनी चाहिए । यदि आप में श्रद्धा है तो कामवासनादि से मुक्त होने में पूरा जीवन नहीं बीतेगा । ******

प्रश्न: यदि साधना दीक्षा से आरम्भ होती है, तो दीक्षा की ओर ले जानेवाली इन प्रवृतियों की क्या परिभाषा है ? जैसे कि यदि कोई शास्त्र में पढ़ता है कि जप करना अच्छा है, और स्वयं ही जप करना आदि बहुत कुछ शुरू कर देता है । तो क्या जिसने दीक्षा नहीं ली है वह जप कर, भोग लगाएँ आदि अपने आप शुरू कर सकता है ?

उत्तर: गुरु को स्वीकार किए बिना की गई यह सभी क्रिया-कलाप साधना भक्ति का अङ्ग नहीं है । उन्हें शुभ कार्य कह सकते हैं । सामान्य रूपसे जब परिक्रमा, जप, या मन्दिर जाना जैसी क्रियाएँ करते हैं, तो वह मन में किसी हेतु को लेकर करते हैं । ऐसा करके कुछ पाने की इच्छा होती है । उसके पीछे उनका कोई हेतु होता है जिन्हें वे पूरा करना चाहते हैं, जो सामान्य रूपसे लौकिक होता है ।

तथापि, भक्ति भगवान की प्रिय सेवा है, आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम् । भगवान की सन्तुष्टि के लिए ही की जाती है कुछ पाने के लिए नहीं । भक्ति वैधी हो या तो रागानुरागा हो अर्थात् कोई शास्त्र विधान से निभा रहा है या तो स्वयं को पसन्द है अतः भक्ति करता है । अन्तिम हेतु तो यही है कि साधक मन को भगवान में स्थिर करे और अपने लिए कोई भी इच्छा न रखे । इसे भक्ति कहते हैं । भक्ति ईश्वर की इच्छा से प्राप्त होती है । जब ईश्वर किसी को प्रेरणा देता है, तब वह साधक सच्चे अर्थ में भक्ति मार्ग अपनाता है और उचित ढंग से आचरण करता है । यदि कोई सही ढंग से आचरण नहीं करता, तो वह भक्ति में स्वीकार्य नहीं है क्योंकि वह व्यक्ति अभी भी अपनी निजी इच्छापूर्ति के लिए कार्य कर रहा है ।

लोगों को ऐसी प्रवृतियों को करने के लिए प्रोत्साहित करना चाहिए उदा. भोग लगाना, जप करना आदि, पर उनका उद्देश्य जानना उनके लिए बहुत आवश्यक है । कोई ये

सब सेवाएँ कर रहा है और सोच रहा है: "अब मुझे दीक्षा लेने की आवश्यकता नहीं है । मुझे गुरु बनाने की आवश्यकता नहीं है । मात्र जप करने से या अन्य धार्मिक क्रियाकलाप करने से मैं सिद्ध हो जाऊँगा ।" ऐसी मानसिकता उन्हें स्वतन्त्र बना देगी और शास्त्रादेश का अतिक्रमण करेंगे । उन्हें अभिमान होगा कि वे भक्त हैं । जो सही मार्ग पर चल रहे हैं उन की वे प्रायः आलोचना करेंगे । यह ठीक नहीं है । यह सब क्रियाएँ अनुकूल तरीके से करनी चाहिए । नहीं तो शिशुपाल और पौण्ड्रक जैसे लोग भी कृष्ण का जप करते थे, पर प्रतिकूल रीति से करते थे । उनका उद्देश्य था कृष्ण-वध । ऐसा जप साधक को कभी सहायता नहीं करता ।

गोरखपुर से कल्याण नामक एक पत्रिका प्रकाशित होती है । उसमें लोगों को जप करने के लिए सदा प्रोत्साहित करते हैं, पर लोगों को यह नहीं बताते कि उन्हें भक्ति की सही रीति अपनाना, गुरु बनाना, एवं दीक्षा लेनी चाहिए और इस मार्ग में निर्दिष्ट नियमों का सही रीति से पालन करना चाहिए । मन्त्रजप का मूल हेतु क्या है यह यदि नहीं समझाओगे तो इस प्रकार का प्रोत्साहन ठीक नहीं है । फिर तो लोगों की अपनी सांसारिक धारणा होगी और इन प्रवृतियों का उपयोग वे अपने लौकिक उद्देश्य प्राप्त करने के लिए करेंगे । यह भक्ति का उद्देश्य नहीं है । भक्ति का वास्तव में उद्देश्य है भगवान के लिए अनुकूल कार्य करना । यदि यही उद्देश्य है, तो ठीक है ।

मार्ग दो हैं: सत् और असत् - भक्ति मार्ग और लौकिक सुख का मार्ग । जैसे कि जो लोग लौकिक सुख का मार्ग अपनाते हैं, वे लोग एक विशेष दल बनाते हैं और उन्हें भी इसी मार्ग पर चलने के लिए प्रोत्साहित करते हैं । आप को भी ऐसा ही करना है और लोगों को सही मार्ग पर चलने के लिए प्रोत्साहित करना है । अन्यथा यह ज्ञान नष्ट हो जाएगा ।

******

प्रश्न: चैतन्य भागवत में यह श्लोक है:
पृथिवीते आछे यत नगरादि ग्राम ।
सर्वत्र प्रचार होईबे मोरा नाम ।। (चै.भा. अन्तलीला ४.१२६)

"इस दुनियामें जितने भी गाँव और शहर है, वहाँ मेरे नाम कीर्तन का प्रचार होगा ।" भक्त-गण इस श्लोक का यह अर्थ निकालते हैं कि एक दिन ऐसा होगा कि श्रीचैतन्य का आन्दोलन पूरी दुनिया में फैलेगा । पर जितने भी प्रयास किए गए हैं, उनमें बहुत कम लोग हैं जिनकी आपकी बताई हुई जैसी निष्ठा है । अब कैसे समझा जाय कि यह आन्दोलन विशाल जनसमुदाय के लिए है ?

उत्तर: सामान्य रूपसे जब विशाल समुदाय को उपदेश देते हैं, तो उसकी विशेष रीति होती है । एक रीति है कि सब की आलोचना करना और धर्म के नाम पर वह देना जो लोग चाहते हैं । यदि प्रचारकों का इतिहास पढ़ा होगा तो आप को ज्ञात होगा कि यही उन लोगों की असली रीति थी । इस तरह आप को बहुत सारे अनुयायी मिलेंगे, पर इसका आध्यात्मिकता से कोई सम्बन्ध नहीं होगा ।

श्री चैतन्य के उपदेश समाज के लिए बने हैं और विशाल समुदाय को लाभकारी हैं पर उनका योग्य रीति से प्रचार करना आवश्यक है । आगे जैसे बताया कि व्यक्ति को उस में निष्ठा और स्वयं उसको समझना चाहिए और फिर दूसरों को उपदेश देना चाहिए ।

उदाहरण स्वरूप, शुरू में, जब बुद्ध ने उपदेश देना शुरू किया तब अधिकतर निम्न जाति के लोग आते थे । बुद्ध ने वेदों की आलोचना की थी अतः ब्राह्मणोंने उनका अनुसरण नहीं किया । पर जब बुद्ध के पास विशाल जनसमूह हो गया, तब ब्राह्मण भी उनके पास जाने लगे । अब ब्राह्मण आए तो राजा भी जुड़ गए । जब राजा ने बौद्ध धर्म अपनाया तो पूरे गाँववालों ने भी ऐसा ही किया । एक समय ऐसा था कि सभी भारतवासी बौद्ध धर्मी थे, बादमें उस धर्म का भारत में पतन हो गया ।

येन केन प्रकारेण जनसमूह को अपनी ओर आकर्षित करो, चाहे उस जनसमूह में लोग बुद्धिमान हो या न हो । जब आप के पास विशाल जनसमूह है, फिर बुद्धिमान भी सहयोग देंगे । पर यदि आप का उद्देश्य सही नहीं है, तो ऐसी रीति काम नहीं आएगी। शिक्षा योग्य रीति से देनी चाहिए तभी उसका लाभ होगा, चाहे उसे अपनानेवाला जन-समुदाय हो या अल्प-संखक । ******

प्रश्न: क्या कृष्णनाम हर गाँव और शहर में ले जाने का अभियान एक स्वप्न है या अवास्तविक उद्देश्य है ?

उत्तर: यहाँ मूलतः रूप से दो पहलू हैं ।

१. एक है "सर्वत्र प्रचार हइबे मोरा नाम," "मेरे नाम का सर्वत्र प्रचार होगा । " ऐसा होना आरम्भ हो गया है क्योंकि प्रचार के लिए रेडिओ, दूरदर्शन, इन्द्रजाल सम्पुट आदि सुविधा है ।

२. तथापि सही अर्थ में शिक्षा को जानना, निष्ठा होना और आचरण करना सामूहिक स्तर पर सम्भव नहीं है । वह सम्भव है मात्र शिक्षा से, उसमें भी अल्पसंख्या में इसके प्रति श्रद्धा होती है और ऐसे श्रद्धालु ही उपदेश का प्रसार कर सकते हैं । सामूहिक

स्तर पर इन उपदेशों को जनसमुदाय केवल बाह्य स्तर पर ही स्वीकारते हैं। सामूहिक स्तर पर उपदेश का सार बिल्कुल भी समझ में नहीं आएगा ।

यह श्लोक ऐसा ही कुछ कह रहा है कि वह प्रचलित होगा पर हर किसी को उस में श्रद्धा नहीं होगी और उपदेश को हृदय में ग्रहण नहीं करेंगे ।

अधुना चैतन्य महाप्रभु पूरी दुनिया में प्रचार से जाने जाते हैं, तथापि जनसमुदाय को उनके उपदेश में पूर्णतः विश्वास नहीं है । आम जनता ने भी तिलक और कण्ठीमाला धारण करनेवालों पर से विश्वास खो दिया है ।

किञ्चित समयपूर्व किसी के गले में कण्ठीमाला और कपोल पर तिलक देखकर उसे सम्मान दिया जाता था । इसका अर्थ यह होता था कि यह व्यक्ति सद्भक्त, सत्यवादी, पवित्र और दयालु है, पर आज किसी को कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता । अब तो यह सब घटिया हो गया है । अनुचित प्रचार का यह परिणाम है ।

प्रचार करना आवश्यक है, नहीं तो उत्तमा भक्ति सम्पूर्णतया लुप्त हो जाएगी । यदि उसे योग्य रीति से सिखाया जाए, तो अल्प-संख्यकों में उसकी सही समझ आएगी और भगवान की शिक्षा के प्रति उनकी श्रद्धा बढ़ेगी । वह श्रद्धा के ऊपर ही आधारित होना चाहिए ।

सैन्य में सैनिकों को जो कहा जाता है वही करते हैं, पर धर्मक्षेत्र में किसीको भगवान के शब्दों पर श्रद्धा नहीं है, तथापि यहाँ समर्पण भाव सैन्य की तुलना में अधिक होना चाहिए । सैन्य में वे आदेशपालन करते हैं क्योंकि या तो उन्हें भय है या तो वेतन मिलता है, पर भक्ति में यह स्वाभाविक होना चाहिए क्योंकि उस साधक को सेवा करना अच्छा लगता है । इस तरह की श्रद्धा लोगों में होनी चाहिए । यही प्रचार का हेतु है। वैसे तो बहुत प्रचार होता है, पर अति कठिनाई से एक व्यक्ति ऐसा ढूँढ पाएँगे जो श्री चैतन्य महाप्रभु की शिक्षा के प्रति सच्चा हो । ******

प्रश्न: इस शिक्षा को प्रत्येक व्यक्ति तक पहुँचाने का दायित्व भक्तों का होगा, पर यह जनसमुदाय पर आधारित रहेगा कि वे इस शिक्षा को स्वीकारें ।
उत्तर: मैं वही तो कह रहा हूँ । उपदेश देना चाहिए और जनसमुदाय उसे स्वीकारें या नहीं वह उन पर निर्धारित है । पर उसे योग्य रीति से देना चाहिए । ******

प्रश्न: आप ने यह विशाल पुस्तकालय कक्ष बनाया है । इस पुस्तकालय के पीछे क्या योजना, इच्छा और दृष्टिकोण था ?

उत्तर: श्रीचैतन्य महाप्रभु आए और कुछ ज्ञान या शिक्षा दी और गोस्वामियों ने उनकी शिक्षा पर साहित्य लिखा । इस पुस्तकालय का मुख्य उद्देश्य है उनकी शिक्षाओं की रक्षा करना और जनसमुदाय को भी इस बात से अवगत कराना ।

पुस्तकालय है साहित्य की रक्षा करने के लिए ताकि लोग उसे पढ़ सके । पुस्तकें मात्र संग्रह के लिए नहीं है, किन्तु ज्ञानवितरण के लिए भी है । गोस्वामियों की पुस्तकों की रक्षा करनी होगी और उसका प्रचार भी करना होगा, नहीं तो वह लुप्त हो जाएँगी ।

******

२७. उपदेशामृत

प्रश्न: श्रीरूप गोस्वामी उपदेशामृत के प्रथम श्लोक में लिखते हैं:
"एक धीर व्यक्ति जो वाणी का वेग, मन की लालसाएँ, क्रोध का आवेग एवं जिह्वा, पेट और जननेंद्रिय के वेग को नियन्त्रण में रख सकता है, वह सारे विश्व में शिष्य बनाने के लिए योग्य है ।" (बी.बी.टी अनुवाद)
इस ग्रन्थ का क्या प्रयोजन है एवं आरम्भ में इस श्लोक का उद्देश्य क्या है ?

उत्तर:
वाचो वेगं मनसः क्रोध-वेगं जिह्वा-वेगं उदरोपस्थ-वेगं ।
एतान् वेगान् यो विषहेत धीरः सर्वामपीमां पृथ्वीं स शिष्यात् ।।
(उपदेशामृत श्लोक १)

यह श्लोक पूरे विश्व में शिष्य बनाने की बात नहीं कर रहा है । इसका अर्थ है कि वह सारे विश्व में अनुशासन कर सकता है । जो अपनी इन्द्रिय-निग्रह कर सके, वही दूसरों को अनुशासित कर सकता है या निर्देश दे सकता है । यही इस श्लोक का अर्थ है क्योंकि उसने अपने आप को अनुशासित किया है, वह अन्य सभी को अनुशासित कर सकता है और निर्देश[4] भी दे सकता है । ******

---

[4] इस श्लोकमें शिष्यात् क्रियापद शास् धातु से बना है जिसका अर्थ होता है अनुशासन करना या निर्देश देना ।

प्रश्न: मैं ने एक पत्रिका में पढ़ा था कि जगन्नाथपुरी में श्रीचैतन्य महाप्रभु ने सब से पहले उपदेशामृत उच्चारित किया था जब एक मछवारे ने उनको जाल में फंसे पाया और बाद में भक्तों ने उन्हें पाया ।

उत्तर: यह सब मूढों की कल्पना है । आप बुद्धि से सोचो । श्रीमहाप्रभु महासागर में डूब गए क्योंकि वे कृष्ण के विचारों में तल्लीन थे । वे महाभाव में थे और लौकिक चेतना पूरी तरह खो चुके थे, नहीं तो वे क्यों महासागर में कूदते ? उन्हें भास हुआ कि यह महासागर यमुना नदी है । जब उन्हें जाल में फंसे पाया गया, तो उन्हें वापस ले आए, परन्तु लम्बे समय तक वे लौकिक चेतना में वापस नहीं लौटे ।

अब हम सुनते हैं कि सहसा उन्होंने उपदेश देना शुरू कर दिया । मनगढ़ंत कहानी और दिए हुए निर्देश में कुछ सुसङ्गतता तो होनी चाहिए । सब से पहले, उपदेशामृत भौतिकवादी, बहिर्मुख लोगों के लिए बनाया हुआ एक ग्रन्थ है । यह भक्तों के लिए नहीं बनाया है, जो अपने मार्ग पर सुदृढ हैं । ऐसे भक्तों को अनुदेशों की कोई आवश्यकता नहीं है । जो महाप्रभुजी के परिकर हैं उनके विषय में तो कहना ही क्या। उन्हें तो सुनिश्चितया ऐसे निर्देश की कोई भी आवश्यकता नहीं है । उपदेशामृत भक्ति के लिए जिज्ञासु व इच्छुक साधकों के लिए है जिन को भक्ति के विषय में ज्ञान मिले। तो सहसा उन्होंने सबको इस प्रकार निर्देश देना आरम्भ कर दिया ऐसा कैसे हो सकता है? यदि श्रीमहाप्रभु कुछ उपदेश देना चाहते तो वे राधाकृष्ण की लीलाओं के विषय में कहते क्योंकि उस समय वे उस महाभाव में थे । कोई भी व्यक्ति ऐसे विषय में सहसा नही बोलता जो उसके मन में नही है । उदाहरण, (शीतकालमें) यमुना में आप स्नान करके ठण्ड से काम्पते हुए सहसा धर्मोपदेश नहीं करोगे ।

आप के पास मुख है तो आप कुछ भी बोल सकते हो । यदि महाप्रभुजी के साथ ऐसा कुछ हुआ होता तो उसका वर्णन उनकी आत्मकथा चैतन्य चरितामृत में अवश्य किया होता । हमने ऐसा कहीं भी पढ़ा नहीं है । इस कथन का कोई अर्थ ही नहीं निकलता है । श्रीरूप गोस्वामी ने क्यों इस विषय में उल्लेख नहीं किया ? रूप गोस्वामी महाप्रभुजी के शब्दों को चुरा कर उस पर अपनी मुहर लगाने का प्रयत्न नहीं कर रहे हैं ।

******

प्रश्न: रूप गोस्वामी का उपदेशामृत लिखने का क्या तात्पर्य था, क्योंकि अभी आपने बताया कि वह सांसारिक लोगों के लिए है ?

उत्तर: हाँ, आप उन लोगों को उपदेश देते हो, जो सांसारिक है तथा भक्ति के लिए इच्छुक हैं । एक भक्त जिसने गुरु की शरण ली है और जो गुरु की शिक्षा का पालन

करता है उसे यह सुनने की आवश्यकता नहीं है कि, "लौकिक जन के साथ सङ्ग न करो ।" उसे इस उपदेश की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह इस उपदेश का पालन कर ही रहा है ।

******

प्रश्न: क्या उपदेशामृत किसी विशेष भक्त के लिए लिखा गया है ?

उत्तर: यह उन लोगों के लिए लिखा गया है जो भक्ति के आध्यात्मिक मार्ग को अपनाने के लिए इच्छुक हैं ।

******

प्रश्न: प्रथम श्लोक का क्या अर्थ है जिस में कहा है कि जो अपने मन को वश कर सकता है वह पूरे जगत को उपदेश दे सकता है और उपदेशामृत मात्र ऐसे व्यक्ति के लिए है ।

उत्तर: आप ऐसा क्यों कहते हैं कि शेष ग्रन्थ केवल ऐसे व्यक्ति के लिए है ? प्रथम श्लोक मात्र यह कहता है कि यदि आप इन्द्रिय-निग्रह कर सकते हो तो दूसरों को भी नियन्त्रण में रख सकते हो और उन्हें अनुशासित भी कर सकते हो ।

******

प्रश्न: चौथा श्लोक लेन देन के विषय में शिक्षा देता है । परन्तु यदि हमें गुरु से प्रसाद मिले, जैसे कि फलादि, तो क्या यह अनुचित सेवा नहीं है ?

उत्तर: प्रश्न किस दृष्टिकोण से पूछा गया है यह आप को पहले देखना होगा । क्या यह प्रश्न कर्म के सन्दर्भ में पूछा गया है जहाँ व्यक्ति को कुछ पाने की लालसा है ? क्या प्रश्न योग को ध्यान में रख कर पूछा गया है जहाँ परमात्मा के प्रति मन स्थिर करने के सिवा और कुछ नहीं करने की बात है ? क्या वह ज्ञान मार्ग से संलग्न प्रश्न है जहाँ वह परमतत्त्व में विलीन होना चाहता है ? या फिर भक्ति के स्तर से पूछा गया है जहाँ स्वामी और सेवक के मध्यमें विशिष्ट सम्बन्ध है ?

आप जिस प्रकार की विचारधारा कह रहे हैं, वह भक्ति में नहीं होती, अन्य मार्ग में होती है । अन्य मार्ग में व्यक्ति केवल अपने स्वार्थ के लिए सोचता है, परार्थ नहीं सोचता है । परन्तु जहाँ ममत्व है, वहाँ अवश्य आदान-प्रदान होता है । यही बात यह श्लोक समझाता है । फिर भी, जहाँ सम्बन्ध नहीं है, वहाँ आप ने जैसे बताया, व्यक्ति इसी प्रकार ही सोचेगा ।

जैसे लौकिक सम्बन्ध में विनिमय होता है, उसी प्रकार अलौकिक सम्बन्ध में भी आदान-प्रदान होता है । जो सोच आप ने बताई वह प्रीति के सम्बन्ध में नहीं होती । इसलिए

आप को यह देखना होगा कि किस दृष्टिकोण से प्रश्न पूछा गया है क्योंकि श्लोक स्वयं यह कहता है कि आप आदान प्रदान करो ।

२८. उपाधि

प्रश्न: नारद पञ्चरात्र (ना.प.) के एक श्लोक में लिखा है कि हमें सभी उपाधियों का त्याग करना चाहिए । व्यावहारिक रूप से हम कैसे सभी उपाधियों का त्याग कर सकते हैं? हमारे पास कौनसी उपाधियाँ होनी चाहिए और इस जगत में हमें किस तरह कार्य करना चाहिए ?

उत्तर:

सर्वोपाधि विनिर्मुक्तं तत्परत्वेन निर्मलम् ।
हृषीकेण हृषीकेश-सेवनं भक्तिर् उच्यते ।। (ना.प.)
"सभी उपाधियों से मुक्त होकर और कृष्ण को समर्पित होकर पवित्र हृदय से अपनी इन्द्रियों से की गई सेवा को भक्ति कहते हैं ।"

सर्व प्रथम तो आप को उपाधि का अर्थ समझना होगा । उपाधि को छोड़ना अर्थात् मूल तत्त्व और उस से संलग्न उपाधि के बीच का भेद जानना । उदाहरण स्वरूप, देह की बात करें तो दो वस्तु हैं: आत्मा और जड़ पदार्थ । यह दोनों वस्तु भिन्न-भिन्न हैं । जीव-तत्त्व देह नहीं है । देह जीव-तत्त्व से अलग है और एक आवरणरूप में उपाधि की तरह काम करता है या वह करने के लिए विवश है । यह भेद करना ही होता है। देह को नहीं छोड़ा जा सकता है । देह आध्यात्मिक अभ्यास करने का एक साधन है। जब ऐसा कहते हैं कि आप उपाधि छोड़ दो, तो इसका अर्थ होता है आप अपने देह सम्बन्धित आसक्ति और उसके प्राधान्य का त्याग करो । त्याग का यह अर्थ है । आप अपना देह और उसके परिग्रह का त्याग न करो, परन्तु उस में आसक्ति का त्याग करना है । अतः हमें यह समझना चाहिए कि हम देह नहीं है और इस देह का उपयोग सेवा में करना चाहिए । इस श्लोक (ना.प.) का सरल अर्थ वही है जो अन्याभिलाषिता शून्यं का है अर्थात् "सभी अभिलाषाओं से मुक्त हो जाओ," (भ.र.स. १.१.११)। यह श्लोक (ना.प.) भी यही कहता है, हृषीकेण हृषीकेश-सेवनं भक्तिर् उच्यते - "अपनी इन्द्रियों से कृष्णसेवा करने को ही भक्ति कहते हैं ।" जब आप किसी की सेवा करना चाहते हो, तो पहले आप को उस व्यक्ति को अधिकारी-रूप में स्वीकार करते हो, अर्थात् आप उस व्यक्ति को प्राधान्य देते हो, अपनी प्रतिष्ठा या उपाधि को नहीं ।

यदि आप अपनी प्रतिष्ठा को महत्त्व देंगे तो आप सेवा नहीं कर पाएँगे । सब कुछ पूर्ववत् ही रहता है किन्तु इस श्लोक के अनुसार देहादि उपाधियों का भगवत्सेवा में

उपयुक्त करना होता है । त्याग देना शाब्दिक अर्थ में नहीं है, परन्तु उसका अर्थ होता है आसक्ति और उपाधि के मोह को छोड़ना है जैसे कि श्रीमद् भागवत का १.५.३३ श्लोक कहता है:

आमयो यश्च भूतानां जायते येन सुव्रत ।
तदेव ह्यामयं द्रव्यं न पुनाति चिकित्सितम् ।। (भा. १.५.३३)

"हे सुव्रत, जो द्रव्य आमय (रोग) उत्पन्न करता है वही द्रव्य जब चिकित्सक द्वारा औषधि के रूप में लिया जाय तो वही रोग का निवारण करता है ।"

जिस कारण से रोग होते हैं, यदि उसे ही औषधि के रूप में लिया जाय तो वही रोग के निवारण का कारण बन सकता है । उपाधि होना भी एक रोग है क्योंकि वह लौकिक जीवन में एक बन्धन है । यदि इस उपाधि का उपयोग भगवत्सेवा में आप सही रीति से करते हैं तब वह रोग निवारण का उत्तम साधन बन जाता है । मूल उद्देश्य यह है कि उपाधि को नहीं त्यागना है, पर भावना में परिवर्तन करना है । आप पूर्ववत् ही कार्य करोगे, परन्तु उस में अपने गुरु और भगवान को प्रसन्न करने का भाव होगा । उदाहरण स्वरूप, आप भोजन पकाते हो ताकि आप भोजन कर सकते हो, पर जब आप एक भक्त की तरह भोजन पकाते हो तो उस में यह भाव होता है कि आप अपने लिए नहीं, परन्तु भगवान के लिए भोजन पकाते हो और भगवान को सर्व प्रथम अर्पण करोगे । भगवान को अर्पण करने के बाद आप उस भोजन को प्रसाद रूप में ग्रहण करोगे । वस्तुतः, कार्य में कोई परिवर्तन नहीं है, बदलना है मात्र आप का भाव और यही परिवर्तन आप को लौकिक से अलौकिक स्तर पर ले जाता है ।

******

२९. एकादशी

प्रश्न: एकादशी के दिन हम अन्न क्यों नहीं खाते हैं ? मैं ने इस प्रश्न का ऊत्तर कभी नहीं सुना ।

उत्तरः एकादशी के दिन समस्त पाप अन्न में प्रवेश करते हैं अतः इस दिन हम अन्न नहीं खाते हैं । यह शारीरिक और मनोवैज्ञानिक स्वास्थ्य के लिए भी अच्छा है कि हर पन्द्रह दिन में एक दिन हम अन्न न खाएँ ।

एकादशी के दिन श्रेष्ठ भक्त पूर्णतः निर्जला व्रत रखते हैं । वे भगवान के प्रेम अनुभव में इतने मग्न हो जाते हैं कि वे उस दिन खाते, पीते और सोते भी नहीं हैं । इसका

कारण श्री कृष्ण का स्मरण करना है । यदि कोई श्री कृष्ण का स्मरण करना चाहता है तो उसे कुछ भी खाने पीने में संयम बरतना चाहिए । किन्तु बच्चे, गर्भवती स्त्री, बीमार या वृद्ध व्यक्ति और जो अम्ल (acidity) रोग से पीड़ित हैं उन्हें निर्जला व्रत नहीं करना चाहिए । निर्जला व्रत उन्हीं के लिए है जो उसे करने में समर्थ है ।

इस दिन आप फल, सब्ज़ी, सूखे मेवा (बादाम, मूँगफली इत्यादि), मूलादि का हल्का भोजन ग्रहण कर सकते हैं, ताकि आप श्री कृष्ण का स्मरण करने के लिए समर्थ रहें। यदि कोई निर्जला व्रत रखता है और फिर कमज़ोरी के कारण पूरा दिन सोता है तो वह ठीक नहीं है और खान पान के समय के बारे में भी नहीं सोचना चाहिए । पूर्ण निर्जला व्रत आपकी सेवा में बाधक नहीं होना चाहिए । अन्यथा, पूर्ण व्रत के बदले हल्का फलाहार करना चाहिए ।

****

प्रश्न: एकादशी के दिन क्या हम विग्रह के लिए अन्न पाक कर सकते हैं ?
उत्तर: आप राधा-गोविन्द विग्रह को अन्न-भोग प्रदान कर सकते हो । श्री कृष्ण एकादशी व्रत का अनुपालन नहीं करते हैं । दूसरे दिन यह अन्न महाप्रसाद बाँटना चाहिए । किन्तु गदाधर ग़ौर एक भक्त बनकर अन्य भक्तों में उदाहरण स्थापित करने के लिए निर्जला व्रत रखते हैं ।

******

प्रश्न: एकादशी के बाद प्रातः काल में यदि कोई (निर्जला) व्रत पारण निर्धारित समय के पहले पानी पी ले तो क्या ऐसा माना जाता है कि उसने एकादशी व्रत का पालन ठीक से नहीं किया है ? उसे क्या करना चाहिए ? स्वास्थ्य के कारण यदि कोई जल से व्रत नहीं कर सकता है, तो क्या किया जाय ?
उत्तर: यदि आप निर्जला व्रत नहीं कर रहे हैं तो स्वस्थ रहने के लिए शारीरिक आवश्यकता अनुसार जल पीना चाहिए । तात्पर्य यह है कि उस दिन खाने पीने की मात्रा कम करनी चाहिए और शरीर की आवश्यकता के अनुसार ही ग्रहण करना चाहिए।

दूसरे दिन प्रातः काल में निर्धारित समय पर कुछ खा कर अथवा पानी पीकर व्रत पारण करना चाहिए । जल पीकर व्रत को तोड़ भी सकते हैं या नहीं भी तोड़ सकते। वह आप की भावना पर निर्भर करता है । "मैं व्रत पारण करना चाहता हूँ", यदि आप इस भावना से व्रत पारण करते हैं, तो व्रत पारण हो जाता है, अर्थात् व्रतपूर्ण हो गया है । जो लोग निर्जला करते हैं, तो एकादशी में चरणामृत लेने से व्रत-पारण नहीं मानते, किन्तु दूसरे दिन चरणामृत से व्रत पारण कर सकते हैं । ******

प्रश्न: वैष्णव पञ्जिका और एकादशी के लिए क्या हमें आप की पञ्जिका का अनुसरण करना चाहिए अथवा क्या कोई दूसरा विकल्प है ?
उत्तर: यह पञ्जिका विशेषकर वृन्दावन के (समयानुसार) तैयार की गई है । दुनिया में आप जहाँ भी हैं, उस स्थान के अनुसार ही व्रत का पालन करना चाहिए । ......

प्रश्न: क्या हमें इस्कॉन निर्मित पञ्जिका का अनुसरण करना चाहिए ?
उत्तर: हाँ, यदि उस स्थान के लिए बनायी गई है तो उसका पालन करना चाहिए ।[5]

......

प्रश्न: किन्तु कभी कभी इस्कॉन उस प्रकार गिनती नहीं करते हैं, जिस प्रकार आप करते हैं ।
उत्तर: आप को स्थानीय पञ्चाङ्ग का समय देना होगा, तब आप बतायेंगे कि वह सही है या ग़लत । इसके अलावा अन्य कोई तरीक़ा नहीं है, जब तक कोई यह न जानता हो कि गणना कैसे की जाती है । ******

प्रश्न: अर्थात् वृन्दावन और जहाँ हम हैं उस स्थान के पञ्चाङ्ग की गिनती में भेद है कि नहीं उसकी हमें क्या जाँच करनी चाहिए ?
उत्तर: नहीं, वृन्दावन के साथ उसकी तुलना नहीं करनी चाहिए । गणना उस स्थान के समय पर आधारित होती है । यहाँ तक कि यदि उस स्थान में व्रत की तारीख़ वृन्दावन में व्रत की तारीख़ से भिन्न हो तो भी सही हो सकती है, और यदि दोनों स्थान में व्रत का दिन एक ही दर्शाए, तो भी वह ग़लत भी है सकता है । ......

प्रश्न: क्या किया जाय ? क्या आप को सभी स्थानों का, जहाँ हम निवास करते हैं, वहाँ की भी गणना करनी पड़ेगी ?
उत्तर: बस यही एक तरीक़ा है । ......

प्रश्न: यहाँ लगभग बारह शहर (के अनुयायी) हैं, तो कैसे सम्भव है ?
उत्तर: इसका हल नहीं है क्योंकि अधिकांश लोग गणना करना नहीं जानते हैं अथवा वे स्मार्त पद्धति का उपयोग करते हैं । कुछ साधु बङ्गला पञ्जिका के अनुसार गणना

---

[5] यहाँ महाराज केवल एकादशी तारीख़ का संकेत कर रहे हैं, न कि दूसरे वैष्णव व्रतों के दिन और समय के बारे में बताते हैं । एकादशी एवं पारण का निर्णय स्थानीय सूर्योदय एवं सूर्यास्त पर निर्भर होता है ।

करते हैं । पर यह ठीक नहीं है क्योंकि बङ्गला पञ्चाङ्ग वृन्दावन और राधाकुण्ड में लागू नहीं होता । कुछ लोग बनारस समय का पालन करते हैं । अधिकांश लोगों ने हरिभक्ति विलास का अध्ययन नहीं किया है इसलिए वे ग़लतियाँ करते हैं । केवल इसी कारण हम ने पञ्जिका बनाना प्रारम्भ किया था । आरम्भ में इन लोगों ने ख़ूब विरोध किया था, पर अब इस में बदलाव आया है ।

******

प्रश्नः क्या वैष्णव और स्मार्त की गणना प्रक्रिया में भिन्नता होने के कारण विरोध होता था ?
उत्तरः हाँ ।

******

प्रश्नः ऐसा सूचित किया गया है कि व्यक्ति को एकादशी के दिन श्राद्ध नहीं करना चाहिए । इसका क्या अर्थ है ?
उत्तरः श्राद्ध एक विधि है जो पूर्वजों के लिए निभायी जाती है । वह श्रद्धा नहीं, पर श्राद्ध है ।

******

प्रश्नः हाँ, पर एकादशी के दिन श्राद्ध क्यों नहीं किया जाता ?
उत्तरः श्राद्ध में पिण्ड दान समर्पित करते हैं, जो अन्न का बना होता है । वैष्णवों के लिए एकादशी के दिन अन्न ग्रहण करना निषेध है । वे ऐसा सोचते हैं कि पूर्वज वैष्णव हों तो समर्पण स्वीकार नहीं करेंगे । अतः एकादशी के दिन यह विधि (श्राद्ध) नहीं करते हैं ।

******

३०. कपट / धोखा

प्रश्नः कपट का क्या अर्थ है ? क्या इसका अर्थ गुरु और कृष्ण को प्रसन्न करने की अपेक्षा कोई दूसरा हेतु है, अथवा यह अर्थ है कि कोई अपने ही वास्तविक उद्देश्य को छिपा रहा है ?
उत्तरः चाहें आप उसे छिपाओ या न छिपाओ, पर गुरु और कृष्ण को प्रसन्न करने के अलावा ओर कोई निजी उद्देश्य रखना कपट है । यदि आप अपना वास्तविक उद्देश्य छिपाते हैं तो आप दुगुने धोखेबाज़ हैं ।

******

प्रश्नः मैं कपटता से कैसे मुक्त होऊँ ?
उत्तरः बस उसे छोड़ दो । कई लोग पूछते हैं, “मैं झूठ बोलता हूँ; मैं इससे कैसे बचूँ?” इसका उत्तर है, झूठ मत बोलो । कपट-वृत्ति शरीर के साथ तादात्म्य (शारीरिक लगाव) से आती है, अतः इस लगावका त्याग करो ।

******

प्रश्न: क्या यह (कपट-वृत्ति) निर्मलीकरण प्रक्रिया के समय आती है ?
उत्तर: यह एक शोधन प्रक्रिया है । शोधन क्या है ? दीक्षा लेना अर्थात् वास्तविक स्वरूप को समझना, अन्यथा, आप शरीर के साथ तादात्म्य स्थापित करते हैं ।......

प्रश्न: क्या यह साधक क्रमशः करता है ?
उत्तर: वह आप पर निर्भर है । ठीक जैसे कोई व्यक्ति अपनी धूम्रपान की आदत को एक पल में छोड़ सकता है इस निश्चय से कि, "मैं अब धूम्रपान नहीं करूँगा" या फिर धीरे धीरे छोड़ सकता है । यह व्यक्ति पर निर्भर करता है । ******

प्रश्न: क्या यह क्षमता श्रद्धा पर निर्भर करती है ?
उत्तर: हाँ, अवश्य, यदि आप समझ रखते हैं तो । कपट-वृत्ति अज्ञानता से आती है । यदि आप (उपयुक्त) समझदारी रखते हैं, तब आप की अज्ञानता दूर होगी । इसके बाद यदि आप चाहें तो आप इसे छोड़ देंगे अथवा कम से कम ऐसा करने के लिए आप प्रयत्नशील रहेंगे । ******

प्रश्न: कपट करने की मानसिकता को रोकने के लिए क्या करना चाहिए ?
उत्तर: यह ठीक वैसा है जैसे मैं आप से कहूँ कि झूठ मत बोलो । फिर आप मुझे पूछेंगे, "मैं कैसे झूठ बोलना छोड़ दूँ ?" बस यही पर्याप्त है कि झूठ मत बोलो । सत्यवादी बनो ।

कपट के विषय में भी कुछ ऐसा ही है । कपट का अर्थ है सत्यवादी नहीं होना । व्यक्ति स्वयं यह जानता है कि वह सत्यवादी है या नहीं । ऐसा नहीं है कि ईमानदार और सत्यवादी बनने के लिए अलगसे कुछ करना होता है । ******

प्रश्न: श्री कृष्ण ने द्रोण, भीष्म, कर्ण, या दुर्योधन जैसे योद्धाओं का वध क्षत्रिय नियमों के अनुसार होने के बदले अन्यायर्पूण तरीको से क्यों होने दिया ?
उत्तर: अधार्मिक लोगों का पराजित होना और धर्म की स्थापना होना आवश्यक है । यही श्रीकृष्ण का उद्देश्य है । यदि अधर्मियों को ग़लत और कपटपूर्ण रीत से दूर करना पड़े तो ऐसा करने में कोई बुराई नहीं है क्योंकि अधर्मी व्यक्ति हर समय अन्यायपूर्ण साधनों का प्रयोग करते हैं । यदि धार्मिक सिद्धान्त उनकी कार्यसिद्धि के योग्य न हों तो ऐसे सिद्धान्तों की वे परवाह भी नहीं करते । यदि सदाचारी को धार्मिक सिद्धान्तों के पालन के समय ऐसे लोगों का विरोध करना हो तो ऐसे लोगों को पराजित करना

उनके लिए असम्भव होगा । यदि ऐसे लोगों को पराजित न किया जाय तो वे धर्म के साथ साथ धार्मिक लोगों को भी नष्ट कर देंगे । कौरवों ने कपट से पाण्डवों के राज्य को हड़प लिया था । सीधे युद्ध करके या कपट से ग़लत हाथों में रहे इस राज्य को फिर से पाना था । श्रीकृष्ण ने बस यही किया था ।

युद्ध से पूर्व श्रीकृष्ण कौरवों के पास शान्तिदूत बनकर गए थे और कौरवों से पाण्डवों को राज्य वापिस करने के लिए कहा था । कौरवों ने पाण्डवों के राज्य को बलपूर्वक अपने पास रखा था और युद्ध-विराम सन्धि के लिए सहमत नहीं होते थे क्योंकि कौरव युद्ध करना चाहते थे इसी कारण पाण्डवों को ज़बरन युद्ध करना पड़ा और येन केन प्रकारेण कौरवों को मारना पड़ा । दण्ड से और बिना दण्ड से उन्होंने राज्य वापस ले लिया । कौरव बगैर युद्ध के राज्य लौटाने के लिए राजी नहीं हुए । अतः उनके पास उन्हें मारने के सिवाय ओर कोई उपाय ही नहीं था ।

दूसरी बात यह है कि सामान्यतः लोग श्रीकृष्ण के दर्शन करना चाहते हैं । सभी कौरवों ने श्रीकृष्ण को देखा था, किन्तु उन्हें देखकर किसी का भी हृदय परिवर्तन नहीं हुआ था । अतः श्रीकृष्ण का मात्र दर्शन महत्त्वपूर्ण नहीं है । महत्त्वपूर्ण है, उन्हें समझना ।

******

प्रश्न: यदि कोई हमें धोखा देता है, तो बदले में क्या हम भी धोखा दे सकते हैं ?
उत्तर: यदि उसने आपका अधिकार छीना है तो कम से कम आप अपने अधिकार वापस ले सकते हो । आप को धोखाधड़ी करने की आवश्यकता नहीं है । यदि कोई आपके घर को हथियाता है, तो आप उसे धोखे से भी वापस प्राप्त कर सकते हैं ।

******

३१. करुणा - दया

प्रश्न: शिष्य बद्धजीव होते हुए प्राकृतिक गुणों के प्रभाव के नीचे है वह कैसे सद्-गुरु को पहचान पाए ?
उत्तर: एक सामान्य व्यक्ति सद्-गुरु को नहीं पहचान सकता । ऐसा ईश्वर की कृपा से होता है जो अकारण है । ईश्वर-कृपा से वह सत्पुरुष के सम्पर्क में आने के लिए प्रोत्साहित होता है । आप कार्य करो, ईश्वर फल देता है और उस पर आप का कोई नियन्त्रण नहीं है ।

वास्तव में सभी आवश्यक चीज़ें उनके नियन्त्रण में हैं, यद्यपि लोग सोचते हैं कि वे स्वतन्त्र हैं । जन्म कहाँ होगा, मृत्यु कब होगी, किस से मिलोगे, कार्य का फल कैसा

होगा आदि ईश्वर के नियन्त्रण में है । जब उनकी इच्छा होती है कि आप के संसार का अन्त हो, तद् पश्चात् ही साधु सङ्ग या सत्सङ्ग मिलता है । इस विषय में आप की रुचि और जिज्ञासा बढ़े उसके लिए उनसे प्रेरणा मिलती है । ईश्वर ऐसी कृपा करेंगे और यदि आप इस सुयोग का लाभ लेंगे तो वे अधिक प्रेरणा और कृपा बरसाएँगे । यदि इस का दुरुपयोग होगा तो संसार में भटकते ही रहोगे । अन्यथा सद् गुरु को पहचान ने की क्षमता किसी में नहीं है । यह यदृच्छया, ईश्वर आयोजन से ही होता है जिसका कोई भी कारण नहीं है । ******

प्रश्न: कभी कभी हम शास्त्र में सुनते हैं कि अच्छे भाग्य के कारण साधक श्रीमद् भागवत सुन सकता है । अच्छे भाग्य का अर्थ क्या होता है ? इसका अर्थ क्या यह होता है कि वह भाग्यशाली है और अन्य नहीं है ?
उत्तर: अच्छा भाग्य अर्थात् किसी को सुष्ठु अवसर (या अच्छा संयोग) मिलता है ।

******

प्रश्न: क्या इसका अर्थ यह है कि किसी को मौक़ा मिले और अन्य को नहीं ?
उत्तर: हाँ, स्वाभाविक है । यदि सब का ऐसा भाग्य है तो सभी को यह मौक़ा मिलेगा। अच्छा भाग्य ईश्वर की कृपा है । यदि लौकिक दृष्टि से यह बात करते हो तो लॉटरी का लगना अच्छा भाग्य कहलाएगा । भक्ति में अच्छा भाग्य अर्थात् आप भक्ति के प्रति उत्सुक होगें ।

******

प्रश्न: क्या हम यह कहेंगे कि जिस परिस्थितियों में हम स्वयं को पाते हैं वह कृष्ण की व्यवस्था के कारण है या यह ऐसी परिस्थितियाँ हैं जहाँ गुरु हमें विशेष कुछ दिखाते हैं?
उत्तर: जो ईश्वर के आदेशों का पालन नहीं करते हैं वे अपनी परिस्थितियों को ईश्वर की व्यवस्था या कृपा नहीं कह सकते हैं । यदि इसी प्रकार सोचोगें तो कोई भी सही मार्ग पर चलने का प्रयास ही नहीं करेगा । कृष्ण धर्म को स्थापित करने और अधर्म का नाश करने के लिए आते हैं । यदि अधर्म है तो ऐसा नहीं सोचते कि, "यह भी कृष्ण की ही व्यवस्था है," और फिर आत्म-सन्तुष्ट बनकर सही मार्ग पर चलने का प्रयास न करना ।

आप यदि कुछ सत्, न्याय परायण, या धार्मिक नहीं है तो इसे केवल भगवान की व्यवस्था नहीं ले सकते । लोग ग़लत काम करते हैं और उनसे फिर बहुत लगाव हो जाता है, ठीक उसी प्रकार यदि ईश्वर प्रेरणा से प्रेरित हो तो अच्छे कार्य करने का प्रयत्न करना चाहिए । वह कृष्ण की कृपा है । ऐसा नहीं है कि किसी को ग़लत कार्य

करने की प्रेरणा मिले और यह सोचे, "ओह! यह भगवान की कृपा है ।" इसे भगवान की कृपा नहीं कहते । वह ज्ञान देते हैं और वस्तु को समझने और आचरण करने की बुद्धि और स्वतन्त्रता भी दी है । स्वयं आप को ही सचेत प्रयत्न करके उसका पालन करना है । आप यदि भगवान के आदेशों का पालन करने में असमर्थ हैं तो उसके लिए उन का दायित्व नहीं ठहरा सकते । ऐसा सोचना ही ग़लत है ।

******

प्रश्न: क्या शास्त्र में कृपा सिद्ध और साधना सिद्ध जैसा कुछ है ? उनका क्या अर्थ होता है ?

उत्तर: यह दोनों विभाग शास्त्र में दिखाए हैं । उदाहरण स्वरूप, साधना से ध्रुव महाराज सिद्ध हुए किन्तु शुकदेव और बलि महाराज को कृपा प्राप्त हुई और वे सिद्ध हुए ।

******

प्रश्न: मैं ने कुछ लोगों को कहते सुना है, "साधक को यदि गुरु कृपा प्राप्त होती है तो उसे साधना करने की आवश्यकता नहीं है और फिर भी वह सिद्ध हो सकता है ।" क्या यह समझ सही है ?

उत्तर: कृपा सिद्ध का यही अर्थ होता है; कृपा प्राप्त हुई और सिद्ध बन गये ।

******

३२. कर्म

प्रश्न: अग्नि जो कर्म को नष्ट करती है, क्या वह ज्ञानाग्नि है ?

उत्तर: ज्ञान या भक्ति । एक भक्त ज्ञान और भक्ति में कोई भेद नहीं देखता क्योंकि यह ज्ञान भक्ति सम्बन्धित होता है । ज्ञानाग्नि अन्य लोगों के लिए है, जैसे कि ज्ञानी के लिए।

******

प्रश्न: क्या ज्ञान कर्म को जला कर राख कर देता है: भगवद् गीता का श्लोक ४.३७ ज्ञानी के लिए है ?

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।। (गी. ४.३७)

"हे अर्जुन, जैसे प्रज्वलित अग्नि इन्धन को राख कर देता है, ठीक उसी तरह ज्ञानाग्नि भी सभी कर्मों को राख कर देती है ।"

उत्तर: हाँ । ज्ञान-मार्ग और भक्ति-मार्ग के साधक में अन्तर है । भक्त सम्पूर्ण-तया कर्म से मुक्त रहता है क्योंकि वह भगवान को समर्पित है । उसके लिए कर्म संचय करने का कोई आधार ही नहीं है ।

एक निष्ठावान ज्ञानी जो सोचता है कि वह ब्रह्म है तब वह कोई नए कर्म सञ्चित नहीं करता है क्योंकि उसके इस तरह के मनोभाव से वह कर्म से मुक्त हो जाता है । वह कभी काम्य कर्म, नित्य कर्म और नैमित्तिक कर्म नहीं करेगा, जिस से उसके नए कर्मफल सञ्चित नहीं होंगे । ज्ञानी ने भूतकाल में जितने भी कर्म किए हैं उनका नाश होना आवश्यक है । अपने सभी कर्मफल को भुगतने के बाद ही उसे मुक्ति मिलती है। यह भी सम्भव है कि उसे अपने इस जन्म में सभी कर्मफल पूर्ण न कर पाने के कारण उसे कदाचित् दूसरा जन्म लेना पड़े । यही भेद है । केवल भक्ति में कर्मों का सम्पूर्ण नाश होता है, बिल्कुल वैसे जैसे अग्नि इन्धन को पूर्णतया जला कर राख करती है । इसका वर्णन भक्तिरसामृतसिन्धु ग्रन्थ के पूर्व विभाग में किया गया है ।

ज्ञान-मार्ग में वे समर्पित नहीं होते हैं परन्तु स्वतन्त्र होते हैं । वे स्वतन्त्र होते हैं, इसलिए अपने कर्म से मुक्ति नहीं पाते हैं । अपने ज्ञान के कारण वे अधिक कर्म नहीं करेंगे, परन्तु उन्होंने जो कुछ भी किया है, उसका फल तो उन्हें भुगतना ही पड़ता है।

श्रीमद् भागवत में भी कहा है कि जो जीवनमुक्त हैं वे यदि भगवान का अनादर करें तो उनकी भी अधोगति होगी । अधोगति होना अर्थात् उनकी सांसारिक वासनाओं का फिर से उद्भव होना । भक्ति में ऐसा नहीं होगा । यदि ऐसी इच्छा कभी कभार जाग्रत होगी तो मात्र उन लोगों की जिनका मन दृढ़ नहीं है । भक्ति-मार्ग में संसार में वापस लौटने जैसा कुछ है ही नहीं । भक्त की अधोगति होती है ऐसा श्रीमद् भागवत में कहीं भी वर्णन नहीं है ।

फिर भी ज्ञानी के लिए कहा जाता है कि उनकी अधोगति होती है: येऽन्ये अरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनः (भा.११.२.३२) । ज्ञानी का पतन सम्भव है ।

******

प्रश्न: ऐसे ज्ञानी जिनके प्रारब्ध कर्म पूरे हो गए हों, क्या उनकी सांसारिक वासनाएँ फिर भी जाग्रत होती है ?
उत्तर: हाँ, क्योंकि वे स्वतन्त्र हैं । मात्र भक्ति ही शरणागति के रूप में योग्य समाधान प्रदान करती है । एक बार समर्पित हो गए तो और कुछ प्राप्त करने की इच्छा की सम्भावना ही नहीं रहती । इच्छा तभी उद्भव होती है जब आप स्वतन्त्र हो । यदि

स्वतन्त्र ही नहीं हो तो इच्छा कहाँ से होगी ? यदि इच्छाएँ हैं, तो इसका अर्थ होता है कि आप अभी भी स्वतन्त्र हो ।

......

प्रश्न: एक तरफ़ यह कहा जाता है कि प्रभु नाम सभी कर्म से मुक्ति देता है, पर दूसरी ओर यह भी सुना है कि परम गुरुदेव ने कहा था कि उनकी बीमारी उनके पूर्व कर्म का फल है । इस बात को हम कैसे समझें ?

उत्तर: कर्म का सम्बन्ध अहम्भाव से है । जब 'अहम्' भगवान को समर्पित कर दिया हो तो कर्म ही कहाँ रहेंगे ? कर्म अहङ्कार के पीछे पीछे आता है । जब 'अहम्' होता है तो आप ही कर्ता हो और आप ही भोक्ता हो । तब आप को अपने कर्म का फल भी भुगतना होता है । परन्तु जब आप पूर्ण रूप से ईश्वर की शरण में जाते हो तो कोई कर्म जुड़ते नहीं है । चाहे कर्म भूत, भविष्य या वर्तमान के हों, भक्ति मार्ग का अनुसरण करने से सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं ।

अन्य मार्ग में मनुष्य जो भी कार्य करता है, उसका फल उसे भुगतना पड़ता है । बिना कर्म भुगते कर्म से मुक्ति नहीं मिलती, चाहे कई कल्प बीत जाए । आज नहीं तो कल कर्म फल भुगतना ही पड़ता है ।

फिर भी एक भक्त कहता है, "मैं अपने कर्मों के कारण पीड़ा में हूँ," परन्तु सत्य यह नहीं है । ऐसी बातें अन्य करते हैं, इसलिए भक्त भी करता है । भक्त जानता है कि जो कुछ भी हो रहा है वह भगवान के द्वारा प्रेरित या संचालित है ।

......

प्रश्न: क्या यह प्रारब्ध कर्म में भी लागू होता है ?

उत्तर: ब्रह्म संहिता में कहा है कि भक्त के कर्म पूर्णतया नष्ट हो जाते हैं, चाहे वह प्रारब्ध या अप्रारब्ध हो, भूत, भविष्य या वर्तमान के हो ।

......

प्रश्न: जो गुरु और कृष्ण को समर्पित हुआ है उसका मृत्यु समय का निर्धारण क्या उसके कर्म से या कृष्ण की इच्छा से होगा ?

उत्तर: भक्त कर्म के बन्धन में नहीं होता अतः उसकी मृत्यु कर्म के आधीन नहीं होती क्योंकि भक्त कृष्ण के नियन्त्रण में है । परन्तु, यह तभी सत्य होगा जब वह सही अर्थ में भगवान को समर्पित हो, मात्र कहने के लिए न हो । जिस स्तर तक वह समर्पित है, उस स्तर तक वह कर्म से मुक्त होगा । जब वह पूर्णरूप से समर्पित है, सहज भी स्वतन्त्र विचार न रख कर गुरु की शरण में है, तो उसे कोई कर्म बन्धन नहीं होगा

चाहे वह भूत, भविष्य या वर्तमान के कर्म ही क्यों न हो । वह सीधा भगवान की कृपा तले है ।

अन्यथा यदि कोई दीक्षा लेकर नाम अपराध करता है तो उसमें (अपराध के कारण) लौकिक इच्छाएँ उद्भूत होंगी । उसे अलौकिक सेवा पसन्द आने के बजाय भौतिक चीज़ें पसन्द आने लगेगी । यदि नाम जप आदि अपना सही परिणाम नहीं देता है तो उसके अन्य परिणाम होंगे । यह परिणाम आसक्ति के रूप में आयेंगे । फ़लतः अपराधसे कर्मेच्छा प्रबल होकर वापस आएगी ।

द्वारपाल जय विजय का दृष्टान्त हमें यह शिक्षा देता है कि अपराध के कारण सांसारिक वस्तुओं में मनुष्य की आसक्ति हो सकती है ।

जो कर्म से मुक्त है उसे कोई लौकिक रुचि नहीं होती । कर्म के लिए कोई तो आधार होना चाहिए । ठीक वैसे जैसे कोई क़मीज़ टाँगने के लिए कोई खूँटी का होना आवश्यक है । यदि खूँटी ही नहीं है तो क़मीज़ कहाँ टाँगेंगे ? कर्म का भी वैसा ही है। वह अपने अहम् पर लटकता है । जब कोई भगवान को समर्पित हो जाता है तो उसे अपना स्वतन्त्र अहम् न होकर ऐसा अहम् होता है कि, "मैं अपने गुरु और कृष्ण का सेवक हूँ" । फिर कर्म कहाँ टंगेगा ? कर्म को रहने के लिए फिर कोई आधार ही नहीं है । अतः वह मुक्त है । ......

प्रश्नः कोई सम्पूर्ण समर्पित नहीं हुआ है, परन्तु प्रयत्न ज़ारी है, तो (ऐसे भक्त का) क्या होगा ?
उत्तरः जिस स्तर तक वह समर्पित है, वहाँ तक वह कर्म से मुक्त है । भक्तिरसामृत-सिन्धु ग्रन्थ में इसका वर्णन किया है:
अपराध-फलं पापं कूटं बीजं फलोन्मुखम् ।
क्रमेणैव प्रलीयन्ते विष्णुभक्ति-रतात्मनाम् ।। (भ.र.सि.१.१.२३)

"जो विष्णुभक्ति करते हैं उनके अप्रारब्ध, कूट, बीज एवं प्रारब्ध कर्म इस क्रमानुसार नष्ट हो जाते हैं ।"

कर्म को चार श्रेणी में विभाजित किया गया है: अप्रारब्ध, प्रारब्ध, कूट, एवं बीज । उनका नाश भी इसी क्रम में होता है । अप्रारब्ध सबसे पहले नष्ट होते हैं । प्रारब्ध, कूट और बीज का नाश होने में अधिक समय लगता है । जो पूर्णतया शरणागत है, उसके

सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं । कर्माणि निर्दहति किन्तु च भक्ति-भाजाम् "जो (सदा के लिए) एक बार भक्ति से जुड़ जाता है, तो उसके सभी कर्म नष्ट हो जाते हैं।" (ब्रह्म संहिता ५.५४)

भक्ति क्रिया है । यह कोई मात्र वस्त्र बदलने जैसा नहीं है कि तिलक लगा दिया, धोती और कण्ठी माला पहन ली । वह अपने अन्दर में एक बदलाव है । यदि वह बदलाव है, तो आप उसे अवश्य जान पाएँगे । ऐसा नहीं है कि आप ने कुछ यज्ञ किए और फलतः आप स्वर्ग में चले जाएँगे । भक्ति का साक्षात् अनुभव आप को होता है । यह साक्षात् अनुभूति का धर्म है जिस में कोई छलकपट नहीं होता । यदि कोई कपट करता है, तो उसको (भक्तिका) कोई लाभ नहीं मिलता । ******

प्रश्न: श्रीबलदेव विद्याभूषण कर्म को दो प्रकार के बताते हैं: एक है मात्र क्रिया और दूसरा है अदृष्ट । यह अदृष्ट क्या है ?
उत्तर: अदृष्ट अव्यक्त कर्म है । ऐसे कर्म जो आप ने भूतकाल में किए हैं और जिसका फल बाद में मिलता है । इसे अदृष्ट कहते हैं जिसका शाब्दिक अर्थ है दिखाई नहीं देता। ******

प्रश्न: अदृष्ट का अर्थ मात्र कर्मफल है या वह कर्म की परिभाषा करता है ?
उत्तर: हाँ, एक है कर्म और दूसरा है कर्मफल । जो भी कर्म भूतकाल में किए हैं उन्हें अदृष्ट कहते हैं और उसमें से कुछ विभाजन बनाए हैं, जैसे कि कूट, बीज, फलोन्मुख। एकत्रित किए हुए सभी कर्म अदृष्ट हैं । उस में से कुछ कर्मो का अंश है जो शरीर बनाता है उसे प्रारब्ध कर्म कहते हैं ।

कर्म का यह सिद्धान्त है कि उसके फल (दुःख या सुख) जब तक पीड़ा या आनन्द से न भुगता जाय तब तक नष्ट नहीं होते । मात्र भक्ति में इतनी शक्ति है कि वह उसे (कर्म एवं फलको) नष्ट कर सकती है । अन्य मार्ग जैसे कि ज्ञान या योग में मनुष्य को अपने पूर्व जन्म के कर्म को भुगतना पड़ता है । कहीं पर ऐसा भी वर्णन है कि योगी कायव्युह द्वारा अनेक शरीर प्राप्त करते हैं, जिस से एकत्रित अदृष्ट को जल्दी से कम कर सके। परन्तु भक्ति में सभी कर्म अपने बीज़ तक, जो कि वासना रूपमें हैं, वे सभी कर्म पूर्ण रूप से नष्ट हो जाते हैं । ******

प्रश्नः गुजरात में इतना बड़ा धरतीकम्प क्यों हुआ ? क्या इसलिए कि वहाँ के लोग अधिक उदार और पवित्र माने जाते हैं ? उन्हें इतना कष्ट क्यों सहन करना पड़ा, जब कि अपवित्र लोग आनन्द में हैं ?

उत्तरः विपत्ति पाप करने से या भगवान के नियमों का उल्लंघन करने से आती है। अतः जो कुछ भी कर्मफल उन्हें सहन करने पड़े इसके पीछे कोई कारण अवश्य होगा। कुसङ्गती के कारण भी आप को ऐसी प्रतिक्रिया मिल सकती है। यदि आप ऐसे लोगों से सङ्गत करोगे जो नास्तिक है या भगवान और भक्ति के खिलाफ़ है, तो ऐसी सङ्गती भी आप को समस्याएँ देती है। [देखें: सङ्ग]

माण्डव्य ऋषि के प्रसङ्ग के बारे में सोचो। पुलिस कुछ चोरों के पीछे भाग रही थी जो भागकर माण्डव्य के आश्रम में छिप गए। जब पुलिस वहाँ आयी तब तक चोर चोरी का सामान छोड़ कर वहाँ से पलायित हो गए। पुलिस को ऋषि पर शक हुआ और उसे गिरफ़्तार कर लिया। ऋषि ने सामान नहीं चुराया था परन्तु चोरों ने उसके आश्रम में सामान छिपा दिया था जिसके कारण अवाँञ्छित परिणाम उसे सहन करने पड़े। कुछ लोग स्वयं पापी है और कुछ लोग पापी को सहाय करते हैं या उनके कार्य में साथ देते हैं। इसलिए उन सहायक को भी परिणाम भुगतना पड़ता है। ऐसा ही कुछ गुजरातियों के साथ हुआ होगा। ......

प्रश्नः क्या कर्म सञ्चय (अनेक विभिन्न लोगों का एक समान कर्मों का समूह) जैसा कुछ होता है ? सब की मृत्यु एक साथ हुई तो क्या सब के कर्म भी एक से थे ?

उत्तरः कुछ कर्म सर्व सामान्य होते हैं, जैसे गरमी के दिनों में वृन्दावन में असह्य गरमी सभी को लगती है। अतः सब निवासियों के कुछ कर्म समान है इसलिए (एक सी) गरमी सहन करनी पड़ती है। यदि अनेक लोगों को एक समान कर्मफल मिलता है तो उसका अर्थ है कि उन में कुछ सामान्य है। एक जैसे सामान्य कर्म होने के कारण वे कोई निश्चित समय पर कोई एक घटना स्थल पर थे। ......

३३. कला और संस्कृति

प्रश्नः सांस्कृतिक स्वरूप (पहलू) अथवा कृष्ण की सांस्कृतिक सर्जना और भक्ति की सांस्कृतिक रचना में क्या कुछ अन्तर है ?

उत्तरः सांस्कृतिक रचनाएँ भक्ति में भी हैं। गोस्वामियों ने भक्ति के प्रत्येक विषय को पढ़ाया था, सांस्कृतिक पक्ष को भी। उन्होंने नाटक, काव्य, गीत और संगीत पर पुस्तकें लिखी थीं। किन्तु सांसारिक व्यक्तियों ने इस भाग को ले लिया और व्यापार के लिए इसका प्रयोग किया।

उदाहरण के लिए – जैसे रासलीला मण्डलियाँ हैं जो कृष्ण की लीलाओं का मञ्च पर अभिनय करते हैं । इनका उद्देश्य क्या है ? मञ्च प्रदर्शन का भक्ति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । रासलीला प्रदर्शन का हेतु है भीड़ इकट्ठा करके धन प्राप्त करना । यद्यपि वे भी भक्ति के विषय में बोलते हैं क्योंकि यह सब उनको कहना पड़ता है । किन्तु इसके पीछे उनका प्रयोजन क्या है ? केवल धन कमाना । ठीक इसी प्रकार, कीर्तन मण्डली है, जो परम्परागत कीर्तन करने के लिए धन लेती है । ******

प्रश्नः आध्यात्मिक भावना रहित कलाकारों की ललित कलाएँ आदि के प्रति भक्त किस भाव से देखे ?, वस्तुतः उनमें भी कुछ सुन्दरता तो दिखाई देती है, उनको अस्वीकार नहीं कर सकते हैं । उदाहरण के लिए एक संगीत की रचना अथवा एक बहुत सुन्दर मूर्ति, उनको कैसे देखना चाहिए ?

उत्तरः कलाओं का मूल उद्देश्य कृष्ण की सेवार्थ है, चाहे वह संगीत, नृत्य, चित्रकारी, वास्तुकला, रूपरेखा (अभिकला) और वास्तु शास्त्र आदि हो । भक्त के सन्दर्भ में यदि वह स्वयं एक कलाकार है, तो वह कृष्ण सम्बन्धित कला का निर्माण करेगा । अन्य कलानिर्माण में उसे कोई दिलचस्पी नहीं होगी । यदि वह कुछ स्वतन्त्र रूप से करता है तो वह पथभ्रष्ट होगा । क्योंकि वह स्वतन्त्र अभिमान से ग्रस्त हो जायेगा और स्वयं को मानने लगेगा कि "मैं एक महान् संगीतज्ञ हूँ, गायक हूँ, चित्रकार हूँ इत्यादि ।" वह अभिमान उसकी भक्ति की उन्नति में अनुकूल नहीं होगी । यदि अभक्त कोई कलात्मक कार्य करता है, और इन की कलाकृतियाँ अच्छी और सुन्दर मानी जाती है तब भी उनके कार्य का भक्ति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । भक्ति के दृष्टिकोण से उनका कोई महत्त्व नहीं है ।

******

प्रश्नः जब कोई व्यक्ति कला की प्रशंसा करता है तब क्या यह माना जाये कि वह उससे आसक्ति रखता है ?

उत्तरः प्रशंसा का मूल अर्थ है कि आप उस वस्तु को पसन्द करते हैं, एवं आप भी उस जैसा बनना चाहते हैं । अन्ततः यह सूक्ष्म आसक्ति है । किसी भी वस्तु की प्रशंसा कृष्ण से स्वतन्त्र रूप से नहीं करनी चाहिए । आप सोच सकते हैं कि कृष्ण ने उन्हें ऐसा सुन्दर कार्य करने के लिए बुद्धि प्रदान की है । इस प्रकार की प्रशंसा उचित है। किन्तु कृष्ण से असम्बन्धित रूपसे किसी व्यक्ति की प्रशंसा नहीं करनी चाहिए क्योंकि इस से आप पथभ्रष्ट होंगे । ******

प्रश्नः क्या एक भक्त अच्छे अभक्त कलाकार से शिक्षा ले सकता है ?

उत्तरः आप उनसे सीख सकते हैं यदि आप कृष्ण की सेवा में इस शिक्षा का उचित रूप से प्रयोग करना चाहते हैं । एक अपरिपक्व भक्त भी लौकिक एवम् अलौकिक शिक्षा के माध्यम से (उपन्यासादि) लिख सकता है, चित्रकारी आदि कर सकता है ।

******

प्रश्नः क्या एक अपरिपक्व भक्त भी उपन्यास लिखने का प्रयास कर सकता है, मूर्तियाँ बना सकता है, चित्रकारी कर सकता है ?

उत्तरः भक्ति मार्ग में प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता है, चाहे वह कला, विज्ञान, निर्माण कार्य, मानव-रक्षा, पशु रक्षा, पाक-कला, नृत्य, नाटक, कविता (काव्य) गद्य आदि हो। प्रत्येक वस्तु का उपयोग हो सकता है क्योंकि यह मार्ग सर्वसमावेशी है, विशेषतः जब यह राधा और कृष्ण की लीलाओं से सम्बन्धित हो । बात यह है कि आपको भक्ति-दर्शन ज्ञान होना चाहिए अन्यथा, जैसे प्रह्लाद महाराज ने कहा था (भा.७.९.४६), जब आप स्वतन्त्र और चञ्चल मनवाले हो तो यह सब व्यापार, मनोरञ्जन या कामभोग का साधन हो जायेगा । यह सब समर्पण भाव और यथार्थ ज्ञान के साथ करना चाहिए । यथा जब आप संगीत गा रहे हैं अथवा कविता लिख रहे हैं, तो यह सब आपको भक्तिभाव और यथार्थ ज्ञान से करना चाहिये ।

जो कुछ भी करना है वह भगवान के निमित्त ही करें । प्रत्येक कार्य उचित प्रशिक्षण, अनुभव और मार्ग दर्शन में ही करें ।

केवल उत्तमा भक्ति ही शुभ मार्ग है । अन्य सभी मार्ग अशुभ है क्योंकि वे स्वतन्त्र मानसिकता उत्पन्न करते हैं । उत्तमा भक्ति में समस्त दर्शनों की सभी कलाएँ, विज्ञान, संस्कृति इत्यादि समाविष्ट है । उत्तमा भक्ति सभी मानवजाति में सहयोग की भावना लाती है, ताकि वे बिना किसी धोखेबाजी, शोषण और दूसरों के प्रति हिंसारहित, शान्तिपूर्वक रह सकें । इस मार्ग का यदि पालन किया जाये तो आनन्द और अभयता आ सकती है । यह अति अद्भुत प्रक्रिया है जिसका प्रवर्तन श्री चैतन्य महाप्रभु और उनके अनुयायियों ने किया । यह समाज में सुख, समृद्धि और शान्ति ला सकती है । इस में शुष्क त्याग और व्यर्थ तपस्या की कोई आवश्यकता नहीं है लेकिन उचित प्रशिक्षण, अपनापन, और गुरु-समर्पण होना आवश्यक है । लेकिन मैं ने स्वयं यह देखा है कि कैसे मनुष्य उसका (शिक्षादि का) दुरुप्रयोग करते हैं ।

******

प्रश्नः जब यह कहा जाता है कि “व्यक्ति को उचित प्रशिक्षण लेना चाहिये” तो क्या इसका अर्थ यह है कि व्यक्ति को वैदिक परम्परा से भक्ति का पालन करना चाहिए या भौगोलिक स्थानानुसार उस संस्कृति का अनुगत करें ?

उत्तरः ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है कि यह केवल भारतीय परम्परा से ही हो । भक्ति में संकीर्ण मानसिकता पसन्द नहीं की जाती है । लेकिन यह उचित तरीके से होना चाहिए। हर कोई संस्कृति में क्या उचित और स्वीकार्य है यह तथ्य निर्देश किया गया है ।

गोविन्द लीलामृत में प्रत्येक वस्तु सम्मिलित की गई है, चाहे वह चित्रकारी हो, गायन, नृत्य मन्दिर-निर्माण, माला-गुन्थन, सजावट (श्रृङ्गार) आभूषण, वेष-भूषा, पाक-कला हो, और ये सभी श्रीकृष्ण की लीलाओं से सम्बन्धित है । सभी प्रकार के उपलब्ध ज्ञान का प्रयोग भगवान की सेवा में होता है और यह सब उचित मनोदशा, शिक्षा और मार्गदर्शन में होना आवश्यक है ।   ******

३४. कष्ट

प्रश्न: हमने भक्ति-रसामृत-सिन्धु ग्रन्थ में से सुना है कि दो परिस्थितियों में भक्त को कष्ट होता है: एक है कृष्ण का आयोजन और दूसरा है स्वापराध । भक्त इनको कैसे समझे ?

उत्तर: भक्त ऐसा कभी नहीं सोचता है कि कृष्ण उसे दुःख देता है । ऐसा वह कभी नहीं सोचेगा । उदाहरण स्वरूप पाण्डवों ने अनेक कष्ट सहन किए, परन्तु उन्होंने कभी नहीं सोचा कि हमें यह कष्ट कृष्ण दे रहे हैं ।

सर्व प्रथम तो भक्त पर किसी कर्म का प्रभाव नहीं होता क्योंकि यदि उसने स्वयं को समर्पित किया है तो वह कोई पाप या पुण्य नहीं करता है । किन्तु प्रारब्ध कर्म रहते हैं, नहीं तो देह कैसे कार्य करेगा ? अतः वह सोचता है, "मेरे प्रारब्ध कर्मों के कारण मुझे यह कष्ट मिल रहे हैं ।"

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ।। (भा. १०.१४.८)

"जो साधक हर परिस्थिति में आप की कृपा देखता है, अपने पूर्व कर्मों के परिणामों को आनन्द से भुगतता है, और अपने हृदय, वाणी और देह से नमन करता है, वह आपकी भक्ति पाने के योग्य बनता है ।"

भक्त अपना जीवन यापन करते हुए सोचता है कि वह अपने कर्मों की प्रतिक्रिया से गुज़र रहा है । वह भगवान को दण्डवत् प्रणाम करता है और उनका स्मरण करता है।

वह कभी नहीं सोचता कि मेरे ऊपर कष्ट आ रहे हैं क्योंकि भगवान मुझे दुःखी देखना चाहते हैं ।

यदि किसी से अपराध होता है तो वह अलग बात है क्योंकि अपराध स्वाभाविक रुप से अपनी प्रतिक्रिया प्रकट करता है । परन्तु भक्त कभी नहीं सोचता है कि, "मुझे कष्ट मिल रहे हैं क्योंकि कृष्ण चाहते हैं कि मुझे पीड़ा हो ।"

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः ।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ।। (गीता २.५६)

"जिसका मन दुःख में भी स्थिर रहता है, सुख की अभिलाषा नहीं करता, जो राग, भय और क्रोध से परे है वह स्थितधी मुनि है ।"

कृष्ण कहते हैं कि दुःख आने पर कभी उद्विग्न नहीं होना चाहिए और सुख की कभी स्पृहा नहीं रखनी चाहिए, परन्तु हर परिस्थिति में समान रहना चाहिए । ऐसा व्यक्ति कृष्ण को अतिप्रिय है । मूल सिद्धान्त यह है कि इन सांसारिक सुख-दुःख में कभी भी नहीं डूबना चाहिए, परन्तु हर परिस्थिति में अपनी सेवा ज़ारी रखनी चाहिए ।
ऐसा कहते हैं कि साधक की परीक्षा करने के लिए कभी कभी कृष्ण भी हमें कष्ट देते हैं । परन्तु भक्त की सही भावना यह होती है कि, "मैं ने पूर्वकाल में जो कुछ भी कर्म किये हैं, उसका दण्ड मैं भुगत रहा हूँ ।" नहीं तो कोई उसका गलत अर्थ निकालेगा और कृष्ण को दोषी ठहराएगा ।

भक्त विगतस्पृह होता है और अर्थात् (उनकी) भक्ति अन्याभिलाषिता शून्यं है । न वह कोई विपत्ति चाहता है और न सुखकी इच्छा रखता है । जब एक भक्त का ऐसा भाव होता है तो वह क्यों चिन्ता करेगा कि उसके कष्टो का क्या कारण है ? वह तो अपने कर्तव्य का पालन करने में दृढ़ रहेगा । ******

प्रश्न: यदि एक भक्त के सेवाभाव में कोई बाधा नहीं कर सकता, तो फिर कर्म बदलने का प्रयत्न करना भी व्यर्थ है ?
उत्तर: जब लोग दुर्बल मन के होते हैं, तब उन्हें कुछ आश्वासन और विवरण देना पड़ता है और उनके साथ भिन्न भिन्न रीति से संवाद करना पड़ता है । जब आप अपने कार्य में स्थिर हैं तब आप उद्विग्न नहीं होंगे । आप को इन विवरण के विषय में सोचने की

आवश्यकता नहीं रहती । जो कुछ भी हो रहा है, आप हर स्थिति में अपना कर्तव्य ज़ारी रखते हो, चाहे आप का कर्म नष्ट हो या न हो । ******

३५. काम, लोभ, और क्रोध

प्रश्न: क्या साधक का काम, लोभ और क्रोध, समर्पित होने के बाद, धीरे-धीरे कम होते जाते हैं या तुरन्त नष्ट हो जाते हैं ?

उत्तर: जब कोई गुरु की शरण लेता है तो काम, क्रोध, और लोभ तुरन्त नष्ट हो जाते हैं । जब साधक स्वयं को स्वतन्त्र समझता है तभी यह आदतें टिकती हैं । शरणागति का अर्थ यही होता है कि वह स्वतन्त्र नहीं है । जब साधक निष्ठा और सच्चे भाव से सेवा करता है तो कामवासना आदि की कोई संभावना नहीं रहती । तथापि इसे उचित रूप से समझ लेना चाहिए । जैसे कि धारणाएँ ज्ञान और योग-मार्ग पर चलने वाले के साधक की कामवासना, लोभ और क्रोध नहीं मिट जाते, स्वतन्त्र रूप से नहीं परन्तु केवल भक्ति के सन्दर्भ में ही भक्त में काम, क्रोध, लोभ रहते हैं । उदाहरण स्वरूप, इसका यह अर्थ नहीं है कि उन्हें (भक्त को) क्रोध नहीं आता जैसा कि ज्ञानी और योगी मानते हैं । जब कोई भक्त की सेवा में बाधा डालेगा अथवा कृष्ण, उसके गुरु या भक्ति-मार्ग की निन्दा करेगा तो वह अवश्य क्रोधित होगा।

उत्तमा-भक्ति में आप को सेवा करनी है और यह सेवा तन, मन, इन्द्रियों और वाणी से करनी है । इन सभी चीज़ों का अपना विषय होता है (उदा. - चक्षु इन्द्रिय का विषय रूप है) । अतः स्वाभाविक है कि शारीरिक क्रियाकलापों, इन्द्रियों, एवं मन में काम, लोभ और क्रोध होगा परन्तु अब उनका उपयोग अनुकूल कार्य में होगा और आप जो प्रतिकूल है उसे छोड़ दोगे । यह सारे दोष इस अर्थ में नहीं मिट जाएँगे कि आप चेतनारहित, निष्क्रिय, और एकान्तवासी (विरागी) बन जाओगे । ऐसा नहीं होता है । काम, लोभ और क्रोध तो रहेंगे तथापि अब उनका उपयोग सेवा में होगा और गुरु से यह सीखना होगा कि उनका उपयोग सेवा में कैसे किया जाय । ******

प्रश्न: यदि आप को उसका उपयोग करने का अवसर न मिले तो क्या होगा, जैसे कि क्रोध ?

उत्तर: उसका उपयोग मत करो । ******

प्रश्न: क्या उसे सहना होगा ?

उत्तर: आप को यह देखना होगा कि यह अनुकूल है या प्रतिकूल । आप भक्त या गुरु पर क्रोधित नहीं हो सकते । आप अभक्त या उन पर क्रोधित हो सकते हो जो आप

के कार्य में बाधा खड़ी करता है । अर्थात् क्रोध प्रतिकूल नहीं होना चाहिए जिससे आप को (इसकी प्रतिक्रिया) भोगना न पड़े । या तो आप उसका उपयोग करो या उसे सुप्त रहने दो । आवश्यकता होने पर ही क्रोध प्रकट होगा । ******

प्रश्न: तो क्या कामवासना, लोभ और क्रोध हमेशा रहेंगे पर किसी भी प्रकार उसे सहना होगा ?

उत्तर: हाँ । वे होंगे पर उन्हें सहना नहीं है । जैसा अन्य मार्गो में दिखाया है उस अर्थ में ये वासनाएँ छूट नहीं जायेंगी । उत्तमा-भक्ति में आप स्वयं को सेवा में व्यस्त रखोगे तो नियन्त्रण अपने आप होगा । उदाहरण स्वरूप, यदि कोई आप की सेवा में बाधा डाल रहा है तो क्रोध अवश्य आएगा, अन्यथा नहीं आएगा । आप को उसे न तो दबाना है और न ही सहना है । जब तक कोई अच्छा कारण नहीं होगा, तब वह प्रकट नहीं होगा । उस पर आप का नियन्त्रण होगा, न कि वह आप को नियन्त्रण में रखेगा ।

******

३६ काम-वासना

प्रश्न: काम-वासना को हम कैसे वश में रख सकते हैं ?

उत्तर: गुरु को स्वीकार करो और उनका अनुसरण करो । वासना मात्र एक मानसिक स्थिति है । जब व्यक्ति अपने आप को स्वतन्त्र समझने लगता है, तब सुख भोगने का जी करता है, परन्तु जब व्यक्ति गुरु को पूरी तरह समर्पित हो जाता है, तब किसी भी प्रकार का सुख भोगने की कोई इच्छा नहीं होती है ।

[पढ़ें: प्रेम, कामवासना, लौकिक इच्छाएँ, पीड़ा (दुःख) ******

३७. कीर्तन

प्रश्न: परम गुरुजी के तिरोभाव उत्सव की पूर्व संध्या को जो अधिवास कीर्तन हुआ था उसका अर्थ क्या है ?

उत्तर: अधिवास कीर्तन द्वारा श्री चैतन्य महाप्रभु को उनके परिकरों के साथ आमंत्रित करने की एक रीति है । यह एक रीति है जो हमारा सम्प्रदाय निभाता है । कीर्तन के पहले श्री महाप्रभु को उनके परिकरों के साथ मान सन्मान के साथ निमन्त्रित किया जाता है । श्री चैतन्य और उनके परिकरों के आगमन के पश्चात् उनके भाव अनुसार कीर्तन किया जाता है । वह व्रज भाव में हैं । हम उस भाव के साथ व्रज में प्रवेश करते हैं और इस के बाद कृष्ण कीर्तन आरम्भ होता हैं । यह अधिवास कीर्तन की रीति और उन का महत्त्व है । यह अधिवास कीर्तन, कृष्णकीर्तन आरम्भ करने से पूर्व सन्ध्या को किया जाता है । ******

प्रश्न: किस भाव से हमें कीर्तन करना चाहिए ? क्या हमें नित्य परिकर के एक अनुयायी के भाव से करना चाहिए ?

उत्तर: मनुष्य का लौकिक देह होता है और उसमें आसक्ति होती है । प्राकृतिक त्रिगुणों के असर के कारण उसका भाव अपने शरीर और इन्द्रिय को सुख देना है । ऐसी स्थिति में उसके लिए भक्ति को समझना इतना कठिन है तो भक्ति में प्रवेश करने के विषय में तो क्या बात करें ? भक्ति उसकी वर्तमान भावना से बिल्कुल विपरीत है क्योंकि भक्ति अर्थात् भगवान की सेवा करना । विशेषकर व्रज भक्ति को समझना बहुत कठिन है । यहाँ तक कि ब्रह्माजी और श्री लक्ष्मी देवी भी इसे नहीं समझ पाए थे । इसकी अनुभूति के लिए अन्य सभी लौकिक उद्देश्यों से मुक्त होना आवश्यक है ।

एक मात्र चैतन्य महाप्रभु ही है जो अवतरित हुए और भक्ति प्रक्रिया की व्याख्या दी । शेष सभी अवतारों में भगवान आते हैं परन्तु उत्तमा-भक्ति के विषय में कुछ भी नहीं बताते हैं । वे अवतार मात्र असुरों या मुख्य असुर का वध करते हैं । परन्तु श्री महाप्रभुजी समस्त मानवजाति को शिक्षा देने के लिए आए । भक्ति उनका अमूल्य उपहार है ।

कीर्तन भक्ति की एक प्रमुख प्रक्रिया है । श्री चैतन्य महाप्रभु को सङ्कीर्तन का संस्थापक माना जाता है । सङ्कीर्तन अधिवास अर्थात् श्री चैतन्य को आमन्त्रित करना क्योंकि उन्हीं की कृपा से ही व्रज में प्रवेश पा सकते हैं, नहीं तो व्रजप्रवेश असम्भव है । उनके सिवा किसी और के पास कृष्ण की निःस्वार्थ सेवा करने की धारणा नहीं है । अतः श्री चैतन्य को उनके परिकरों के साथ आमन्त्रित किया जाता है ताकि वे कीर्तन कर सके, जिसमें नाम गायन किया जाता है । यह कृष्ण आमन्त्रण है । मन्त्रगायन करते-करते वे कृष्णलीलाओं में खो जाते हैं । महाप्रभु के भाव के साथ लोग व्रज में प्रवेश पाते हैं । चैतन्य महाप्रभु और उनके परिकर यहाँ उपस्थित है इस भाव से कीर्तन करते करते वे कृष्ण में मग्न हो जाते हैं । उनकी मग्नता मात्र कृष्ण में है क्योंकि वे कृष्ण-कीर्तन में मग्न हैं । अधिवास २४ घंटे कीर्तन के इस अनुष्ठान का यही महत्त्व है । इसे भाव से करना होता है । तभी जाकर कीर्तन करने का लाभ होता है, जिसे सेवा कहते हैं ।

******

प्रश्न: क्या यह अनुष्ठान या अधिवास कीर्तन सदैव किया जाता है ?

उत्तरः यदि किसी उत्सव के पूर्व कीर्तन किया जाता हो तब अधिवास कीर्तन करते हैं। अन्यथा इसे सदा करने की कोई आवश्यकता नहीं है । अनुष्ठान का प्रयोजन होता है आध्यात्मिक उन्नति । अधिवास कीर्तन एक अनुष्ठान है । अन्यथा यदि आप नित्य कीर्तन करते हो तो आप को अधिवास कीर्तन करने की आवश्यकता नहीं है ।

******

प्रश्नः किस भाव से सामान्य कीर्तन करना चाहिए ?

उत्तरः सामान्य कीर्तन भी उसी भाव से करना चाहिए । अर्थात् आप गुरु और श्री चैतन्य के साथ हो और कीर्तन कर रहे हो । व्रज में प्रवेश पाना श्री चैतन्य के बिना असम्भव है । स्वतन्त्र न होकर उनके भाव के साथ कीर्तन करना चाहिए ।

कुछ लोग कहते हैं कि वे कृष्ण का सीधा सम्पर्क कर सकते हैं । भारत देश में कुछ लोग यह मानते हैं कि श्री चैतन्य भगवान नहीं है और यह कहते हैं कि, “वह बंगाली है और बंगाली कैसे भगवान बन सकता है ?” यद्यपि सच्चाई यह है कि श्री महाप्रभु के बिना कृष्ण नहीं मिल सकते क्योंकि भगवान श्री कृष्ण स्वयं चैतन्य महाप्रभु (भक्त) बन कर आए (यह शिक्षा देने के लिए) । ******

प्रश्नः महामन्त्र कीर्तनके प्रारम्भ में क्या गुरु और पञ्चतत्व की प्रार्थना करनी चाहिए ?

उत्तरः हाँ, अवश्य करनी चाहिए । ******

प्रश्नः जप में भी क्या वही सिद्धान्त लागू होता है ?

उत्तरः हाँ । ******

प्रश्नः श्री चैतन्य के सङ्कीर्तन आंदोलन का क्या अर्थ होता है ?

उत्तरः सङ्कीर्तन का अर्थ होता है वाद्य यन्त्र के साथ समूह में ऊँची आवाज़ में (स्तुति करते) गाना । यदि अधिक लोग नहीं है तो एक व्यक्ति भी अकेला गा सकता है, यदि उसकी आवाज़ सुरीली हो तो । इसे सङ्कीर्तन कहते हैं । ......

प्रश्नः क्या इसके अन्य भी अर्थ होते हैं ?

उत्तरः नहीं । ......

प्रश्नः क्या कीर्तन में गाना जप करने से अधिक प्रभावशाली है ?

उत्तर: कीर्तन में मन सहज रूप से मग्न हो जाता है क्योंकि उस समय आप का तन, मन और इन्द्रियाँ अर्थात् आप का पूरा अस्तित्व उसमें जुड़ता है । लोग स्वाभाविक रूप से ही संगीत में रुचि रखते हैं । इसलिए कीर्तन विशेष रूपसे पसन्द आता है ।

जप में आप को अपनी इन्द्रियों को वश में करना होता है । जब आप सत्त्वगुण में होंगे, तभी आप जप ठीक से कर पाएँगे क्योंकि यह स्मरण की प्रक्रिया है जो मन से की जाती है । कीर्तन सहज-रूप से ही आकर्षित करता है । कुछ प्रेक्षक हैं और आप उच्च स्वर से कीर्तन कर रहे हो जहाँ आप अपने तन, मन और वाणी से जुड़ते हो । कीर्तन द्वारा मन को स्थित करना सरल हो जाता है । जप की ख़ामियाँ, जैसे जप के समय नींद का आना, मन इधर उधर भटकना और रुचि का अभाव आदि, जो कीर्तन में नहीं है । कीर्तन करते समय आप को नींद नहीं आती, पर जप करते समय हररोज़ आप आलसीपन, नींद, रुचि का अभाव और मन का इधर उधर भटकने जैसी समस्या का अनुभव करते हो ।

******

प्रश्न: भक्ति-मार्ग में कीर्तन का क्या महत्त्व है ?
उत्तर: कीर्तन कृष्ण में मन स्थायी करने की सबसे उत्तम प्रक्रिया है । मन ही लौकिक अस्तित्व का कारण है एवं आध्यात्मिक मार्ग पर आने का भी साधन है ।

कीर्तन में वाद्य यन्त्र के साथ गाया जाता है जो मन के साथ अन्य इन्द्रियों को स्थिर करता है । यदि आप में मंन्त्रोच्चार करने की या उसे सुनने की मानसिकता नहीं है तो मन डगमगाता है और इधर उधर भटकता है । कीर्तनमें मन बड़ी आसानी से जुड़ जाता है और इसीलिए उसका महत्त्व है ।

******

प्रश्न: मैं नरोत्तमदास ठाकुर के गीतों को पढ़ रहा था और ऐसा प्रतीत होता था कि अधिकतर ये गीत अन्तरङ्ग लीला या सेवा का चित्रण करते हैं । इन गीतों को सुनने या गाने के लिए क्या कोई विशेष योग्यता होनी चाहिए ?
उत्तर: जिसे भी ये गीत पसन्द हो, गा सकते हैं पर सावधानी बरतनी चाहिए । यदि गीत राधा कृष्ण की अन्तरङ्ग लीला के बारे में है और शारीरिक सुख की इच्छा अभी भी जाग्रत है एवं स्त्री या पुरुष होने का अहम् है तो अन्त में व्यक्ति शारीरिक सुख के विषय में ही सोचता रहेगा । ऐसा नहीं होना चाहिए । यदि ऐसा होता है तो अपनी अधोगति के लिए स्वयं ही उसका कारण बनोगे । ऐसी परिस्थिति में अन्य गीत गाने चाहिए जो कृष्णकृपा की बात करते हो या भगवान की प्रार्थना रुपमें हो । ऐसे अनेक गीत हैं ।

******

प्रश्नः कुछ भक्त महामन्त्र को दो हिस्सों में गाते हैं । समस्या यह है कि यदि आप महामन्त्र को विभाजित करते हो तो नरोत्तमदास ठाकुर और श्रीनिवास आचार्य के गीत मृदंग मन्त्र में गाते ठीक नहीं लगते हैं । क्या महामन्त्र को विभाजित करना भी एक अपराध है ?
उत्तरः आप को पूरा महामन्त्र गाना चाहिए । उसे विभाजित न करें । हमें पूर्व आचार्यों की भाँति पूरा महामन्त्र गाना चाहिए । पूरा मन्त्र गाने से ही महामन्त्र का अर्थ सिद्ध होता है ।

******

३८. कृष्ण

प्रश्नः अकादमी अध्ययन में धर्म को कालक्रमबद्ध और ऐतिहासिक माना जाता है । आप का वैदिक युग है, फिर आता है ऐतिहासिक युग, जिसे परवर्ती माना जाता है । उनका यह निष्कर्ष भाषा पर आधारित है क्योंकि वैदिक शास्त्रों की भाषा प्राचीन है जो पौराणिक (पारम्परिक) भाषा में नहीं है । इसी कारण भाषा सम्बन्धी भेद है और संस्कृति सम्बन्धी भी । ऋग्वेद ब्राह्मण याज्ञिक सूचनाओं से भरा है, जैसे कि यज्ञ कैसे किया जाय परन्तु वे पुनर्जन्म, मन्दिर पूजा (विग्रह सेवा) या शाकाहारी भोजन के बारे में कुछ नहीं कहते हैं । यह सभी विषयों का वर्णन पौराणिक शास्त्रों में है । वैदिक शास्त्रों यानि कि वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, एवं उपनिषदों में कृष्ण के विषय में कुछ भी वर्णन नहीं है । यदि कृष्ण प्रथा यह दावा करती है कि कृष्ण ही पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान है तो वैदिक युग के क्रमानुसार कृष्ण का कहीं उल्लेख भी नहीं है और विष्णु को भी गौण देवता माना गया है, इस वास्तविकता को कैसे समझा जाय?

उत्तरः
य ते धामन्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरी-शृङ्गा अयासः ।
अत्राह तदुरुगायस्य विष्णो परमं पदमवभाति भूरि ।। (यजुर्वेद ६.३)

[महाराजजी ऋग्वेद और अन्य वेदों में से कुछ श्लोक उद्धरण करते हैं, जो विष्णु और गायों के सन्दर्भ में बताते हैं । छान्दोग्य उपनिषद् में से एक श्लोक भी बताते हैं, जिसमें कृष्ण का देवकी पुत्र के रूप में वर्णन किया है ।]

******

प्रश्नः यह सत्य है कि ऐसे कुछ श्लोक हैं, परन्तु कृष्ण के विषय में क्या है ? पहली बार छान्दोग्य उपनिषद में उनके बारे में कुछ कहा गया है । [यहाँ प्रश्नार्थी का यह भावार्थ है कि कृष्ण का उल्लेख सर्व प्रथम छान्दोग्य उपनिषद में किया गया है, जो वेदों के बहुत

बाद लिखा गया था । इसलिए कृष्ण भी परवर्ती धारणा है । (पाश्चात्य मतानुसार सभी शास्त्रों को ग्रन्थबन्धन कालक्रमानुसार मानते हैं एवं ऐतिहासिक गिनते हैं अतः यह प्रश्न आता है ।)
उत्तर: नहीं, वेद में भी विष्णु शब्द का प्रयोग है और गायों के बारे में भी कहा है ।

******

प्रश्न: चारों वेदों में मात्र एक श्लोक है और सभी ब्राह्मण और आरण्यकों में विष्णु और उनके धाम के बारे में क्या यही एक मात्र श्लोक है ?
उत्तर: इस तर्क के अनुसार भागवत में भी कृष्ण स्वयं भगवान है इस पर मात्र एक चौथायी श्लोक है । (इसलिए कम वर्णन का अर्थ यह नहीं है कि कृष्ण की भगवान रुप में धारणा बाद में विकसित हुई) ।

******

प्रश्न: फिर भी छान्दोग्य उपनिषद में प्रथम बार हम कृष्ण के बारे में सुनते हैं जो दुविधापूर्ण है क्योंकि वहाँ बताया है कि उनके गुरु अङ्गिरा है, जो भागवत के कथन से भिन्न है तो कदाचित् वह अलग कृष्ण होंगे । यहाँ पहली बार कृष्ण के विषय में कुछ उल्लेख है. इससे (अकादमी) विद्वान इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि कृष्ण बाद में बने देवता है । कृष्ण का महत्त्व परवर्ती वैदिक-युग में है और वह महाभारत, गीता एवं भागवत के समय में प्रसिद्ध हुए । यह सब वैदिक-युग के बाद आये । एक (अकादमी) विद्वान की मान्यता अनुसार यह कहना स्वीकार्य नहीं होगा कि वैदिक संस्कृति में कृष्ण ही पुरुषोत्तम भगवान है ।
उत्तर: मूलभूत सिद्धान्त यह है कि जगत के सृजन के बाद भगवान मनुष्य को ज्ञान देना चाहते थे । भागवत के वर्णन अनुसार भगवान ने मनुष्य आकृति का सृजन किया जिससे जीव को भगवान के बारे में ज्ञान उपलब्ध हो । उन्होंने यह शक्ति मनुष्य को दी है ।

वह स्वयं ज्ञान देते हैं क्योंकि किसी को भी उनके बारे में ज्ञान नहीं है । यह ज्ञान धीरे-धीरे प्राप्त होता है क्योंकि ज्ञान लोगों की जिज्ञासा पर आधारित है । दूसरे अर्थ में कहें तो मनुष्य की ज्ञानक्षुधा के अनुसार वह ज्ञान देते हैं ।

मानो कोई एक विद्वान है जिसने सभी षड् दर्शन में स्नातक की पदवी प्राप्त की हो परन्तु शिष्य मात्र व्याकरण सीखने के लिए उसके पास आते हैं । वह उन्हें मात्र व्याकरण सिखाएँगे और दर्शन या अन्य विषय पर बातचीत नहीं होगी क्योंकि वह मात्र व्याकरण सिखाता है तो लोग भी यह सोच सकते हैं कि इस विद्वान को मात्र व्याकरण का ही ज्ञान है । वास्तविकता यह नहीं है क्योंकि उसे अन्य जानकारी भी है। चूँकि

उसके पास योग्य शिष्य नहीं आते हैं, वह अन्य विषय के बारे में बात नहीं करता है। उसके शिष्यों को न तो दर्शन सुनने में रुचि है और न ही उसे ग्रहण करने की क्षमता उनमें हैं ।

ठीक उसी प्रकार भगवान अवतरित होते हैं और अपनी अद्भुत लीलाएँ प्रकट करते हैं एवं परिकर की क्षमता अनुसार उन्हें ज्ञान देते हैं । स्वयं पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान या श्री कृष्ण के स्वरूप की यदि जिज्ञासा नहीं होगी तो भगवान उस रुप से प्रकट नहीं होंगे।

मानो आप आलू ख़रीदने दुकान पर जाते हो । दुकान कदाचित् बड़ी है और वहाँ सब कुछ मिलता है, परन्तु दुकानदार आप को सब कुछ नहीं दिखाएगा क्योंकि आपको मात्र आलू ही खरीदना है, अन्य कुछ नहीं खरीदना है । उसके पास कदाचित् मणि आदि भी हो, पर वह आप को नहीं दिखाएगा । वह क्यों उसके लिए अपना समय गवाएँगा क्योंकि उसे ज्ञात है कि आप की उसमें कोई रुचि नहीं है । यद्यपि वह उस ग्राहक को तो अवश्य जवाहरात दिखाएगा जिसको उसमें रुचि हो । अर्थात् जिनको सिर्फ आलू खरीदने में ही रुचि है उनकी यही मान्यता हो सकती है कि यह दुकानदार मात्र आलू बेचता है । यहाँ तक कि कोई तटस्थ व्यक्ति दुकानदार की बिक्री का दस साल के निरीक्षण के बाद भी यही मान्यता कर सकता है ।

एवं (पाश्चात्य) लोगों के मतानुसार ऐतिहासिक (कालक्रमानुसार) प्रणालिका से प्रथम कथित वैदिक युग अस्तित्व में आया और अधिकतर लोग सकामी थे अतः स्वयं भगवान की सेवा की कोई आवश्यकता नहीं थी । मात्र देवताओं की पूजा होती थी, जैसे कि उन लोगों के लिए वरुण देव प्रकट थे । वह मुख्य रूप से वेदों में पाया गया है । औपनिषदिक युग में लोग (विशेषज्ञ) अधिक समझु थे और मोक्ष के लिए अधिक जिज्ञासा रखते थे । इसी कारण उपनिषदों में ब्रह्म या तो कभी-कभी परमात्मा के विषय में बातें हैं । यह क्रमिक विकास है ।

अन्त में भक्ति प्रकट हुई । इस उत्क्रान्ति को होने में हज़ारों साल लग गए । इस काल में योग और सांख्य आदि अनेक दर्शन अस्तित्व में आए । इन सभी दर्शन में आम मनुष्य को दुःख से कैसे मुक्ति मिले इसके बारे में बताया गया । ये प्रक्रियाएँ भगवान के विषय में कोई विशेष बात नहीं करती हैं । उदाहरण स्वरूप, योग सूत्र प्रणवकी बात करता है - तस्य वाचकः प्रणवः । प्रणव या ॐ ईश्वर का नाम है । ध्यान ईश्वर का करना चाहिए – (योग सूत्र) "ईश्वर-प्रणिधानाद्" वा । ईश्वर क्या है ? सर्वज्ञ कौन

है ? उसके विषय में सूत्रों में कुछ विशेष नहीं कहा है क्योंकि लोगों को यह जानने में कोई जिज्ञासा ही नहीं थी । अतः आखिर में श्रीमद् भागवत में कहा गया है:

वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।। (भा. १.२.११)

"परम तत्त्व के ज्ञाता इस अद्वय चेतना को ब्रह्म, परमात्मा और भगवान के नाम से सम्बोधित करते हैं ।"

परम तत्त्व मात्र एक है जो इन तीन नामों से ब्रह्म, परमात्मा और भगवान के नाम से जाना जाता है । अर्थात् परमात्मा और भगवान एक ही है । ऐसा नहीं है कि ब्रह्म, परमात्मा और भगवान तीनों भिन्न-भिन्न हैं । जब परमात्मा शब्द का हम प्रयोग करते हैं तो वह भी भगवान को ही दर्शाता है परन्तु मनुष्य की जिज्ञासा मर्यादित दृष्टिकोण होने के कारण भगवान के विषय में विशेष कुछ नहीं कहा गया है । मनुष्य इस से यह सारांश निकाल सकता है कि भगवान का अस्तित्व नहीं है । परन्तु सांख्य की तरह सत्कार्य-वाद का भी सिद्धान्त है । सत्कार्यवाद अर्थात् "(कार्य-कारण भाव – कार्य बनेगा जब कारण होगा तो) शून्य में से शून्य का आना" । (जैसे कि कम्प्यूटर जगत में कहते हैं, "जैसा कूड़ा डालोगे वैसा ही कूड़ा बाहर निकलेगा (जैसा प्रोग्राम लिखेगें वैसा ही परिणाम आयेगा)" या फिर आप को जो कुछ भी (परिणाम के रूप में) बाहर मिलता है, वह जो अन्दर डाला हे उस पर निर्भर है । जो कुछ भी पहले से है, वही प्रकट होगा । यदि कृष्ण वैदिक या औपनिषदिक युग में प्रवर्त्तमान नहीं है तो अचानक वह कैसे पुराणों में प्रकट हो सकते हैं ? सत्कार्यवाद के सिद्धान्त अनुसार (हर वस्तु का कोई न कोई कारण होता है) इसी कारण भगवान श्री कृष्ण अवश्य होने चाहिए ।

दूसरी बात यह भी है कि वे इतने प्रसिद्ध नहीं थे क्योंकि उनकी उतनी माँग भी नहीं थी । अतः भागवत पुराण में श्रीकृष्ण को स्थापित किया गया है । इसका अर्थ यह होता है कि वे पहले भी थे परन्तु लोगों की योग्यता और रुचि के अनुसार इसे समज़ने के लिए ज्ञान दिया जाता है । विशेषतया कृष्ण ब्रह्मा के दिवस (मनुष्य का ८,६४,००,००,००,००० वर्ष) में मात्र एक बार ही प्रकट होते हैं, जो चार युग (सत, त्रेता, द्वापर एवं कलि युग मिलाकर एक चक्र – ब्रह्मा के 12 घण्ट) के १००० चक्र होते हैं । लौकिक जगत में उनके (कृष्ण के) दुर्लभ प्राकट्य के कारण शाश्वत वेदों में कदाचित ही उनका विवरण करते हैं । द्वापर युग के अन्त में पुराणों का सङ्कलन किया गया था अतः वे कृष्ण के विषय में कहते हैं ।

******

प्रश्न: ऐसा कहते हैं कि वैदिक-युग सब से आदिक़ालीन युग है जिस में है कर्मकाण्ड। उसके बाद औपनिषदिक युग, जिसमें है ज्ञानकाण्ड और पौराणिक काल में है भक्तिपथ, जो उन्नत (श्रेष्ठ) पथ है। वास्तव में सतयुग सबसे विकसित युग था (अर्थात् उन्नत सतयुग में श्रेष्ठ भक्ति-मार्ग का प्रचलन होना चाहिये), द्वापरयुग अल्प विकसित और कलियुग सब से अधिक विकृत युग है। परन्तु यहाँ सम्पूर्ण विपरीत दिखाई दे रहा है; कालक्रमानुसार युगों में भ्रष्टता होनी चाहिये। यह धारणा कहाँ तक उचित है ?

उत्तर: कुदरत में हमेशा सन्तुलन होता है। जब कभी लाभ है, तो हानि भी है और जब हानि है तो लाभ भी होता है। सतयुग में वैदिक ज्ञान का प्रचलन विशेष था परन्तु उसका सार लुप्त था। थोड़ा सा भी सार पाने के लिए कठिन परिश्रम करना पड़ता था। कलियुग में यद्यपि अधिकतर लोग भ्रष्ट है, पतित है, परन्तु सार बड़ी आसानी से मिलता है।

चरित्र के पक्ष से देखा जाय तो लोग बहुत पतित है परन्तु ज्ञान में विकास हुआ है। आवश्यक ज्ञान या सार में उन्नति के कारण भगवान अवतार लेते हैं। अब इस (कलि) युग जो सभी युगों में सब से निम्न कोटि का है उस में सर्व श्रेष्ठ सारगर्भित मार्ग (भक्ति) का प्रचार किया गया है।

******

प्रश्न: क्या अवतारों में भी क्रमानुसार उन्नति हुई है ?

उत्तर: ज्ञान में उन्नति हुई है। अवतारों में उन्नति होती है ऐसा नहीं है।

******

प्रश्न: परन्तु इस बात का सामञ्जस कैसे करें कि सतयुग का युगधर्म ध्यान था, त्रेतायुग में वह यज्ञ था जो वैदिक काल के साथ सुसङ्गत है, द्वापरयुग में विग्रह पूजा और कलियुग में हरिनाम है ? यदि हम यह कहें कि कर्म काण्ड से ज्ञान काण्ड तक उन्नति हुई है, जैसे वैदिक युग में कर्मकाण्ड प्रधान था, औपनिषदिक युग में ज्ञानकाण्ड, और कलियुग में भक्ति प्रधान है। सत् युग में ध्यान आदि प्रधान है यह अन्य रीतिओं से कैसे समञ्जस होता है ?

उत्तर: पूरी बात ऐसी है - यदि आप सतयुग से शुरू करना चाहते हो तो और थोड़ा पीछे क्यों नहीं जाते ? आप उसे कालचक्र का एक भाग पाओगे। यदि आप कर्मकाण्ड से प्रारम्भ करते हो तो त्रेतायुग से प्रारम्भ करो और फिर आप पाओगे ज्ञानकाण्ड और फिर भक्ति।

******

प्रश्नः तथापि उदाहरण स्वरूप ज्ञानयुग का किसी भी युगधर्म से मेल नहीं होता क्योंकि ऐसा युगधर्म जैसा कुछ है ही नहीं । वैदिक युग का कदाचित् त्रेतायुग से मेल होता है परन्तु ज्ञान काण्ड किस से मेल खाएगा ?

उत्तरः योग से ।

******

प्रश्नः क्या वह उस से पहले था ?

उत्तरः उसकी भी अधोगति हुई थी । मैं वही कह रहा हूँ: यह एक चक्र है जिस में प्रगति और अधोगति होती रहती है । कृष्ण कहते हैं त्रैगुण्यविषया वेदा (गीता २.४५), अर्थात् तीनों वेद त्रिगुण है, धर्म, अर्थ और काम से जुड़े हैं और अधिकतर लोग यही चाहते हैं । अतः धर्म, अर्थ और काम का मार्ग विशाल है और ज्ञान एवं उपासना जैसे मार्ग बहुत सीमित है, अर्थात् लोगों की आवश्यकताओं के आधार से वह भाग मुख्य बनता है ।

उदाहरण स्वरूप, अब भागवत प्राप्त है अतः श्रीकृष्ण का ज्ञान प्राप्त है । सही अर्थ में कितने लोग कृष्ण को भगवान श्रीकृष्ण के रूप में जानते हैं, न कि विष्णु के अवतार रुप में ? यद्यपि वे कृष्ण की पूजा करते हैं तथापि कृष्ण को स्वयं भगवान के रूप में नहीं जानते हैं । मात्र गोड़ीय सम्प्रदाय में ही श्रीकृष्ण स्वयं भगवान के रूप में जाने जाते हैं । अन्य किसी भी सम्प्रदाय में ऐसा नहीं है । गोड़ीय सम्प्रदाय में भी कितने लोग हैं जो "कृष्ण स्वयं भगवान है" इसका तात्पर्य समझते हैं ?

विष्णु भी कृष्ण का एक नाम है । रासलीला का वर्णन, जो भागवत का प्राण है उस में भी श्रीकृष्ण को विष्णु नाम से कहा गया है !

विक्रीडितं व्रजवधुभिरिदं च विष्णोः
श्रद्धान्वितोऽनुश्रुणुयादथ वर्णयेद् यः ।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ।। (भा.१०.३३.३९)

"जो भी श्रद्धा से वृन्दावन में भगवान श्री कृष्ण की व्रजयुवतियों के साथ रासविलास का श्रवण या वर्णन करते हैं उसे ईश्वर की परा भक्ति प्राप्त होती है । वह विनम्र बनता है और शीघ्र ही हृदयरोग रूपी कामवासना पर विजय पाता है ।"

इस श्लोक में विष्णु शब्द प्रयोग किया गया है । उस शब्द का अर्थ व्यक्ति अपनी मान्यता के अनुसार करता है । जब व्यक्ति धर्म, अर्थ, काम ही नहीं परन्तु मोक्ष की भावना से

भी मुक्त होता है तब श्रीकृष्ण (के प्राकट्य) की आवश्यकता होती है । यह उत्तमा-भक्ति है: "धर्मप्रोज्झित-कैतवो" (भा. १.१.२) । सभी कैतव (कपट) यहाँ तक की मोक्ष की इच्छा भी छूट जाती है । फिर श्रीकृष्ण का प्राकट्य होता है । अतः शुरू (वैदिक युग) में कृष्ण (के प्राकट्य) की आवश्यकता नहीं थी । वे थे परन्तु इस जगत में लोगों के सामने प्रकट नहीं हुए थे ।

हम श्रीश्रीराधा-कृष्ण की अर्चना करते हैं परन्तु भागवत में दिये गये वर्णन से राधा को स्थापित करो (नहीं कर पाओगे) । कोई यह भी कह सकता है कि वास्तव में कोई राधा ही नहीं है । तथापि आप भागवत का अध्ययन करोगे तो जान पाओगे कि अन्त में वह राधारानी का भाव ही स्थापित करता है एवं उसके अलावा और कुछ नहीं है ।
सारांश है कि कर्मकाण्ड से ज्ञानकाण्ड और उस से उपासनाकाण्ड जैसी क्रमानुसार (रेखाबद्ध) उत्क्रान्ति हो यह आवश्यक नहीं है । ज्ञान लोगों की आवश्यकता और क्षमता के अनुसार प्रकट होता है । ******

प्रश्न: क्या प्रमाण है कि श्री विष्णु नहीं पर श्री कृष्ण पूर्ण पुरुषोत्तम भगवान है ? महाराष्ट्र या गुजरात (जहाँ अधिक कृष्णभक्त हैं) वहाँ भी कोई यह नहीं मानेगा कि विष्णु का मूल स्रोत श्री कृष्ण है ।
उत्तर: जीव गोस्वामी ने इस विषय पर 'कृष्ण सन्दर्भ' नामक एक पुस्तक लिखी है और मैं ने इसका हिन्दीमें अनुवाद किया है एवं टिप्पणी भी लिखी है । आप उसे पढ़िये ।

******

प्रश्न: इसका क्या प्रमाण है कि श्री चैतन्य महाप्रभु स्वयं कृष्ण है ?
उत्तर: शास्त्र में इसका कोई सीधा प्रमाण नहीं है । उदाहरण स्वरूप, उनकी अनेक आत्मकथा है जैसी श्रीचैतन्य चरितामृतम्, जो मूलभूत प्रमाण है श्री चैतन्यमहाप्रभु की लीला के लिए, परन्तु अधिकांश गुजराती और श्रीवल्लभ सम्प्रदाय के लोग इसे नहीं स्वीकारते हैं । ऐसे शास्त्र विधान का क्या अर्थ है जिस से कोई उनकी लीलाओं के प्रभाव को व्यक्त नहीं कर सकते या उस से प्रभावित न हो ? यदि श्री महाप्रभु की लीलाओं का आप विश्लेषण (संशोधन) करें, अध्ययन करें तो जान पाओगे कि वे स्वयं कृष्ण हैं । यही मूलभूत प्रमाण है । ******

प्रश्न: जो श्रीमहाप्रभु सेवा के बिना श्रीकृष्ण को पाने की इच्छा रखते हैं उनकी क्या गति होती है ?
उत्तर: ऐसे लोग सही अर्थ में श्री कृष्ण के भक्त नहीं है । उनके लिए कृष्ण मात्र विष्णु अवतार है । इसलिए वे कृष्ण को विष्णु के रूप में (उनके अवतार मानकर) पूजते हैं

किन्तु कृष्ण को स्वयं भगवान मानकर नहीं पूजते हैं । यह सत्य है कि जब तक गौड़ीय शास्त्रों का अध्ययन नहीं करोगे, तब तक श्री कृष्ण कौन है यह ठीक से नहीं समज़ पाओगे । अधिकतर लोग यह नहीं जानते हैं कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान हैं। यहाँ तक कि श्रीमद् भागवत के प्राचीन टीकाकारों ने भी इस विषय में कुछ प्रकाश नहीं डाला है । "कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" (भा.१.३.२८) इस श्लोक का भी वे भिन्न अर्थ करते हैं । वे द्वारकाधीश कृष्ण को पूजते हैं क्योंकि व्रज में कृष्ण न तो ब्राह्मण है और न ही क्षत्रिय है, किन्तु मात्र एक ग्वाल है । तथापि वे क्षत्रिय मानकर द्वारकाधीश की पूजा करते हैं । अतः वे व्रज में प्रवेश नहीं पा सकते हैं ।

दक्षिण भारत में यदि वे गोपाल विग्रह की पूजा करते हैं तो उन्हें जनेऊ पहनाकर करते हैं जैसे द्वारका में करते हैं । वहाँ वे उस विग्रह की पूजा नहीं करेंगे जिन्होंने जनेऊ धारण न किया हो ।

लोग कृष्ण को भरणपोषण एवं धनोपार्जन के लिए पूजते हैं, और उनकी सेवा को अभी व्यापार बना दिया है क्योंकि उनकी लीलाओं के माध्यम से धनोपार्जन में सहलियत मिलती है । राधाकृष्ण की लीलाओं का मञ्चन करना, गाना, नृत्य करना आदि व्रजकृष्ण की लीलाएँ हैं । द्वारकाधीश कृष्ण की नहीं है । द्वारका में कृष्ण ने नृत्य नहीं किया था । अतः राधाकृष्ण की इन लीलाओं का अभिनय करने के बहाने वे लोगों को आकर्षित करते हैं । खास करके, अर्वाचीन समय में भक्ति अधिक प्रचलित है अतः सभी कृष्ण की बात करते हैं, चाहे वह ज्ञानी, योगी या कर्मी क्यों न हो ।

******

प्रश्नः भगवद् गीता में कृष्ण कहते हैं कि "जब जब धर्म की ग्लानि होती है, तब वे अवतरित होते हैं"। अब तो कोई धर्म ही नहीं बचा है जिस से ऐसा लगता है कि धर्म की स्थापना करने के लिए कृष्ण को अनेक बार अवतरित होना होगा । परन्तु ऐसा कहा जाता है कि चार युग के १००० चक्र समाप्ति अर्थात् ब्रह्मा के एक दिन में मात्र एक बार अवतरित होते हैं ।

उत्तरः यह कृष्ण की अपनी इच्छा है और उन्हें अवतरित होना ही है ऐसे किसी नियम से वे बन्धे नहीं हैं । इस जगत में अवतरित होने के लिए उन्होंने एक सामान्य नियम बताया है । इसका अर्थ यह भी नहीं है कि जब जब धर्म की ग्लानि होने लगती है, तुरन्त ही उन्हें आना पड़ेगा । वे अपनी इच्छानुसार अवतरित होते हैं ।

कभी कभी कृष्ण सत्त्व गुण बढ़ाते हैं, कभी रजस् और कभी तमस् गुण बढ़ाते हैं। जब भी निम्न गुण (समाज़ में) मुख्य बन जाते हैं, वे स्वयं आते हैं । वे कहते हैं कि "जब जब धर्म की ग्लानि होती है, मैं अवतरित होता हूँ" इसका यह भी अर्थ नहीं है कि उन्हें अपने मूल स्वरूप में आना है । उनके अपने अनेक अवतार भी आते हैं । अब वे (श्री महाप्रभु) उनके सङ्कीर्तन स्वरूप में आए हैं । ******

प्रश्न: वे तमस् गुण बढ़ाते हैं इसका क्या अर्थ होता है ?
उत्तर: कभी-कभी वे तमोगुण बढ़ाते हैं । तब लोग अज्ञानी और आसुरिक स्वभाव के हो जाते हैं । ईश्वर की इच्छा से उन में जो विभिन्न शक्तियाँ हैं उनमें चढ़ाव-उतार आता रहता है **जिसके** अनुसार लोग धार्मिक या आसुरिक बनते हैं । जब ईश्वर अपनी लीलाओं का आनन्द लेना चाहते हैं तब वे प्रकट होते हैं साथ में धर्म की स्थापना भी करते हैं । जब वे तिरोहित हो जाते हैं, तब निम्न गुण प्रधान बनते हैं ।

******

प्रश्न: क्या भगवान की इच्छा से तमोगुण प्रधान होता है ?
उत्तर: अन्ततः उनकी इच्छा से ही होता है । ******

प्रश्न: कृष्ण अद्वय-ज्ञान वस्तु (तत्त्व) है इसका क्या अर्थ है ?
उत्तर: जो माया से प्रभावित नहीं होता उसे अद्वय-ज्ञान कहते हैं क्योंकि माया द्वय या द्वितीय है । कृष्ण में तीन शक्ति होती है – ह्लादिनी, सन्धिनी और संवित । प्रकृति से सांसारिक सुख और दुःख मिलता है जो इन तीन शक्तियों में नहीं होते । प्रकृति में तीन गुण होते हैं । चूँकि ये कृष्ण के हैं फिर भी उन प्राकृतिक गुणों का प्रभाव उन पर नहीं होता है । सभी शक्तियाँ कृष्ण की है । उनके बिना इन शक्तियों का कोई अस्तित्व नहीं होता और वे उन को पराभूत भी नहीं कर सकती । अतः कृष्ण अद्वय-ज्ञान और चित्त-तत्त्व है । ******

प्रश्न: भागवत सन्दर्भ में हमने सुना है कि कौस्तुभ मणि (जो श्रीकृष्ण के वक्षःस्थल पर है) जीव का प्रतिनिधित्व करता है और श्रीवत्स श्रीलक्ष्मी देवी के अवतार का चिह्न है। क्या कृष्ण कौस्तुभ मणि और श्रीवत्स चिह्न को धारण करते हैं ?
उत्तर: हाँ । ******

प्रश्न: क्या श्रीवत्स श्रीमती राधारानी के विश्राम स्थान का चिह्न है ?
उत्तर: हाँ । राधारानी मूल लक्ष्मी है । ******

प्रश्न: कृष्ण अपनी बाँसुरी किन किन प्रसङ्गों पर धारण करते हैं ?
उत्तर: कृष्ण अपने भाव के अनुसार अलग अलग बाँसुरी बजाते हैं । "इस प्रसङ्ग पर यह बाँसुरी बजाऊँगा और उस प्रसङ्ग पर वह बाँसुरी बजाऊँगा" ऐसे कोई नियम वे नहीं निभाते ।

******

प्रश्न: पृथ्वी पर वे कौनसी बाँसुरी बजाते हैं ?
उत्तर: वे जो वहाँ बजाते हैं, वही यहाँ बजाते है । इस स्थान और उस स्थान जैसा कोई भेद नहीं है । एक ही स्थान है और वे यहाँ अपने धाम के साथ आते हैं ।

******

३९. कृष्ण दर्शन

प्रश्न: कैसे समझ सकते हैं कि नाम जपने से कृष्ण अपना स्वरूप प्रकट करेंगे ?
उत्तर: जब नाम जप करने पर कृष्ण अपना स्वरूप प्रकट करते हैं, तब आप उन्हें अपने समक्ष पाएँगे, वैसे ही जैसे आप दूरदर्शन पर कोई चलचित्र देख रहे हैं ।

*****

प्रश्न: ११वें श्लोक (भा..११.२.४५) में यह वर्णन किया है कि उत्तम भक्त को कैसे भगवद्भाव होता है और वह सर्वत्र कृष्ण देखता है । क्या हम ऐसी साधना का अभ्यास कर सकते हैं या केवल सेवा ही करनी चाहिए ?

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः ।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः ।। (भा. ११.२.४५)

"वह भगवान का सर्व श्रेष्ठ भक्त है जो सभी जीव में भगवान को और भगवान में सभी जीव को देखता है ।"
उत्तर: भक्ति में ऐसा स्वतः होता है (भक्त्या श्रुतगृहीतया भा. १.२.१२) और भक्ति और श्रवण से भगवान उसे दिखायी देते हैं । जहाँ भक्ति होती है, भगवान वहीं होते हैं क्योंकि वह भक्ति से भिन्न नहीं है ।

******

प्रश्न: हम में ऐसी दृष्टि नहीं है क्योंकि हम भगवान के सम्पूर्ण शरणागत नहीं हुए हैं, और हमें भक्ति व ज्ञान मार्ग मिश्रण नहीं करना चाहिए तथा कृष्ण को कृत्रिम रूप से देखने का प्रयास नहीं करना चाहिए ।
उत्तर: हाँ । भक्ति के साथ ज्ञान को मिश्रित नहीं करना चाहिए । यह दोनों भिन्न मार्ग हैं । एक परम सत्य को तीन रूप से देख सकते हैं: बह्मन्, परमात्मा और भगवान ।

भक्ति अर्थात् कृष्णानुशीलनम्, या कृष्ण के लिये अनुकूल कार्य करना । जब वह श्रद्धा होती है, तब आप सेवा करते हो और जब कृष्णसेवा करते हो, तब कृष्ण दिखायी देंगे। उनके शारीरिक स्वरूप में सम्भवतः उन्हें नहीं देख पाओगे, पर उनका स्मरण हमेशा रहेगा । हर समय कृष्ण को एक व्यक्ति के रूप में प्रत्यक्ष देख नहीं पाओगे, पर वह भाव आपके साथ होगा । इसी का नाम भक्ति है । जब भी सेवा करते हो, आप कृष्ण के विषय में सोचते हो । अन्य मार्ग में अनुयायियों को इसका अभ्यास करना पड़ता है, पर यहाँ यह स्वाभाविक होता है । जो कुछ भी करते हो, कृष्ण का स्मरण करते हो । उदाहरण स्वरूप, जब भोग तैयार करते हो, तो वह कृष्ण के लिए करते हो ।

******

प्रश्नः कृष्ण को हर स्थान पर देखने की दृष्टि को कैसे समझ पाएँ ?
उत्तरः उसकी कई सारी व्याख्याएँ हैं । यह आवश्यक नहीं कि हर समय कृष्ण को व्यक्तिगत रूप से देखो । ******

प्रश्नः यदि हम उसे स्वयं रूप से नहीं देखें तो फिर वह कैसे दिखाई देंगे?
उत्तरः भाव से अर्थात् हर पल कृष्ण-जागरूकता से । ******

प्रश्नः क्या आप हर वस्तु को कृष्ण से संलग्न देखते हो ?
उत्तरः हाँ क्योंकि कृष्ण को प्रतिक्षण देखना अव्यावाहारिक होगा । ******

४०. क्रोध

प्रश्नः क्या हम कृष्णसेवा में क्रोध का उपयोग कर सकते हैं ? या क्या इसका परित्याग अनिवार्य है ?
उत्तरः क्रोध का अर्थ है किसी वस्तु को दूर करने की उत्कट इच्छा रखना । क्रोध के पीछे यही भावना रहती है । यदि कुछ विषय है या कोई व्यक्ति जिस पर आप क्रोधित हो, आप उसे अपने रास्ते से दूर करना चाहते हो । भक्ति पथ में क्रोध उनके प्रति प्रयोग होता है, जो भगवान और उनके भक्तों के प्रति द्वेष करते हैं, ईर्ष्यालु होते हैं । अथवा वे जो उनकी (भक्तों की) या गुरु की निन्दा करते हैं । क्रोध उन व्यक्तियों के प्रति दिखाया जा सकता है । ******

प्रश्नः अर्थात् इन मामलों में क्रोध दिखाना उचित है ।
उत्तरः हाँ । ******

४१. ख़ुशी या प्रसन्नता

प्रश्न: यदि किसी को लौकिक श्रद्धा है, फिर भी सेवा करते समय उसे कुछ अच्छा लगता है, तो क्या यह प्राकृतिक गुण के कारण होता है ?

उत्तर: व्यक्ति में लौकिक श्रद्धा है और उसे प्रसन्नता की भावना होती है तो वह भावना आध्यात्मिक नहीं होती । वह भावना भौतिक होती है क्योंकि यह श्रद्धा बुद्धि की विशेषता है, जो सांख्य के अनुसार प्राकृतिक तत्त्व है । प्रसन्नता अर्थात् जो व्यक्तिगत रूप से अनुकूल हो । लोगों की अपनी एक सोच होती है, अपने कुछ नियम होते हैं जिनका वे पालन करते हैं और सन्तुष्ट रहते हैं । इसका अलौकिकता से कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि अलौकिक प्रसन्नता प्राकृतिक गुणों से नहीं होती ।

******

प्रश्न: कभी-कभी यह प्रसन्नता अहङ्कार से आती है । कुछ अंश में हम जान पाते हैं कि किस बात को लेकर हम प्रसन्न होते हैं, यद्यपि यह प्रसन्नता अल्पक़ालीन होती है, फिर भी सचेत होते हैं यही प्रसन्नता हम को प्राप्त करनी है । "मैं एक सेवक हूँ" ऐसी जागरूकता से होने वाली प्रसन्नता क्या अलौकिक स्तर से आती है या बुद्धि से आती है ?

उत्तर: "मैं एक सेवक हूँ" जैसी आनन्दमयी प्रसन्नता अलौकिक है । वास्तव में ऐसी भावना से आप ने सेवा की है, इसलिए भगवान या गुरु को प्रसन्न करती है । यदि ऐसा करने से आपको सन्तोष मिलता है, तो वह लौकिक नहीं परन्तु अलौकिक प्रसन्नता है । परन्तु ऐसी प्रसन्नता की भावना यदि गुरु से स्वतन्त्र होकर होती है तो वह लौकिक है ।

******

प्रश्न: यदि ऐसी भावना लौकिक नहीं है तो क्या अन्तरङ्ग शक्ति है जो अंशतः आत्मा तक पहुँचती है यद्यपि साधक में सम्पूर्ण श्रद्धा न हो, या स्वयं को सदा भगवान का नित्यदास न समझता हो ? तो क्या ऐसी अनुभूति हो सकती है ?

उत्तर: उत्तमा-भक्ति और अन्य मिश्र-भक्ति में मूल भेद है । आप जिस प्रकार की प्रसन्नता की अनुभूति या अनुभव का वर्णन कर रहे हो, वह अन्य भक्ति में सम्भव है किन्तु उत्तमा-भक्ति में ऐसा नहीं होता । यदि कोई अन्य भक्ति कर रहा है, जैसे कि ज्ञानमिश्र, योगमिश्र या कर्ममिश्र भक्ति, तो ऐसी अनुभूति हो सकती है या कुछ प्रसन्नता का अनुभव हो सकता है । वह गुणों से भी परे हो सकता है, परन्तु सम्पूर्ण शुद्ध नहीं हो सकता जो उत्तमा-भक्ति में होता है ।

उत्तमा-भक्ति से प्राप्त निर्मल प्रसन्नता अलौकिक श्रद्धा के बिना प्राप्त नहीं होती । उत्तमा-भक्ति में ऐसा तभी सम्भव होगा जब आप में अलौकिक श्रद्धा हो और सद्गुरु का अनुसरण करते हो । इन दोनों के बिना ऐसा अनुभव होना असम्भव है ।

******

प्रश्नः क्या ज्ञान-मिश्र भक्ति (भक्ति का ज्ञान-मार्ग के साथ संयोजन) आम तौर से की जाती है या प्रारम्भ में ज्ञानमिश्र भक्ति उत्तमा-भक्ति करने के लिए की जाती है ?
उत्तरः यदि किसी को उत्तमा-भक्ति प्राप्त करनी है तो उत्तमा-भक्ति की प्रक्रिया का पालन करना होगा । उत्तमा-भक्ति का अर्थ होता है स्वयं स्वतन्त्र न होकर गुरु के आदेश का पालन करना । अन्य भक्ति में आप स्वतन्त्र होकर कार्य कर सकते हो । स्वतन्त्र होकर अर्थात् उत्तमा-भक्ति में जिस तरह गुरु के आदेश का पालन करते हैं, उस प्रकार नहीं करना । आप कुछ नियमों का पालन करते हो, दीक्षा भी ले सकते हो पर पूर्ण रूप से समर्पित नहीं होते हो । इसी प्रकार अन्य सब भक्ति भी की जाती है और आप कुछ ख़ुशी का अनुभव पा सकते हो ।

उत्तमा-भक्ति में सम्पूर्ण आनुगत्य होता है क्योंकि यह अन्याभिलाषिता शून्यं यानी कि सभी इच्छाओं से मुक्त है । भक्ति आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं है अर्थात् उसका उद्देश्य मात्र भगवान को प्रसन्न करना है, यानी गुरु को प्रसन्न करना है ।

उत्तमा-भक्ति के अनुभव अन्य मार्ग के अनुभव जैसे नहीं है, यद्यपि एक जैसे दीखते हैं। वे सजातीय है, एक से दीखते हैं क्योंकि वे एक श्रेणी के (भक्ति पथ) हैं, परन्तु समान नहीं है । इस मार्ग (उत्तमा-भक्ति) में प्रगति करने के बाद ही आप को इसकी अनुभूति होगी और भक्ति के भेद को देख पाओगे । शुरू में ऐसा लगेगा कि एक साधक को दूसरे साधक जैसी ही भावना होती है, परन्तु ऐसा नहीं है ।

कई बार लोग प्रश्न करते हैं, "आप ऐसे कैसे कह सकते हो कि मैं भक्ति नहीं करता और मुझ में श्रद्धा नहीं है ? "क्योंकि मुझे इसका अनुभव है और मुझे यह करना अच्छा लगता है ।" ऐसा सम्भव है, परन्तु जैसे संसार में लोगों को लौकिक ख़ुशी होती है इस से उत्तमा-भक्ति के आनन्द का अनुभव भिन्न है । यदि अपने माता, पिता या किसी की भी श्रद्धापूर्ण सेवा करते हो तो आप को सन्तोष प्राप्त होता है । भक्ति सम्बन्धित अलौकिक साधना की तो बात ही कुछ और है । परन्तु माता या पिताकी की गयी सेवा से जो प्रसन्नता होती वह गुरु और कृष्ण की सेवा से प्राप्त प्रसन्नता से अलग है । हालाँकि, एक आम मनुष्य को सेवा एक सी ही लगेगी । वास्तव में उसमें भेद है ।

******

प्रश्नः आनन्द प्रसन्नता है, जो गुरु और कृष्ण को प्रसन्न करने से प्राप्त होती है और सुख व्यक्तिगत आनन्द (इन्द्रियतृप्ति) है तो फिर ब्रह्म साक्षात्कार की प्रसन्नता को ब्रह्मसुख

न कहकर क्यों ब्रह्मानन्द कहते हैं ? जब कोई ब्रह्म साक्षात्कार प्राप्त करता है तो उस में गुरु और कृष्ण सेवा नहीं रहती है ?

उत्तर: मैं ने आनन्द की जो परिभाषा दी वह कदाचित् आप ठीक से समझे नहीं है । सुख और दुःख स्वयं (यहाँ स्वयं का अर्थ होता है शरीर) से जुड़े हैं । जो अनुकूल है वह है सुख और जो प्रतिकूल है वह है दुःख । अन्तिम पीड़ा है मृत्यु क्योंकि अपनी चीज़ों से हमें लगाव होता है और जो हमसे कोई चीज़ छीन लेता है तो हम दुःखी हो जाते हैं । मृत्यु काल में हम से सब कुछ ले लिया जाता है, बिल्कुल वैसे जैसे किसी घर में आप लम्बे समय तक रहे हो और कोई आप को उस घर से धक्के मार कर निकाल दे । आप के सभी अधिकार भी उसी समय आप से छीन ले और आप को दुःखी बना कर छोड़ दे । अतः मृत्यु सब से बड़ी पीड़ा है । प्रवृत्ति-मार्ग सुख और दुःख से सम्बन्धित है, जो इस शरीर और भौतिक वस्तु से जुड़ा है ।

फिर आता है निवृत्ति-मार्ग जिसमें सम्बन्धों के तीन विभाग हैः ब्रह्म, परमात्मा और भगवान । यहाँ शरीर से सम्बन्ध नहीं होता, पर स्वयं अपने आप (आत्मा) से होता हैः

1 जो लोग भगवान को समर्पित होना नहीं चाहते वे ब्रह्म साक्षात्कारी बनते हैं। वे लोग अधिक बुद्धिमान नहीं होते क्योंकि उन्हें ब्रह्म में लीन होने के लिए कड़ी मेहनत करनी पड़ती है और वे अपनी पहचान भी खो देते हैं ।

2 जो इससे भी आगे जाते हैं वे योगी होते हैं, जो परमात्मा में लीन होते हैं ।

3 फिर होते हैं ऐसे लोग जो भगवान को पाना चाहते हैं । भगवान भक्ति से प्राप्त होते हैं । सामान्यरूप से जो लोग भक्ति की ओर बढ़ते हैं, वे मुक्ति पाना चाहते हैं । भगवान से परे स्वयं भगवान कृष्ण है, जो व्रज-भक्ति से मिलते हैं और वहाँ मात्र प्रीति होती है । जिस पर आप को प्रीति होती है, उसके लिए अनुकूल कार्य करते हो तो उल्लास बढ़ता है, जिसे आनन्द कहते हैं । यह सन्तोष का भाव असल में प्रीति ही है ।

संस्कृत में आनन्द, प्रीति और सुख यह सभी प्रसन्नता के पर्यायवाची शब्द हैं । ये सभी प्रसन्नता के समानार्थी शब्द हैं, तो भी इनकी विशेषताओं में सूक्ष्म अन्तर है । प्रीति भी आनन्द का समानार्थी शब्द है । इस आनन्द की जो परिभाषा मैं ने दी वह मात्र प्रीति के लिए ही उपयुक्त हो सकती है ।

भगवान के अनेक अवतार हैं और उन में कृष्ण अवतार श्रेष्ठ अवतार है । कृष्ण द्वारका, मथुरा और व्रज में प्रकट हैं । कृष्ण जो व्रज में हैं वह सर्वश्रेष्ठ है । भक्त व्रज में पूर्ण रूप से भगवान के आनन्द के लिए सेवा करते हैं और तभी उन्हें सन्तोष मिलता है ।

द्वारका और मथुरा में ५०-५०% है क्योंकि यहाँ भी निजानन्द की इच्छा रहती है। हर प्राकट्य या अवतार भगवान है, पर मात्र व्रज-कृष्ण को स्वयं भगवान कहते हैं।

व्रज-भक्ति और अन्य भक्ति में बहुत अन्तर है। व्रज की भक्ति उत्तमा-भक्ति है, पूर्ण रूप से पवित्र है क्योंकि वहाँ स्वप्रगति या व्यक्तिगत इच्छापूर्ति का सम्पूर्ण अभाव है। आनन्द के लिए कई शब्द प्रयोग होते हैं, पर 'प्रीति' शब्द की अपनी अलग परिभाषा है। यह आनन्द मात्र प्रियपात्र को सदा प्रसन्न रखने (का भाव) से आता है, अन्यथा नहीं। इसी भाव में उसे आनन्द कहते हैं, और किसी अर्थ में नहीं। आनन्द और प्रीति में यही भेद है। जैसे भगवान और स्वयं भगवान (में भेद) है, ठीक उसी प्रकार ब्रह्मानन्द और प्रीति में भेद है। अपितु आनन्द प्रीति का पर्यायवाची शब्द है किन्तु ब्रह्मानन्द शब्द में जो आनन्द शब्द का उपयोग किया जाता है उस का अर्थ प्रीति नहीं होता।

******

४२. गुण

प्रश्नः भक्ति हमें तीन प्राकृतिक गुणों से मुक्त करती है फिर भी शरीर बीमार होता है और रोग निम्न गुणों (रजस् तमस्) से आता है। इसे कैसे समझा जाय?

उत्तरः भक्ति का अर्थ है भगवान की सेवा करना और किसी भी वस्तु की आकाँक्षा न रखना। भक्त का केवल यही भाव होता है। उसे सारूप्य या सालोक्य मोक्ष की भी इच्छा नहीं होती। अतः वह यह प्राकृतिक देह को अलौकिक बनाना क्यों चाहेगा? जब ऐसा कहा जाता है कि एक भक्त प्राकृतिक गुणों से मुक्त है तो उसका अर्थ है कि उसके भक्ति-भाव पर प्राकृतिक गुणों का प्रभाव नहीं होता है। यह अर्थ नहीं है कि उसके देह में परिवर्तन नहीं आता है। देह भौतिक पदार्थों से बना है जिनके प्राकृतिक गुण हैं। उसे (देह को) भूख और प्यास की अनुभूति होगी। वह बूढ़ा भी होगा और मृत्यु भी पाएगा। किन्तु इन गतिविधियों का भक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि कोई भक्त बूढ़ा हो रहा है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि वह अब भक्त नहीं है या वह तीन प्राकृतिक गुणों के प्रभाव में है। वह उसका देह है जो प्राकृतिक गुणों के प्रभाव में है क्योंकि वह देह गुणों से बना हुआ है, परन्तु व्यक्ति देह नहीं है। उसका भाव अलौकिक है इस कारण वह अलौकिक चेतना में है। वह अपने शरीर को अलौकिक बनाना नहीं चाहता है। यहाँ तक कि जब भगवान यहाँ आते हैं तब उन का देह भी यहाँ के मनुष्य जैसा दिखता है और वह भी मनुष्य की भाँति ही (यहाँ) वर्ताव करते हैं तो उनके लिए क्या कहें जो यहाँ पैदा हुए हैं और जिनका देह प्राकृतिक है। भगवान भी कुदरत के नियमों का अतिक्रमण करना नहीं चाहते हैं। अन्यथा उन्हें ढ़ेर सारे समाधान करने पड़ेंगे क्योंकि ऐसा करने पर उन्हें भक्त के देह की प्रकृति बदलनी पड़ेगी। भक्त के देह

की प्रकृति में कोई बदलाव नहीं आएगा । अपितु भक्ति कार्य में यह कोई बाधा नहीं है और न ही इसका यह अर्थ होता है कि वह प्राकृतिक गुणों के प्रभाव में है । जब भक्त भूखा है तब वह खाता है और यदि वह बीमार है तो दवा भी लेता है ।

ऐसा नहीं है कि जब कोई भक्त बनता है तो वह केवल भजन ही करता है और श्रीमती राधारानी उन्हें भोजन पहुँचाएगी । अधिकतर लोग ऐसा ही सोचते हैं । वे श्री रूपगोस्वामी का उदाहरण देते हैं कि एकबार जब वे भजन में मग्न थे तब कैसे राधारानी उनके लिए दूध लायी थी । वह ऐसा क्यों सोचेगा कि ऐसा हो ? क्या वह सेवा करना चाहता है या करवाना चाहता है ? (सच्चा) भक्त ऐसा कुछ नहीं चाहता है । उसका भाव कृष्ण पर स्थिर है अतः वह प्राकृतिक गुणों के प्रभाव में नहीं है ।

******

४३. गुरु-तत्त्व

प्रश्न: पहले हमने सुना था कि श्री बलराम और श्री नित्यानन्द आदिगुरु हैं और गुरु श्रीमती राधारानी का प्रकट स्वरूप है । क्या यह सच है ?

उत्तर: ऐसे विधान शास्त्र पर आधारित नहीं है । यदि लोग अपनी समझ से ऐसा प्रचार करते हैं तो कोई बात नहीं, परन्तु उन लोगों को भी शास्त्र का पालन करना चाहियें ।

मानो आप को एक ऐसा नौकर चाहिए जो आप के मन पसन्द निजी कार्य करें । आप स्वयं उसे प्रशिक्षण दोगे क्योंकि आप चाहते हो कि कार्य कुछ ख़ास रीति से हो। ऐसा नहीं होगा कि उसे शिक्षित करने के लिए किसी और को नियुक्त करोगे । वह कार्य आप स्वयं करोगे जिससे आप जैसा कार्य चाहते हो वैसा ही हो । यदि कोई और उसे प्रशिक्षण देगा तो कार्य उस व्यक्ति की मनःस्थिति अनुसार होगा । वह कृष्ण है जिसकी हमें सेवा करनी चाहिए और कृष्ण स्वयं अपने भक्तों को प्रशिक्षित करते हैं । कृष्ण स्वयं इस रीति को ज़ारी रखने का वचन देते हैं अतः गुरु स्वयं कृष्ण है, अन्य कोई नहीं ।

कृष्ण लीला में बलराम, नित्यानन्द या श्रीमती राधारानी के भिन्न-भिन्न प्रयोजन हैं, हालाँकि बलराम और नित्यानन्द के बीच कोई भिन्नता नहीं है । वे भगवान कृष्ण को उनकी लीला में सहायता करते हैं पर वे स्वयं गुरु नहीं है । शास्त्र में कहीं भी नहीं कहा है कि बलराम आदि गुरु हैं । कृष्ण स्वयं कहते हैं कि वे स्वयं गुरु रूप में प्रकट होते हैं ।

आचार्य मां विजानीयान् नावमन्येत कर्हिचित् ।

न मर्त्यबुद्ध्यासूयेत सर्वदेवमयो गुरुः ।। (भा. ११.१७.२७)

"आचार्य को मेरा ही स्वरूप समझें, कभी उनका अनादर न करें, कभी-भी उन्हें साधारण मनुष्य समझकर उनमें दोषदृष्टि न करें क्योंकि गुरु को सभी देवताओं का रूप ही समझें ।" ******

प्रश्न: हमें गुरु के साथ कृष्ण जैसा व्यवहार करना चाहिए । मैं इस बात को कैसे समझूँ?

उत्तर: इसका अर्थ है गुरु का आदर करो, अवज्ञा मत करो, अनादर और आलोचना मत करो । जब ऐसा कहते हैं कि गुरु को भगवान की तरह पूजो तो इसका अर्थ होता है कि जैसे आप भगवान की आलोचना नहीं करते हो उसी प्रकार गुरु में दोषदृष्टि न करो । उनके निर्देशों को सही और प्रमाणित समझो । ******

प्रश्न: क्या गुरु से यह भी सीखना है कि कृष्ण को कैसे प्राप्त करें ?

उत्तर: हाँ । गुरु का यही अर्थ है । गुरु अर्थात् शिक्षक और इसीलिए हम यहाँ (जगत में) हैं । ******

प्रश्न: चैतन्य चरितामृत में कहा है कि शिक्षा-गुरु और दीक्षा-गुरु दोनों कृष्ण के ही स्वरूप हैं और उन्हें कृष्ण से अभिन्न समझना चाहिए । कभी-कभी शिक्षा-गुरु दीक्षा-गुरु से भिन्न होते हैं तथा वे दीक्षा-गुरु के शिष्य भी नहीं होते हैं । (क्या) शिक्षा-गुरु को भी कृष्ण का स्वरूप समझना चाहिए ?

उत्तर: भक्ति-मार्ग में दीक्षा-गुरु और शिक्षा-गुरु एक ही है । ऐसा नहीं है कि आप के दीक्षा-गुरु न हो और बाद में शिक्षा-गुरु कोई ओर हो ।

शिक्षा-गुरु अलग होने की स्थिति केवल तब है कि यदि दीक्षा-गुरु तिरोभूत हो गए हैं और फिर उनकी अनुपस्थिति में यदि किसी को शिक्षा लेनी हो तो ऐसे गुरु या योग्य व्यक्ति से शिक्षा लें जिनका भाव और शिक्षा अपने गुरु जैसा ही हो । अन्यथा दीक्षा-गुरु और शिक्षा-गुरु एक ही होते हैं ।

कभी यदि किसी के गुरु तिरोभूत हो जाय और कोई वेष दीक्षा अर्थात् बाबाजी वेष धारण करना चाहता हो तो वैसे ही भाव वाले गुरु से वह वेष-दीक्षा ले । फिर भी वेष-गुरु की परम्परा नहीं परन्तु दीक्षा-गुरु की परम्परा स्वीकार्य है । अर्थात् यदि उस शिष्य को कभी अपनी परम्परा के बारे में बताना हो तो वह अपने दिक्षागुरु की परम्परा को बतायेगा, न कि जिससे उसने वेष दीक्षा ली है । ******

प्रश्न: क्या केवल ब्राह्मण को ही गुरु बनने का अधिकार है या कोई गोस्वामियों के परिवार से भी गुरु बन सकता है ?
उत्तर: शास्त्र में बताया है कि केवल ब्राह्मणों को ही गुरु बनने का अधिकार है ।

इस विधान का सबसे पहला उल्लंघन नरोत्तमदास ठाकुर से हुआ था । यद्यपि नरोत्तमदास ठाकुर ब्राह्मण नहीं थे, उन्होंने ब्राह्मण गङ्गा नारायण चक्रवर्ती को दीक्षा दी थी । उस समय समाज में बड़ा विद्रोह हुआ था और वह भी यहाँ तक कि इस बात को राजा के समक्ष ले जाना पड़ा था । राजा ने यह निर्णय दिया कि नरोत्तमदास ठाकुर जिनके पास अलौकिक योग्यताएँ है इसी कारण उन्होंने जो किया वह ठीक है । किन्तु दूसरों को इसे एक अपवाद रूप में लेना चाहिए, न कि उदाहरण के रूप में ।

जब मैं युवा लड़का था तब मेरे गुरुदेव मुझे साथ लेकर राधा-कुण्ड गये और अन्य वैष्णवों से पहचान करवाई । उस समय एक बाबाजी ने मेरे गुरुदेव से कहा, "यह बड़े दुःख की बात है कि मेरे पास ऐसा योग्य शिष्य नहीं है ।" बाद में मैं ने अपने गुरुजी से उसका अर्थ पूछा तब गुरुदेव ने जवाब में कहा, "वे चाण्डाल जाति से हैं और उनके लिए बड़े गौरव की बात होगी यदि उनका भी कोई ब्राह्मण शिष्य हो ।"

******

प्रश्न: मैं ने उपनिषद् में पढ़ा है कि कुछ ब्राह्मणों ने एक राजा को अपना गुरु माना और उनसे शिक्षा ली क्योंकि केवल राजा के पास ही वह विशेष ज्ञान था । क्या यह अपवाद है ?
उत्तर: हाँ, यह एक अपवाद है । जब कोई योग्य ब्राह्मण गुरु न हो तो योग्य अब्राह्मण भी गुरु हो सकते हैं । अन्यथा, ज्ञान का प्रवाह लुप्त हो जाएगा । जब कोई अब्राह्मण गुरु बनता है तो समाज में अव्यवस्था होती है । उदाहरण स्वरूप, यदि कोई वैश्य गुरु बनेगा तो वह उस (शिक्षा) से व्यापार करेगा । एक क्षत्रिय गुरु बन कर उस अधिकार से लोगों को नियन्त्रणमें रख कर शोषण करेगा या राजनीति करेगा । किन्तु ब्राह्मण में शास्त्र अभ्यास और उसके पालन का भाव सहज होता है । यदि वह शिक्षित है तो बिना किसी लौकिक प्रयोजन से धन प्राप्ति न करने की भावना से वह शास्त्र सिखायेगा।

******

प्रश्न: क्या वैष्णव को ब्राह्मण से भी ऊँचा नहीं माना जाता है ?

उत्तर: वैष्णव का आदर करना चाहिए चाहे वह कोई भी वर्ण या जाति का हो । वैष्णवों का अच्युत गोत्र होता है । पुराने समय में राजा ब्राह्मणों एवं जिनका अच्युत गोत्र (वैष्णव) हो उन पर शासन नहीं करते थे । उनसे लगान भी नहीं लेते थे ।

यदि वैष्णव में ब्राह्मण जैसी योग्यताएँ हैं तो उसका भी उसी तरह आदर होना चाहिए, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि वह ब्राह्मण बनकर ब्राह्मण का हर कर्तव्य और कार्य करने लगे । केवल ब्राह्मण ही गुरु बन सकते हैं । ******

प्रश्न: केवल ब्राह्मण ही गुरु बन सकते हैं, किन्तु कई पुस्तकों में कुछ श्लोक इस बात की पुष्टि करते हैं कि हर कोई गुरु बन सकता है । उदाहरण स्वरूप, चैतन्य चरितामृत, मध्य, ८.१२८ में कहा है:

किवा विप्र, किवा न्यासी, शुद्र केने नय ।
येइ कृष्ण-तत्त्ववेत्ता, सेइ गुरु हय ।।

"चाहे ब्राह्मण, संन्यासी, शुद्र जो कोई भी हो, यदि वह कृष्णतत्त्व को जानता है तो गुरु बन सकता है ।"

एक और भी पयार चैतन्य चरितामृत, मध्य ७:१२८ में है:

यारे देख, तारे कहे कृष्ण-उपदेश ।
आमार आज्ञाय गुरु हञा तार एइ देश ।।

"सभी को समझाओ कि श्री कृष्ण के निर्देश का पालन करें । इसी प्रकार गुरु बनो और इस भूमि पर सबको (संसार से) मुक्त करने का प्रयत्न करो ।" कैसे हम इसका समाधान कर सकते हैं ?

उत्तर: इस व्यक्ति को कम से कम तत्त्ववेत्ता होना चाहिए क्योंकि यह पयार कहता है: "येइ कृष्णतत्त्व-वेत्ता, सेइ गुरु हय" । केवल कहने के लिए नहीं कि "मैं कृष्ण तत्त्ववेत्ता हूँ" परन्तु वास्तव में तत्त्ववेत्ता होना चाहिए । यदि इस निर्देश का पालन करना चाहते हो तो कृष्ण तत्त्ववेत्ता बनो यानि कि कृष्ण के तत्त्व का जानकार बनो । तत्त्ववेत्ता बनने के लिए शास्त्र का अध्ययन करना होगा । शास्त्र के अध्ययन और उसके अनुसार आचरण बिना तत्त्ववेत्ता नहीं बन सकते । यदि शास्त्र का अध्ययन एवं पालन किया है और यदि आप ब्राह्मण नहीं है तो आप गुरु बनना नहीं चाहोगे । केवल प्रार्थना पढ़ने से कृष्ण तत्त्व-वेत्ता नहीं बन सकते ।

यह पयार किस सन्दर्भ में कहा है यह समझना ज़रूरी है । क्या गुरु कौन है यह इसकी परिभाषा देता है ? क्या श्री महाप्रभु ने कोई विशेष व्यक्ति को यह आदेश दिया था या यह एक सामान्य निर्देश है ? ******

प्रश्नः इस पयार को कहने का महाप्रभु का क्या उद्देश्य था ?
उत्तरः वही तो मैं बता रहा हूँ । यह पयार किस सन्दर्भ में कहा है यह आप को देखना होगा ।

******

प्रश्नः क्या यह गुरु की परिभाषा है ?
उत्तरः नहीं ।

******

प्रश्नः फिर ?
उत्तरः श्री महाप्रभु ने सनातन गोस्वामी को हरिभक्ति विलास ग्रन्थ लिखने को कहा और इसके विषय के बारे में उन्हें सूचना भी दी । उन्होंने गुरु की योग्यता के विषय में भी कहा । उसे पढ़ो और तुलना करो कि यह बात चैतन्य चरितामृत श्लोक से मिलती है कि नहीं । यह श्लोक किस सन्दर्भ में कहा है यह अवश्य देखना चाहिये । उदाहरण स्वरूप, लोग कहते हैं, "गो सेवा मत करो अन्यथा (अगले जन्म में) आप गाय बन जाओगे क्योंकि हिरन की सेवा करते करते भरत महाराज भी हिरन बन गए थे ।" कई बार लोग ऐसा मेरे बारे में कहते हैं क्योंकि मैं गो सेवा करता हूँ । वे कहते हैं कि मैं दूसरे जन्म में गाय बनूँगा । भरत महाराज की कहानी का यह उद्देश्य नहीं है । उस प्रसङ्ग का हेतु यह दिखाने का है कि यदि भक्ति को छोड़ कर लौकिक वस्तु में मग्न हो जाओगे तो मृत्यु समय जो भाव होंगे उस के अनुसार दूसरा जन्म मिलेगा । श्री कृष्ण गीता के ८.६ अध्याय में कहते हैं:

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावित ।।

"हे कुन्तीपुत्र, मृत्यु समय जो जिस वस्तु के बारे में सोचता है वह केवल वही पाता है क्योंकि वह सदा उसी भाव से प्रभावित रहता है ।"

भरत महाराज की यह घटना यह भी सिखाती है कि भक्ति कभी नष्ट नहीं होती । हिरन बनने के बाद भी वे भक्त ही रहे । वे कृष्ण का स्मरण करते रहे । इस कहानी का यही उद्देश्य है । अतः जिस सन्दर्भ में चैतन्य-चरितामृतकी पयार लिखी गयी है उस पर विचार करना चाहिए, न कि उसका उपयोग निज़ी सोच के सहायक के रूपमें और अपने निर्णय को दृढ़ करने के लिए । अन्य पयार जो कहते हैं कि ब्राह्मण ही गुरु होना चाहिए, उन को ध्यानमें रखना चाहिए नहीं तो वे सब ग़लत ठहरेंगे । शास्त्र के

विरोधाभासी विधानों का समाधान करना चाहिए, अन्यथा शास्त्र के नाम पर लोग गुमराह हो जाएँगे ।

******

प्रश्नः जब गुरु स्वयं उत्तम भक्त न हो तो क्या वह फिर भी दीक्षा दे सकता है ? यदि वह सोचता है कि उसके शिष्य उत्तम भक्त से उपदेश पाये ?

उत्तरः शास्त्र कहता है कि केवल उत्तम भक्त को ही दीक्षा देनी चाहिए । यदि उसके बस में नहीं है और फिर भी शिष्यों को अपनाता है तो वह शास्त्र के विरुद्ध है । उसके कुछ भौतिक उद्देश्य होंगे जैसे कि धन और शिष्यों का ढ़ेर लगाना । वह एक दुकानदार जैसा है जिसकी दुकान में ढ़ेर कपड़े हैं । यह सारी चीज़ें ख़ुद के लिए नहीं है परन्तु विक्रीय के लिए है । ठीक उसी तरह तथाकथित गुरु मन्दिर और विग्रह रखते हैं किन्तु वे स्वयं विग्रह सेवा नहीं करते हैं । पूजादि सेवा के लिए दूसरों को लगाते हैं । यह सब केवल व्यापार के लिए होता है । अधिकतम लोगों की मानसिकता छल कपट वाली होती है और इसी कारण वे धोखेबाज़ों से प्रभावित होते हैं । ******

प्रश्नः यदि गुरु बीमार या अशक्त हैं तो क्या वह अपने नाम से शिष्य को ऋत्विक् दीक्षा देने का आदेश दे सकते हैं ?

उत्तरः यदि गुरु बीमार या अशक्त हैं एवं दीक्षा देने के लिए असमर्थ हैं तो उन्हें शिष्य का स्वीकार नहीं करना चाहिए । उन्हें अपने शिष्यों को शिष्य बनाने की अनुमति देनी चाहिए । अन्यथा वह एक व्यापार होगा जो मैं ने ऊपर बताया । वह अपने शिष्यों को दीक्षा देने की छूट क्यों नहीं देता है ? ऋत्विक् गुरु जैसी कोई वस्तु ही नहीं है ।

******

प्रश्नः चैत्य गुरु का क्या स्थान है ?

उत्तरः चैत्य गुरु भगवान स्वयं है जो भीतर से प्रेरणा देते हैं । ******

प्रश्नः सर्वज्ञ शब्द का क्या अर्थ होता है ? जिस भक्त को सर्व ज्ञात है उसकी क्या भावना होती है ? यदि कोई व्यक्ति मुझे मिले जो सब कुछ जानता है और मेरे भूत, भविष्य और वर्तमान के बारे में भी बता सकता है तो क्या उसके पास ऐसी गुप्त शक्ति है जो उसे बताती है कि भविष्यमें क्या होनेवाला है ?

उत्तरः सर्वज्ञ केवल कृष्ण है, ओर कोई नहीं है । किसी गुरु या भक्त को सर्वज्ञ होने की आवश्यकता नहीं है क्योंकि इसका (सर्वज्ञता का) भक्ति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । भक्ति किसी लौकिक उद्देश्य बिना सिर्फ भगवान की सेवा करना है ।

रहस्यमय घटनाओं का भक्ति से कोई सम्बन्ध नहीं है । सामान्य जन को आकर्षित करने या किसी व्यक्ति के प्रति आदर एवं श्रद्धा बने इसलिए ऐसी विचारधारा (जैसे

कि वह व्यक्ति सर्वज्ञ है) फैलाई जाती है । भूत, भविष्य और वर्तमान के विधान तो ज्योतिषी भी कर सकते हैं । वे उस काल के विषय में कह सकते हैं । व्यक्ति के जीवन से सम्बन्धित विषय वस्तु बहुत मर्यादित है । यदि आप उसका (ज्योतिष) थोड़ा सा भी अभ्यास करेंगे यद्यपि अधिक नहीं जानते हो, फिर भी कुछ घटनाओं के बारे में बातें करोगे तो लोग आप से प्रभावित हो जाएँगे । सभी को थोड़ी बहुत स्वास्थ्य, पारिवारिक और आर्थिक समस्याएँ होती ही हैं । इन पर अनुमान कर सकते हो और उनमें से मात्र एक भविष्यवाणी का अनुमान तो सही हो ही जायेगा । ऐसा करने के लिए अधिक ज्ञान की आवश्यकता नहीं है । सर्वज्ञ जैसा कुछ नहीं है ।

प्रेरणा कृष्ण से मिलती है और वही हमें ज्ञान देता है । गुरु आप के भूत, भविष्य और वर्तमान के बारे में कुछ नहीं जानते है क्योंकि इससे उसका कोई प्रयोजन नहीं है । उनका (गुरुका) कार्य शास्त्र के विषय में ज्ञान देना है । गुरु केवल यही जानता है और शास्त्र में सर्वज्ञ है । वह पूर्ण रूप से शास्त्र-अभिज्ञ है । कुछ लोग दूसरों को अभिभूत करने के लिए सर्वज्ञता जैसे विषय में बातें करेंगे । ऐसी बातें होती रहती है परन्तु यह सत्य नहीं है ।

******

४४.   गुरु पूजा

प्रश्न: हमें गुरु पूजा कैसे करनी चाहिए ?

उत्तर: गुरु अपने-आप में दो तत्त्व में समाए हुए हैं ।

1   वे साक्षाद् भगवान हैं ।

2   वे भगवान का प्रिय भक्त हैं ।

भगवान की पूजा करने से पहले गुरु की पूजा करनी चाहिए । गुरु पूजा किए बिना भगवान की पूजा नहीं करनी चाहिए । गुरु पूजा के बाद कृष्ण की पूजा के लिए गुरु से अनुमति लेनी चाहिए । स्वयं को गुरु का सेवक समझकर पूजा करते समय ऐसा सोचो कि गुरु भगवान की पूजा कर रहे हैं और मैं उनका सहयोगी हूँ ।

******

प्रश्न: क्या हम गुरु को चन्दन, पुष्प, धूप, दीपक, और फल (पञ्चोपचार) अर्पण कर सकते हैं ?

उत्तर: आप गुरु और भगवान दोनों को यह अर्पण कर सकते हैं । गुरु की अनुकूल सेवा करने के बाद भगवान की सेवा करनी चाहिए । मात्र उत्तमा भक्ति-मार्ग में ही गुरु को भगवान और भगवान का भक्त मानते हैं । अन्य मार्ग में गुरु को केवल भगवान मानते हैं और उनकी स्वतन्त्र रूप से सेवा करते हैं ।

******

प्रश्न: हमें गुरु को भोजन कैसे अर्पण करना चाहिए ?
उत्तर: पहले भगवान को भोजन अर्पण करो । भगवान के ग्रहण करने के बाद उस प्रसाद को गुरु के लिए अलग थाली में निकाल कर गुरु को अर्पण करो । गुरु अपनी थाली में से खाते हैं, विग्रह की थाली में से नहीं ग्रहण करते । ******

प्रश्न: क्या गुरु को आचमन भी अर्पण कर सकते हैं ?
उत्तर: हाँ, उसके लिए भी आप को अलग सामग्री की जोड़ रखनी होगी ।
******

प्रश्न: जब पूजा के लिए चन्दन तैयार करते हैं, तो क्या विग्रह और गुरु दोनों के लिए दो भाग में करना होगा ?
उत्तर: हाँ । आप को दोनों के लिए अलग अलग तैयार करने हैं क्योंकि आप गुरु का अवशेष भगवान को अर्पण नहीं कर सकते । पहले आप गुरु की पूजा चन्दन के एक हिस्से से कीजिए और फिर भगवान की सेवा उनके हिस्से से करें । ******

प्रश्न: क्या गुरु पूजा दिन में मात्र एक बार की जाती है ?
उत्तर: आप जितनी बार भगवान की सेवा करो, उतनी बार गुरु पूजा कर सकते हो ।
******

प्रश्न: ठाकुरजी को शयन कराने के बाद गुरु का क्या करना चाहिए ?
उत्तर: विग्रह को शयन कराने के बाद गुरु को भी मन से शयन कराएँ । सेवा के लिए मन का (स्थिर) होना अति आवश्यक है । सेवा करते समय यदि कुछ सामग्री नहीं है, या कम है तो मन से उन सामग्री के लिए सोचो । मन ही केन्द्र बिन्दु है । जगत में लोग जैसे पैसे कमाने के लिए दृढ़ निश्चयी है, उसी प्रकार मनुष्य को आध्यात्मिक मार्ग में भी मग्न होने के लिए दृढ़ निश्चयी होना चाहिए । सेवा करने का उद्देश्य मन को भगवान में स्थिर करना है । सेवा करते समय मनुष्य को जाग्रत रहना चाहिए । यदि आप गुरु को याद करते हो तो आप को कृष्ण से प्रेरणा मिलती रहेगी ।
******

प्रश्न: पूजा करते समय हम गुरु को अर्घ्य, मधुपर्क और नैवेध्य अर्पण करते हैं । क्या ऐसा हम दोपहर तक उपवास रखने के दिन भी कर सकते हैं, जैसे कि आज का दिन है ?
उत्तर: आप अर्पण कर सकते हैं । सेवा प्रतिदिन करनी चाहिए । ******

प्रश्न: गुरु की पूजा कैसे की जाती है ? क्या पहले गुरु की पूजा करनी चाहिए और बाद में विग्रह की ? प्रसाद अर्पण कैसे किया जाता है ?
उत्तर: गुरु और विग्रह की पूजा सामग्री अलग अलग होनी चाहिए । गुरु धूप, दीपक आदि के अलावा केवल भगवान को अर्पण की हुयी सामग्री मात्र का स्वीकार करते हैं।

उत्तमा-भक्ति या रागानुगा भक्ति में गोस्वामीगण ने गुरु पूजा की विधि दर्शायी है । भगवान की सेवा करने से पहले गुरु पूजा करो । उदाहरण स्वरूप, यदि गुरु को पुष्प और चन्दन अर्पण करना चाहते हो तो आप पहले भगवान के लिए पुष्प और चन्दन लो । उस पुष्प और चन्दन में से थोड़े पुष्प और चन्दन गुरु पूजा के लिए अलग से रख लो और उन्हीं से गुरु पूजा करो । गुरु कृष्ण की सामग्री में से थोड़ा हिस्सा पाते हैं, पर सामग्री गुरु और भगवान के लिए अलग ही होनी चाहिए ।

साधक में अपने को स्वतन्त्र समझने के बदले उस में गुरु और भगवान का आनुगत्य होने का भाव होना चाहिए । साधक को हमेशा इसी भाव से सेवा करनी चाहिए, चाहे वह सिद्ध स्तर तक ही क्यों न पहुँचा हो ।

जब तक बहिर्मुखता से स्वतन्त्रभाव का त्याग नहीं होगा, तब तक अनर्थ-निवृत्ति सम्भव नहीं होगी । इसीलिए हमेशा गुरु के आदेश का पालन करना चाहिए, उनकी पूजा करनी चाहिए और स्वयं को गुरु का सेवक समझ कर भगवान की सेवा करनी चाहिए।
उपासना दो प्रकार की है :

1. स्वारसिकी अर्थात् कृष्ण की लीला में सेवा करना । यहाँ कृष्ण एक नदी के जलधारा की तरह रमण करते घूमते हैं । स्वारसिकी सेवा में साधक कृष्ण को लीला की आवश्यकता अनुसार भजते हैं, जिसमें मन्त्रमयी का भी समावेश हो सकता है ।
2. मन्त्रमयी अर्थात् विग्रह की सेवा जो एक स्थान पर स्थित है, भ्रमणशील नही है। यहाँ कृष्ण एक झील की भाँति एक स्थान पर स्थित है । इस समय उन्हें धूप, दीप इत्यादि अर्पण कर सकते हैं ।

पूजा का उद्देश्य मात्र सेवा की क्रिया नहीं है परन्तु भगवान से सम्बन्ध जोड़ने का है । पूजा सामुख्य और अनुकूल होने का एक माध्यम है । इस उद्देश्य को सिद्ध करने का मार्ग है गुरु के आदेश का पालन करना । ऐसा न करने से साधक पहले से भी ज्यादा बहिर्मुख हो जाता है । इसका कारण है साधक अपनी सेवा को लेकर अहङ्कारी हो जाता है ।

आप को आत्मनिरीक्षण करना चाहिए । अपने आप से यह प्रश्न पूछने चाहिए कि क्या मुझे मेरे गुरु पसन्द है ? क्या मुझे उनकी पूजा करना अच्छा लगता है ? क्या मैं गुरु की सेवा किए बिना आगे बढ़ना चाहता हूँ ? क्या मैं उनकी आलोचना करता हूँ ? यदि साधक का ऐसा भाव है तो फिर वह जितनी साधना करता है, उतना ही उसका स्वतन्त्र विचार मन में फैलता है । ऐसा कई बार होता है कि दीक्षा लेने के बाद साधक दाम्भिक अहङ्कार से स्वच्छन्द बन ज़ाता है । आप को स्वयं यह देखना है कि गुरु की सेवा में आप की प्रगति हो रही है या आप अलगाव एवं स्वतन्त्र सोच रखनेवाले हो गए हो ? सेवा में मुख्य है सही भाव होना । सही विधि का होना मुख्य नहीं है । गुरु-त्याग कभी नहीं करना चाहिए ।

******

प्रश्न: यदि कोई आपातक़ालीन परिस्थिति हो तो क्या सही मार्गदर्शन के लिए गुरु की प्रार्थना करनी चाहिए ?

उत्तर: आप को गुरु का स्मरण करना चाहिए, उनकी प्रार्थना करनी चाहिए और उन्हें एक आदर्श दृष्टान्त के रूप में स्वीकारना चाहिए । गुरु स्मरण आप को सही मार्ग पर रखेगा, नहीं तो आप कामवासना आदि से प्रभावित हो जाओगे ।

******

प्रश्न: गुरु को प्रार्थना और प्रणाम कैसे अर्पण किए जाते हैं ?

उत्तर: वैदिक रीति के अनुसार प्रणामी अपना नाम लेकर गुरु का आह्वान करता है, मैं (कृष्णदास) आप को अपना प्रणाम अर्पण करता हूँ और फिर शिर नमन करता है। नमन करना अर्थात् आप जिसे प्रणाम करते हो उनके सद्-गुणों का स्मरण करना, उनकी तुलना से अपने आध्यात्मिक स्तर की तुलना करना । ऐसा करने से आप अपने अहङ्कार और अभिमान से मुक्त हो जाओगे ।

प्रणाम करने का अर्थ होता है गुरु के उच्च पद का स्वीकार करना और उनकी तुलना में अपने स्तर को गौण समझना । प्रणाम करना मात्र एक शारीरिक क्रिया नहीं है, परन्तु एक मनोभाव है । प्रणाम का अर्थ होता है उनके उच्च पद के बारे में सचेत होना।

******

४५. गुरु शिष्य

प्रश्न: आप ने बताया कि यदि साधक निर्देश का पालन करना नहीं चाहता है तो उसे दीक्षा नहीं लेनी चाहिए । क्या आप यह कहना चाहते हो कि दीक्षा लेने के पहले

साधक को गुरु की हर आदेशपूर्ति के लिए तैयार रहना होगा या पहले दीक्षा ले ले और फिर धीरे-धीरे शरणागति की ओर कदम बढ़ाएँ ?

उत्तरः मार्ग दो प्रकार के हैं: प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग ।

1. प्रवृत्ति-मार्ग अर्थात् लौकिक आसक्ति का मार्ग जहाँ व्यक्ति अपने देह और देह से जुड़ी वस्तुओं में आसक्त होता है और वह उन वस्तुओं में से आनन्द पाना चाहता है । उसकी रुचि इस संसार से मुक्त होने में नहीं होती किन्तु इस जन्म एवं परवर्ती जन्म में भी आरामदायक जीवन व्यतीत करने की होती है । वह वैदिक रीति या अन्य रीति अपनाकर जो कुछ भी करे, उसकी महत्तम इच्छा तो सुविधापूर्ण परिस्थिति पाना ही है। यदि वह दीक्षा लेता है और धार्मिक सिद्धान्तों का पालन करता है तो भी उसका मुख्य उद्देश्य सांसारिक सुख ही होता है । यह एक मार्ग है ।

2. दूसरा मार्ग है निवृत्ति-मार्ग, जहाँ साधक समझता है कि यह संसार बड़ा दुःखदायी और कष्टदायी है जिससे उसे पुनः पुनः जन्म लेने में कोई रुचि नहीं है । वह इस से छुटकारा पाना चाहता है और यह भी जानता है कि इसका उपाय है भगवान की शरणागति । इस प्रकार उसका उद्देश्य है प्रभु सङ्ग में आनन्द पाना । वह दीक्षा लेकर आध्यात्मिक मार्ग अपनाता है क्योंकि वह संसार से मुक्ति चाहता है । इसे निवृत्ति-मार्ग कहते हैं ।

सब से पहला कार्य है इस बात पर गहराई से चिन्तन करना, और निर्णय करना कि अब क्या करना है । वह निवृत्ति-मार्ग पर अथवा प्रवृत्ति-मार्ग पर चलना चाहता है । लौकिक आनन्द चाहता है या अलौकिक । इन दोंनो में से कोई भी मार्ग को अपनाये, उसे दीक्षा तो लेनी ही होगी ।

कई लोग दीक्षा और बाबाजी वेष लेने के लिए मेरे पास आते हैं । मैं उनसे पूछता हूँ, "आप यह क्यों चाहते हो ?" वे कदाचित कहेंगे, "मैं बङ्गाल जाकर कई शिष्य बनाकर धन कमाना चाहता हूँ ।" फिर मैं पूछता हूँ, "आप दीक्षा बिना क्यों नहीं जाते हो ?" वे कहते हैं, "लोग मुझे पूछेंगे कि मेरे गुरु कौन है । इसके लिए मुझे जवाब चाहिए अतः मेरा कोई गुरु होना आवश्यक है ।" फिर मैं उन्हें दीक्षा देता हूँ और । वे चले जाते हैं, शिष्य बनाते हैं, धन कमाते हैं और अपना कारोबार करते हैं । वे सत्यवादी हैं और प्रवृति मार्ग पर चलते हैं । उसी प्रकार साधक को निवृत्ति-मार्ग में भी सत्यवादी होना चाहिए क्योंकि निवृत्ति-मार्ग में गुरु को भगवान मानना होता है । गुरु की जैसी रुचि है वैसी ही रुचि (शिष्य को) होनी चाहिए । गुरु के आदेश और अनुशासन का पालन करना होता है ।

दीक्षा में दो वस्तु है: दीक्षा हमें दिव्य ज्ञान देती है और हमारे पापों को मिटाती है। अतः उस में दो अक्षर होते हैं, दी और क्षा: । दिव्य ज्ञानं यतो दद्यात् कुर्यात् पापस्य संक्षयम् । दिव्य ज्ञान अर्थात् जीव के स्वरूप का ज्ञान । जीव का स्वरूप है कि वह भगवान का सेवक है । यदि कोई योग्य गुरु से निष्ठा से दीक्षा ग्रहण करता है तो भगवान वास्तव में प्रसन्न होते हैं और उसे अपने सेवक की भाँति स्वीकारते हैं । जब भगवान शिष्य का स्वीकार करते हैं तो उसके पाप का भी क्षय होता है क्योंकि अब वह स्वतन्त्र या स्वच्छन्द रूप से कार्य नहीं करेगा ।

अब वह गुरु के आदेशानुसार कार्य करेगा । अतः कोई कर्म, पाप या ऐसा कुछ भी नहीं होगा जो लौकिक या स्वतन्त्र जीवन का परिणाम है । अतः वह अब कोई पाप नहीं करता । परन्तु साधक को सत्यवादी होना ज़रूरी है । ऐसा नहीं है कि दीक्षा लेकर साधक स्वच्छन्द आचरण करे । अगर शिष्य सत्यवादी है तो यह मार्ग सफलता देता है । दीक्षा लेने के बाद साधक को गुरु से भागवत धर्म के सिद्धान्तों को सीखना चाहिए और उनका पालन करना चाहिए । यह है निवृत्ति-मार्ग ।

पूर्व समय में जो प्रवृत्ति-मार्ग अपनाते थे उनके भी गुरु होते थे । यद्यपि प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग के गुरुओं में भेद था । प्रवृत्ति-मार्ग में भी लोग अपने गुरु के आदेश का पालन अति सावधानी से करते थे । अब तो यह सब एक मज़ाक सा हो गया है। लोगों को निवृत्ति में कोई रुचि नहीं है । इसीलिए मैं कहता हूँ, " यदि साधक सत्यवादी नहीं है तो उसे दीक्षा नहीं लेनी चाहिए ।" दीक्षा लेने की क्या आवश्यकता है ? यदि साधक की आसक्ति लौकिक सुख में है तो माया जगत में उसके लिए ढ़ेर सारी सुविधाएँ हैं । फिर आध्यात्मिक मार्ग अपनाकर उसे व्यापार बनाने की क्या आवश्यकता है ? "सतां मार्गः स्तब्धेन दूषितः" । यह मार्ग सत्पुरुष, सन्त लोगों का है, अर्थात् उन लोगों का है जो सत्यवादी है और जिनकी मानसिकता कपटी नहीं है । इस मार्ग को सन्मार्ग कहते हैं । सत् शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ होते हैं। सत् यानि निष्ठावान और ईमानदार । इसका अर्थ ईश्वर का मार्ग भी है क्योंकि ईश्वर भी सत् है । इस मार्ग को हमें सच्ची निष्ठा से, उस पर चलने की चाह से अपनाना चाहिए और दीक्षा भी बड़ी निष्ठा से ग्रहण करनी चाहिए ।

.....

प्रश्न: क्या कोई साधक धीरे-धीरे इस उद्देश्य की ओर प्रगति कर सकता है ?
उत्तर: साधक को यह निश्चित करना चाहिए कि वह क्या चाहता है । यदि आप को यह चाहिए परन्तु वास्तविक रुचि किसी और में है तो यह सम्भव नहीं है । मन में

सुनिश्चित करना होगा कि प्रवृत्ति-मार्ग पर चलना चाहते हो या निवृत्ति-मार्ग पसन्द है। सब से पहले यही निर्णय करना होगा । यदि निवृत्ति-मार्ग अपनाना चाहते हो तो उसके लिए दृढ़ निश्चयी बनो । यदि उसे मार्ग कहते हैं तो उस पर चलते रहो और धीरे-धीरे प्रगति करो । फिर भी मैं यही कहने का प्रयत्न कर रहा हूँ कि लोग अपनी सोच में स्पष्ट नहीं है कि वे क्या चाहते हैं । वे चलते हैं किसी एक मार्ग पर और उद्देश्य कुछ और होता है । अतः मैं कहता हूँ कि मन में अपना उद्देश्य निश्चित करो ।

******

प्रश्न: जब गुरु शिष्य को कोई निर्देश न दें तो इसका अर्थ क्या यह होता है कि शिष्य प्रवृत्ति-मार्ग पर चल रहा है ?

उत्तर: यदि गुरु को ऐसा लगे कि शिष्य निर्देश पाने के लिए योग्य नहीं है तो उसे क्यों परेशान करे ? वैसे भी वह निर्देश नहीं लेगा । मैं ऐसे शिष्यों को परेशान नहीं करता।

******

प्रश्न: क्या इसका अर्थ यह होता है कि यदि गुरु से निर्देश नहीं मिल रहे हैं तो साधक निवृत्ति-मार्ग पर नहीं है ? मैं ने कभी-भी आप को अपने शिष्यों को निर्देश देते हुए नहीं देखा है तो क्या इसका अर्थ यह है कि वे प्रवृत्ति-मार्ग पर हैं ? ******

उत्तर: प्रवृत्ति-मार्ग या निवृत्ति-मार्ग यह तो साधक को ही निश्चित करना होगा क्योंकि दोनों ही मार्ग में उसे गुरु के निर्देश का पालन करना होता है । जहाँ तक निर्देश की बात है यह सच नहीं है कि मैं अपने शिष्यों को निर्देश नहीं देता या निर्देश न देना यह मेरी रीति है । यदि मुझे ऐसा लगता है कि साधक योग्य है, समर्पित है और यदि आप भी आकर कहोगे कि आप इस मार्ग पर चलना चाहते हो और निर्देशन के लिए पूछोगे तो जैसे मैं ने आगे कहा, मैं अवश्य निर्देश दूँगा ।

यद्यपि जब मुझे लगेगा कि बात ऐसी नहीं है तब मैं क्यों निर्देश दूँ ? मुझे पता है कि वह उसका पालन नहीं करेगा और मेरा निर्देश उसके लिए मुश्किल भरी परिस्थिति खड़ी करेगा । उस से गुरु के अनादर का दोष होगा । यह मार्ग ईश्वर का है, निष्ठा का है और दीक्षा लेने के बाद सही ग़लत का विवेचन किए बिना गुरु के सभी आदेशों का पालन करना होता है । इस मार्ग में दीक्षा लेने के बाद इस प्रकार के विवेचन का कोई स्थान नहीं है कि यह आदेश सही है या ग़लत । साधक आदेश का पालन करना नहीं चाहता है तो गुरु उसे कुछ भी नहीं कहेंगे । इस मार्ग में गुरु को स्वीकार करने के बाद गुरु ग़लत हो सकते हैं ऐसा कोई तर्क, या "ये मुझे ऐसा करने को क्यों कह रहे हैं ?" ऐसी सोच रहती ही नहीं है । भक्ति में इसका स्वीकार नहीं किया जाता ।

यही बात दीक्षा लेने के पूर्व निश्चित करनी है और दीक्षा के बाद उसका पालन अवश्य करना है । यदि साधक निश्छल और सच्चा है तो निर्देश दिये जाएँगे । सबसे पहले तो यह समझना होगा कि उसे सांसारिक सुख में आसक्ति है कि नहीं । यदि वह सांसारिक सुख को त्यागना चाहता है तो उसके बाद ही इस मार्ग को अपनाना चाहिए ।

कभी-कभी कोई साहजिक रूप से ही इन में रुचि लेते हैं । तब उन्हें ऐसे विवेचन की आवश्यकता नहीं होती । उसे अपने आप ही यह मार्ग अच्छा लगने लगता है, जैसे मेरे साथ हुआ । मुझे कोई निर्देश नहीं दिए गए थे किन्तु मुझे यह भक्ति-मार्ग साहजिक रूप से ही अच्छा लगा था । बाद में मैं ने अध्ययन किया और जो भी पढ़ा वह मेरी हृदयगत धारणाओं के साथ मिलता था एवं मेरा मानना है कि साधक को इसी प्रकार समर्पित होना है और गुरु के सच और झूठ की परीक्षा किए बिना उन के आदेश का पालन करना चाहिए । मैं प्रारम्भ से ही ऐसा था । यदि ऐसा (भाव) होता है तो अच्छी बात है ।

यदि ऐसा नहीं है तो साधक को ठीक से विवेचन करना चाहिए । यह कोई मज़ाक़ या मामूली बात नहीं है किन्तु एक गम्भीर पथ है । यदि गम्भीरता का भाव रखते हो तभी इसका पालन करना चाहिए, अन्यथा कोई आवश्यकता नहीं है । (साधक का) हृदय ही जान जाएगा कि वह प्रवृत्ति-मार्ग पर है या निवृत्ति-मार्ग । ******

प्रश्न: आजकल अधिकतर लोग जो गुरु को स्वीकारते हैं उन्हें गुरु-समर्पण के विषय में प्रतिकूल अनुभव होते हैं जिस से फिर से अन्य कोई सद्गुरु को समर्पण के लिए विश्वास होना बड़ा कठिन होता है ।

उत्तर: यदि ऐसा है तो दीक्षा मत लो । इस मार्ग में दीक्षा लेने के बाद विच्छेद करना सम्भव नहीं है । इसी कारण मार्ग चुनने से पहले विवेचन करना आवश्यक है । यदि कोई आस्तिक बनना चाहता है अर्थात् ईश्वर में आस्था रखना चाहता है तो कम से कम उसे भगवान को मानना चाहिए यानि उन की वाणी जो शास्त्र के रूप में है उसे अपनाना चाहिए । गुरु ही भगवान है इस बात का स्वीकार करके चलना बड़ा कठिन है किन्तु उनका अनुशासन मानो और कम से कम वह जो कहते हैं उसका पालन करो । उनके शब्दों में श्रद्धा रखो । किन्तु लोगों को तो भगवान की वाणी में भी श्रद्धा नहीं है ।

******

प्रश्न: क्या यह व्यक्तिगत पसन्दगी की बात है ? यदि कोई इतना योग्य नहीं है परन्तु फिर भी वह इस मार्ग पर चलना चाहता है तो क्या वह ऐसा कर सकता है ?

उत्तर: आप को निर्णय करना है कि आप कौन-सा पथ अपनाना चाहते हो । यदि आप की रुचि निवृत्ति-मार्ग में है तो उस पर चलो । ******

प्रश्न: परन्तु कभी-कभी यह ग्रहण करने के लिए कठिन हो जाय ।

उत्तर: कठिन या सरल यह आपकी इच्छा पर निर्भर होता है । यदि दृढ़ निश्चय से इच्छा रखोगे तो कठिन भी सरल हो जाएगा । यदि ऐसी इच्छा नहीं रखोगे तो वह और कठिन दीखेगा । ******

प्रश्न: शास्त्रीय गुरु क्या है जब तक इस बात की समझ नहीं होगी तब तक कैसे कोई सही ज्ञान पा सकता है ?

उत्तर: यह अवश्यम्भावी है कि अयोग्य गुरु होंगे क्योंकि लोग आजीविका के लिए नए-नए रास्ते और तरीक़े ढूँढते हैं । पहले भी ऐसा होता था अतः भक्ति, भक्ति-आभास आदि का विवरण दिया गया हैं ।

जिन्हें उत्तम श्रेय की जिज्ञासा है उन्हें इस का अनुसन्धान करना होगा । यदि वे निष्ठावान हैं तो अवश्य योग्य गुरु ढूँढेंगे और यदि निष्ठावान नहीं है तो अयोग्य गुरु के पास जाएँगे क्योंकि दोनों (गुरु-शिष्य) की रुचि में सामञ्जस्य है । यह साधक की रुचि पर निर्भर करता है कि वह परम श्रेय यानि उत्तमा-भक्ति चाहता है या नहीं । यदि उसे उत्तमा-भक्ति में रुचि है तो, वह तब तक सन्तुष्ट नहीं होगा जब तक उसे योग्य गुरु न मिलें। ******

प्रश्न: क्या यह पहले से ही निर्धारित किया गया है कि किस साधक को कौन-सा गुरु मिलेगा ? क्या गुरु को भी पहले से ही ज्ञात होता है कि उनका शिष्य कौन होगा ?

उत्तर: यह निर्धारित नहीं है कि किसे कौनसा गुरु मिलेगा । वह तो भगवान है जो इसके लिए प्रेरित करता है और उसी के आधार पर साधक यही निश्चित करता है कि उनके गुरु कोन होंगे । कोई चाहे आध्यात्मिक-मार्ग पर हो या भौतिक-मार्ग पर हो, सब कुछ ईश्वर के हाथ में है । वे नियन्त्रक हैं, इसीलिए वे ही साधक को उसकी योग्यता के अनुसार प्रेरित करेंगे । ******

प्रश्न: मुझे आश्चर्य होता है कि क्यों मेरा सङ्ग आपसे हुआ । क्या यह हमारा भाग्य, पूर्व जन्म की सुकृति या किसी और कारण से है ?

उत्तर: इसका कारण केवल ईश्वर कृपा है। जब भगवान किसी का उद्धार करना चाहते हैं तब वे ही अपने भक्त का सम्पर्क करने के लिए साधक को प्रेरित करते हैं। यह कोई सुकृति का फल नहीं है।

******

प्रश्न: क्या यह केवल भाग्य है ?

उत्तर: आप उसे भाग्य कह सकते हो क्योंकि भक्ति केवल भगवान से प्राप्त होती है जो उसकी कृपा से ही होती है।

******

प्रश्न: हम अब समर्पित नहीं है परन्तु समर्पण की हमारी इच्छा है इन दोनों विकल्पों में से हमें क्या करना चाहिए ? यह जानते हुए भी कि हम अन्य मार्ग की शरण में नहीं जा सकते तब इस सोपान को क्या कहते हैं और इस स्थिति में हमें क्या करना चाहिए?

उत्तर: दीक्षा का अर्थ है गुरु को सम्पूर्णरूप से स्वीकारना और उनके आदेश का पालन करना। दीक्षा लेने का केवल यही उद्देश्य है। यदि किसी को इसकी इच्छा है तो अवश्य करना चाहिए। केवल यही करना है ठीक वैसे जैसे जगत में कुछ प्राप्त करना चाहते हो तो किसी अधिकारी की आज्ञा का पालन करना पड़ता है। जब आप वाहन चलाते हो तब (रास्ते के) विशेष नियमों का पालन करते हो। ऐसा न करने पर आप मुश्किल में आ जाते हो।

आध्यात्मिक मार्ग भी वैसा ही है। वहाँ शास्त्र, गुरु या कृष्ण के निर्देश हैं और यदि कृष्ण को पाना चाहते हो तो उनके निर्देश का पालन करना होगा। साधक को यह बात समझनी चाहिए और यदि इस में रुचि है तो निर्देश का पालन करना चाहिए। अन्यथा एक व्यक्ति वही करेगा जो उसके जी में आएगा। गुरु का कथन न सुनकर वह मनमानी करेगा। यदि वह मनमौजी है तो उसे क्या निर्देश दें ? ऐसे निर्देश का कोई अर्थ ही नहीं है। यह एक सरल सी बात है। यदि आप शिक्षा और गुरु स्वीकार करते हो तो उन के निर्देश का पालन करो और उनकी छत्र तले रहो। कभी-कभी लोग आते हैं, दीक्षा लेते हैं और फिर पूछते हैं, "मुझे क्या करना है ?" मैं दृष्टान्त के रूप में कहता हूँ, "एकादशी के दिन अन्न मत खाओ।" किन्तु वे फिर भी अन्न खाएँगे और उनके ही परिवार वाले उन्हें पूछेंगे, "यदि आप को अपने गुरु का कथन नहीं अच्छा लगता है तो उन्हें क्यों पूछा कि आप को क्या करना चाहिए ?" ऐसी दीक्षा लेना का क्या प्रयोजन है ?

लौकिक जगत में भी कुछ नियमों का पालन करना होता है । यदि रास्ते में लालबत्ती है तो वाहन चालक को रुकना होता है तो फिर साधक आध्यात्मिक मार्ग में निर्देश का पालन क्यों नहीं करना चाहता है ? यह प्रश्न मेरी समझ में नहीं आता है । हर स्थान पर विशेष निर्देश या ऊपरी अधिकारी के आदेश का पालन करना होता है । आध्यात्मिक मार्ग में भी ऐसा करना होता है । इस में आपत्ति क्या है ? ******

प्रश्न: यदि साधक सम्पूर्णतया गुरु को समर्पित होने की इच्छा रखता है और उनके निर्देश का पालन करना चाहता है तो जब तक वह सम्पूर्णतया समर्पित न हो तब तक क्या दीक्षा ग्रहण करने में विलम्ब करना चाहिए या फिर दीक्षा ग्रहण उस की ध्येय प्राप्ति के लिए प्रेरणा स्रोत होगी ?

उत्तर: सबसे पहले साधक को प्रवृत्ति-मार्ग और निवृत्ति-मार्ग को समझना होगा । यदि वह निवृत्ति-मार्ग पसन्द करता है और उसे समझता है तभी दीक्षा लेनी चाहिए । यदि बिना सोचे समझे दीक्षा ले ली है तो भी उसे समझने का और पालन करने का प्रयत्न करना चाहिए । यदि पूर्णरूप से समर्पित नहीं है तो धीरे-धीरे समर्पित होना चाहिए । ऐसा नहीं होना चाहिए कि दीक्षा के बाद उस में (आध्यात्मिक-मार्ग में) रुचि न हो । यदि रुचि नहीं है तो गुरु शिष्य बन जाता है और शिष्य गुरु बनता है और फिर शिष्य गुरु को आदेश देता है, "मुझे ये दो, मुझे वो दो, ऐसा करो" आदि । यह आध्यात्मिक रीति नहीं है । वर्तमान में ऐसा ही हो रहा है क्योंकि लोग सभी चीज़ों को व्यापार में बदल रहे हैं । ऐसे गुरु कहते हैं, "मुझ से केवल मन्त्र ले लो और फिर जो जी में आये वह करो ।" अधिक भ्रष्टाचार के कारण भक्ति-मार्ग का भी भारत सरकार की भाँति पतन हुआ है । यह अनिर्वचनीय, अकथ्य है और उस विषय में कुछ भी कहने जैसा नहीं है, चाहे वह आध्यात्मिक हो या भौतिक हो ।******

प्रश्न: क्या आप "तत्र भागवतान् धर्मान्" श्लोक विस्तारपूर्वक समझाएँगे जो गुरु को स्वीकार करने के विषय में बताता है ?

उत्तर:

तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः।
अमाययानुवृत्त्या यै स्तुष्येदात्माऽऽदो हरिः ।। (भा.११.३.२२)

"साधक को चाहिये कि गुरु को ही अपना परम प्रियतम आत्मा और इष्टदेव माने । उनकी निष्कपट भाव से सेवा करे और उनसे भक्ति के सिद्धान्तों को जाने । ऐसा करने से श्री जगदात्मा हरि प्रसन्न होकर भक्तों को अपने आप को दे देते हैं ।"

साधक जो परम श्रेय के विषय में पूछताछ करता है उसे ऐसे कुशल गुरु का सम्पर्क करना चाहिए जिसने शास्त्र का अध्ययन किया है, अनुभूति भी की है और उसका पालन भी करता है । ऐसे गुरु को समर्पित होकर दीक्षा लेकर निष्ठा से उनकी सेवा करनी चाहिए । गुरु के साथ आत्मीय भाव से उनकी जैसी इच्छा और उद्देश्य रखकर सहयोग देते हुए अनुकूल वृत्ति से सेवा करनी चाहिये । उन से भागवत धर्म का अध्ययन करना चाहिए । भागवत धर्म अर्थात् जो शब्द भगवान ने स्वयं भागवत के ११वें स्कन्ध में भक्ति के विषय में विशेष रूप से बताया है । इसका अर्थ है आचार्यों से दर्शित प्रमाणित पथ पर चलना चाहिए ।

यह उत्तमा-भक्ति है और उसे गुरु से ही सीखनी चाहिए । सेवा करने से भक्ति सीखी जाती है और बाद में अनर्थ-निवृत्ति होती है । इस के पश्चात् ही साक्षात्कार होता है । भा. ११.१९.५ में कृष्ण स्वयं कहते हैं: ज्ञान-विज्ञान संपन्नो भज मां भक्ति भावितः" । ("साधक को (भगवदीय) ज्ञान और विज्ञान से सम्पन्न होना चाहिए और भक्ति से मेरी सेवा करनी चाहिए ।")

यहाँ ज्ञान का अर्थ होता है शास्त्रीय ज्ञान और विज्ञान का अर्थ होता है अनुभूति । अर्थात् साधक को अध्ययन करना चाहिए और अनुभूति होनी चाहिये । अनुभूति सेवा करने से होती है जो अनर्थ-निवृत्ति में परिणित होती है और फिर शास्त्र का सही अर्थ समझ में आता है । साधक को उसका अध्ययन करना चाहिए या उसे सीखना चाहिए क्योंकि उससे भगवान प्रसन्न होते हैं ।

गुरु ईष्ट-देवता और प्रिय (आत्मदेवता) माना जाता है । यदि कोई ऐसे गुरु का सङ्ग करता है, समर्पित होता है, सेवा करता है और उनसे शास्त्र का अध्ययन करता है तो कृष्ण प्रसन्न होते हैं । उपरोक्त श्लोक का यही अर्थ है । ******

प्रश्न: गुरु शिष्यों के भाव-ग्राही कैसे होते हैं - क्या वह हमारे भाव को देख पाते हैं ?
उत्तरः गुरु की विशेष योग्यता होती है जिसका वर्णन भागवत में किया है:
तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् ।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम् ।। (भा.११.३.२१)
"अतः परम श्रेय के जिज्ञासु को ऐसे गुरु का आश्रय लेना चाहिए जो शास्त्र में प्रवीण है, जिन्हें परम तत्त्व की अनुभूति हुई है और पूर्ण रूप से उपशम है ।"
अर्थात् गुरु की यह योग्यता हैं:

1. शास्त्रज्ञान में प्रवीण है ।
2. उसे साक्षात्कार हुआ है ।

3. अपनी जीवन शैली शास्त्र आधारित है ।

गुरु का सही अर्थ यही है, न कि जो अधिकतर लोग सोचते हैं कि उनके पास गुप्त शक्ति होती है । लोग गुरु को रहस्यमयी व्यक्ति कहते हैं, परन्तु ऐसे गुरु शिष्यों को अपनी ओर आकर्षित करके केवल उनका शोषण करना चाहते हैं । गुप्त सिद्धि का भक्ति से कोई लेन देन नहीं है । सिद्धियाँ योग-मार्ग का हिस्सा है परन्तु भक्ति-मार्ग का हिस्सा नहीं है । लोग अन्य मार्ग की रीति को भक्ति में अपनाते हैं क्योंकि वह आम समुदाय को अधिक आकर्षित करती है ।

शास्त्र में शिष्य की योग्यता के बारे में भी कहा है । गुरु शिष्य की मानसिकता को जानते हैं, जो समझने में कठिन नहीं है । मूलभूत रूप से सभी का जन्म शारीरिक सुख (सम्भोग) से होता है । इसी कारण सभी लोग शारीरिक सुख और इन्द्रिय-सुख के प्रति आकर्षित होते हैं । इन सुखों की सन्तुष्टि के लिए या शरीर की आवश्यकताओं के लिए उन्हें धन की ज़रुरत होती है । यह हर मनुष्य के मानसिकता की रूपरेखा है जिसे समझने के लिए कोई विशेष प्रशिक्षण की आवश्यकता नहीं है । शास्त्र में शिष्य की योग्यता का वर्णन किया है किन्तु ऐसा शिष्य पाना सरल नहीं है । गुरु हर शिष्य को ठीक से पहचानते हैं, पर इस विषय में बात नहीं करते हैं अन्यथा सभी शिष्य भाग जाएँगे । वे सभी से ऐसे ही व्यवहार करेंगे मानो उनके स्वभाव के बारे में कुछ जानते ही न हो ।

ऊपर जो श्लोक बताया उसमें शिष्य के बारे में भी कहा है 'तस्माद् गुरुं प्रपद्येत' अर्थात् वह गुरु की शरण लेता है और जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम् अर्थात् वह परम तत्त्व जानने के लिए उत्सुक है । शिष्य की नियत से ही पता चलता है कि उसका भाव कहाँ है । यदि उसका उद्देश्य श्रेय (शुद्ध भक्ति) के बारे में जानना नहीं है तो यह स्पष्ट है कि वह साधक योग्य और ईमानदार नहीं है । अतः गुरु और शिष्य इन दोनों के बारे में केवल एक ही श्लोक में कहा है ।

परम श्रेय के बारेमें साधक को कब जिज्ञासा होगी ? केवल तभी होगा जब इस जन्म या भविष्य के जन्मों में लौकिक सुख की रुचि नहीं होगी । तब साधक परम तत्त्व के लिए जिज्ञासु होगा । उसी से गुरु को पता चलेगा कि शिष्य सही अर्थ में प्रपन्न, उचित शरण ले रहा है कि नहीं । ******

प्रश्नः साधु किसे माना जाता है ?

उत्तर: साधु एक सामान्य शब्द है जिसका अर्थ होता है "वह, जो उत्तम है" । भिन्न-भिन्न क्षेत्र के भिन्न प्रकार के साधु होते हैं । लौकिक जगत में एक व्यक्ति कहता है वही करता है एवं निष्ठावान है उसे साधु कहते हैं । ठीक वैसे ही योग, ज्ञान और कर्म-मार्ग में भी साधु होते हैं और उन सभी के अपने अपने विशिष्ट लक्षण होते हैं ।
भक्ति-मार्ग में साधु को भगवान के प्रति अपनी प्रीति की मात्रा से पहचाना जाता है । वास्तव में प्रीति को समझना बड़ा कठिन है । प्रीति शब्द प्रीञ् धातु से आता है जिसका अर्थ होता है सन्तुष्ट करना । अर्थात् प्रीति, प्रेम यानि दूसरे व्यक्ति को सन्तुष्ट करना । भक्ति में इसका अर्थ होता है भगवान या गुरु को सन्तुष्ट करना । जितना अधिक प्रेम होगा, उतना ही उत्तम साधु वह माना जाएगा । साधु के तीन प्रकार हैं: श्रेष्ठ साधु, मध्यम साधु और कनिष्ठ साधु । भक्ति-मार्ग में गोपियों को श्रेष्ठ साधु माना गया है क्योंकि वे कृष्ण के लिए उत्तम अनुकूल सेवा करती हैं ।
गोपीभाव को समझना बहुत कठिन है क्योंकि उन्हें अपने लिए आनन्द पाने की कोई अभिलाषा नहीं है ।

प्रीति यानि ऐसा भाव, ऐसा आनन्द जो अपने प्रिय पात्र की सेवा करने में और उसे सन्तुष्ट करने से होता है । अपनी सेवा से अपने प्रेमपात्र को प्रसन्न देख कर आप को भी आनन्द और सन्तोष मिलता है । इसे प्रीति कहते हैं । (प्रीति की तारतम्यता से साधु की श्रेष्ठता का निरुपण होता है ।) जितनी अधिक प्रीति होगी, वह उतना ही अच्छा साधु कहलाएगा अतः गोपियाँ भक्ति-मार्ग में उत्तम साधु मानी जाती हैं । प्रीति एक विशेष प्रकार की भावना या भाव होता है जिसमें साधक अपनी प्रीति से उस प्रेमपात्र की सेवा करके उसे प्रसन्न देखना चाहता है । जब ऐसी अनुभूति होती है कि सेवा करने से प्रेमपात्र के हृदय में प्रसन्नता होती है तो ऐसी प्रसन्नता आप के हृदय में भी होती है । इसे प्रीति कहते हैं ।

प्रीति का हमेशा कोई पात्र (विषय) होता है । वह बिना विषय नहीं होती । आप के मन में हमेशा किसी को प्रसन्न करने का एक भाव, एक उद्देश्य होता है जो आप को सन्तोष देता है । उसी कारण आप उस व्यक्ति के समीप जाना चाहते हो, उससे सङ्ग कर उसकी सेवा करना चाहते हो । ******

प्रश्न: हम यह सुनते हैं कि कृष्ण के साथ हमारे सम्बन्ध भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं, जैसे कि सेवक, मित्र, माता पिता आदि । गुरु के साथ कौनसा सम्बन्ध होता है ?

उत्तर: हमारा सम्बन्ध गुरु के साथ केवल एक ही होता है और वह है शिक्षक । इसीलिए वह स्वामी और अनुशासक है । शिष्य हमेशा विद्यार्थी है और अनुशासन में रहता है । अतः उसे शिष्य कहते हैं ।

कृष्ण कहते हैं कि वह स्वयं शिक्षा देने के लिए और समाज को अनुशासित करने के लिए गुरु का रूप धारण करते हैं । अनुशासन तभी सम्भव होता है जब गुरु और शिष्य का सम्बन्ध हो । अन्य किसी भी सम्बन्ध में यह सम्भव नहीं है । इसीलिए गुरु को कभी-भी एक सामान्य व्यक्ति की तरह नहीं देखना चाहिए और उनका हमेशा आदर करना चाहिए । उदाहरण स्वरूप, उन्हें कभी-भी नाम से नहीं पुकारना चाहिए, जैसे व्यवहार में अन्य व्यक्ति को पुकारते हैं । यदि उनका नाम उच्चारण करना पड़े तो भी बड़े आदर से लेना चाहिए । उनकी परछायीं को लाँघना नहीं चाहिए यहाँ तक कि शरीर के अधो अङ्ग से उनकी बैठक, वस्त्र आदि को छूना नहीं चाहिए ।

पहले तो यह नियम था कि शिष्य तब तक भोजन ग्रहण नहीं करते थे जब तक गुरु भोजन ग्रहण न कर लें । गुरु के भोजन के बाद ही उनका उच्छिष्ट भोजन शिष्य ग्रहण करता था । मैं ने जीवन पर्यन्त कभी भी स्वतन्त्र होकर नहीं खाया है और इस सिद्धान्त का हमेशा पालन किया है । इस प्रकार शिष्य हमेशा गुरु के अनुशासन में रहता है और इस सम्बन्ध में अन्य कुछ भी सम्भव नहीं है ।

भक्ति हमें सची अनुभूति, त्याग, ऐश्वर्य, और लौकिक बन्धन से मुक्ति देती है । केवल भक्ति ही आध्यात्मिक प्रक्रिया है जो प्राकृतिक गुणों से पर है । इसीलिए भक्ति में उत्तम अनुभूति और त्याग भावना देने की शक्ति है जब कि अन्य रीति केवल लौकिक लाभ देती है ।

बड़े दुःख की बात है कि अयोग्य लोगों ने इस भक्ति-मार्ग को अपनाकर उसे व्यापार बना दिया है । वे किसी को कोई भी सम्बन्ध में जो कुछ भी मन्त्र देते हैं अपितु दूरभाष से भी दीक्षा देते हैं । कोई गुरु तो माइक्रोफ़ोन और लाउड़ स्पीकर से अपने प्रवचन में ही हज़ारों शिष्यों को दीक्षा देते हैं । यह सब व्यापार और मुनाफ़ा कमाना है जिसका आध्यात्मिक पथ से कोई सम्बन्ध नहीं है । ऐसे अयोग्य गुरु के अनेक शिष्य होते हैं । इसीलिए वे अपना जो पथ (गलत मार्ग) है उस का प्रचार सचे पथ के रुप में करते हैं और इस प्रकार सच्चे मार्ग की उपेक्षा होती है । ऐसे लोगों की बहुलता के कारण ग़लत मार्ग भी सच्चा प्रतीत होता है ।

भक्ति ने व्यापार का स्वरूप ले लिया है क्योंकि लोगों को उसमें कोई रुचि नहीं है। यदि साधक सही अर्थ में रुचि रखता है तो अनुशासन का पालन करने के लिए प्रतिबद्ध होता है और तभी कोई यह समझ पाएगा । यदि शिष्य अनुशासित नहीं है तो वह यह बात नहीं समझ पाएगा क्योंकि वह हर कार्य अपने अहङ्कार से करता है। इसीलिए दीक्षा का अर्थ होता है समर्पित होना जिससे साधक अपना स्वतन्त्र अहङ्कार नहीं रखता है । आप का अहङ्कार सदा शिष्य के रूप "मैं मेरे गुरु को समर्पित हूँ" रहेगा । जब ऐसा भाव होता है तब व्यवहार में भी बदलाव आता है और तब साधक तत्त्व को समझ पाता है ।

केवल भक्ति ही सच्चा धर्म है और भक्ति से ही अच्छे गुण प्राप्त होते हैं । यदि साधक अनुशासन में ही नहीं है तो कौन से अच्छे संस्कार उसमें होंगे ? भक्ति ही सही प्रक्रिया है जो साधक का हित करती है । महान व्यक्ति भी भक्ति की खोज में होते हैं, परन्तु उन्हें प्राप्त नहीं होती क्योंकि आप चाहे कितने ही महान क्यों न हो, फिर भी अहङ्कार को समर्पित करने की प्रक्रिया से गुज़रना होता है । ******

प्रश्न: कैसे मैं गुरुदेव के साथ मेरे सम्बन्ध को घनिष्ट कर सकता हूँ ?
उत्तर: क्योंकि आपने स्वयं ही दीक्षा लेने का निर्णय लिया, मैं ने नहीं कहा था। यदि मैं कुछ कहूँगा तो वह लौकिक सम्बन्ध में परिवर्तित हो जाएगा । लोगों को समझा बुझाकर मेरे अनुयायी बनाने का मेरा कोई आशय नहीं है । शिष्य को ही गुरु को समर्पित होने का निर्णय करना होता है । अतः आपका यह प्रश्न ही अनुचित है ।

भक्ति को सही अर्थ में समझोगे, शङ्काएँ दूर करोगे, विश्वास रखोगे तभी उसका आस्वादन कर पाओगे । तब आप को निर्णय करना होगा कि क्या कहा जाय । यदि मैं कहता हूँ कि आप को मेरे नियन्त्रण में रहना है तो मुझे ईश्वर की सेवा के बदले आप का ख़याल रखना होगा । मैं आप की सेवा करूँगा । भक्ति में आप को ही निर्णय करके अनुपालन करना है तब आप समझ पाओगे कि गुरु से कैसे व्यवहार किया जाता है । साधक गुरु का स्वीकार स्वनिर्णय से करता है । ऐसा नहीं है कि गुरु कहते हैं, "आप मेरे शिष्य बनो ।" शास्त्र में गुरु के लिए मात्र शिष्य बनाने के लिए प्रचार करने का निषेध है । ******

प्रश्न: ऐसा लगता है कि यह निर्णय बार-बार लेना पड़ता है ।
उत्तर: नहीं, निर्णय केवल एक बार लेते हैं । उसके बाद फिर से निर्णय नहीं लेना पड़ता है । ******

प्रश्न: मेरा कहने का अर्थ योग्य भक्त या शिष्य बनने के निर्णय के बारे में है ।

उत्तर: यह हमारी समस्याओं के कारण है । हर क़दम पर ऐसा निर्णय लेना आवश्यक नहीं है । सही समझ और ज्ञान से प्रारम्भ करने से कोई आपत्ति नहीं होगी । स्वयं को असमर्थ महसूस करने के बाद भी कोई आपत्ति नहीं होगी । यदि निश्चय दृढ़ है तो शङ्का कहाँ ? गुरु को त्याग ने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है । यदि साधक सही सोच से निर्णय लेगा तो कोई समस्या ही नहीं होगी । ******

प्रश्न: यदि साधक में शरणागति का भाव है तो क्या वह साहजिक रूपसे बढ़ता है ?

उत्तर: मैं वही कह रहा हूँ । इस मार्ग पर डरने का या उसे छोड़ देने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है । ऐसा कभी नहीं होता । शिष्य के लिए ग़लत मार्ग पर चलने वाली बात कभी नहीं हो सकती । सनातन गोस्वामी व रूप गोस्वामी को श्रीमहाप्रभु का अनुसरण के लिए किसी ने उन्हें समझाया नहीं था फिर भी वे पूर्ण रूप से उन्हें समर्पित हो गए और सम्पूर्ण जीवन उनका अनुसरण करते रहें । ******

प्रश्न: इस विधान को हम कैसे समझें, "गुरु शिष्य के सम्बन्ध की घनिष्ठता के अनुरुप शिष्य का कृष्ण के साथ भावि सम्बन्ध की घनिष्ठता का सङ्केत करता है ।"

उत्तर: गुरु आत्म-दैवतम् है अर्थात् गुरु बहुत प्रिय है और भगवान की तरह पूजनीय भी है । जिस सम्प्रदाय और परिवार से दीक्षा लेता है उसके अनुगत गुरु का जो भाव है वही भाव शिष्य का होगा । इसी भाव को पाने के लिए साधक को गुरु की सेवा निष्ठा से करनी चाहिए और उन्हें कभी भी सामान्य मनुष्य नहीं समझना चाहिए। गुरु का देह प्राकृत है वग़ैरह वग़ैरह नहीं सोचना चाहिए । गुरु की सेवा उन्हें आत्म-दैवतम् समझकर और कपट से मुक्त होकर करनी चाहिए । यदि साधक ऐसा करने में समर्थ है तभी उसे वैसा ही भाव होगा जो गुरु को कृष्ण के लिए होता है । उसके लिए गुरु के साथ वैसा ही व्यवहार करना चाहिए जैसा वह कृष्ण के साथ करेगा ।

******

प्रश्न: यदि साधक को इस जीवन में सिद्धी न मिली तो अगले जन्म में क्या गति होगी क्योंकि गुरु अलौकिक जगत में चल बसे है ?

उत्तर: यदि दीक्षा सही रीति से ली है तो वह मुक्त है । यदि वह गुरु के अनुशासन में नहीं रहता है तो उसने दीक्षा का ठीक से अर्थ नहीं समझा है । फिर गुरु सम्बन्ध का क्या अर्थ है ? यदि साधक दीक्षा के समय दिये गए वचन निभाता है, जैसे कि गुरु

और कृष्ण की बिना छल कपट अनुकूल सेवा करना, तब पुनर्जन्म लेने का प्रश्न ही नहीं होता है ।

गुरु को सामान्य मनुष्य न समझ कर श्री कृष्ण समझना चाहिए । जब गुरु का स्वीकार करते हो (दीक्षा लेते हो) तब इस धारणा को सत्यनिष्ठा से निभाना चाहिए । फिर पुनर्जन्म का प्रश्न नहीं रहता । ******

प्रश्न: हमें क्या करना चाहिए उसके लिए आप हमें कोई ठोस निर्देश क्यों नहीं देते हैं?
उत्तर: हम रागानुगा भक्ति और स्वाभाविक रुप से सेवा के बारे में चर्चा कर रहे हैं । आप को सेवा की शुरुआत करनी चाहिए । यदि थोड़ी सी भी सेवा करने की इच्छा है तो मुझसे पूछे बिना करो और जब सेवा करना प्रारम्भ करोगे तब मैं आगे के निर्देश देता रहूँगा ।अर्थात् सेवा के लिए पहल आप को करनी है।[6] ******

प्रश्न: यह तो इस पर निर्भर है कि आप कैसा निर्देश देते हैं ।
उत्तर: [टिप्पणी: महाराज को इस विषय में अधिक कहने की इच्छा नहीं थीं । इस प्रश्न और इस के परवर्ती प्रश्न में सत्यनारायण की टिप्पणी है ।

महाराज का कहने का तात्पर्य यह है कि जब आपने दीक्षा ले ली है तो आप उन्हें समर्पित हो चुके हो । अब यह बात अपने सहयोग से दिखानी होगी और उसके बाद निर्देश मिलते रहेंगें । इस प्रकार सहज रूप से उस में प्रगति होती रहेगी अन्यथा वह एक आदेश सा बन जाएगा जिसका पालन करने के बाद आप सोचोगे, "मैं ने पालन किया है" । इस से अहम् पैदा होगा । ******

प्रश्न: फिर क्या वह यन्त्रवत् हो जाएगा ?
उत्तर: सेवा यन्त्रवत् करोगे केवल इतना ही नहीं, आप अभिमानी हो जाओगे । यह भी कहोगे, "महाराज जी ने कहा था कि में नहीं करुँगा और मैं ने किया । इससे मैं ने यह सिद्ध किया कि मैं अच्छा (शिष्य) हूँ ।" कुछ निर्देशों का पालन करने के बाद यह भी सोचोगे कि मैं ने अपना कर्तव्य निभा दिया अब मैं मुक्त हूँ । गुरु (शिष्य के मन को) इस भाव को ठीक से समझते हैं और इसी कारण वैसा व्यवहार करते हैं ।

---

[6] [सत्यनारायणदास की टिप्पणी: "उनका कहने का अर्थ है कि यदि वे अपने ठोस निर्देश दे तो भी आप शायद कुछ नहीं करोगे और अन्त में उन्हें छोड़ दोगे । ऐसे उनके अनेक अनुभव हैं । महाराज ने जैसे कि एक शिष्य को कहा था, 'यदि मैं निर्देश दूँगा तो आप अवश्य ही नहीं करोगे ।'"]

******

प्रश्न: क्या सेवा गुरु के सङ्ग रहने से ही सम्भव है ?
उत्तर: सेवा कहीं से भी हो सकती है, चाहे दूर हो या पास हो, शारीरिक रूप हो या मानसिक रूप हो । सेवा का अर्थ है अनुकूल और सहयोगी होना ।

******

प्रश्न: यदि साधक को ख़ुद की आत्मा पर सकारात्मक भाव या कृतज्ञता न हो तो, स्व-प्रेम की भाँति कृष्ण को प्रेम करने की धारणा को कैसे समझ सकेगा ?
उत्तर: भक्ति अर्थात् सेवा करना और वह भी गुरु की करना । गुरु को स्वीकार करने के बाद उन्हें जो अनुकूल हो वैसी सेवा करना और प्रतिकूल या असुविधा-जनक कार्य न करना । यह है भक्ति जो अति सरल है । यदि साधक इस प्रकार करना चाहता है तो बिल्कुल कठिन नहीं है ।

अपने शरीर में जो प्रीति है वैसी ही प्रीति गुरु के प्रति हो इस प्रेम के उदाहरण से हमें भक्ति में कैसी आसक्ति होनी चाहिए यह समझ आती है । भक्ति में भी वैसी ही आसक्ति होती है जो इन्द्रिय-सुख, बेटा या अन्य अधिकृत चीज़ों के लिए होती हैं । सभी को आसक्ति का अनुभव कहीं न कहीं तो होता ही है । उससे साधक को सीखना चाहिए कि गुरु या कृष्ण के लिए भी वैसी ही आसक्ति होनी चाहिए ।

यह ज़टिल न होकर बड़ी सरल है । यदि गुरु के लिए ऐसा भाव है तो भक्ति की अनुभूति होगी और फिर अन्य लोगों के साथ भी साधक वैसा व्यवहार कर पाएगा । गुरु ऐसे प्रथम व्यक्ति हैं जिन्हें भौतिक भक्त की भाँति न समझकर उनकी सेवा करनी चाहिये । भक्ति सार्वजनिक है जिसे जन्म और जाति के भेदभाव लागू नहीं होते किन्तु साधक को दृढ़ निष्ठा से उसे करना चाहिए ।

सबसे पहले तो साधक का मन दृढ़ होना चाहिए और जब मन दृढ़ है तो यह भाव बाह्य रूप से उसके कार्य में प्रकट होगा । अन्यथा लोग राधाकुण्ड में स्नान करते हैं या परिक्रमा करते हैं तथापि भक्ति की अनुभूति नहीं होती ।

******

प्रश्न: हमारी स्वतन्त्रता (स्वच्छन्दता) का कारण क्या है ?
उत्तर: अज्ञानता साधक को भगवान और गुरु से बहिर्मुख करती है ।

******

प्रश्न: गोड़ीय मठ में मैं ने हमेशा भक्तों को "गुरु कृपा" के बारे में बातें करते सुना है। यदि गुरु क्रोधित होते हैं तो लोग कहेंगे, "यह कृपा है" और यदि वह मिठाई भी बाँटेंगे तो भी कहते हैं, "यह कृपा है" । जो कुछ भी गुरु से मिला तो (अन्य भक्त) कहेंगे "आप को कृपा मिली, प्रभु" । गुरुकृपा पाने का अर्थ सही में क्या है ?
उत्तर: ऐसे सभी वाक्य लौकिक है । लोगों को केवल सङ्गठित रखने या प्रभावित करने के लिए है । जब साधक गुरु की अनुकूल सेवा करता है और उसकी दृढ़ निष्ठा से वे प्रसन्न होते हैं तो उस प्रसन्नता से ही उनकी कृपा बरसती है । इसका अर्थ है कि उनकी अधिक सेवा के लिए साधक प्रेरित होता है । कृपा का सङ्केत मिलने का अर्थ होता है साधक को सेवा करने में अति आनन्द आता है और लौकिक सुख की खोज एवं इन्द्रिय-सुख के प्रति आसक्ति नष्ट होने लगती है । ******

प्रश्न: क्या कृपा से (गुरु को) प्रसन्न करने की आसक्ति और कामना बढ़ती है ?
उत्तर: हाँ, यही कृपा है । अन्यथा ऐसे वाक्य झूठी प्रशंसा करके अपना उद्देश्य सिद्ध करने के लिए या फिर किसी की सहायता पाने के लिए किए जाते हैं । यह अहङ्कार को बढ़ावा देने के सिवा और कुछ नहीं है । ऐसी प्रशंसा सुनकर व्यक्ति कार्य करने के लिए उत्साहित होता है । ******

प्रश्न: जीवन में योग्य गुरु से किसी को रागानुगा भक्ति के बीज प्राप्त होते हैं तो दूसरे जन्म में वह कैसे प्रगति करता है ?
उत्तर: [टिप्पणी: यह भी हेरान करने वाला प्रश्न है जो बारबार पूछा जाता है और महाराज को क्षुब्ध करता है । इस पर सत्यनारायण दास ने टिप्पणी दी है] ।
महाराज ने इस प्रश्न का उत्तर दो तीन बार दिया है । यदि आप के गुरु सच्चे हैं तो दूसरे जन्म का प्रश्न ही नहीं रहता । बार-बार यह प्रश्न पूछना उनके अपमान करने जैसा है क्योंकि इसका अर्थ यह होता है कि वे आप को पूर्णतया भक्ति देने में असमर्थ हैं । यदि आप के गुरु योग्य हैं और आप उनके आदेश का पालन कर रहे हो तो आप पुनः जन्म क्यों लेंगे ? ******

प्रश्न: भगवद् गीता के सम्पर्क में आना और उसे पढ़ने से मेरे ही बारे में सोचता हूँ...
उत्तर: इन सबकी तुलना रागानुगा भक्ति के साथ मत करो । यदि आप रागानुगा भक्ति से जुड़े हो और दीक्षा भी ली है तो उसके बाद पुनर्जन्म नहीं होता है । आप को केवल इस मार्ग पर चलना है । इसके अनेक उदाहरण हैं । नामाभास से भी मोक्ष मिलता है। यदि आप योग्य सद्गुरु से दीक्षा लेते हैं और उन्हें समर्पित होते हैं तो आप के सभी कर्मफल क्षीण हो जाते हैं । कर्मफल का असर तभी होता है जब आप देह में आसक्त

हैं। पूर्णतया समर्पित होने के बाद कर्मफल नहीं रहेंगे। ईश्वर ने स्वयं वचन दिया है, "यदि आप मुझे समर्पित होंगे तो मैं आप को सभी पाप से मुक्ति दूँगा" (गीता १८.६६)। यदि शिष्य कोई भिन्न उद्देश्य से आता है तो कोई कुछ नहीं कर सकता। यहाँ तक कि भगवान भी कुछ नहीं कर सकते।

जब साधक के संसार की समाप्ति का अन्त समीप है तब किसी योग्य गुरु से दीक्षा लेने का अवसर मिलता है अन्यथा भगवान क्यों किसी को योग्य गुरु तक ले जाएगा? आवश्यकता तो नहीं है। तथापि उसका यह अर्थ नहीं है कि आप उस सुविधा का दुरूपयोग करो। यदि साधक ने उचित आशय से दीक्षा ली है और गुरु को समर्पित हुआ है तो फिर कोई कर्मफल और पुनर्जन्म का प्रश्न उपस्थित नहीं होता है। भक्ति-रसामृत-सिन्धु में दर्शाया है कि भक्ति से कूट, बीज, प्रारब्ध, अप्रारब्ध सहित सभी कर्मों का नाश होता है।

******

प्रश्न: यदि अभी मेरी मृत्यु हो जाय तो मैं समझता हूँ कि मुझे इस बात को समझने के लिए और सिद्धता पाने के लिए पुनर्जन्म लेना होगा। मैं विचार कर रहा था कि इस जन्म का भक्तिबीज परवर्ती जन्म में कैसे जाएगा ?

उत्तर: पूर्व ग़लत धारणा के कारण ऐसी शङ्काएँ होती हैं। इस ग़लत धारणा में यही सोचते हैं कि, "यदि मैं इतना करूँगा तो इतना पाऊँगा।" आप सोचते हैं कि यदि आप पाँच क़दम चलेंगे तो दस फीट का रास्ता तय करेंगे। आपने एक क़दम लिया अब आप सोचते हैं कि "मैं अभी एक ही क़दम चला हूँ और मुझे दस फीट अन्तर जाना है परन्तु यदि मैं अभी मर जाऊँगा तो मेरे बाक़ी के आठ फीट अन्तर का क्या होगा ?" ऐसा हिसाब यहाँ (भक्ति पथ पर) नहीं होता है।

******

प्रश्न: मेरा प्रश्न आध्यात्मिक पूँजी के बारे में है।
उत्तर: यदि आप यहाँ (वृन्दावन) आने के कारण ढुँढोगे तो ऐसा नहीं कह सकोगे कि ऐसे ऐसे कार्य की वज़ह से मैं इस (भक्ति) मार्ग पर हूँ। बस मैं यही कह रहा हूँ। ऐसी शंकाएँ मन में होतीं हैं क्योंकि हमारी यह समझ है कि भक्ति के कोई कार्य-कारण भाव है। जब साधक के संसार की समाप्ति का समय आता है तब उसे सत्संग प्राप्त होता है। चाहे आप कोई भी कार्य करो, केवल किसी भक्त के अहैतुक सङ्ग के कारण इस भक्ति-मार्ग पर हो।

भक्ति इतनी सरल है कि दीक्षा लेने के बाद यदि कोई अपराध नहीं करता हो, विशेषकर गुरु के प्रति, तो फिर और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है । यदि अपराध नहीं कर रहे हो तो इसका अर्थ यह हुआ कि आप ऐसा कोई कार्य नहीं कर रहे हो जो गुरु को अनुकूल नहीं है, शास्त्र के विरुद्ध नहीं है तो मानो आपने सिद्धि प्राप्त करली है । यदि आप अपराध करते हो तो समझना कि आप सिद्धि नहीं चाहते हो । सिद्धि पाने के लिए इसके सिवा और कुछ करने की आवश्यकता नहीं है । हाँ, भक्ति अति-सरल है ।

******

प्रश्न: इस विषय में हम कैसे जान पाएँ कि गुरु कैसे प्रसन्न होंगे ? क्या वे हमें निर्देश देंगे या प्रकट करेंगे ? इस सन्दर्भ में क्या साहजिक पूछताछ करनी चाहिए या साधु-सङ्ग से हमें ज्ञात होता हैं ?

उत्तर: क्या अनुकूल है और क्या प्रतिकूल है वह व्यवहार से जान सकते हैं । गुरु ने आदेश दिया और तुमने पालन किया यह ऐसी सामान्य बात नहीं है ।

जब गो सेवा या किसी प्राणी की सेवा करते हो तो वे सेवा से सन्तुष्ट हुए कि नहीं यह आप समझ सकते हो । ठीक उसी प्रकार "मैं उन्हें प्रसन्न करना चाहता हूँ" इस भाव से व्यावहारिक आदान प्रदान करोगे तो समझ पाओगे कि गुरु को क्या प्रसन्न और अप्रसन्न करता है । यह सेवा भगवद् वाणी में निष्ठा रख कर करनी होगी । गुरु तभी प्रसन्न होंगे जब भगवान का वचनपालन करोगे, जो है आनुकूल्यस्य संकल्पः प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् । (चै.च. मध्य. २२.१००) अर्थात् वही करो जो अनुकूल है और प्रतिकूल है वह कभी न करो) । प्रारम्भ में इसे सुनकर समझ सकोगे, बाद में व्यक्तिगत व्यवहार से समझ पाओगे । तत् पश्चात् वह प्रकट होगा और अपने आप समझ में आएगा कि यह अनुकूल है या नहीं । यदि गुरु को प्रसन्न करने की भावना है तो आप अवश्य जान पाओगे और वैसा ही व्यवहार करोगे ।

हम सब गो सेवा करते हैं परन्तु जब मैं गैया के पास जाता हूँ तो वे बड़ी सन्तुष्ट होती हैं । ख़ुशी से वे अपनी प्रतिक्रियाएँ देती हैं, जबकि दूसरों की तरह मैं इतनी सेवा नहीं करता हूँ । तो क्यों वे मुझ से अधिक प्रसन्न होती हैं और दूसरों से इतनी नहीं ? यद्यपि अपनी बात कहने के लिए उनके (गैया के) पास वाणी भी नहीं है तथापि वह भाव है । उनके व्यवहार से हम कह सकते हैं कि उनके मन में क्या भाव है । मुझे देखने मात्र से ही उन्हें प्रसन्नता होती है । इसी प्रकार गुरु की सेवा करने से समझ सकते हैं कि गुरु के लिए क्या अनुकूल है और क्या प्रतिकूल है । ******

प्रश्नः क्या इस सेवा का सम्बन्ध केवल गैया से है या गुरु से है ? यदि हम गुरु के साथ नहीं है तो क्या होगा ?

उत्तरः यह शारीरिक निकटता की बात नहीं है परन्तु भाव से हुए लगाव की है । जब सेवा की इच्छा होती है तब आदान प्रदान होता है । ऐसे कई लोग हैं जो मुझ से अधिक समय गो सेवा करते हैं तथापि गैया उन्हें पसन्द नहीं करती हैं । इसका सम्बन्ध आन्तरिक भाव से है जो अधिक महत्त्वपूर्ण है । दूर रहने से भी ऐसा भाव हो सकता है ।

******

प्रश्नः यदि कोई भगवान को प्रसन्न करने का प्रयत्न करता हो परन्तु समझ के अभाव से ग़लतियाँ होती है तो उसे क्या अपराध माना जाता है ?

उत्तरः अनुकूल होकर कैसे व्यवहार करना चाहिए यह गुरु से सब कुछ सीखना चाहिए, साथ साथ में अन्य सभी विषयों पर प्रश्नोत्तरी करनी चाहिए जैसे प्रणाम कैसे किया जाता है आदि भी, क्योंकि अनेक विशेष विधिविधान हैं । यदि आप सब कुछ पूछोगे तो एक-एक करके मैं सब कुछ समझाऊँगा । यदि निष्ठा से उसका पालन करना चाहते हो तो यह सब कुछ सीखना होगा ।

यदि उस में रुचि ही नहीं है तो अपराध नहीं होता क्योंकि साधक भगवान से जुड़ा ही नहीं होता है । ५०-६० साल पहले जब लोग भक्ति के लिए निष्ठावान थे तब सेवा कैसे करनी है, व्यवहार कैसे करना है उसका अभ्यास करते थे परन्तु अब यह एक सामाजिक दिखावा हो गया है । लोगों ने भक्ति के प्रति अपनी रुचि खो दी है और न वे भक्ति, गुरु एवं शास्त्र के महत्त्व को समझते हैं और न ही वे उन में विश्वास रखते हैं । सब कुछ नष्ट हो गया है ।

परन्तु यदि किसी को रुचि है तो उस विषय में पूछताछ करनी चाहिए, उसका अध्ययन करना चाहिए और अनुसरण करना चाहिए । पहले लोगों को निर्देश में स्वाभाविक रुचि थी और वे उनका पालन भी करते थे । शिष्टता भी थी और कठोर नियन्त्रण भी था । जिसके मन में जो आया वैसा नहीं करते थे किन्तु आज सब कुछ लुप्त हो गया है । आज तो लोगों को गुरु को समर्पित होने का अर्थ क्या होता है यह भी ज्ञात नहीं है और न ही योग्य गुरु की परिभाषा एवं गुरु को प्रसन्न करने की समझ । मैं इस विषय को कैसे समझाऊँ ? उन्हें कोई धारणा ही नहीं है । ******

प्रश्न: हम तुलना करते हैं कि वैदिक-संस्कृति विदेशी-संस्कृति से कैसे भिन्न है जो हमारे (परदेशीओं) लालन-पालन और स्वभाव से जुड़ी है । हमारे लिए गुरुसेवा जैसे विषय का गहराई से समझना कठिन है ।
उत्तर: मैं वही कह रहा हूँ । इनका अध्ययन करना होता है । ******

प्रश्न: इसका मतलब है कि हम सब कुछ पूछ सकते हैं चाहे वह प्रश्न मूर्खतापूर्ण ही क्यों न हो ?
उत्तर: सर्व प्रथम साधक को इस मार्ग में पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए । कम से कम स्वयं से यह प्रश्न पूछना चाहिए, "क्या मैं सही में आध्यात्मिक मार्ग पर चलना चाहता हूँ ?" साधक को यह निश्चित करना होगा कि क्या वह इस संसार में रहना चाहता है, पुनः पुनर्जन्म लेना चाहता है या फिर यहाँ से मुक्त होना चाहता है ?

आप को जिसमें भी आसक्ति हो, चाहे वह देह, परिवार, धन या सम्पत्ति ही क्यों न हो, यह अवश्य जानना चाहिए कि मृत्यु के समय यह सब कुछ छीन लिया जाएगा । फिर से जन्म लेना पड़ेगा और जीवन के सभी दुःखों को सहन करना पड़ेगा । इन मुद्दों पर चिन्तन करके निष्कर्ष करना होगा कि संसार में इस तरह जीवन यापन करना है या उसका अन्त लाना है । इस पर गहरा विचार विमर्श होना चाहिए । यदि कोई यह निष्कर्ष पर आता है कि उसे इस संसार से मुक्ति चाहिये तो उस साधक की जिज्ञासा फ़िलोसोफी (षड्-दर्शन) में होती है । सभी प्रकार की (भारतीय) फ़िलोसोफी संसार का अन्त कैसे हो उसका समाधान देने का प्रयत्न करती हैं किन्तु केवल उत्तमा-भक्ति का मार्ग ही इसका व्यावहारिक उपाय देता है । अन्य सभी मार्गों का उपाय काल्पनिक है ।

अन्य मार्ग संसार से मुक्ति के भिन्न-भिन्न समाधान देते हैं । आप को श्रद्धा के स्तर पर आने में सहायता भी करते हैं । भक्ति का प्रारम्भ श्रद्धा से होता है । अन्य मार्ग मुक्ति की सीमा तक ले आते हैं जब कि भक्ति मुक्ति (के बाद) से ही प्रारम्भ होती है । इस (भक्ति) मार्ग में साधक गुरु की शरण लेता है और गुरुशरण के बाद साधक को स्वतन्त्र भाव का संपूर्ण त्याग करना होता है । हालाँकि कोई अलग नहीं है और कोई स्वतन्त्र नहीं है, यह केवल लोगों की धारणा है । यदि कोई निष्ठा से शरणागति के इस पथ को अपनाता है तो वह सहजता से ज़िन्दा होते हुए भी मुक्त है । ऐसा व्यक्ति मृत्यु के बाद मोक्ष प्राप्त करता है ।

अतः मैं बार-बार यह बात दोहराता हूँ कि गुरु के साथ कभी-भी एक सामान्य मनुष्य जैसा व्यवहार न करे और न ही उनका अनादर करें परन्तु उन्हें भगवान की तरह आदर दें । यदि कोई भगवान को मिले तो जिस प्रकार का व्यवहार वह भगवान से करेगा उसी प्रकार का व्यवहार गुरु के साथ करना चाहिए । बस यही सर्वसार है जिस पर मैं विशेष बल देता हूँ । इसी सार को लोग नहीं समझ रहे हैं और यदि समझते भी हैं तो उसका पालन नहीं करते हैं । इसके (सम्पूर्ण शरणागति) बिना इस पथ पर कोई लाभ नहीं है । सामान्य रूप से लोग कहते हैं कि वे भक्ति करते हैं पर हक़ीक़त में वे कुछ सामाजिक क्रिया-कलाप करते रहते हैं । कुछ लोगों ने उन्हें ऐसा कहा है, "यह भक्ति है और यह इसी तरह की जाती है," तो वे ऐसा करते रहते हैं ।
भक्ति का प्रारम्भ गुरु पादाश्रय अर्थात् गुरु की शरणागति से होता है । यह प्रथम सोपान है । गुरु ही केन्द्र है । उनकी सेवा किसी व्यक्तिगत लाभ या छलकपट रहित करनी चाहिए । जो ऐसा करता है, समझो वह सही मार्ग पर है । यदि साधक को सही अर्थ में रुचि है तो गम्भीरता से इस विषय पर चिन्तन करे और उसका पालन करे ।

******

प्रश्नः शिष्य सत्यवादी बन चुका हो एवं सत्य का पालन करता हो तो (गुरु के) सीधे निर्देश के अभाव में वह गुरु सेवा कैसे करे ?
उत्तरः शिष्य का अर्थ है जो गुरु के अनुशासन में हो । शिष्य शब्द का अर्थ होता है अनुशासन का पालन करना । यदि शिष्य प्रामाणिक और निष्ठावान है तो गुरु के साथ उसका सम्बन्ध होगा । यदि शिष्य ईमानदार नहीं है तो वह गुरु के आदेश का पालन नहीं करेगा और अपराध करेगा । ऐसा साधक कृष्ण की अवज्ञा करेगा जैसे भगवद् गीता के दूसरे अध्याय में कहा है:

कार्पण्यदोषोऽपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः ।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम् ।। (गीता २.७)

"मेरा स्वभाव हृदय की दुर्बलता से छा गया है और मेरा मन कर्तव्य के बारे में भ्रमित हो गया है । कृपया मुझे बताएँ कि मेरे लिए श्रेष्ठ क्या है । मैं आप का शिष्य हूँ एवं आपकी शरण ली है तो कृपया मुझे मार्गदर्शन दें ।"

जब कि अर्जुन ने कहा था, "मैं आप का शिष्य हूँ, कृपया मेरा मार्गदर्शन करें", फिर भी कृष्ण के निर्देश का पालन नही किया । कोई शिष्य ऐसा होता है जो किसी भी आदेश का पालन नहीं करता है । अच्छा यही होगा कि ऐसे लोगों को कोई आदेश ही

न दें। यदि कोई सही अर्थ में निष्ठावान है तो उसके लिए निर्देश अवश्य होंगे और वह भी गुरु के साथ आदान प्रदान करने से प्राप्त होंगे। गुरु और शिष्य के बीच परस्पर आदान प्रदान तथा समझ होगी। दोनों के विचारों में भी ऐक्य भाव होगा।

यदि शिष्य की अपनी अलग कार्यसूची है एवं स्वतन्त्र स्वभाव है तो ऐसे शिष्यों को निर्देश देने का क्या अर्थ होगा ? मुख्य बात यह है कि शिष्य बनने के लिए यदि साधक निष्ठावान है तो योग्य पालन करने के लिए निर्देश मिलते रहेंगे, परन्तु ऐसा शिष्य दुर्लभ है। इस बात को समझना अति आवश्यक है और उसके बाद ही यदि साधक वस्तुतः गम्भीर और निष्ठावान है तभी उस को गुरु स्वीकार करना चाहिए अन्यथा गुरु न होना ही श्रेय है।

******

प्रश्न: निर्देश मौखिक या स्पष्ट रूप से दिए जाते हैं या हृदय से प्रेरित होते हैं ?
उत्तर: दोनों तरीक़े से मिलते हैं। मौखिक दिए जाते हैं और हृदय से भी प्रेरित होते हैं।

******

प्रश्न: क्या गुरु को अन्तःकरण से ज्ञात होता है कि शिष्य उनकी प्रार्थना कर रहा है और निष्ठा से सेवा करने का प्रयत्न कर रहा है ?
उत्तर: यह शिष्य की निष्ठा पर आधारित है क्योंकि प्रार्थना कोई भौतिक वस्तु नही है इसलिए आपसी दूरी कोई बाधा नहीं है। प्रायः दूरी के कारण भाव और अधिक गहरा होता है। अधिक निकटता से अनादर (का भाव) हो सकता है। वस्तुतः कृष्ण गुरु को प्रेरित करते हैं। यदि शिष्य निष्ठावान है तो गुरु हृदय से जानते हैं। ******

प्रश्न: आप के प्रति सादर प्रणाम करने की सही रीति हमें समझाएँ ?
उत्तर: जिनकी सेवा करते हो उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए भक्ति की जाती है। इसका मूल सिद्धान्त यही है कि उनकी सेवा ऐसे करो जिस से वह व्यक्ति कम से कम असन्तुष्ट न हो। उसके लिए साधक को सोच-समझ कर निर्णय लेना होगा। सेवा केवल कोई कार्य करना और उस कार्य की समाप्ति पर यह सोचना नहीं है कि "मैं ने अपना काम कर लिया" (इतना ही नहीं) परन्तु यह भी देखना है कि उस (कार्य) से कोई विघ्न या असन्तोष तो नहीं हो रहा है।

इस (कलि) युग में लोगों को भक्ति के विषय में कोई धारणा नहीं है। साथ साथ में, भक्तिप्रचारक इस प्रकार भक्ति का सन्देश फ़ैलाते हैं कि इस से अच्छा तो यही होगा कि भक्ति का प्रचार न किया जाय। तब भक्ति सिखाना सरल हो जाएगा। अनेक

असत् धारणाओं के प्रचार के कारणसे यथार्थ भक्ति को समझना कठिन हो गया है। दण्डवत् प्रणाम करने के कई नियम हैं। जब साधक विग्रह सेवा कर रहा हो, इष्टदेव के लिए जल ला रहा हो, पुष्पचयन कर के मन्दिर की ओर जा रहा हो या और ऐसी कोई भी परिस्थिति जिस से उसकी सेवा में कोई विघ्न हो तब दण्डवत् प्रणाम नहीं करना चाहिए। ये सब नियम हमारा मार्गदर्शन करते हैं परन्तु साधक को अपने विवेक का उपयोग करना चाहिए।

नियम तब होते हैं जब हमें समझ नहीं होती है। सारांश में, हमारी सेवा का क्या असर होगा यह बात स्वयं को ही समझना होगा। भक्ति केवल अनुशासन ही नहीं है परन्तु उद्देश्य को समझना है।

मूल सूत्र का सारांश यह है कि भक्ति गुरु या कृष्ण के आनन्द के लिए करनी चाहिए और प्रतिकूल कार्य से दूर रहना चाहिए। जो इस बात के प्रति जाग्रत है उसके लिए अनुकूल कार्य करना सम्भव है। अन्यथा यन्त्रवत् कार्य करने से कोई लाभ नहीं होता है। उदाहरण स्वरूप, लोग आते हैं तब गुरु के चरण स्पर्श करना चाहते हैं परन्तु वे (आगन्तुक) शुद्ध या अशुद्ध स्थिति में हैं उस से उनका कोई लेना देना नहीं है। व्यक्ति अशुद्ध है तो वह मुझे या किसी और को स्पर्श करके कैसे प्रसन्न कर सकता है ? इस से किसी को क्या प्रसन्नता होगी ? इस बात को समझना आवश्यक है।

******

प्रश्न: यदि अनजाने में गुरु को अप्रसन्न किया हो तो क्या करना चाहिए ?

उत्तर: भविष्य में ऐसी ग़लती फिर से न हो या न कोई ऐसा कार्य किया जाय जो उन्हें अप्रसन्न करें इस बात के लिए सदैव सचेत रहे। जैसे आप कहीं नौकरी करते हो तो प्रयत्न करते हो कि कोई भी ऐसा काम न करें जिस से मालिक अप्रसन्न हो। बस यही सिद्धान्त यहाँ अपनाया जाता है। सेवा अर्थात् ऐसा कार्य जो गुरु को सन्तुष्ट करे। मालिक असन्तुष्ट न हो उसके लिए आप अपने कार्य स्थान पर बुद्धि का उपयोग करते हो, वही बुद्धि का उपयोग यहाँ भी करना है। आध्यात्मिक और भौतिक व्यवहार में कोई अन्तर नहीं है। वही बुद्धि का उपयोग भक्ति में किया जाता है। जैसे एक अच्छा कार्यकर्ता अपने कार्य स्थान पर सावधान और जाग्रत रहता है ठीक उसी प्रकार भक्ति की साधना में भी साधक को सदा जाग्रत रहना चाहिए।

******

प्रश्न: क्या शिष्य के अपराध का परिणाम गुरु को भी भुगतना पड़ता है ? एक संस्था में कई गुरु अस्वस्थ हैं और वे कहते हैं कि उनके शिष्यों के अपराधों के कारण ऐसा हुआ है।

उत्तर: नहीं, यह सच नहीं है । शिष्य के अपराधों की सज़ा गुरु कभी नहीं भुगतने हैं। जो अपराध करता है, उसी को उसका परिणाम भुगतना होता है । ******

प्रश्न: एक पक्ष में हम गुरु के लिए स्नेह बढ़ाना चाहते हैं और दूसरे पक्ष में आदर । यह माधुर्य और ऐश्वर्य - दोनों विपरीत बात जैसा लगता है । गुरु के लिए स्नेह और आदर दोनों भाव एक साथ कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर: शास्त्र में कहा है कि गुरु साक्षात् हरि है । भक्ति का मुख्य सिद्धान्त है दास्य भाव । अन्य भाव भी दास्य भाव में प्रकट होते हैं । चाहे वह सख्य, वात्सल्य या माधुर्य हो, आख़िर में वे सब दास्य भाव ही हैं । यही दास्य भाव सब से महत्त्वपूर्ण बात है ।

गुरु को भगवान की तरह पूजना चाहिए । यदि गुरु को भगवान की तरह नहीं पूजते हो तो उसको एक सामान्य मनुष्य की तरह मानोगे । यदि ऐसा करते हो तो अपराधी बनते हो और अपराध के कारण गुरु जो कुछ भी निर्देश देंगे, आप उसका पालन नहीं करोगे । अतः शास्त्र में कहा है कि गुरु के साथ सामान्य व्यक्ति सा व्यवहार नहीं करना चाहिए । संसार में लोग एक दूसरे के साथ आम आदमी जैसा व्यवहार करते हैं परन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता कि यह माधुर्य भाव है । शास्त्र जिस माधुर्य भाव की बात करता है वह दास्य भी है । यानि सर्व प्रथम दास्य भाव होना चाहिए । यदि दास्य भाव नहीं है तो ऐश्वर्य और माधुर्य कोई भी भाव नहीं है । तब सब सांसारिक व्यवहार है ।

गुरु के साथ वात्सल्य भाव, सख्य भाव या माधुर्य भाव नहीं होता है, केवल दास्य भाव होता है । गुरु के साथ तभी अपनापन बढ़ता है जब शिष्य में दास्य भाव होता है । जब ममत्व होगा, तब शेष सर्व व्यवहार इस (ममत्व) के अनुसार होगा । ममत्व ही आप को सिखाएगा गुरु के साथ कैसे व्यवहार करना है, परन्तु यदि दास्य भाव नहीं है तो कुछ भी नहीं है । अतः विधान है कि - साक्षाद्-हरि-त्वेन-समस्त शास्त्रैर्, (सभी शास्त्रों का सार है) गुरु साक्षाद् भगवान है । (वृन्दावनमें भी सभी भावों में दास्य भाव मुख्य है । मातापिता, सखाएँ, गोपियाँ सभी कृष्ण की सेवा भिन्न-भिन्न भाव से करतें हैं) ।

आनन्द और सुख में बड़ा अन्तर होता है । सुख अर्थात् आनुकूल्य-वेदनीयं सुखम् । स्वयं के लिए (सभी इन्द्रियों को) जो अनुकूल है, आनन्दकारी है उसे सुख कहते हैं और आनन्द सन्तुष्टि का वह भाव है जो कृष्ण या गुरुको सन्तुष्ट करनेसे मिलता है ।

संसार में हमारी अपनी अस्मिता होती है जो अहम्भाव होता है कि "मैं यह हूँ, वह हूँ" और सभी ख़ुशियाँ और जो कुछ भी गुण हैं वे सब का उद्गम इस अस्मिता के कारण है। यह अस्मिता, अहम्भाव का त्याग नहीं किया जा सकता जब तक साधक गुरु को कृष्ण या भगवान के स्वरूप में नहीं स्वीकारेगा। अन्यथा साधक अपनी इस अस्मिता को साथ में लेकर ही आगे बढ़ेगा। शास्त्र का यह विधान है कि गुरु के साथ सामान्य मनुष्य सा व्यवहार नहीं करना चाहिए", इस कथन का जो स्वीकार नहीं करता वह अपनी अस्मिता के साथ ही रहेगा। फलतः जो भी ख़ुशी या सन्तुष्टि उसे प्राप्त होती है वह अपने लिए किया हुआ अनुकूल कार्य का ही परिणाम है।

******

प्रश्न: गुरु शिष्य का सम्बन्ध क्या अन्तिम, सनातन होता है अथवा प्रत्येक युग में कोई विशेष चरण सोपान होता है ?

उत्तर: गुरु और शिष्य के सम्बन्ध अन्य मार्ग में भी है परन्तु वह मर्यादित समय के लिए होते है। वर्णाश्रम प्रथा में ब्रह्मचारी गृहत्याग करके गुरुकुल में रहता था एवं गुरु के अनुशासन में रहता था, गुरुशिक्षा को ग्रहण करता था और उनकी सेवा करता था, जो मर्यादित समय होता था। अध्ययन समाप्ति के बाद वह गृहस्थी बनता था और फिर गुरु के साथ कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रहता था।

किन्तु भक्ति-मार्ग में गुरु ही केन्द्र बिन्दु है क्योंकि गुरु कृष्ण है। कृष्ण के साथ आप के जो सम्बन्ध होते हैं वैसे ही सम्बन्ध गुरु के साथ होते हैं। उनके साथ आप का व्यवहार निष्ठापूर्ण और पारदर्शक होना चाहिए। इसी कारण अन्य मार्ग में भी गुरु शिष्य सम्बन्ध था जो मर्यादित उद्देश्य और लक्ष्य के लिए रहता था। भक्ति में यह सम्बन्ध नित्य रहता है और गुरु के माध्यम से कृष्ण के साथ यह सम्बन्ध होता है। अतः यह सम्बन्ध विशेष है जैसे भक्ति विशेष है इसी प्रकार गुरु-शिष्य सम्बन्ध भी विशेष है।

******

प्रश्न: गुरु का नित्यलीला में प्रवेश के बाद उन के साथ कैसे सम्बन्ध बने रहते हैं ? आध्यात्मिक जगत में सम्बन्ध कैसे होते हैं एवं परवर्ती जन्म में ?

उत्तर: वैसे ही सम्बन्ध होते हैं जो अभी हैं।

******

प्रश्न: गुरु का नित्यलीला में प्रवेश के बाद क्या इसी जन्म का सम्बन्ध बना रहता है ?

******

उत्तर: हाँ।

प्रश्न: क्या अलौकिक जगत में भी ?

******

उत्तर: हाँ।

प्रश्न: और दूसरे जन्म में भी ?
उत्तर: दूसरे जन्म में भी वही सम्बन्ध होंगे । उत्तमा-भक्ति के मार्ग में गुरु पूजनीय है । भगवान गुरु के स्वरूप में स्वयं विराजमान होते हैं । यहाँ जो सम्बन्ध हैं, वही दूसरे जन्म में भी बने रहते हैं । वे साधना स्तर एवं सिद्ध स्तर इन दोनों स्तर पर बने रहते हैं । यह मार्ग आनुगत्य या अनुसरण का होने के कारण ऐसा होता है । कुछ भी स्वतन्त्र रूप से नहीं होता एवं जो सम्बन्ध है वही सिद्ध स्तर तक भी ज़ारी रहता है। साधक हमेशा गुरु के मार्गदर्शन के नीचे रहता है ।

अतः जब भगवान को सिंहासन पर स्थापित करके पूजन किया जाता है तब गुरु का स्थान भगवान की बाँयी ओर रख कर भगवान से पहले उनकी पूजा की जाती है इस के बाद ही भगवान की पूजा होती है । लौकिक और अलौकिक जगत में गुरु-शिष्य के सम्बन्ध में कोई भेद नहीं होता; यह सम्बन्ध सनातन होता है । इस मार्ग में गुरु केन्द्र बिन्दु होता है । शिष्य गुरु से कभी-भी स्वतन्त्र नहीं होता ।******

प्रश्न: गुरु के नित्यलीला में प्रवेश के बाद कोई अप्रौढ़ शिष्य या नया बना हुए शिष्य अपनी प्रगति कैसे करता हैं ?
उत्तर: इसमें दो सम्भावनाएँ हैं:
1. यदि उसे गुरु से सही (पूरी) शिक्षा नहीं मिली है तो (वह शिष्य) बिना मार्गदर्शन से सेवा करने के लिए योग्य नहीं है । उसे ऐसे भक्त का सम्पर्क करना चाहिए जो उनके (आध्यात्मिक) परिवार से हो । उनसे निर्देश लेने चाहिये जिसकी फ़िलोसोफी की समझ और भाव वहीं से (एक ही परिवार से) हो ।

2. यदि उसने सारांश समझ लिया है एवं शास्त्र अनुसार अर्थ ग्रहण करने के लिए समर्थ है तो उसे सहायता के लिए किसी अन्य भक्त का सम्पर्क करने की कोई आवश्यकता नहीं है । उसे गुरु से जो भी निर्देश मिले उसका पालन करना चाहिए बस उतना ही पर्याप्त है । ******

प्रश्न: यदि गुरु नित्यलीला में प्रवेश हो चुके हों और शिष्य निवृत्ति-मार्ग पर चल रहे हैं अपितु निष्ठा से समर्पित होने का प्रयत्न करते हैं यद्यपि पूर्ण रूप से समर्पण नहीं हुए हैं तो ऐसे शिष्यों के प्रति गुरु की क्या कोई ज़िम्मेवारी होती है ?
उत्तर: यदि शिष्य निष्ठावान है एवं गुरु को स्वेच्छा से अपनाया है और यदि गुरु के नित्यलीला में प्रवेश के बाद भी गुरु के निर्देशों का शिष्य पालन करता है तो गुरु की

अनुपस्थिति में भी वह निष्ठावान शिष्य को पूर्णता प्रदान करेगा । ऐसा इसलिए होता है कि गुरु ईश्वर है, स्वयं श्री भगवान है; जो शिष्य को प्रेरित करेगा जिससे शिष्य अपने अन्तिम ध्येय को प्राप्त करेगा । परन्तु यदि शिष्य निष्ठावान नहीं है तो कुछ भी नहीं होगा । यह मार्ग सत्य का मार्ग है और शिष्य सच्चा है तो वह अवश्य सफल होता है ।

******

प्रश्न: यदि शिष्य निवृत्ति-मार्ग पर बड़ी निष्ठा से चल रहा है और पूर्ण शरणागति प्राप्त करने से पहले ही देह त्याग करता है तो क्या यह बात अगले जन्म में भी बनी रहेगी?

उत्तर: यदि योग्य गुरु से दीक्षा ली हो तो परवर्ती जन्म नहीं लेने पड़ते क्योंकि उसके कोई कर्म ही नहीं होते हैं । जब शिष्य (योग्य गुरु से) दीक्षा लेता है तभी उसके सभी कर्म दग्ध हो जाते हैं, जैसे अग्नि में लकड़ी जल जाती है ।

मुचुकुन्द की प्रार्थनाः
भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः ।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः ।। (भा.१०.५१.५३)

"हे अच्युत ! जब जीव संसार के चक्र की समाप्ति के समीप है तब उन को भगवद् भक्त का सत्सङ्ग मिलता है । हे परावरेश ! जब भक्त का सत्सङ्ग मिलता है तब आप की सेवा करने की इच्छा होती है ।"

जब भगवान किसी के संसार का अन्त लाना चाहते हैं तब उसे योग्य गुरु से मिलाकर उनसे दीक्षा लेने के लिए प्रेरित करते हैं ।

भक्ति-मार्ग को ज्ञान या योग-मार्ग से भिन्न समझना चाहिए जहाँ (ज्ञान एवं योग-मार्ग में) साधक को अपने सभी कर्मों का फल भुगतना पड़ता है । यदि वे जीवन मुक्त हो गये हैं फिर भी उन्हें अपने कर्म के फल को पूर्ण करना होता है । किन्तु भक्ति के अल्प सम्पर्क से ही कर्म से छुटकारा मिलता है । यानि यदि गुरु देहत्याग करते हैं और शिष्य निष्ठापूर्ण प्रयास करता है तो उसे यह प्रयास पूर्णता की ओर ले जाएगा और उसकी निष्ठा के कारण ही उसे दूसरा जन्म नहीं लेना पड़ेगा । यदि वह निष्ठावान नहीं है तो फिर से संसार जाल में फँसा रहेगा ।

अन्य लोगों के लिए परमात्मा कर्म के नियन्ता हैं । वे सब कर्म के सिद्धान्त के अन्तर्गत रहते हैं । भक्ति में परमात्मा इष्ट देवता स्वयं कृष्ण हैं । परमात्मा जैसे कर्म के अनुसार

जीव को जन्म देते हैं (यानि विभिन्न योनिओं में जाने के लिए बाध्य करते हैं ।), वैसे ही कृष्ण अपने भक्त को परिकर पद देते हैं । अर्थात् कृष्ण स्वयं उनकी देखभाल रखते हैं । अतः भक्त का पुन-र्जन्म नहीं होता है । ******

प्रश्न: मैं एक ऐसे युवा से रास्ते में मिला जो अपने गुरु को मिलने जा रहा था जिनके पन्द्रह लाख शिष्य हैं । यदि इस युवा को भी योग्य गुरु मिलते तो वह भी सही मार्ग पर होता । (परन्तु उसको अयोग्य गुरु मिले हैं ।)

उत्तर: नहीं । जैसे आम के बीज़ से ही आम का पेड़ होता है, न तु केले का पेड़ एवं विपरीत क्रम से (केले का बीज़ आम का पेड़ नहीं देता), ठीक उसी प्रकार यदि वह युवा योग्य गुरु से मिला होता तो भी उनमें उसका भरोसा नहीं होगा क्योंकि प्रारम्भ से ही उसमें शास्त्रीय श्रद्धा नहीं है । अपनी निष्ठाहीनता के कारण ही उसे ऐसा गुरु मिला है । वह केवल असत् गुरु में ही विश्वास रख सकता है । ******

प्रश्न: मैं ने सुना है कि जब तक सद्-गुरु न मिले तब तक सभी को अलग-अलग गुरु के पास जाना पड़ता है । क्या यह सच है और इसका कोई शास्त्रीय प्रमाण है ?

उत्तर: इसका कोई शास्त्रीय प्रमाण नहीं है । ऐसा नहीं है कि कोई असद्-गुरु किसी को सद्-गुरु की ओर ले जायेगा । ******

प्रश्न: भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद के देहान्त के बाद जो शिष्य इस्कॉन में आए और उन में से कई लोगों के गुरु पथभ्रष्ट हुए तो क्या उनके मिश्र कर्म के कारण ? एक ओर वे कृष्ण-भावना के बारे में सोचते थे और दूसरी ओर उनके गुरु योग्य नहीं थे । तो क्या उन पर अच्छे-बुरे दोनों कर्मों का एक साथ कोई विचित्र प्रभाव था ?

उत्तर: बद्ध जीव का स्वभाव ग़लत वस्तु के लिए आकर्षित होना स्वाभाविक है । सद्-गुरु के पास आना यह भगवान की कृपा से होता है । सद् असत् का विवेक जीव में नहीं होता है । असत् लोग (जो असत् का अनुसरण करते हैं) ऐसा कभी नहीं कहेंगे कि वे असत् हैं । अपितु वे ज़ोर-शोर से ढँढोरा पिटवाएँगे कि वे सत् हैं क्योंकि असत् को सबसे बड़ा डर सत् से होता है । इसी कारण उन्हें ज़ोर शोर से कहना होता है कि केवल वे ही सत् हैं जिससे लोग उनके ऊपर असत् होने की शङ्का न करें ।

सामान्य जन को ग़लत वस्तु स्वीकार करने की सहज रुचि होती है । वह समाज से जल्दी प्रभावित होता है, विशेष कर जो अधिक प्रचलित है । हम सामाजिक प्राणी होने के कारण बहुमत से अपनायी वस्तुओं को शीघ्र स्वीकार कर लेते हैं । हम सोचते हैं कि अधिक लोगों ने इसे अपनाया है अतः अवश्य वह सही वस्तु होगी । परन्तु यहाँ

ऐसा नहीं है कि असद् गुरु की स्वीकृति सद्-गुरु के पास ले जाएगी । सद्-गुरु से मिलाप होना अच्छे कर्मों का कारण भी नहीं है । केवल प्रभु कृपा से ही सद्-गुरु से सङ्ग मिलता है ।

******

प्रश्न: यदि इस्कॉन संस्था न होती तो अधिकतम लोग सद्-असद् गुरु के बारे में कभी नहीं जान सकते । एवं गोड़ीय वैष्णव धर्म के विषय में भी नहीं जान पाते । क्या यह कृष्ण की योजना का एक हिस्सा था ?
उत्तर: यह कृष्ण की इच्छा थी कि ऐसा हो ।

******

प्रश्न: जब कई लोगों को आपके दर्शन या सत्यनारायणजी के प्रवचन में आते देखते हैं और फिर चले जाते हैं, परन्तु उनकी भावना पर कोई प्रभाव नहीं होता तो क्या यह समझा जाय कि ऐसा उनके अपराध के कारण है ?
उत्तर: वे ग्रहणशील भाव (भक्ति विषय ग्रहण करने के उद्देश्य से) या तटस्थ भाव से नहीं आते हैं । हमारी शिक्षा उन्हें पसन्द नहीं है अतः वे ग्रहण नहीं करते हैं । आप तभी उस वस्तु का स्वीकार करोगे जब वह आप को पसन्द है । यदि वह पसन्द नहीं है तो उसे नहीं स्वीकारोगे । जब हृदय पाप से मलिन हो तो व्यक्ति सही वस्तु का स्वीकार नहीं कर पाता । वह सद्-गुरु या प्रमाणिक शास्त्र का भी स्वीकार नहीं कर सकता । पाप और अपराधों के कारण उसे गुरु और शास्त्र में झुकाव, रुचि, और श्रद्धा नहीं होती ।

******

प्रश्न: ऐसे लोगों के लिए क्या यह समय का व्यय है या भविष्य में उन पर कोई प्रतिक्रिया होती है या फल मिलेगा ?
उत्तर: यदि उन्हें यह पसन्द ही नहीं है तो उन्हें उस से कोई लाभ नहीं होगा । द्वेष कभी-भी राग में नहीं बदलता क्योंकि यह दोनों विरुद्ध मानसिकता है । यह भी सम्भव नहीं है कि वे ऐसी मानसिकता को छोड़ दे ।

******

४६. गाय/गौ माता

प्रश्न: पश्चिम में गायें अधिक मात्रा में दूध उत्पादन के लिए रखी जाती हैं और उन्हें (अन्य मृत) पशु का चूर्ण भी खिलाया जाता है । क्या हम उस दूध को और उस से बनी वस्तुओं को भगवान को अर्पित कर सकते हैं या फिर भक्त को गो-उत्पादक-द्रव्यों का त्याग करना चाहिए ?
उत्तर: नहीं, आप को इस प्रकार का दूध श्री कृष्ण को अर्पण नहीं करना चाहिए । जिन्हें रासायनिक अथवा पशु का चूर्ण खिलाया जाता हो ऐसी गाय का दूध भोग में

नहीं होना चाहिए । उन गायों का दूध या खाद्य पदार्थ अर्पण करना चाहिए जिन्हें प्राकृतिक या जैविक खाद्य खिलाया जाता हो और वनस्पति खिलायी जाती हो ।

******

प्रश्न: परन्तु प्राकृतिक खेतों में विचरती दूधालु गायों की भी हत्या की जाती है । जैविक दूध से बने पदार्थों को भी ख़रीदकर क्या हम गौ-हत्या का समर्थन नहीं कर रहे हैं ?
उत्तर: नहीं, गौहत्या का दोष आप को कर्मफल के रूप में नहीं मिलता है क्योंकि गौहत्या करने का आदेश आपने नहीं दिया है । जिन्होंने गौहत्या का आदेश दिया है और जिन्होंने गौ-वध किया है उन्हें यह कर्मफल मिलता है । श्री कृष्ण के लिए जैविक खेतों से मिले दूध का उपयोग हो सकता है ।

******

प्रश्न: पश्चिम में बहुत से लोगों का यह मानना है कि गाय का दूध मनुष्य के लिए बीमारी का कारण है क्योंकि वे उसे ठीक से पचा नहीं सकते । वे यह भी तर्क करते हैं कि गाय का दूध केवल बछड़ों के लिए है, मनुष्य के लिए नहीं ।
उत्तर: इस विषय में हमें स्मरण रखना है कि गो-दुग्ध जो पश्चिम में मिलता है और ताज़ा दूध जो हमें यहाँ गाय से मिलता है, दोनों भिन्न उत्पादन हैं । आयुर्वेद और पुराणों में जब वे गो-दूध की प्रशंसा करते हैं तो वे भारतीय गाय के दूध की बात करते हैं, न कि संशोधित दूध जो आज कल बाज़ार में मिलता है । इस सन्दर्भ में आधुनिक लोगों की पश्चिम के गाय के दूध की शोध सही हो सकती है और उस पर मैं कोई टिप्पणी नहीं कर सकता । मैं भारतीय गो-दुग्ध की बात करता हूँ । लोग उसके सेवन से बीमार होते हैं ऐसे कोई प्रमाण नहीं है ।

भारत में लोग शताब्दियों से दूध पीते आये हैं । मेरा साधारण सा तर्क यह है कि यदि वे गौ-माँस पचा सकते हैं तो दूध पचाने के बारे में क्या कहें ? लाखों लोग दूध पीते हैं और स्वस्थ हैं । अतः आप ऐसा नहीं कह सकते कि वे दूध को नहीं पचा पाते हैं । दूध बछड़े के लिए शक्तिवर्धक द्रव्य है, किन्तु तन्दुरस्त गाय जितना दूध देती है वह पूरा दूध एक बछड़ा नहीं पी सकता । यदि पूरा दूध आप बछड़े को दोगे तो वह मर जाएगा । यदि बछड़ों को पूरा दूध दोगे तो उन्हें दस्त लग जाएँगे । उस प्रकार पहले हमारी गोशाला में बहुत से बछड़े मर गए क्योंकि उन्होंने अधिक दूध पान कर लिया था । एक गाय बछड़े की आवश्यकता से अधिक दूध देती है । ******

प्रश्न: श्री कृष्ण को गायें इतनी प्रिय क्यों हैं ?
उत्तर: गायें परोपकारी हैं क्योंकि वे दूसरों के कल्याण में नियुक्त हैं । वे बछड़े की आवश्यकता से अधिक दूध देती हैं और खेतों में काम करने के लिए या भारी माल

ढोने के लिए बैल देती है । यह स्वाभाविक है कि एक व्यक्ति उसे पसन्द करता है जो स्वयं के सदृश समान गुण रखता हो । कृष्ण भी गाय की तरह दूसरों के कल्याण करने के गुण धारण करते हैं और अतः उन्हें गाय अधिक पसन्द है । गाय अपने बछड़े के प्रति अधिक स्नेहमयी है । जैसे कृष्ण भक्त वत्सल हैं वैसे गाय को भी वत्सला कहते हैं । वत्स अर्थात् बछड़ा और वत्सल अर्थात् स्नेहमय । कृष्ण अपने भक्तों को वैसे ही स्नेह करते हैं जैसे एक गाय अपने बछड़े को करती है ।

गाय के समस्त अङ्ग पवित्र हैं, यहाँ तक कि उसका मूत्र और गोबर भी पवित्र है । गो-मूत्र बहुत सारे औषधीय गुण रखता है और उसका गोबर बहुत अच्छा खाद है ।

कृष्ण गोप के नाम से जाने जाते हैं । गोप का अर्थ है जो गायों की देखभाल करते हैं। गाय से हम परोपकार और प्रेम के पाठ सीख सकते हैं । माता-पिता, गाय, और ब्राह्मण दूसरों के कल्याण के लिए कार्य करते हैं । उनका आदर करने से हमें भगवान को समझने में सहायता मिलती है और हमारी आध्यात्मिक उन्नति होती है ।

......

प्रश्न: जब हम पश्चिम में गोरक्षा के बारे में बात करते हैं, तो लोग उस से सम्मत होते हैं, किन्तु जब इसे व्यवहार में लाने की बात आती है तो विशेष रूप से किसान कहते हैं कि जीवन पर्यन्त हम गायों का निर्वाह करने में असमर्थ हैं । हम उन्हें कैसे यह बात मनवा सकते हैं ?

उत्तर: प्रथम आप को उनकी मानसिकता को समझना है । वास्तव में वे गौ-रक्षा के तथ्य को स्वीकार नहीं करते । यदि उन्होंने इस तथ्य को स्वीकार किया होता तो ऐसी बात नहीं करते । कोई भी माता को मारने के विषय में नहीं सोचता । गौ-हत्या आवश्यक नहीं है क्योंकि उनकी अपनी आयु सीमित होती है, वे लम्बे समय तक जीवित नहीं रहती । एक गाय लगभग पन्द्रह-सोलह वर्ष तक जीवित रहती है और फिर प्राकृतिक रूप से मर जाती है । फिर भी, यदि हम सोचते हैं कि वह एक पशु है, जिसे एक उद्देश्य के लिए पालित पोषित किया है, और यदि प्रौढ़ गाय दूध नहीं दे रही है, तब भी हमें उसका लालन पालन करना चाहिए ।

मानव संख्या ख़ूब बढ़ रही है किन्तु कोई ऐसा नहीं सोचता है कि जन-संख्या अत्यधिक मात्रा में बढ़ गयी है तो वृद्ध लोगों को मार डालना चाहिए । अब तो यह क़ानून भी है कि लोगों को वृक्ष को काटने से रोका जाय क्योंकि वे प्रतीत करते हैं कि वृक्ष हमारे लिए लाभकारी हैं । वृक्ष की भाँति गायें भी लाभकारी हैं । जब ऐसा अनुभव करोगे तो आप उनका भरण पोषण करोगे और वधशाला में नहीं भेजोगे ।

भारत में अभी नियम बनाया है कि जो गाय अशक्त और अन्धी है उन्हें लोग मार सकते हैं। अतः लोग उन्हें अन्धी बना देते हैं और फिर उनका जीवन छीन लेते हैं। व्यक्ति हमेशा क़ानून को टालने के बहाने और तरीक़े ढूँढ लेता है। आप कैसे ही नियम बना दो, वह तब तक सहायक नहीं होगा जब तक हम गाय के महत्व को न समझें।

******

प्रश्नः ऐसा लगता है कि पश्चिम में आर्थिक रीति ऐसी है कि अधिक से अधिक दूध उत्पादन के लिए किसान जितना सम्भव हो सके उतनी गायें रखता है। फिर, जब गायें दूध देने के लिए असमर्थ हो जाती हैं और ज़गह घेरती हैं एवं उन्हें खिलाना भी पड़ता है, तो वे लोग इसे अच्छा बहाना ढूँढकर उनका वध करना ही उचित समझते हैं।
उत्तरः वे लोग मनुष्य की भाँति एक जीवित प्राणी के रूप में गाय को स्वीकार नहीं करते हैं, किन्तु दूध उत्पादन करने वाली मशीन समझते हैं। इस प्रकार की मनोदशा के पीछे जो मानसिकता है वह केवल सकाम (फल और धन प्राप्ति के या स्वार्थ के लिए) है।

******

प्रश्नः अतः व्यक्ति को गोरक्षा की मनोवृत्ति की व्याख्या करनी चाहिए ?
उत्तरः मूल वस्तु यह है कि यदि गायों ने हमारे लिए कुछ अच्छा किया है तो आप भी उनके लिए कुछ अच्छा करें। जब मानव वृद्ध हो जाता है, उत्पादक नहीं रहता है, तो कोई सज्जन उसे नहीं मार डालेगा इस सोच से कि वह जगह घेरता है और उस पर कुछ ख़र्च भी होता है। उदाहरण के लिए सरकारें वृद्ध लोगों की देखभाल, उनकी सामाजिक सुरक्षा, पेन्शन (अनुवृत्ति), वृद्धशाला और कई तरह की सुविधाओं के लिए बहुत सी धनराशि जोड़ रही है और उसी प्रकार गौ-सुरक्षा के लिए भी हो सकता है।

******

प्रश्नः अन्ततः क्या गौसुरक्षा के लिए भी यही होगा ?
उत्तरः यदि ऐसी मनोवृत्ति रही, तो ऐसा होगा। ******
प्रश्नः गो-सेवा और नाम-सेवा एक साथ कैसे हो सकती है ?

उत्तरः उत्तमा भक्ति के पथ पर व्यक्ति अपनी स्वतन्त्र मानसिकता छोड़ देता है और स्वयं को कृष्ण या गुरु, जो प्रभु का आविर्भाव है, उन्हें पूर्ण समर्पण कर देता है, क्योंकि साधक का ध्येय, उद्देश्य अथवा कार्य गुरु अथवा कृष्ण को प्रसन्न करना है। अतः वह

वही करता है जिस से उन्हें प्रसन्नता मिले । अर्थात् आप कृष्ण को प्रसन्न करना चाहते हैं, तो वही करें जिस से वह प्रसन्न हो ।
स्वयं कृष्ण गोपाल के नाम से जाने जाते हैं । गोपाल का अर्थ होता है वह जो गायों की सेवा करता है । वे वृन्दावन में गायों के साथ रहते हैं जो कि गायों का स्थान है, यानि गोलोक । कृष्ण गोपजाति से सम्बन्धित है और स्वयं गो-सेवा करते हैं । न तो वह ब्राह्मण है और न ही क्षत्रिय है । वे गाय को अपने इष्ट देवता के रूप में देखते हैं। जिस प्रकार हम कृष्ण को सेव्य मानते हैं, उसी प्रकार वे भी गाय को अपनी सेवा का विषय मानते हैं और वे उन्हें अधिक प्रिय है । इसलिए यदि हम गाय की सेवा करें तो उससे उन्हें अधिक प्रसन्नता होती है क्योंकि आप उनकी सेवा करो जो दूसरे को प्रिय है तो वह व्यक्ति उस सेवा से स्वाभाविक रूप से हर्षित होता है ।

उत्तमा भक्ति में साधक भगवान की अनुकूल सेवा करने के सिवा अन्य कोई इच्छा नहीं रखता । अतः गोसेवा बहुत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इससे भगवान अधिक प्रसन्न होते हैं। कृष्ण गो-सेवा करते हैं । साधक को गुरु के मार्गदर्शन तले कार्य करना चाहिए और यदि गुरु गोसेवा करते हैं और आप भी गोसेवा करेंगे तो गुरु और कृष्ण अधिक प्रसन्न होंगे । यह है उत्तमा भक्ति का मार्ग । अन्यथा, यदि कोई स्वतन्त्र रहना चाहता है तो धर्म के नाम पर ऐसे बहुत से मार्ग हैं जिन्हें वह अपना सकता है ।

धार्मिक दृष्टि अर्थात् सामाजिक धर्म से देखें तो गाय का माहात्म्य शास्त्र में वर्णित किया गया है । यदि आप अपने पापों का प्रायश्चित करना चाहते हैं तो वहाँ गाय की सेवा करना, गोदान करना या गाय के साथ रहने को कहा गया है । और यदि आप पुरश्चरण के विषय में पढ़ते हैं जो कि मन्त्र में सफलता प्राप्त करने का माध्यम है, तो उस में भी वर्णन किया गया है कि हमें गोशाला में मदद करनी चाहिए और गोसेवा करनी चाहिए। अतः गोसेवा उत्तमा भक्ति और सामाजिक धर्म दोनों के लिए महत्त्वपूर्ण है । अतः गो-सेवा और नाम सेवा दोनों भक्ति के लक्षण हैं । ******

प्रश्न: श्री कृष्ण ने सभी पशुओं का सृजन किया है, तो गो-सेवा विशेष रूप से क्यों है?
उत्तर: गायें समस्त जगत की माताएँ हैं और इस कारण उनका एक माता की तरह आदर किया जाता है । दूध, गौमूत्र और गोबर देने के कारण वे मानवता की पालक हैं । ये सभी वस्तुएँ समाज के आरक्षण और कल्याण के लिए अति उपयोगी और परमावश्यक है । भौतिक दृष्टिकोण से भी वे एक विशेष महत्त्व रखती हैं ।

धार्मिक दृष्टिकोण से देखें तो श्री कृष्ण स्वयं गाय के साथ एक माता जैसा व्यवहार करते हैं । वे उनका दूध पीते हैं और उनकी परिचर्या करते हैं । वे स्वयं उनकी देखभाल करते हैं । अतः गायें माता की तरह महत्त्वपूर्ण हैं और मानव मात्र के लिए एक विशेष महत्व रखती हैं । सम्बन्ध अनेक होते हैं, किन्तु उन सभी सम्बन्ध में अपने कार्य के कारण माता का स्थान विशेष है । वह बच्चे की देखभाल करती है और सम्पूर्ण संस्कार बच्चे अपनी माता से प्राप्त करते हैं ।

भगवान ने सभी प्राणियों की उत्पत्ति की है, किन्तु सभी को एक समान नहीं बनाया है। कुछ वस्तुएँ ऐसी बनायी है, जिसमें विशेष गुण हैं । इस कारण उन्हें विशेष भूमिका निभानी होती है । सृष्टि के सृजन पूर्व भगवान स्वयं एक गाय बने थे और संसार की रचना को आगे बढाया । अतः गाय एक विशेष स्थान रखती है । ******

प्रश्नः यहाँ मैं देख सकता हूँ कि गोसेवा कितनी महत्त्वपूर्ण है । किन्तु गोसेवा कैसे सम्पन्न हो सकती है जब गायें ही न हों अथवा उन्हें बुरी हालत में छोड़ दिया जाता हो?

उत्तरः यदि आप प्रत्यक्ष रूप से गोसेवा न कर सकें तो मन में करें अथवा गायों के प्रति सेवा का भाव रखें और उन से दुर्व्यवहार न करें । ******

प्रश्नः गोशाला में शरीर छोड़ने के बाद गायों की क्या गति होती है ?

उत्तरः वे गोलोक वृन्दावन जाती हैं और वहाँ गाय बनती हैं । ******

प्रश्नः वहाँ उनका रस क्या रहता है ?

उत्तरः वे कृष्ण में वात्सल्य के साथ दास्य मिश्रित रस का सम्बन्ध रखती हैं ।

******

प्रश्नः आप ने बताया कि गोशाला में देह त्याग करने के बाद गाएँ कृष्णलोक जाती हैं। क्या वे वहाँ जन्म लेती हैं अथवा शरीर त्यागने के बाद सीधा वहीं जाती हैं ?

उत्तरः गोलोक में जन्म नहीं है । जन्म केवल यहाँ धरती पर है । वे सीधे वहाँ जाती हैं और अपने स्वरूप में स्थित हो जाती हैं । ******

प्रश्नः कृष्णलीला में विभिन्न प्रकार की गायें हैं, जैसे कि मृदंगशिर वाली, इत्यादि । इसे हम कैसे समझें ?

उत्तर: गाय का केवल एक ही प्रकार है, केवल रंग अलग अलग है । ऐसा नहीं है कि कृष्ण की गायें विभिन्न नस्ल की थीं- जैसे कि पश्चिम में भिन्न भिन्न नस्ल की गायें होती हैं, जैसे कि जर्सी गाय इत्यादि । कृष्णलीला में उस प्रकार की गायें नहीं हैं, केवल उनके रंग अलग अलग हैं । कुछ सफ़ेद हैं, तो कुछ काली, कुछ पिली और कुछ लाल रंग की हैं । ******

प्रश्न: उनके माथे का आकार भी वैसा है ?
उत्तर: कुछ भेद हो सकते हैं, किन्तु एक ही नस्ल की हैं । आप देख सकते हैं कि हमारी गोशाला में ये गायें हैं, वे सभी एक दूसरे से भिन्न दिखायी देती हैं । ******

प्रश्न: क्या सभी गायें समान रूप से पवित्र मानी जाती हैं ? यहाँ भारत की गायें अपने व्यवहार और बाह्य दिखावे में पश्चिम की गायों से भिन्न हैं । क्या ये भी पवित्र मानी जाती हैं ?
उत्तर: गाय वह है जिसके गले के नीचे आवरण या कम्बल जैसा माँसपिण्ड लटकता है, जिसे सास्ना (गले के नीचे लटकन झालरदार माँस) या ललरी कहते हैं । इसी विशेषता से आप गाय को पहचान सकते हो । पशु की प्रत्येक जाति के विशेष लक्षण होते हैं, जिस से वे जाने जाते हैं । गाय का लक्षण उसके गले के नीचे लटकनेवाला कम्बल है । यदि आप कहेंगे कि गाय वह है जो चार टाँगे रखती हैं, तो आपकी परिभाषा सही नहीं है क्योंकि गाय के जैसे दूसरे प्राणी, जैसे कि ऊँट है, उसे भी चार पाँव है । अथवा आप कहेंगे कि गाय के सींग हैं, तो भैंस और हिरन के भी सिंग हैं । गाय की सही पहचान गले के नीचे झुलता सास्ना ।

यदि अन्य प्राणी बिलकुल उसके जैसा दिखे, तो यथार्थ में वह गाय नहीं है किन्तु गवय है या गाय जैसा दिखनेवाला है । गाय जैसा दिखने वाली गवय असल में गाय नहीं है। जहाँ तक सम्मान कि बात आती है, तो सभी प्राणियों का आदर करना चाहिए ।

******

प्रश्न: तो स्विस गाय, जर्सी गाय और उनके जैसी अन्य गाय गवय है, गौ नहीं है ?

उत्तर: असल में वे विशुद्ध गायें नहीं है ।[7] ******

प्रश्न: बछड़े हमेशा उनकी माँ के साथ होते हैं, पिता के साथ कभी नहीं । पिता उन्हें कभी नहीं देखते ।

उत्तर: वे नहीं जानते कि उनके पिता कौन है । यह मानव परिवार जैसा नहीं है । सभी प्राणी को अपनी माता के साथ दृढ़ सम्बन्ध होते हैं, यहाँ तक कि मनुष्य को भी। पिता का सम्बन्ध गौण है । माता बच्चे से अधिक निकट होती है । वह बच्चे का पालन पोषण करती है । ******

प्रश्न: जैसा कि हमने महाभारत में पढ़ा है, क्या यह सच है कि गाय का मुख शुद्ध नहीं होता है ?

उत्तर: नहीं, वह अशुद्ध नहीं है । महाभारत की वह कथा वर्णाश्रम पर आधारित है, किन्तु यह भक्तों के लिए मान्य नहीं है । तार्किक दृष्टि से कहें तो यदि बछड़े का मुख अशुद्ध था, तो भगवान को आप दूध का भोग नहीं लगा सकते क्योंकि शेष दूध बछड़े की प्रसादी है (बछड़े को दूध पहले पिलाया जाता है ।) ******

प्रश्न: पहले हम ने सुना था कि गाय का गोबर पवित्र होता है और जब भी रसोईघर में कुछ दूषित हो जाता है तो उसे गोबर के लेपन से पवित्र किया जाता है । उदाहरण स्वरूप, जब हम अपने माता पिता से मिलने जाते हैं तो कभी कभी खाने की थालियों के साथ साथ हमारे बर्तन भी साफ़ करते हैं । क्या तब हम अपने बर्तनों को गोबर से पवित्र कर सकते हैं ?

उत्तर: उससे बचने का प्रयास करो, और यदि ऐसा हो तो साबुन से अपने बर्तन साफ़ करो । गाय का गोबर इस प्रकार की पवित्रता के लिए नहीं है । ******

४७. चन्द्र-ग्रहण

प्रश्न: आज चन्द्र ग्रहण है । इस अशुभ समय पर क्या वैष्णव कुछ विशेष करते हैं ?

उत्तर: ग्रहण समय भोजन करना निषेध है । केवल इतना ही है । ******

प्रश्न: ग्रहण समय क्या प्रसाद अपवित्र हो जाता है ?

---

[7] सत्यनारायण दास: मैं ने एक लेख में पढ़ा था कि २०वीं सदी के प्रथम चरण में पश्चिम में माँस उत्पादन की वृद्धि के लिए गाय एवं सूकर का संकरण किया गया था । विशेष जानकारी: http: schatzie-speaks.hubpages.com/hub/Belgian-Blue-Cattle - Ethics]

उत्तर: हाँ, तैयार किया हुआ हर भोजन दूषित हो जाता है । ग्रहण समय और तद् पश्चात् स्नान करना चाहिए और दान पुण्य करना चाहिए । ******

प्रश्न: रागानुगा मार्ग वाले भक्तों के साथ क्या इसकी कोई सुसङ्गतता है ?
उत्तर: नहीं । इसका भक्ति के साथ क्या सम्बन्ध होगा ? ऐसे नियम स्वास्थ्य के लिए बनाए हैं । ग्रहण के समय बस भोजन ग्रहण न करें । ******

४८. ज्ञान

प्रश्न: कभी-कभी ज्ञान की प्रक्रिया को कल्पना का पर्यायवाची की तरह उपयोग किया जाता है । क्या यह सच है ?
उत्तर: यह ग़लत अनुवाद है । ******

४९. तदीय

प्रश्न: तदीय ("मैं तेरा हूँ" इसका भावार्थ है "जो कुछ भी साम्रगी है वह कृष्णसेवा के लिए है") का भावार्थ किस हद तक कृष्ण सम्बन्धित है ? क्या वह केवल बँसी है या उस में अन्य सामग्री, जैसे कि उनका निवास, आदि का भी समावेश होता है, और सभी तदीय वस्तु क्या चेतन है ?

उत्तर: सेवा केवल कृष्ण की ही नहीं होती है, परन्तु तदीयानाम् यानि कि उन से सम्बधित सभी लोग, एवं उनकी सभी वस्तुओं की भी होती है । मुख्य रूप से तदीयानाम् का अर्थ होता है भक्ति, विशेष करके गुरु । अन्यथा सब कुछ कृष्ण सम्बन्धित है, जैसे कि उनके वस्त्र, बाँसुरी, पुष्पमाला, धाम, और अन्य वस्तुएँ । इन तदीय वस्तुओं की भावनानुसार उनकी श्रेणी होती है । ******

प्रश्न: क्या तदीयानाम् का अर्थ पहले भक्त और बाद में सामग्री ?
उत्तर: हाँ । ******

प्रश्न: क्या व्यावहारिक रूप से सभी तदीय वस्तु चेतन है ?
उत्तर: हाँ, कृष्ण सम्बन्धित जो कुछ भी है, उनके धाम सहित सब चेतन है । भगवान का नाम, मन्त्र, आभूषण इत्यादि जो कुछ भी उन से सम्बधित है, वह चेतन है । तथापि ऐसा लगता है कि वे भगवान से अलग है, परन्तु ऐसा नहीं है क्योंकि वे सभी वस्तुएँ उन से उनकी स्वरूप शक्ति की तरह जुड़ी हुई हैं । यह एक परमतत्त्व है । कृष्ण और उन से सम्बन्धित वस्तुओं मे कोई भेद नहीं है । ******

प्रश्न: क्या किसी से तदीय के विरुद्ध अपराध हो सकता है ? क्या उस में भी उच्च-नीच स्तर हो सकते हैं ?

उत्तर: हाँ, उदाहरण स्वरूप भगवान की (निर्माल्य) पुष्पमाला को लाँघकर जाना अपराध है क्योंकि पुष्पमाला भी पूजनीय है तो आप को उसका अनादर नहीं करना चाहिए। भगवान से संलग्न सभी वस्तुओं का हमें सम्मान करना चाहिए, नहीं तो वह अपराध बनता है ।

******

५०. तिलक

प्रश्न: मैं ने कुछ भक्तों से सुना है कि हम लोई बाज़ार से जो राधाकुण्ड-तिलक ख़रीदते हैं वह असल में वहाँ से नहीं है । कई बार वे अलग मिट्टी का उपयोग करते हैं । ऐसे में हमें क्या करना चाहिए ?

उत्तर: यह मिलावट का समय है, जिस में हम कुछ नहीं कर सकते । या तो आप स्वयं राधाकुण्ड जाओ और लाओ या फिर जो विक्रय होता हैं उसका उपयोग करो । वह जो कुछ भी है, उसे असली मान लो ।

******

५१. तुलसी

प्रश्न: विदेश में तुलसी सम्भालना आसान नहीं है क्योंकि वहाँ बहुत सारे कीड़े होते हैं और वे तुलसी की जड़ें खा जाते हैं । यह जानते हुए कि विदेश में तुलसीजी १ या २ वर्ष अवधि ही जीवित रह सकेगी, क्या तुलसीजी उपजाना अपराध है ?

उत्तर: यहाँ भारत में भी तुलसी इस समय (ठंडीमें) अधिक जीवित नहीं रह पाती है । पौधा एक वर्ष तक जीवित रहता है । ठंडी की ऋतु में अधिकतर सभी तुलसी के पौधे मुरझा जाते हैं । बहुत कम पौधे जीवित रहते हैं । फ़रवरी के अन्त में फिर से आप को उपजाने पड़ते हैं । यह वृक्ष की भाँति नहीं है कि एक बार लगाया और बढ़ता जायेगा । तुलसी का पौधा बड़ी कठिनाई से दो वर्ष तक जीवित रहता हैं ।

******

प्रश्न: तुलसी वाटिका में जनवरी में बहुत कम पत्ते रह जाते हैं । क्या उनके पत्ते पूरे सूख जाने तक मुझे रुकना चाहिए ? मुझे क्या करना चाहिए?

उत्तर: आप को रुकना चाहिए । नया तुलसीजी का पौधा उपजाने का यह उचित समय नहीं है क्योंकि अभी भी ठंडी अधिक है । इतनी ठंडी में तुलसीजी नहीं उपजेगी।

******

प्रश्न: तुलसी चयन कैसे करना चाहिए ? दाहिने हाथ से तुलसीदल को लेने के लिए

बाएँ हाथ से उसकी टहनी को पकड़ना क्या उचित है, या हमें कैंची का उपयोग करना चाहिए ?

उत्तर: तुलसी चयन से पहले एवं चयन बाद दोनों समय प्रार्थना करनी चाहिए । कैंची का उपयोग न करो और बिना कारण उन्हें पीडा न पहुँचाओ । आप अपने बाएँ हाथ से टहनी को सहारा देकर और दाएँ हाथ से तुलसी चयन कर सकते हो ।

******

प्रश्न: क्या ज़मीन पर गिरे हुए तुलसी दल भोग में ले सकते हैं ? ठंडी की ऋतु में दल अपने आप भूमि पर गिर जाते हैं । क्या हम उन्हें भूमि से उठाकर, जल से धोकर कृष्णार्पण कर सकते हैं ?

उत्तर: हाँ, आप अर्पण कर सकते हैं । ******

प्रश्न: जब तुलसीजी पूर्णरूप से मुर्झा जाती है तो हमें उनके साथ क्या करना चाहिए?

उत्तर: आप उसे नदी या तो झील के जल में बहा दें या उसका उपयोग माला इत्यादि बनाने में कीजिए । ******

प्रश्न: टूटी हुई कण्ठीमाला को हमें क्या करना चाहिए?

उत्तर: नयी माला धारण करने से पहले आप उसे भगवान को अर्पण करो । पुरानी माला को नदी में बहा दो । ******

प्रश्न: क्या हम वैष्णव होने के नाते तुलसी मिश्रित आयुर्वेदिक दवा ले सकते हैं ?

उत्तर: हो सके तो मत लो । यदि अन्य कोई विकल्प नहीं है तो फिर लीजिए ।******

प्रश्न: मेरे पास पाँव का एक मलहम है, जिसमें ०.१४% तुलसीदल है । क्या हम उसका उपयोग कर सकते हैं ?

उत्तर: आप को अन्य कोई वैकल्पिक दवाई ढूँढनी चाहिए । ******

प्रश्न: क्या तुलसी को हम मुख से ले सकते हैं, परन्तु उसे पाँव तले नहीं लाना चाहिए।

उत्तर: हाँ, मुख में ग्रहण कर सकते हो, परन्तु पाँव पर नहीं, पाँव तले कभी नहीं लाना चाहिए । सभी वैष्णव के लिए तुलसी पूजनीय है इसलिए तुलसी को पाँव पर नहीं रखना चाहिए । ******

प्रश्न: क्या वैष्णव को ऐसी भी दवाई नही लेनी चाहिए जिसमें तुलसी मिश्रित हो, क्योंकि इस तुलसी का उपयोग भगवान की सेवा में नहीं किया है।

उत्तर: यदि आप के पास वैकल्पिक दवा है तो वह दवा लीजिए । जो वस्तुएँ कृष्णसे संलग्न हो, उसका अनादर नहीं करना चाहिए । ******

५२. त्याग - वैराग्य, व्रत

प्रश्न: भक्ति मार्ग में त्याग या वैराग्य और व्रत कितने उपयोगी हैं ? उदाहरण स्वरूप, कुछ भक्त मौन व्रत रखते हैं । भावना की उन्नति के लिए क्या सभी को यह व्रत रखना चाहिए ?

उत्तर: ऐसे व्रत का भक्ति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । ऐसा सोचा कि, "मैं कुछ करना चाहता हूँ और उस से कुछ लाभ पाना है" तो यह एक व्यक्तिगत विचार है और एक सांसारिक इच्छा है । भक्ति का अर्थ है कृष्ण की सेवा करना और उन्हें प्रसन्न रखना । परन्तु अधिकतर लोग सकामी होते हैं, सांसारिक इच्छाओं से भरे होते हैं । वे व्रत रखना चाहते हैं और इसके लिए शास्त्र में अनेक आदेश दिए हुए हैं, जैसे कि "चातुर्मास्य करो, राधाकुण्ड में स्नान करो और परिक्रमा करो।" हज़ारों लोग यह व्रतादि करते हैं, जिनमें से गिने चुने एक दो व्यक्ति ही और कुछ विशेष सुनने में रुचि रखते हैं । कृष्ण अपना मार्ग न चाहनेवाले व्यक्तियों से दूर रखते हैं । सभी व्रतों का मुख्य उद्देश्य है आप को शरणागति के स्तर पर लाना । ******

प्रश्न: वैराग्य आध्यात्मिक जीवन में कहाँ तक सहायक हो सकता है ?

उत्तर: वैराग्य कुछ भी सहायता नहीं करता । भगवान ने हमें देह और इन्द्रियाँ दी है, जिनका अपना कार्यक्षेत्र है । उनका उपयोग भगवान की सेवार्थे करना चाहिए । यह युक्त वैराग्य है । उदाहरण स्वरूप, हमारी आँखें देखने के लिए है । कोई उसे सुई से फोड़ दे तो उसका क्या अर्थ ? फिर वह कोई भी कार्य नहीं कर पाएगा । औरों के लिए भार बन जाएगा । आध्यात्मिक जीवन में यह कहाँ तक उपयोगी रहेगा ? भावना की प्रगति में यह कहाँ तक सहायक बनेगा ? यदि यही बात है तो गूँगे बहरे आध्यात्मिकता में दूसरे लोगों से बढ़कर होंगे । पर ऐसा नहीं है । वैराग्य व त्याग का आध्यात्मिक जीवन से कोई लेना देना नहीं है । आप को सब कुछ सन्तुलित रखना है। युक्त का अर्थ होता है खाने, सोने और इन्द्रियसुख में सन्तुलित होना । ******

प्रश्न: श्री भागवत में श्लोक १.२.७ में बताए हुए ज्ञान और वैराग्य के स्वरूप की व्याख्या कैसे होती है ? मैं ने सुना है कि भक्ति करने से ज्ञान और वैराग्य स्वयं उद्भूत होते हैं। क्या यह सच है ?

उत्तर:
वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च यदहैतुकम् ।। (भा. १.२.७)
"जब श्री कृष्ण के लिए भक्ति की जाती है, तो वह भक्ति शीघ्र ही वैराग्य और अहैतुक ज्ञान प्रदान करती है।"

भक्ति का अर्थ है आनुकूल्य करना । जब किसी के लिए कुछ सेवा करो, तभी आप उस व्यक्ति को समझ सकते हो । कुछ सेवा किए बिना आप किसी के विषय में पूरा ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकते । कृष्ण भगवद्-गीता में कहते हैं, "मुझे केवल भक्ति द्वारा ही समझ सकते हो।"

भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः ।
ततो माम् तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम् ।। (गीता १८.५५)

"उत्तमा भक्ति द्वारा में कौन हूँ और क्या हूँ इस तत्त्व का साधक को अनुभव होता है। फिर सही अर्थ में मुझे जानने के बाद वह मुझमें समा जाता है ।"

यदि कोई भक्ति करता है, तब ही वह मुझे सुखपूर्ण रूप से समझ पाएगा और अधिकतया बिना ज्ञान के आप भक्ति या अनुकूल कार्य नहीं कर पाओगे । बिना भक्ति के सेवा नहीं कर सकोगे । अन्यथा कोई क्यों किसी की सेवा करेगा ? सेवा करने में कोई रुचि नहीं होगी जब तक यह नहीं जानते कि वह व्यक्ति सेवा योग्य है । फिर आप में सेवाभाव आएगा । अतः ज्ञान के बिना भक्ति का प्रश्न ही नहीं होता । भक्ति और ज्ञान दोनों अभिन्न हैं । दोनों हमेशा साथ हैं । यदि भक्ति करनी है तो अपना मन और हृदय दोनों उस में जोड़ने होंगे ।

भक्ति में अपनी असहायक अन्य रुचियों का त्याग करना होगा । सेवा के सिवाय मन कहीं और है तो आप भक्ति निष्ठा से नहीं कर पाओगे । फिर भक्ति के नाम पर व्यापार, धोखा या और कुछ करोगे, परन्तु सेवा नहीं करोगे । यदि सेवा करनी है तो कुछ लौकिक आनन्द, व इन्द्रिय भोग को त्यागना होगा । यदि आप पूरी तरह समर्पित हैं तो आप सम्पूर्ण त्यागी है । फिर किसी अन्य वस्तु में कोई रुचि नहीं रहेगी । यहाँ वहाँ जाने में भी कोई रुचि नहीं होगी यहाँ तक कि तथाकथित आध्यात्मिक प्रवृतियों में, जैसे कि दर्शन करने जाना, परिक्रमा करना, कुम्भमेले में जाना, वहाँ स्नान करना आदि में कोई रुचि नहीं होगी । यदि सेवा में मन केन्द्रित है, तो त्याग या वैराग्य स्वयं ही होगा।

यदि समुचित रूप से सेवा करनी है तो ज्ञान होना आवश्यक है । बिना ज्ञान के आप सेवा नहीं कर सकते । सामान्य कार्य जैसे कि गाय को चारा देना भी सही रीति से कैसे दिया जाय इसका ज्ञान होना आवश्यक है । यदि आप का मन कहीं और है तो आप उस कार्य को ठीक से नहीं कर पाओगे अथवा फिर आप उस कार्य को त्वरित करके वहाँ से शीघ्र चले जाओगे । दिन में तो गोशाला में काम करने के लिए किराए पर लोग आते हैं और उनकी रुचि जल्द से जल्द इस कार्य को समाप्त करके वहाँ से चले जाने में होती है । यह भक्ति नहीं है ।

अतः जहाँ भी भक्ति है, वहाँ पूरा ज्ञान है, त्याग है तब आप भक्ति मञ्च पर विराजमान हैं । ज्ञान और वैराग्य भक्ति की उपज नहीं है; वे दोनों अनिवार्य हैं ।

भक्ति ज्ञान है और वह अज्ञानता में नहीं हो सकती । जो व्यक्ति अज्ञानी है, उसे भक्ति करने की कोई आवश्यकता नहीं है । जब आप भक्ति कर रहे हैं तब अपने आप यह बात समझ जाओगे । फिर कृष्ण, गुरु, या जो इष्टदेव हैं उन्हें समझने लगोगे । यदि कोई ठीक से सेवा नहीं कर रहा है तो उस व्यक्ति को, उसके व्यवहार को, उसके मन को कैसे जानोगे ? इसी को ज्ञान कहते हैं ।

उस व्यक्ति को जानने के उपरान्त उसकी सेवा योग्य रूप से कैसे करें यह भी जानना आवश्यक है । यदि आप एक योगी ओर ज्ञानी की भाँति मात्र बैठ जाते हैं तो इस ज्ञान की कोई आवश्यकता नहीं है । यदि आप गोशाला में सेवा करते हो तो झाड़ू कैसे निकाला जाय, गाय को चारा कैसे दिया जाय, घास कैसे काटा जाय, और गाय और बछड़ों का ध्यान कैसे रखा जाय यह सब जानना अति आवश्यक है । ऐसी कई बातें हैं जो जानना आवश्यक है । यदि आप निष्ठावान हैं, तो अवश्य सीख पाओगे ।

******

प्रश्न: हमने सुना है कि यदि किसी को भक्ति दर्शन का अध्ययन करना है तो सब कुछ त्याग करना होगा और मात्र भक्ति करनी होगी । अभी भी पश्चिम में हम ऐसे लोगों से मिलते हैं वह ऐसा ही समझते हैं और उनको यह समझाना कठिन है कि आप जहाँ भी हैं वहीं रहो और केवल भक्ति का आचरण करो । इन लोगों को समझाने की अन्य कोई रीति है ?

उत्तर: भक्ति क्या है मात्र यही बात उन्हें समझानी है । यदि किसी को कोई भ्रम है तो वह दूर करना है । इसके अतिरिक्त सब कुछ त्याग देना उचित भी नहीं है ।

******

५३. दर्शन और अन्य धर्म

प्रश्न: क्या अन्य (अवैदिक) धर्म में भी भक्ति होती है, या उसे मात्र एक उपधर्म की तरह माना जाता है ?

उत्तर: अन्य धर्म में भक्ति जैसा कुछ नहीं है । सम्भवतः भक्ति शब्द का प्रयोग किया होगा परन्तु भक्ति के सही अर्थ में नहीं, मात्र लौकिक वस्तु के अनुसन्धान में किया होगा ।

******

प्रश्न: जो भक्ति मार्ग अथवा वैदिक मार्ग पर नहीं चलते, उनकी क्या गति होती हैं ?

उत्तर: वे भगवान के अस्तित्व को कभी नहीं स्वीकारते इसलिए कभी भक्ति मार्ग पर नहीं चलते । जो भगवान के निर्दिष्ट मार्ग पर नहीं चलते, वे संसार में ही रहेंगे । यदि भगवानकी आनुकूल्य सेवा नहीं करोगे तो इस संसारसे कभी छूट नहीं पाओगे ।

[टिप्पणी: सत्यनारायण दास] महाराज की एक शिष्या है जो धर्मगुरु (मिनिस्टर) है और उसका चर्च भी है । उसने कहा था कि उसके धर्म के सभी धर्मगुरु यह मानते हैं कि भगवान का अंश होना अर्थात् स्वयं ही भगवान होना । वे लोग ईसाई की शिक्षा की बात करते हैं, पर हम सब भगवान के सेवक हैं यह सुनना भी नहीं चाहते। यहाँ तक कि जब भी उस शिष्या ने इस शिक्षा के विषय में बात की, तो वे सब बहुत नाराज़ हो गए । वे सब यह सोचते हैं कि वे स्वयं भगवान हैं और जीवन का आनन्द उठाना चाहते हैं और साथ में उनके शिष्यों को भी कहते हैं कि यथाशक्ति उन्हें भी जीवनानन्द लेना चाहिए । वे प्यार की बातें बड़ी चाह से करते हैं और प्रीतिभोज देते हैं । इसे आसुरी भाव कहते हैं ।

******

प्रश्न: ईसाई सन्त का कैसे आदर किया जाए ?

उत्तर: हमें उनका आदर करना चाहिए, उन्हें पूजना नहीं चाहिए । यदि उनके साथ कुछ काम करना हो तो उन्हें सम्मान दीजिए, जैसे हम रामानुजाचार्य और मध्वाचार्य के शिष्यों को देते हैं । जहाँ तक अपने व्यावहारिक जीवन की बात करें तो हम उनके अनुयायी नहीं है । न उन से प्यार करते हैं, न उनका तिरस्कार करते हैं । पर भक्त समान उनका आदर करें । यदि उनके शिष्य हमारे पास आए, हमें मिलने आए तो उनका स्वागत आदर से करना चाहिए । एक वैष्णव की भाँति वे भी आदरपात्र हैं । हमें यह समझना चाहिए कि भक्ति भक्ति से ही आती है । हम को यह सिद्धान्त कभी नहीं भूलना चाहिए ।

******

प्रश्नः पूर्वमीमांसक भगवान को न मानकर मात्र कर्म मानते हैं तो क्या वे निरीश्वरवादी हैं ?

उत्तरः संस्कृत में निरीश्वर का अर्थ होता है नास्तिक और ईश्वरवादी का अर्थ होता है आस्तिक । नास्तिक का अर्थ होता है जो भगवान के अस्तित्व, वेद के सिद्धान्त जैसे कि पुनर्जन्मादि को नहीं स्वीकारते । जो भगवान के अस्तित्व और वेदवाणी को सच मानते हैं, उसे आस्तिक कहते हैं ।

कर्म-मीमांसा वेद पर आधारित है और भगवान के अस्तित्व को स्वीकारता है इसलिए उसे नास्तिक - निरीश्वरवादी नहीं माना जाता । जैन, बौद्धिष्ठ और चार्वक लोग नास्तिक होते हैं । वे दृढ़ता से भगवान के अस्तित्व का अस्वीकार करते हैं और वेदों को प्रमाणभूत नहीं मानते । जो वेदों को स्वीकारते हैं, वे नास्तिक नहीं माने जाते ।......

प्रश्नः क्या वे मात्र वेदों को नहीं पर भगवान को भी मानते हैं ?

उत्तरः हाँ, यदि भगवान ही नहीं होते तो वेद कहाँ से आते ? नास्तिक न भगवान के अस्तित्व को स्वीकारते हैं और न ही भगवान द्वारा प्रतिपादित हुए शास्त्रों को ।......

प्रश्नः जब कृष्ण ने व्रजवासियों को इन्द्रयज्ञ करने से रोका, तो क्या उस समय वहाँ उन्होंने कर्म-मीमांसा का उपदेश दिया था ?

उत्तरः नहीं, कृष्ण ने कर्म-मीमांसा के सिद्धान्तों का खण्डन किया था ।

......

प्रश्नः इस लीला का अर्थ क्या है ?

उत्तरः इस लीला में कृष्ण ने हमें यह बताया है कि जो साक्षात् दिखाई देता है वही निभाना चाहिए, न कि अन्ध विश्वास का अनुसरण करना चाहिये । सामान्यतः धर्म के नाम पर लोग भिन्न भिन्न धारणा का प्रचार करते हैं और कहते हैं, "यदि इस धारणा को अपनाएँगे तो अपने अगले जन्म में कुछ न कुछ पाएँगे ।"

फिर लोग उसी रीति (परम्परा) को दोहराते रहते हैं । इसका कोई प्रमाण नहीं है कि अगले जन्म में हमें कुछ मिलता है कि नहीं । कृष्ण ने यह दिखाया कि यदि आप कुछ करते हो, तो वह आप प्रत्यक्ष देखोगे और इसी जन्म में उसका परिणाम भी पाओगे । उन्होंने कहा था, "गोवर्धनपूजा करो जिसका हमें प्रत्यक्ष लाभ होता है, क्योंकि गायें उस पर चरती हैं एवं जल और अन्य जीवनोपयोगी वस्तुओं को भी वह हमें देता है ।" कृष्ण ने यह भी दिखाया कि पूजा के द्वारा वे प्रत्यक्ष प्रकट हो जाते हैं। उन्होंने यह भी

दिखाया कि धर्म का प्रत्यक्ष रूप से साक्षात्कार होता है और यह अन्ध विश्वास आधारित नहीं है ।

धर्म स्थापना करने के लिए भगवान अवतरित होते हैं, पर कालान्तर में लोग अपने निजी उद्देश्य से स्वपूजा प्रतिष्ठा स्थापित कर देते हैं । ऐसे लोग स्वपूजा का विशेषतर आग्रह रखते हैं, न कि जनसमुदाय भगवान को कैसे भजें और प्रभु के निर्दिष्ट मार्ग पर कैसे चलें । इसी प्रकार अनेक अनुयायी इकट्ठा करते हैं और ऐसे अनुयायी निर्दिष्ट वाणी का कुछ लाभ होता है कि नहीं यह बिना देखे, बिना सोचे वे जो कुछ भी कहे वैसा ही करते हैं ।

उदाहरण स्वरूप आनन्दमयी माँ । जब वह जीवित थी तब बहुत प्रसिद्ध थी । वह अशिक्षित थी, फिर भी लोग उसे भगवान की भाँति पूजते थे । उसने खुद को कभी भी भगवान घोषित नहीं किया था, पर उसके अनुयायियों ने भगवान के विग्रह को भी उसकी प्रतिमा के नीचे रखा था, और उसे उच्च स्थान दिया था । ऐसा इस लिए किया कि बनारस के एक विद्वान गोपीनाथ कविराज और कुछ व्यापारी लोगों ने आनन्दमयी माँ की बहुत महिमा गायी थी । इन व्यापारियोंने सोचा कि वे इसके माध्यम से कुछ व्यापार कर सकेंगे अतः उन्हें एक ऐसे बिचौलिये की आवश्यकता थी जिसके माध्यम से वह नेताओं और उच्च अधिकारियों को प्रभावित कर सके । अतः उन्होंने ऐसी प्रतिष्ठित व्यक्ति को भगवान की भाँति स्थापित किया । इस प्रकार आनन्दमयी माँ भी दोनों पक्षो के बीच एक माध्यम बन गयी जिससे अनुयायी अपनी स्वार्थपूर्ति करते गए। अब जनसमुदाय ऐसे कथित भगवान की पूजा करते हैं । धर्म के नाम पर ऐसी कुप्रथा स्थापित होती है । अन्त में भगवान अवतरित होते हैं और ऐसी प्रथा को नष्ट करते हैं। गोवर्धन लीला का यही महत्त्व है ।   ******

प्रश्न: भक्ति सन्दर्भ में जीव गोस्वामी ने बताया है कि सामुख्य बनने के लिए हमें भक्ति या ध्यान करना चाहिए । सामुख्य होने की सही परिभाषा क्या है ? और मानो कोई ईसाई सच्ची श्रद्धा से भगवान को मानता है तो क्या वह भी सामुख्य कहलाता है ?
उत्तर: सामुख्य का अर्थ होता है कि सम्पूर्ण रूप से ईश्वर को समर्पित होना और ईश्वरभक्त होकर भक्ति मार्ग पर चलना । इसके लिए पहले उसे भक्ति की परिभाषा समझना आवश्यक है । यदि उसे भक्ति का अर्थ ही ज्ञात नहीं है तो उसके लिए सामुख्य का कोई प्रश्न ही नहीं उठता । तथापि जो कुछ प्रचलित हो जाता है, तो सब वही शब्द प्रयोग करते हैं । उदाहरण स्वरूप, मधुसूदन सरस्वती एक प्रसिद्ध अद्वैतवादी थे, उन्होंने एक प्रख्यात श्लोक लिखा है, जो इस प्रकार है....

वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरुण-बिम्ब-फलाधरोष्ठात् ।
पूर्णेन्दु-सुंदरमुखारविन्द-नेत्रात्कृष्णात्परं किमपि तत्त्वमहं न जाने ।।

"मैं कृष्ण के सिवा अन्य कोई परमसत्य को नहीं जानता, जो अपने हाथ में वंशी धारण किए हुए है, जिसका रंग मेघश्याम है, जो पीताम्बर से सुशोभित है, जिसके अधर बिम्बाफल की तरह लाल है और चन्द्र जैसे मुखारविन्द पर कमलनयन है ।"

वे इस श्लोक में कृष्ण की सुन्दरता का वर्णन करते हैं । उन्होंने भगवद्गीता पर अद्वैत टीका लिखी है और बारहवें अध्याय में यह श्लोक लिखा है । कई लोग इस श्लोक का पाठ करते हैं, विशेषकर यहाँ वृन्दावन में । फिर भी इस काव्य के रचयिता भक्ति का खण्डन करते हैं । उन्होंने अद्वैतवाद को स्थापित करने के लिए अद्वैत-सिद्धि नामक एक पुस्तक लिखी है ।

इस प्रकार ऐसे अन्य लोग भी थे, जैसे कि करपात्री महाराज, जो ५० वर्ष पूर्व वृन्दावन में थे एवं प्रसिद्ध मायावादी थे । वह भागवत, वेणुगीत, गोपीगीत पर व्याख्यान करते फिर भी कट्टर मायावादी थे ।

अब भक्ति और समर्पण शब्द अति प्रचलित हो गए हैं अतः सब चाहे योगी हो, ज्ञानी हो या कर्मी हो, सभी भक्ति के विषय में कुछ कहते हैं । हमें भक्ति की परिभाषा एवं लक्षण जानना आवश्यक है और यह भी समझना आवश्यक है कि वे सही अर्थ में भक्ति को समझते हैं और भक्ति करते हैं कि नहीं । भक्ति को समझने के लिए सही रीति होती है । भक्ति को समझने के लिए ऐसे शास्त्र का अभ्यास करना चाहिए है जो भक्ति का यथार्थ ज्ञान दे । श्रीमद् भागवत और रूप गोस्वामी का भक्तिरसामृत सिन्धु जैसे शास्त्र के अभ्यास बिना भक्ति को समझना दुर्लभ है । उनका (ईसाई) भक्ति के विषय में क्या साहित्य है ? क्या वे भक्ति का सही अर्थ समझाते हैं ? क्या वे भगवान के अस्तित्व, उनके निवास, उनकी लीलाएँ, उनकी शक्ति को स्वीकारते हैं? हमें यह जानना चाहिए कि उन्हें इस विषय में कुछ समझ है या नहीं । भारत में भी, जो लोग भक्ति करते हैं, प्रायः उन्हें भी भक्ति की सही समझ नहीं है । यहाँ तक कि जो स्वयं को श्री चैतन्य महाप्रभु के अनुयायी बताते हैं, उन्हें भी भक्ति की समझ नहीं है । भक्ति शास्त्र का अभ्यास किए बिना भक्ति को कोई जान नहीं सकता । ******

प्रश्न: ऐसा बताया गया है कि ज्ञानी अथवा भक्त सामुख्य बन सकते हैं, पर ज्ञानी कैसे सामुख्य बन सकते हैं ?
उत्तर: ज्ञान के लिए एक ज्ञानी को भी भक्तिमार्ग स्वीकार करना होता है, नहीं तो यह सम्भव नहीं है । उसे जीवन में सांसारिक रुचि को दूर करना होगा और चेतना को सम्पूर्ण रूप से परमात्मा से जोड़ना होगा । इस अर्थ में यही सामुख्य है ।

******

प्रश्न: षड्-दर्शन अस्तित्व में कैसे आये और किसके द्वारा वे कहे गए थे ?
उत्तर: सभी दर्शन का मुख्य उद्देश्य है कि दुःख से कैसे मुक्त हो । लोग इस संसार में बड़े दुःखी हैं और कोई दुःख नहीं चाहता । अतः सभी लोग दुःख से मुक्त होने का प्रयत्न करते हैं । सर्व प्रथम जो दुःख दिखाई देता है उसे दूर करने का प्रयत्न करना चाहिए । यदि आप रोगग्रस्त हैं तो औषधि लेते हो, यदि कोई परेशान करता है, तो उसका प्रतिकार करते हो, यदि भूखे हो तो भोजन करते हो, और यदि आप की कोई इच्छा है तो उसकी पूर्ति के लिए प्रयत्न करते हो । पर यह समाधान स्थायी नहीं है । यह समाधान मात्र अल्प क़ालीन समाधान है और दुःख फिर से आते हैं । प्रश्न यह है कि ऐसा क्या करें जिससे दुःख हमेशा के लिए समाप्त हो जाय ताकि आप फिर से दुःखी न हो । इसका उपाय षड्-दर्शन में मिलता है ।

एक सामान्य व्यक्ति दुःख क्या है यह परिभाषित भी नहीं कर सकता । यदि आप एक सामान्य व्यक्ति को पूछेंगे कि "दुःख क्या है ?", "ख़ुशी क्या है ?", तो वह बता नहीं पाएगा । दुःख क्या है यह दर्शन समझा सकता है । दुःख अर्थात् आप जिसे नहीं चाहते, जिसे पसन्द नहीं करते । आप कुछ पाना चाहते हो, पर उस में अवरोध आते हैं इसे दुःख कहते हैं । मैं कैसे दुःख से सम्पूर्ण मुक्त हो जाऊँ ? यही दर्शन शास्त्र की विषय वस्तु है ।

दुःख तीन प्रकार के होते हैं: आध्यात्मिक (शारीरिक अथवा मानसिक), आधिभौतिक (अन्य प्राणीओं से) और आधिदैविक (प्राकृतिक आपत्तियों) । दृश्य साधनों से हम इन दुःखों से मुक्त नहीं हो सकते अतः दर्शन आप को अपने देह से परे ले जाते हैं । लोग अल्प भौतिक सुख, कुछ काम सुख, और धन प्राप्ति के पीछे भागते रहते हैं इस सोच से कि ये सब चीज़ें उन्हें ख़ुशी देंगी, सुख देंगी, पर ये सुख, ख़ुशी हमेशा के लिए नहीं रहते । दर्शन कहते हैं कि इसका उपाय काम और अर्थ से भी परे है । वे उसे मोक्ष या मुक्ति बताते हैं । विभिन्न दार्शनिक उसकी भिन्न भिन्न परिभाषा करते हैं।

१. सब से प्रथम एवं प्राचीन दर्शन है साङ्ख्य दर्शन, जिसका आरम्भ होता है:
दुःख-त्रयाभिघाताज् जिज्ञासा तदपघातके हेतौ ।
दृष्टे साऽपार्था चेत् नैकान्तात्यन्ततोऽभावात् ।।
"दर्शन में त्रिगुणी – तीन प्रकार के दुःख और उन से मुक्ति पाने की इच्छा को जिज्ञासा कहते हैं ।"

यह साङ्ख्य दर्शन का आरम्भ है । वे कहते हैं कि यदि आप प्रकृति और पुरुष, जीव, स्वयं और चेतना के बीच का भेद समझने लगोगे, तो उस ज्ञान से तुम दुःख से मुक्ति पाओगे । तत्पश्चात् आगे क्या होगा ? वे कुछ नहीं कहते । उनका दर्शन मात्र यही कहता है कि जब आप प्राकृतिक पदार्थ को समझोगे तब यही अनुभूति होगी कि आप उनसे भिन्न और स्वतन्त्र हो एवं यह भी समझ चुके हो कि आप उसका अंश नहीं हो। फिर वे प्रस्ताव करते हैं कि आप प्रकृति के बंधन (माया) से मुक्त हो जाएँगे।

२. साङ्ख्य दर्शन की जुड़वाँ बहन है योग । वह साधना का आग्रह रखती है । योग के प्रमाण शास्त्र और तत्त्ववाद साङ्ख्य से हैं, पर उन दोंनो की प्रक्रिया और प्राप्य भिन्न हैं । योग में आठ सोपान - यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि हैं । इन आठ सोपान को जीवन में लाने से आप को अनुभूति होगी कि आप आत्मा हो एवं प्रकृति से भिन्न हो ।

३ + ४. न्याय और वैशेषिक भी जुड़वाँ दर्शन है । वे कहते हैं कि आप को सभी वस्तु का पृथक्करण करके यह जानना होगा कि आप इन सब वस्तुओं से भिन्न हैं । न्याय सभी पदार्थो को सोलह भागों में और वैशेषिक सात भागों में बाँटता है । उन्होंने दर्शाया है कि दुःख भिन्न भिन्न प्रकार के होते हैं । यदि आप यह जान पाते हैं कि आप आत्मा हैं तो सभी दुःखों से मुक्त हो जाओगे । उनका मोक्ष एक पत्थर के टुकड़े की भाँति (निष्चेतन) होता है क्योंकि वे कहते हैं कि देह आत्मा नहीं है । आत्मा चेतन नहीं है । वे कहते हैं कि चेतना देह को मन से जुड़ने से आती है और यदि मन को देह से भिन्न कर दो (आत्मा से अलग), तब फिर कोई दुःख नहीं है । मन ही तो हर दुःख का मूल कारण है । यही उनका दर्शन है ।

५. एक और है पूर्व मीमांसा । उनका प्रस्ताव है कि यदि आप धार्मिक कार्य करते हैं, जैसे कि यज्ञ करना, तो स्वर्ग में जाएँगे और वहाँ आप को विपुल आनन्द मिलेगा । अब आप यहाँ प्रयास करते हैं स्वर्गसुख पाने के लिए, किन्तु स्वर्ग कोई स्थायी स्थान नहीं है । जब पुण्य क्षीण हो जाता है, तब पुनः पृथ्वी लोक में आना होता है और फिर

से दुःख का चक्र शुरू हो जाता है । यह प्रक्रिया (स्वर्ग में पुनरावर्तन) भी अन्तिम समाधान नहीं है ।

६. फिर है वेदान्त और वेदान्त सूत्र, जो मोक्ष के विषय में चर्चा करता है । वेदान्त की भिन्न भिन्न शाखाएँ हैं, जिन्हें दो भागों में विभाजित किया जाता है – साकारवाद और निराकारवाद ।

उपर्युक्त ये सभी दर्शन कहते हैं कि मृत्यु के बाद ही दुःख से छुटकारा मिलता है । जब तक जीवित है, दुःख सहना ही होगा । मृत्यु के बाद तभी मुक्ति मिलेगी जब साधक दृढ़ साधना से उस योग्य बना हो ।

७. तदनन्तर है परम दर्शन, जो श्रीचैतन्य महाप्रभु ने दिया । वे समझाते हैं कि दुःख क्या है, सुख क्या है, दुःख का मूल कारण क्या है और किस तरह साधक दुःख से छुटकारा पा सकता है और भक्ति द्वारा ठीक यहाँ और अभी प्रसन्नता का अनुभव कर सकता है ।

सभी दर्शन के प्राकट्य का मुख्य कारण एक ही है: हम कैसे उपर्युक्त तीन प्रकार के दुःख से मुक्त हो सकें ? इस संसार में दुःख से मुक्त होने के लिए भिन्न भिन्न दर्शनकारों ने विभिन्न विचार और पद्धति विकसित की है ।

******

प्रश्न: कल बताया गया था कि षड्-दर्शन काल्पनिक है, तो वह कैसे ? कुछ दर्शन उपयोगी भी दिखाई देते हैं ।

उत्तर: संस्कृत शब्द 'दर्शन' (अर्थात् 'देखना' या 'विशेष धारणा करना') फ़िलोसोफ़ी के लिए उपयोग में लिया गया है । षड्-दर्शन अर्थात् "वास्तविक तत्त्व की अनुभूति होना" । फ़िलोसोफ़ी शब्द दर्शन के लिए उचित नहीं है । ये षड्-दर्शन में प्रक्रिया एवं वस्तु जिनकी अनुभूति करनी है, वे दोनों काल्पनिक हैं । न प्रक्रिया काम करती है, न उद्देश्य सिद्ध होता है ।

दर्शन के दो विभाजन है: एक है षड्-दर्शन और दूसरा है भक्ति । षड्-दर्शन उनके लिए है जो स्वप्रयास से कुछ प्राप्त करना चाहते हैं । वे सोचते हैं, "यदि मैं कार्य करूँगा और प्रयत्नशील रहूँगा तो मैं कुछ भी प्राप्त कर सकूँगा ।" मगर यह कैसे सम्भव है ? वह व्यक्ति अज्ञानी है और वस्तुतः सांसारिक बन्धन में है । वह जो भी कुछ करता है, सांसारिक बन्धन से प्रेरित होकर करता है अतः अज्ञान में रहता है, जो माया की उपज

है । उसका ज्ञान भी माया की उपज है । उस मायावी ज्ञान का उपयोग करके वह माया से मुक्त नहीं हो सकता । तथापि, ये सभी षड्-दर्शन यही प्रस्तुत करते हैं । वैष्णवों के अतिरिक्त जो भी इन षड्-दर्शन का पालन करते हैं, वे भगवान का अनादर करते हैं ।

येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिन स्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः ।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोनादृतयुष्मदङ्घ्रयः ।। (भा. १०.२.३२)

"हे कमलनयन भगवन्, जो भक्त नहीं है, पर संयम और तपस्या से उच्च स्थान पाने पर अपने आप को मुक्त समझते हैं, पर उनकी बुद्धि अशुद्ध है । जो आप के चरणकमल का अनादर करते हैं, वे कठिन परिश्रम से प्राप्त उच्च स्थान से भी नीचे गिरते हैं ।"

अतः प्राप्त उच्च स्थान से जो यह सोचते हुए कि वह मुक्त हो गया है, तथापि उनकी अधोगति ही होती है, क्योंकि वे भगवान का अनादर करते हैं । अधोगति अर्थात् पुनः सांसारिक सुख की लालसा । यदि उनका उद्देश्य इस संसार में कुछ प्राप्त करने का है, तो वे पुनः अपनी पूर्व स्थिति में आ जाते हैं ।

साङ्ख्य, योग वग़ैरह भिन्न मार्ग या प्रक्रियाएँ है । अन्तिम उद्देश्य क्या है ? यह है या तो बुध्द दर्शन का शून्यवाद अथवा निराकार ब्रह्म का अनुभव । शून्य और ब्रह्म स्पष्ट रूप से परिभाषित नहीं किए गए हैं । अन्तिम व्याख्या भागवत में दी गयी है । परम तत्त्व अद्वय है और तीन नामों से जाना जाता है: भगवान, परमात्मा, और ब्रह्म । अन्य दर्शन भगवान की बात नहीं करते और यदि भगवान की बात करते हैं तो अद्वैतवाद दर्शन के अनुसार उन को काल्पनिक समझते हैं । वे भगवान को तो मानते हैं, किन्तु उनको पार्थिव मानते हैं, शास्त्र में जैसे भगवान का वर्णन हुआ है वैसे नहीं ।

विशेष करके षड्-दर्शन ऐसे साधकों के लिए है जिनको आत्मसमर्पण में रुचि नहीं है। इन षड्-दर्शनों का एक हेतु यह भी है कि लोगों को मानसिक व्यायाम में लगाए रखना और इस सोच में व्यस्त रखना कि वे कुछ पा रहे हैं । जैसे कि कोई कुत्ता हड्डी चबाने में व्यस्त हो । वास्तव में कुत्ता अपने ही मसूड़े चबाता है, जो हड्डी को चबाते चबाते ख़ून से सने हुए हैं । कुत्ते को ऐसा लगता है कि उसे कुछ मिल रहा है। ये सभी षड्-दर्शन ठीक उसी प्रकार हैं ।

यहाँ श्रीचैतन्य महाप्रभु परम दर्शन समझाते हैं । उन्हों ने स्पष्टरूप से परमतत्त्व का स्वरूप, उनकी शक्तियाँ, जीव पदार्थ का स्थान, और उनका कैसे अनुभव किया जाता है, यह सब उन्होंने स्पष्ट रूप से समझाया है ।

षड्-दर्शन हमें यह समझने में सहायता करता है कि आत्मा देह से भिन्न है । यदि हम कुछ त्याग करना चाहते हैं, तो हमें यह सिद्धान्त ठीक से समझना आवश्यक है । इस विषय में षड्-दर्शन की उपयोगिता है और यह उपयोगिता ऐसे साधकों के लिए है जो भक्ति मार्ग को नहीं अपनाते, पर कुछ और ही करते हैं, जैसे कि भौतिकवादी किसी भी दर्शन को नहीं मानते पर मात्र विध्वंस करते हैं तथापि जिन्होंने अपने आप कुछ नियम बनाए हैं और कोई विशेष साधना करते हैं, ऐसे लोग कुछ अनुशासन निभाते हैं, तो भी वे कुछ प्राप्त नहीं कर पाते पर दूसरों के लिए कोई नाश नहीं करते। यही उनकी उपयोगिता है । यह तो ऐसी बात है जैसे कि कोई प्रेतात्मा को किसी खम्भे पर उतारने-चढ़ाने के लिए व्यस्त रखा जाय ताकि वह प्रेतात्मा दूसरों को परेशान न करे ।

******

प्रश्न: इसका अर्थ यह है कि षड्-दर्शन विवेक बढ़ाता है, या ऐसा कुछ करता है, पर उनमें दिखायी गयी पद्धति कोई निष्कर्ष पर नहीं ले जाती है ।

******

उत्तर: हाँ ।

प्रश्न: क्या यह श्रेय होगा कि पहले हम वैष्णव दर्शन सुने और बाद में अन्य षड्-दर्शन?
उत्तर: भक्ति साहित्य में ऐसे अन्य दर्शन को पूर्वपक्ष माना गया है एवं उनकी मुख्य विशेषताएँ निर्देश की गयी हैं । यदि इन विषय में अधिक जानना है तो आप को उन दर्शनों का स्वतन्त्र अभ्यास करना होगा ।

यदि आप इन दर्शनों का अभ्यास करते हो, फिर भी उनके सारांश को नहीं समझ पाओगे, जैसे कि न्याय - यह एक विशाल क्षेत्र है । फिर है नव्य - न्याय, जो केवल एक न्यायसूत्र की व्याख्या है । वह इतना विशाल है कि पुरा नया क्षेत्र बन गया है । तदुपरान्त उसका मात्र एक भाग अनुमान जो सागर की भाँति विशाल हो गया है । यह ऐसा है जैसे आप आधुनिक विज्ञान पढ़ रहे हैं । पहले मात्र विज्ञान था, अब बन गए हैं भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान इत्यादि । अब तो इतनी शाखायें और उपशाखाएँ हो गयी हैं कि यदि आप उन्हें पढ़ना चाहो तो आप द्विविधा में हो जाओगे और समझ नहीं पाओगे कि इतनी गहरायी से यह सब पढ़ने की क्या आवश्यकता है ? अर्थात् इन शाखाओं का कोई अन्त नहीं है ।

अन्त में कोई समझ नहीं पाता कि इनको इतना विस्तार से क्यों पढ़ा जाय ? वस्तुतः भक्ति और आध्यात्मिक साधना में कैसे उपयोग में लिया जाय ? तर्क शास्त्र, साङ्ख्य, वैशेषिक इत्यादि में कोई आध्यात्मिक निर्दिष्ट साधना नहीं है ।

जब तक आप भक्ति शास्त्र का अध्ययन नहीं करेंगे, तब तक सभी षड्-दर्शन व्यर्थ है। जब भक्ति मार्ग में आएँगे, तब हम समझ सकेंगे कि सही रीति क्या है, इन अन्य दर्शन का उद्देश्य क्या है और (भक्ति सन्दर्भ में) उनका महत्त्व क्या है । अतः सर्व प्रथम वैष्णव दर्शन समझो और उस पर आधारित अन्य दर्शन पढ़ो । ******

प्रश्न: यदि कोई भक्ति मार्ग पर है तो क्या उसे अन्य दर्शनों को जानना आवश्यक है ?
उत्तर: उन्हें जानना बहुत आवश्यक है क्योंकि वे पूर्वपक्ष का दर्शन है । भक्ति सिद्धान्तों को समझने के लिए अन्य दर्शनों को जानना भी आवश्यक है ।

भक्ति को समझने के लिए प्रस्थानत्रयी - श्रुति के तीन विभाग - वेदान्त सूत्र, स्मृति और न्याय अर्थात् वेदान्त सूत्र, उपनिषद्, भगवद्-गीता को समझना आवश्यक है । वेदान्त सूत्रों को समझने के लिए हमें पूर्व-मीमांसा को भी समझना चाहिए क्योंकि वेदान्त उत्तर-मीमांसा है । ******

प्रश्न: इन सभी दर्शन का अध्ययन करने के लिए कैसी योग्यता होनी चाहिए ?
उत्तर: जिज्ञासा । ******

प्रश्न: जिज्ञासा ?
उत्तर: दुःखत्रयाभिघातात् जिज्ञासा अर्थात् आप को जब त्रिविधा विपदाओं से मुक्त होने की इच्छा होगी तभी जिज्ञासा उत्पन्न होती है । यदि जिज्ञासा नहीं तो आप का उद्देश्य मात्र पैसा बनाना, मौज करना, और अन्त में दुःखी होना । ******

प्रश्न: भक्ति सेवा करना अति सरल दिखाई देता है । क्या हमारे लिए भी ये सारे (षट्) सन्दर्भ, षड्-दर्शन, न्यायादि का अध्ययन करना आवश्यक है ?
उत्तर: यह संसार कर्म के सिद्धान्तों पर चलता है । प्रत्येक व्यक्ति को स्वकर्म-फल मिलता है और कोई भी स्वकर्म-फल से मुक्त नहीं हो सकता । वे जो कुछ भी करते हैं उस के अनुसार फल मिलेगा । यद्यपि वास्तविकता अति सरल है पर लोग इस बात को स्वीकारना नहीं चाहते । वे बुद्धि या स्वमतानुसार - जो सत्त्व, रजस् और तमस्

गुण पर आधारित है उस के अनुसार काम करते हैं। लोगों की अपनी पसन्दगी और नापसन्दगी भी इन तीन गुणों पर आधारित होती है।

भगवान मात्र निवृत्ति मार्ग का प्रसार करना चाहते हैं, प्रवृत्ति मार्ग का नहीं तथापि लोगों की रुचि निवृत्ति मार्ग में नहीं है अतः वह लोगो को सहायरूप होने के लिए अन्य मार्ग का प्रचार करते हैं। इन अन्य मार्ग पर लोग अपने मानसिक व्यायाम से ख़ुद को व्यस्त रख सकते हैं, जैसे कुत्ता यह सोच के हड्डी चबाता रहता है कि उसे कुछ प्राप्त हो रहा है, जब कि उसे मात्र अपना रक्त ही मिलता है।

ये अन्य मार्ग भी ठीक वैसे ही है। वस्तुतः उनमें कुछ भी वास्तविक नहीं है क्योंकि वे भगवान की स्वतन्त्रता पर आधारित है एवं त्रिगुणमयी है। लोगो को समर्पण या निर्दिष्ट मार्ग जो भगवान को पसन्द है, उस पर चलने में कोई रुचि नहीं है। अतः वे कुछ प्रयत्न करते हैं, स्वयं को उस से संतुष्ट मानते हैं और संसार में लिप्त रहते हैं। अन्यथा सिद्धान्त सरल है। यदि साधक उसे स्वीकारना नहीं चाहता, तो भगवान भी क्या कर सकते हैं ?

यहाँ तक कि जो भक्तिमार्ग से संलग्न हैं, वे भी भगवान को अस्वीकार करते हैं यद्यपि वे कहते है कि भक्ति भी करते हैं पर भगवान की वाणी को कहाँ स्वीकार करते हैं ? वे भगवद्वाणी का भी अपनी सोच के अनुसार भिन्न अर्थघटन करते हैं और भगवान जो कहते हैं उस का स्वीकार नहीं करते। यह तो जो तथाकथित भक्त हैं वे कहते हैं कि वे भक्ति मार्ग का अनुसरण करते हैं उनकी भी यही परिस्थिति है तो जो भक्तिपथ पर नहीं है उन लोगों का तो कहना ही क्या ?

यह परिस्थिति सांसारिक लोगो की है। भगवान सर्वभूत-हितेरता है। लोग कुछ बातों का अनुसरण करते हैं और स्वकर्म-फल भोगतें हैं।

******

प्रश्न: जो साधक भक्ति मार्ग को स्वीकारता है उसे उन (षट्) दर्शनों को समझने का कोई हेतु है ?
उत्तर: इसका उद्देश्य है अपना विश्वास दृढ़ करना, सत्य समझना एवं अन्य दर्शन की निर्रथकता को जानना। इसके अतिरिक्त यदि कोई हम से भक्ति विरुद्ध बहस करने के लिए सम्पर्क करें, तो हमें उनके दर्शन को समझना चाहिए और उन से प्रभावित नहीं होना चाहिए।

किसी भी विषय में जानकारी होना एवं इष्टदेव पर अटूट विश्वास रखना समीचीन है। यदि आप भगवद्-गीता का अध्ययन कर रहे हो, तो उस में अनेक भिन्न भिन्न दर्शन बताये गये हैं एवं भगवद्-गीता को यथार्थरूप में समझने के लिए भी अन्य दर्शन को जानना आवश्यक है । नहीं तो लोग उसे भिन्न रीति से प्रस्तुत करेंगें और उस से प्रायः मन में शङ्का हो सकती है । परन्तु आप ने सही परिप्रेक्ष्य में गीता पढ़ी है, तो उसमें शङ्का नहीं होगी । यदि किसी के मन में आरम्भ से दृढ़ निष्ठा हो, तो यह सब पढ़ने की कोई आवश्यकता नहीं है । यदि कोई गुरु है तो उसे यह सब जानना आवश्यक है, नहीं तो वह कैसे अपने शिष्यों का शङ्कानिवारण कर पाएगा? गुरु को सभी दर्शनों की जानकारी होनी चाहिए - चाहे वह भक्ति से सम्बन्धित हो या न हो ।

हम शास्त्रीय श्रद्धा के विषय में चर्चा करते हैं । शास्त्रीय श्रद्धा शास्त्र आधारित है अतः शास्त्र का अर्थ जानना अनिवार्य है । आत्मा, भगवान, भक्ति, या पुनर्जन्म यह सब विषय हमारे अनुभवगम्य नहीं है । वे हमें सिखाए जाते हैं । यह ज्ञान शास्त्र से मिलता है, पर शास्त्र में भिन्न-भिन्न प्रकार का विवरण दिया गया हैं । हम कैसे पता लगाएँ कि वस्तु क्या है और हमें क्या पढ़ना चाहिए ? फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि सभी कोई उसे पढ़े, पर जिन में पढ़ने की क्षमता है, उन्हें अवश्य पढ़ना चाहिए ।

******

प्रश्नः क्या आप इस श्लोक का अर्थ समझा सकते हैं ?

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम् ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।। (गीता ४.११)

“जो मेरी शरण चाहता है, मैं यथोचित शरणागति अनुसार उन सबके साथ आदान-प्रदान करता हूँ, सभी मानव (चाहे कोई भी भाव हो) मेरे द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चलते हैं ।”

उत्तरः इसका अर्थ सरल है । जिस भावना से कृष्ण के समीप जाते हो या स्मरण करते हो, कृष्ण उसी भावानुसार व्यवहार करते हैं । यह एक व्यापारिक सौदा जैसा है। आप कृष्ण को पाँच रुपए दोगे तो वह आप को पाँच रुपए प्रतिफल देंगे । वह एक अच्छा व्यापारी है । इस श्लोक का यही अर्थ होता है । ******

प्रश्नः मुझे इस श्लोक की तीसरी एवं अन्तिम पंक्ति समझ में नहीं आई जो इस प्रकार है:

मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ।।

सभी मनुष्य सर्व प्रकार से मेरे ही निर्दिष्ट पथ का अनुवर्तन करते हैं ।

उत्तर: यह लेन-देन का सम्बन्ध है, बस ऐसे कि इस दुनिया में यदि कोई कुशल व्यापारी है तो वह चाहेगा कि उसके पास हर प्रकार के ग्राहक आए । वह उनकी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर चीज़ों का उत्पादन करेगा । उसी तरह कृष्ण भी भिन्न भिन्न प्रकार के दर्शन की रीति कहते हैं क्योंकि लोग भक्ति करना पसन्द नहीं करते । लोगों की इच्छाओं को ध्यान में रखकर वह इन सभी रास्तों का विज्ञापन करते हैं क्योंकि वह चाहते हैं कि सभी लोग उसके दिखाए पथ पर चलें ।

उदाहरण स्वरूप, यह एक सामाजिक व्यवहार है कि हम उसकी सहायता करें जिसने हमारी सहायता की है । कुछ समय पूर्व (खृष्टाब्द २००२) जब गुजरात में भूकम्प आया था तब इस आपत्ति से उभरने के लिए कई देशों ने सहायता की थी । यदि और किसी देश में भूकम्प आए तो भारत भी सहायता करेगा ऐसी अपेक्षा रखते हैं । इसी तरह अच्छे सामाजिक सम्बन्ध बनते हैं । कृष्ण भी यही करते हैं, अतः सब उनके दिखाए मार्ग पर चलते हैं ।

सेवा (भक्ति) करने के लिए धर्म, अर्थ और काम से भी परे जाना होगा । भक्ति में कपट का कोई स्थान नहीं है । भक्त ईर्ष्यारहित एवं दयालु है, पर ऐसा भक्त मिलना अति कठिन है । अतः कृष्ण साधक की पसन्द के अनुसार भिन्न भिन्न मार्ग बनाते हैं, चाहे वह प्रवृति हो या निवृत्ति मार्ग हो, सभी मार्ग के स्रष्टा वे ही हैं । अर्थात् लोग उन के बनाए मार्ग पर चलते हैं । किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि सभी लोग जिस मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं उसी निर्दिष्ट मार्ग पर उन्हें चलते देखना चाहता है । वह पथ है भक्ति । भक्ति अन्तर्मुखी मार्ग है एवं अन्य बहिर्मुखी मार्ग है ।

******

प्रश्न: पतञ्जलि योग में चित्तवृत्ति-निरोध, सभी विचारों के निरोध के विषय में कहा है, तो क्या योगी इसे प्राप्त नहीं कर सकते ?

उत्तर: यह सम्भव नहीं है । भागवत में कुछ उदाहरण दिए हैं, जैसे कि सौभरि मुनि या विश्वामित्र मुनि । उनसे उत्तम योगी कौन हो सकते हैं ? पर वे भी असफल रहे ।

******

प्रश्न: क्या आप यह कहना चाहते हो कि षड्-दर्शन वास्तव में पूर्वपक्ष की भाँति उपयोग में लिया जाता है ?

उत्तर: हाँ । वे पूर्वपक्ष हैं । जहाँ तक अद्वैत दर्शन का प्रश्न है, शास्त्र (पद्म पुराण, उत्तरा खंड २५.७, चै.च. मध्यलीला ६.१८२) में यही कहा है:

मायावादम्-असच्शास्त्रं प्रच्छन्नं बौद्धम् उच्यते ।
मयैव विहितं देवी ! कलौ ब्राह्मण-मूर्तिना ।।
[जगत के अधीक्षक शिव ने देवी दुर्गा को कहा] "कलियुग में मैं ब्राह्मण स्वरूप में वेदों का भ्रान्त अर्थ करके शास्त्र को समझाता हूँ, जिसे मायावाद कहते हैं, वह और कुछ नहीं पर प्रच्छन्न बौद्ध दर्शन है ।"
मायावाद दर्शन असत्-शास्त्र है और केवल काल्पनिक है ।
स्वागमैः कल्पितैस्त्वं च जनान् मद्विमुखान् कुरु ।
माञ्च गोपय येन स्यात् सृष्टिर् एषोत्तरोत्तरा ।।
(पद्म पुराण, उत्तरा खण्ड ६२.३१; चै.च. मध्य. ६:१८१)
भगवान विष्णु ने शिवजी से कहा, "वेदों की अपनी समझ अनुसार कल्पना करते हुए आप सामान्य जन-समुदाय को मेरे प्रति बहिर्मुख करो एवं मुझे इस तरह आच्छादित कर दो कि लोग आध्यात्मिक ज्ञान से विमुख होकर लौकिक कार्यकलाप की वृद्धि में अधिक रुचि ले । लोगों को मुझ से बहिर्मुख करने के लिए मायावाद दर्शन को फैला दो ।"

यहाँ स्पष्ट कहा है कि मायावाद काल्पनिक है, अन्य दर्शन के सन्दर्भ में तो क्या कहें जो ब्रह्म के विषय में कुछ भी नहीं कहते । वे केवल पुरुष प्रकृति से अलग होकर सांसारिक दुःखों से कैसे छुटकारा मिले उस विषय में कहते हैं । साङ्ख्य या योग में ध्यान से और न्याय, वैशेषिक दर्शन में तत्त्वों की समझ से दुःख दूर करने के विषय में कहते हैं ।

******

प्रश्नः एक विदेशी विद्धान ने एक विचार रखा था कि धर्म के दो कार्य हैं: व्यावहारिक और परिवर्तनकारी । व्यावहारिक वर्णाश्रम की भूमिका जैसा है । व्यावहारिक अर्थात् अपने आसपास की दुनिया से जुड़ना, जो समाज को कोई उद्देश्य एवं स्थिरता देता है- जैसे कि सामाजिक नियमों का पालनादि करना, पर वास्तव में वह किसी की भावना में परिवर्तन नहीं लाता । परिवर्तनकारी धर्मपहलू यह है कि वह अहङ्कार को अतिक्रम होने देता है । यह दोनों कार्य महत्त्वपूर्ण है क्योंकि प्रत्येक अपनी अन्तरात्मा में परिवर्तन नहीं ला सकता । क्या यह भी वर्णाश्रम, षड्-दर्शन और भक्ति के बीच में जो सम्बन्ध है वैसा ही है ?
उत्तरः व्यावहारिक और परिवर्तनकारी का भेद श्री शङ्कराचार्य के विभाजिन व्यावहारिक और परमार्थिक जैसा है ।

शङ्कराचार्य का विभाजन आधुनिक विचारकों को काफ़ी प्रभावित करता है । सच्चे धर्म में व्यावहारिक या परिवर्तनकारी जैसा कोई विभाजन नहीं है । उत्तमा भक्ति में भी ऐसा कोई विभाजन नहीं है । जो व्यावहारिक है वही परिवर्तनकारी है और जो परिवर्तनकारी है वही व्यावहारिक है । ऐसे विभाजन अन्य मार्ग में पाए जाते हैं, जैसे कि ज्ञान मार्ग।

वर्णाश्रम व्यवस्था अन्त में भक्ति की ओर ले जाती है अतः उन्हें लौकिक नहीं मान सकते । वर्णाश्रम का मुख्य उद्देश्य है भक्ति का प्रसार करना । भक्ति में ऐसा कोई विभाजन नहीं है ।

(अन्तिम) पुरुषार्थ आनन्द है, जो केवल उत्तमा भक्ति से ही प्राप्त होता है । अर्थात् अपने गुरु को जो अनुकूल (वैसी सेवा करें) हो, और उसके लिए व्यावहारिक स्तर पर कार्य करना होगा । यदि आप आनुकूल्य से सेवा कर सकते हो तो वह परमार्थिक है । ऐसा नहीं कि आप कुछ करते हो जिसका परमार्थ से कुछ लेन-देन नहीं है, या ऐसा कुछ करते हो जो आप की दिनचर्या का कोई हिस्सा नहीं है । भक्ति भक्त के जीवन के हर स्तर से संलग्न है । लौकिक और अलौकिक के मध्य का यह भेद मुक्तिमार्ग में है ।

भक्ति परहितार्थ है । आनुकूल्य कार्य करने से और प्रेमपात्र को सन्तुष्ट देखकर हमें आनन्द मिलता है । अतः भक्ति में व्यावहारिक ही पारमार्थिक है । ******

प्रश्न: अथापि वह विदेशी विद्वान इस मुद्दे पर आता है कि ऐसी कुछ पद्धतियाँ है जो स्वाभाविक रूप से "आध्यात्मिक और सर्वांगी" है । सर्वांग रूप से आपके अस्तित्व को आच्छादित कर देती है । अन्य प्रक्रियाएँ हैं जो सामाजिक नैतिकता या धार्मिकता मानी जाती है, जो सामाजिक कार्यमें उपयुक्त होती है ।

उत्तर: जब आप भक्ति को परम धर्म मानते हैं, तो वहाँ ऐसे कोई भेद नहीं होते । परन्तु अन्य मार्ग में ऐसे विभाग हैं जो उनके द्वारा वर्णित है । ******

प्रश्न: क्या वर्णाश्रम को व्यावहारिक माना जाएगा ?

उत्तर: हाँ । यदि आप वर्णाश्रम को केवल सकाम धर्म के परिप्रेक्ष्य में देखते हैं तो, जैसे कि पर-जन्म में फल पाने के लिए इस जन्म में यज्ञादि करते हो, उदा. आप स्वर्ग में जाने के लिए यज्ञ करते हैं । अधिकतर वर्णाश्रम ऐसी प्रवृतियों से संलग्न है। इस दृष्टिकोण से तो यह सब व्यावहारिक है । ******

प्रश्न: भगवद्-गीता के प्रथम श्लोक की टिप्पणी में श्री बलदेव विद्याभूषण जीव के कर्तृत्व के सम्बन्ध में कहते हैं कि गाढ़ नीन्द में आत्मा और महत्तत्त्व के बीच का सम्बन्ध पूरा नष्ट हो जाता है, इसका अर्थ क्या है ?
उत्तर: वास्तवमें लोगों के दो विभिन्न समूह है ।

१. ऐसे लोग हैं जो जीव की स्वतन्त्र सत्ता को नहीं स्वीकारते । उनका कहना है कि वस्तुतः केवल एक ही परम तत्त्व है जिसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता क्योंकि न उसका कोई स्वरूप है, न कोई आकार और न उनमें कोई गुण । जब वह परम तत्त्व माया से आच्छादित हो जाता है, तब वह जीव का पद धारण करता है । जीव के न कोई अपने गुण है, न कोई कर्तृत्व और न कोई भोक्तृत्व । यह कर्तृत्व और भोक्तृत्व के गुण तभी आते हैं जब जीव देह धारण करने के बाद उसके सम्पर्क में आते हैं । वे यह सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं कि जब व्यक्ति जाग्रत है, तभी "मेरा अस्तित्व है", "मैं कर रहा हूँ" जैसे अनुभव होंगे । परन्तु गहरी नीन्द में ऐसा कोई अनुभव नहीं होता । वैदिक श्रुतिवाक्य जैसे "मैं आराम से सोया; मैं ने कुछ भी जाना नहीं था" आदि वे नहीं स्वीकारते ।

२. ऐसे लोग जो जीव को वास्तविक और सनातन समझते हैं और कहते हैं कि अहङ्कार, जो प्रकृति से आता है वह आत्मा के अहम्भाव से भिन्न है और यही जीव का वास्तविक अहम्भाव है । वह अहम्भाव प्राकृतिक अहङ्कार में आरोपित है । इस अहम्भाव का गाढ़ नीन्द में अनुभव होता है । गहरी नीन्द में व्यक्ति जाग्रत अवस्था के अपने अनुभव भूल जाता है । जीव और प्रकृति या महत्-तत्त्व के बीच कोई सम्बन्ध नहीं है ।

******

प्रश्न: 'कोई सम्बन्ध नहीं है' इसका अर्थ क्या है ?
उत्तर: गहरी नीन्द में आत्मा महत्-तत्त्व से सम्पर्करहित होता है अतः जीव को इन्द्रियों और मन का कोई अनुभव नहीं होता । अनुभव मात्र इन्द्रियों द्वारा होता है, पर गहरी नीन्द के समय आत्मा देह से अलग होती है और कुछ भी अनुभव नहीं कर पाती । जब आत्मा नीन्द से जागती है तो हमें यह प्रतीत होता है कि "मैं अच्छी नीन्द सोया"। "मैं" जो अच्छी नीन्द सोया वह भौतिक अहङ्कार नहीं हो सकता क्योंकि "मैं" उस समय उपस्थित नहीं था । व्यक्ति को जो अनुभव याद रहता है, वह अपना ख़ुद का है, किसी और का नहीं हो सकता । यह एक सिद्धान्त है कि यदि कुछ स्मृति में है तो इस का अर्थ है कि आप ने वह अनुभव किया है । ऐसा नहीं है कि "मैं कुछ महसूस करूँ और

आप को याद रहें । " जो व्यक्ति अनुभव करता है कि "मैं अच्छी नीन्द सोया", तो वह अवश्य इस अनुभव से गुज़रा है ।

यदि यह हम स्वीकार नहीं करते कि आत्मा में अहम्भाव है, तो यह कथन करना मुश्किल है । गहरी नीन्द के समय प्रकृति से अहङ्कार का कोई अनुभव नहीं होता । यदि जीव का अपना ख़ुद का अहम्भाव न होता तो किसी भी प्रकार का अनुभव नहीं होता क्योंकि अनुभव के साथ अहम्भाव ही जुड़ा होता है । यदि "मैं" नहीं तो कोई अनुभव नहीं होगा।

मायावादी इस गहरी नीन्द के अनुभव को अस्वीकार करने का प्रयत्न करते हैं क्योंकि यदि वे इस सिद्धान्त को स्वीकारते हैं तो वे वास्तविक अहम्भाव को स्वीकार करते हैं और इसका अर्थ यह हुआ कि यह धारणा एक द्वैत हुई जहाँ अद्वैतवाद दर्शन नष्टभ्रष्ट हो जाता है ।

"मैं अच्छी नीन्द सोया" इस अनुभव के पीछे अवश्य अहम्भाव ने इसे महसूस किया है। इस अनुभव को नीन्द से जागने के बाद इन्द्रियों और मन की सहायता से बताया जाता है । तत्पश्चात् इस अनुभव का संस्कार बन जाता है, प्राकृतिक अहङ्कार से जुड़ जाता है । इसे भागवत के ११वें स्कन्धमें नव-योगेन्द्र की शिक्षा में भी दर्शाया गया है।

अण्डेषु पेशिषु तरुष्वविनिश्चितेषु प्राणो हि जीवमुपधावति तत्र तत्र ।
सन्ने यदिन्द्रियगणेऽहमि च प्रसुप्ते कूटस्थ आशयमृते तदनुस्मृतिर्नः ।। (भा. ११.३.३९)

"इस दुनिया में जीव अनेक प्रकार के देह धारण करते हैं, कुछ अण्डों से जन्म लेते हैं, कुछ गर्भाशय से, कुछ पेड़ पौधों के बीज से, कुछ पसीने से पैदा होते हैं । फिर भी इन सभी में प्राण बदलता नहीं है पर आत्मा के साथ एक देह से दूसरे देह में जाता है। सामान्यतः जीवन में भी अनेक भौतिक परिस्थितिओं में आत्मा नित्य सनातन है । हमारा इस विषय में व्यावहारिक अनुभव है । जब हम स्वप्नरहित गहरी नीन्द में चले जाते हैं तब हमारी इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं और मन एवं अहङ्कार भी निष्क्रिय हो जाते हैं । यद्यपि इन्द्रियाँ, मन और अहङ्कार निष्क्रिय है तथापि जब हम नीन्द से जागते हैं तब हमें यह याद रहता है कि "मैं गहरी नीन्द में था ।"

भिन्न भिन्न प्रकार के शरीर में आत्मा वही रहती है । गहरी नीन्द में आत्मा (देह से) अलिप्त रहती है, सर्व इन्द्रियाँ (मन सहित) निष्क्रिय हो जाती हैं और अहङ्कार सुषुप्त ही

रहता है । उस परिस्थिति में अहम्भाव की निरन्तरता इस वास्तविकता से सिद्ध होती है कि नीन्द से जगने के बाद भी गहरी नीन्द का आनन्द याद रहता है । जब जीव गहरी नीन्द में होता है, तब उसका अहङ्कार सुषुप्त हो जाता है, पर अहम्भाव से गहरी नीन्द का सुख स्मरण में रहता है । आप स्वानुभव से अनुमान कर सकते हैं कि अहम्भाव आवश्यक है । (अहम्भाव में कर्तृत्व भोक्तृत्व जब आरोपित होता हे तब अहङ्कार बनता है) ।

वैष्णव सिद्धान्त यह है कि "अहं" किसी वस्तु से संलग्न है और वह है जीव । यह "अहं" शब्द से निर्दिष्ट हैं । वाचक-शब्द एवं वाच्य- शब्द का अनुसन्धित विषय का परस्पर सम्बन्ध है । वाच्य अर्थ जीव और वाचक शब्द अहं । "अहं" वाच्य है, वाच्य-वाचक सम्बन्ध है यह वस्तु का अर्थ रखता है ।

जैसा कि मायावादी बताते हैं कि यह अहं अहङ्कार नहीं है । वे अपनी धारणा से यह सिद्ध करना चाहते हैं और बहस करते हैं कि यदि अहं वास्तविक अहं है तो गहरी नीन्द में भी वह होना चाहिए । तथापि वे यह तर्क करते हैं कि चेतना नीन्द में से जागने के बाद देह से केवल सम्पर्क होने से ही आती है और अतः वह चेतना भौतिक है ।

श्रीबलदेव विद्याभूषण स्वामी मायावादी विचारधारा का प्रत्युत्तर देते हैं । यहाँ दिखाना चाहते हैं कि जहाँ अहङ्कार है वहाँ कर्तृत्व और भोक्तृत्व है ।

निराकारवादी मायावादी अविद्या को स्वीकार करते हैं तथापि वे अविद्या से भगवान का निर्माण करते हैं । वे माया को दो भाग में बाँटते है: विद्या (ज्ञान) और अविद्या (अज्ञान)। विद्या माया का सत्त्व गुण और अविद्या माया का तमोगुण और रजोगुण है। विद्याग्रस्त ब्रह्म ईश्वर है और अविद्याग्रस्त ब्रह्म जीव ।

मायावादी का कहना है कि ज्ञान माया के सत्त्वगुण से आता है, जिसे वे विद्या कहते हैं। जब माया से मुक्त होते हैं, तब ज्ञात होता है कि "में ब्रह्म हूँ" (अहं ब्रह्मास्मि) । अन्त में यह दर्शन बौद्ध का है, जो शून्यवाद है क्योंकि वे सब कुछ नकारते हैं । जब सब कुछ नकारते हो, तो जो कुछ भी अस्तित्व में है, वह कुछ नहीं के बराबर है अर्थात्, शून्य है । सब कुछ शून्य है । मायावादी इस समझ को वैदिक वाक्य से स्थापित करना चाहते हैं, पर इसे अलग नाम देते हैं । वे कहते हैं कि यह अवाङ्मनस गोचरः, जिसे

मन और वाणी से समझा नहीं जा सकता । तथापि रोचक यह है कि इस धारणा को सिद्ध करने के लिए उन्हें माया को स्वीकारना ही होता है- और माया अनादि है ।

ऐसी छह वस्तुएँ है जिसे मायावादी अनादि के रूप में स्वीकार करते हैं: ब्रह्म, माया, जीव, इन तीनों के मध्य का परस्पर भेद, जीव का बन्धन और सृष्टि का सृजन । इसके अतिरिक्त वे अपना दर्शन नहीं समझा सकते । अन्त में वे यही कहते हैं कि सब मिथ्या है: शास्त्र, ज्ञान, गुरु और सब कुछ मिथ्या है एवं उनके मतानुसार केवल ब्रह्म का ही अस्तित्व है । "ब्रह्म सत्यं जगन् मिथ्या जीवो ब्रह्मैव नापरः" ("जीव ब्रह्म है, और यही केवल एक तत्त्व है") ।

******

प्रश्न: स्वप्नावस्था में आत्मा और सूक्ष्म देह के बीच में एक कड़ी रहती है, पर स्वप्नरहित अवस्था में महत्-तत्त्व पर्यन्त कोई अभिज्ञान नहीं रहता ।

उत्तर: हाँ । वे इस बात को भी स्वीकारते हैं । ******

प्रश्न: कुछ बौद्ध साहित्य सुषुप्ति अवस्था की तुलना निर्विकल्प समाधि से करते हैं किन्तु निर्विकल्प समाधि के समय अल्प जागरूकता रहती है, जो सुषुप्ति अवस्था में नहीं होती और निर्विकल्प समाधि की जागरूकता का सुषुप्ति अवस्था में अनुभूति हो ऐसा वह जान सकता हे, तब वह मुक्ति जागरुकता अन्ततोगत्वा स्वप्नरहित स्थिति है जो मुक्ति तुल्य है ।

उत्तर: हाँ । मायावादी भी ऐसा ही कहते हैं । तदनुसार, निर्विकल्प समाधि सम्भव नहीं है क्योंकि निर्विकल्प समाधि के लिए प्रकृति और पुरुष, चेतन और ज़ड के बीच का भेद जानना आवश्यक है । वे पुरुष को स्वीकार नहीं करे तो निर्विकल्प समाधि का अनुभव किसे होगा? कोई कर्ता-भोक्ता नहीं है और कुछ भी अनुभव करने का नहीं है। यह स्वीकारना ही होगा कि वहां एक ज़ड से भिन्न चेतन पदार्थ है । जिसे बौद्ध धर्मी नहीं स्वीकारते । इसका क्या अर्थ हुआ कि तुम पुरुष की भाँति अपनी जागरूकता रखते हो और फिर तुम निर्विकल्प समाधि में जाओगे ? कौन इसका प्रयत्न कर रहा है और वही कैसे प्रयत्न कर रहा है ? मायावादी, जिनका दर्शन बौद्ध धर्मी से श्रेष्ठतर है, जो अहङ्कार, कर्ता, जीव में भोक्ता को नहीं स्वीकारते हैं । जो कोई भी जीव है, अन्त में उसका अस्तित्व नहीं है, पर वे कम-से-कम ऐसे शब्दप्रयोग तो करते हैं । बौद्ध धर्मी तो इतना भी नहीं स्वीकारते । इसका कोई अर्थ नहीं रहता कि वे (कर्ता के रूपमें) अनुभवी होते जाते हैं और साथ साथ में निर्विकल्प समाधि भी पाते हैं । जब तक इस सिद्धान्त को नहीं स्वीकारेंगे कि जीव का अपना अहङ्कार, कर्तृत्व, और भोक्तृत्व है, तब तक किसी भी तरह की जागरुकता और साक्षात्कार का प्रश्न ही नहीं उठता ।

ज्ञान, कृति और इच्छा यह तीनों पदार्थ सचेतन जीव में हैं, जड पदार्थ में नहीं । चेतना जड पदार्थ के कुछ मिश्रण से पैदा नहीं हो सकती । जड पदार्थ की इच्छा शक्ति नहीं होती, न वह कुछ कार्य कर सकती है, न कोई ज्ञान प्राप्त कर सकती है । अद्वैतवाद के अनुसार ब्रह्म में भी ये सारी गुणवत्ता नहीं होती । जब यह गुणवत्ताएँ जड पदार्थ में नहीं है, ब्रह्म में भी नहीं है, तो फिर वह अस्तित्व में कैसे आती है ? कैसे सब परस्पर सम्पर्क में आते हैं ? कार्य के पीछे कोई कारण होना चाहिए । यदि कारण की कोई इच्छा शक्ति नहीं है, तो कार्य का भी यही हाल है । अतः वैष्णव दर्शन में जीव को भगवान का चेतन अंश माना जाता है । ******

प्रश्नः इसका अर्थ है कि इच्छा शक्ति जैसी कोई वस्तु है ?
उत्तरः हाँ । यदि वह जीवमें नहीं होती, तो उसे कैसे व्यक्त कर सकते ?

******

प्रश्नः आप ने कहा कि अन्य सभी मार्ग के लिए, वर्णाश्रम व्यवस्था में जन्म लेना होगा एवं उचित संस्कार होने चाहिए । क्या यह योग मार्ग के लिए भी सत्य है ?
उत्तरः योग और ज्ञान कर्म मार्ग से पहेले आते हैं । वहाँ (योग और ज्ञान) कोई सीधा प्रवेश नहीं है । योगमार्ग अर्थात् अष्टाङ्ग योगमार्ग, ज्ञानमार्ग अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने का मार्ग जो अधिकांश मोक्ष के लिए है । व्यक्ति मोक्ष के लिए योग्य तभी बनता है जब इस जीवन में या परवर्ती जन्म में अपनी इच्छाओं से मुक्त हो गया हो । यदि व्यक्ति को थोड़ी सी भी इच्छा हो, तो उसके लिए मोक्ष की सम्भावना ही नहीं उठती । सांसारिक इच्छाओं से मुक्त होने की स्थिति तभी बनती है जब वह कर्ममार्ग पर चलें । पहले साधक सकाम मार्ग पर चलता है और जब सकाम कर्म से हताश हो जाता है तब निष्काम मार्ग अपनाता है । वह संन्यास की ओर प्रेरित होता है, तभी योग और ज्ञान की प्रक्रिया शुरू होती है । अतः कलियुग में योग और ज्ञान के मार्ग पर चलना कठिन है । आजकल योग और ज्ञान के नाम पर लोग कुछ भिन्न ही कर रहे हैं । अधिकतर यह शिष्यों की संख्या बढ़ाना और पैसा इक्कठा करने का एक खेल हो गया है । इसका योग और ज्ञान के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है । अतः कलियुग में मात्र भक्ति ही सम्भव है । अन्य मार्ग असम्भव है । प्रह्लाद महाराज ने अपने वक्तव्य में कहा हैः

मौन-व्रत-श्रुत-तपोऽध्ययन-स्वधर्म व्याख्यारहोजप समाधाय आपवर्ग्याः ।
प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां वार्ता भवन्त्युत न वात्र तु दाम्भिकानाम् ।।
(भा.७.९.४६)

"हे परम पुरुष ! मौन, व्रत, वेदाभ्यास, तप, स्वाध्याय, स्वधर्म-पालन, निर्दिष्ट कार्य करना, प्रवचन करना, एकान्त वास, मन्त्र-जप, समाधि यह सब मुक्ति के साधन हैं, पर अजितेन्द्रिय साधकों के लिए यह आचरण जीवन निर्वाहार्थ जीविका का साधन बन जाता है । मिथ्याचारियों के लिए तो यह भी सन्देहास्पद है ।"

लोग निष्कपट नहीं है और ज्ञान, योग और मन्त्रोच्चार का मार्ग अब मात्र एक व्यापार बन गया है क्योंकि दाम्भिक जन जो देह में आसक्ति रखते हैं, वे धर्म के नाम पर धन्धा करते हैं । आज कल यही सर्वत्र हमें दिखायी देता है । योग, त्याग, संन्यास के नाम पर धन्धा चलता है । यदि साधक वास्तव में संन्यासी नहीं है, तो वह इन सब का केवल अपने भोगविलास के लिए ही उपयोग करेगा ।

भागवत (११.३.५१) में कहा है कि कलियुग दोषों का निधि है । पर कलियुग में एक महान गुण है कीर्तन करना । दुःख की बात है कि लोग मादक पदार्थ का सेवन करते करते कीर्तन करते हैं । कीर्तन करना भी एक व्यापार बन गया है क्योंकि कीर्तनियाँ कीर्तन करने का शुल्क माँगते हैं । यदि व्यक्ति सच्चा नहीं है, तो वह किसी भी वस्तु को व्यापार बना सकता है ।

******

प्रश्न: जब बच्चे एकान्त में होते हैं तब काल्पनिक और गुप्त मित्र की रचना करते हैं । नास्तिक भी धर्म को ऐसा ही बताते हैं कि जब लोग भी अकेले होते हैं तब भगवान की मन में कल्पना करते हैं । क्या यह सम्भव है कि जो भक्ति के सम्पर्क में आते हैं उन्हें आध्यात्मिक अनुभव के बजाय एक भावनात्मक सन्तोष होता है ?
उत्तर: नास्तिक लोग हमेशा ऐसी ही बातें करते हैं । जैसा कि भगवद्-गीता में कहा है:
असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम् ।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत्कामहैतुकम् ।। (गीता १६.८)
"वे कहते हैं कि यह दुनिया अवास्तविक, बिना किसी बुनियाद के और बिना किसी भगवान के है । वे कहते हैं कि यह स्त्री-पुरुष के संयोग से बनी है और काम ही केवल इनका कारण है ।"

नास्तिक कहते हैं कि यह जगत मिथ्या है । इसके पीछे न कोई भगवान है, न कोई आधार । यह मात्र सम्भोग का परिणाम है । अन्य कोई कारण नहीं है । इसके विषय में वे अलग अलग कथन करते हैं । यही नास्तिक लोगों की मान्यता है और हेतु है दूसरों को ठगना ।

यहाँ वृन्दावन में आप यदि लोगों से पूछोगे कि गोविन्दजी मन्दिर कहाँ है, तो वे प्रायः तुम्हें ग़लत रास्ता दिखाएँगे । जब आप इधर उधर भटकते हो, समय व्यतीत करने के बाद भी यदि आप मन्दिर नहीं ढूँढ पाते हो, तो वे प्रसन्न होते हैं । यही उनका आनन्द है । यह असुरों की मानसिकता है । यदि कोई व्यक्ति दुःखी है, उलझन में है, शङ्काओं से घिरा हुआ है या कष्ट में है, तो ऐसे नास्तिक उन्हें ऐसी हालत में देख कर प्रसन्न होते हैं ।

पर प्रत्येक व्यक्ति धोखेबाज नहीं होता, कुछ सच्चे लोग भी होते हैं । यदि कोई सन्तुष्ट व्यक्ति उद्देश्य रहित कुछ कहता है तो अवश्य उसके मन में किसी को धोखा देने की भावना नहीं है ।

श्रीचैतन्य महाप्रभु के मिलन से पूर्व भी रूप और सनातन गोस्वामी महाविद्वान पुरुष थे । वे दोनों बड़े ज्ञानी और साधन-सम्पन्न थे । न वे ग़रीब थे और न ही अपने जीवन से दुःखी थे तथापि सर्व त्यागकर वे यहाँ वृन्दावन आए और कई सारी दर्शन की पुस्तकें लिखीं और दर्शन का प्रसार किया । स्पष्टतः ऐसे लोग अप्रमाणिक, विमूढ़, एवं भ्रान्त नहीं हो सकते और न मनोकल्पित दर्शन की रचना करते । न तो वे उन्मादी थे और न ही उनका अपना कोई अन्य प्रयोजन था ।

वे श्रीमन्त थे और इतने विद्वान भी थे कि वे धनोपार्जन सहज से कर सकते थे । उन्होंने भक्ति मार्ग अपनाया, उसका प्रचार किया, अनेक पुस्तकें लिखी । न भावुक, न काल्पनिक और न ही उनका कोई सांसारिक हेतु था । उन्हें कुछ अनुभव हुआ होगा और कृपालुता से यह ज्ञान लोगों तक पहुँचे क्योंकि यह लोकहित में है ऐसा उन्होंने समझा और साक्षात्कार भी किया ।
एक आदर्श माँ जैसे कभी अपने बेटे को जान-बुझकर कष्ट देना नहीं चाहती है, पर उसका हित चाहती है, उसी तरह भगवान का एक भक्त भी यही चाहता है कि लोग भगवान से प्रेम करे और (उनके साथ) मधुर सम्बन्धो का अनुभव करें । भगवान और सन्त क्रूर नहीं होते । ऐसे सन्त के चरित्र और निस्वार्थ स्वभाव के कारण उनकी बातों पर विश्वास रखना चाहिए । भगवान, उनके भक्त, व सन्त पुरुष न तो विमूढ़ और न ही भ्रमित होते हैं । उनमें करुणा होती है और अतः वे जो ज्ञान देते हैं। वह न तो भावनात्मक और न ही काल्पनिक होता है पर अनुभूत ज्ञान है । उनके ज्ञान की तुलना कोई पथिक के ज्ञान के साथ नहीं करनी चाहिये ।

ऐसे अनुभूत ज्ञान को पाने के लिए गुरु आवश्यक है । इसी कारण गुरु की योग्यता निर्दिष्ट की गई है । गुरु शास्त्र में निपुण होना चाहिए, अनुभवी होना चाहिए, और शास्त्रानुसार आचरण भी करता होना चाहिए । अन्यथा कोई भी ज्ञानी बन सकता है और आचरण न करके भी ज्ञान से धनोपार्जन कर सकता है । हाँ, अप्रमाणिक लोग हैं, पर यह तात्पर्य नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति धोखेबाज़ है । इसी कारण शिष्य को सद्गुरु पर विश्वास होना चाहिए एवं उनके निर्दिष्ट मार्ग पर चलना चाहिए ।

नास्तिक लोगों का कहना है कि दुनिया बेकार है, जीवन का कोई प्रयोजन नहीं है, जीवन अर्थहीन और लक्ष्यहीन है । पर यह सच नहीं है क्योंकि इस दुनिया का रचयिता मूर्ख नहीं है । ऐसी रचना को देख कर कोई भी नहीं कह सकता कि किसी मूर्ख, अज्ञानी ने यह दुनिया बनायी है । ऐसी रचना करने के लिए उस में ज्ञान होना आवश्यक है एवं जिसका कोई अर्थ ही नहीं है ऐसी रचना वह क्यों करेगा ? यदि दुनिया में जीवन का कोई हेतु ही नहीं है तो विधान और (परस्पर) सम्बन्धो का भी कोई अर्थ नहीं है । ऐसी समझ अराजकता के प्रति ले जाएगी ।

नास्तिक लोग कभी कभी यह भी कहते हैं कि इस दुनिया का अर्थ है मात्र दुःख । इस दुनिया का निर्माण किया गया है मात्र तुम्हें कष्ट देने के लिए और मनुष्य जीवन मिला है कष्ट का अनुभव करने के लिए । क्या इस दुनिया के रचयिता भगवान को आनन्द मिलता है मनुष्य को सन्ताप देकर ? जैसे एक माँ अपने बच्चे को कभी दुःख पहुँचाना नहीं चाहती, उसी तरह भगवान भी किसी को दुःखी नहीं करता । माँ-बाप की तरह भगवान में भी करुणा है, दयाभाव है; अतः उसे किसी को दुःख पहुँचाने में कोई रुचि नहीं है । इसी कारण दुनिया व्यर्थ नहीं है, न ही इसका उद्देश्य है कष्ट देना। उद्देश्य है भगवान की अनुभूति करें और प्रसन्न रहें । जीवन के इसी उद्देश्य को जानकार आप को आगे बढ़ना है । भगवान किसी की तुच्छ कल्पना नहीं है ।

******

५४. दान

प्रश्न: दान देने के विषय में वैष्णव के लिए क्या विधान है ? किस को दान देना चाहिए अथवा समस्त दान श्री कृष्ण को अर्पण करना चाहिए ? कुछ लोग ऐसे भी हैं जो कहते हैं कि दान एक लौकिक कार्य हैं क्योंकि दान केवल मनुष्य के शरीर को प्रभावित करता है, अतः दान देना एक भावनात्मक कार्य है । कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि यदि आप गृहस्थ हैं और देने के लिए साधन हैं, तो दान देना चाहिए क्योंकि यह सत्त्व, दया इत्यादि भावना की वृद्धि करता है ।

उत्तरः सबसे पहले हमें दान की परिभाषा समझनी चाहिए । दान का अर्थ होता है आप किसी वस्तु के स्वामी हैं और आप उस पर से अपना स्वामित्व छोड़ देते हैं और किसी अन्य व्यक्ति को उस वस्तु के स्वामी के रूप में स्थापित करते हैं, यह दान कहलाता है । इसका उद्देश्य दानी व्यक्ति की सहायता करना है, जिससे भौतिक वस्तुओं के प्रति अपनी आसक्ति छोड़ सके । दान के विषय में शास्त्रों में ढेर सारे वर्णन मिलते हैं क्योंकि लोग अपनी वस्तुओं में आसक्ति रखते हैं । दान मनुष्यों को धीरे धीरे प्रवृति मार्ग से निवृत्ति मार्ग की ओर ले जानेवाला उपाय दर्शाता है ।

प्रारम्भ से ही दान का वर्णन सम्पूर्ण रूप से सकाम है या सांसारिक लाभ से प्रेरित है, जैसे (विधान है) कि यदि आप एक रुपया दान में देते हैं तो उसके बदले में आप हज़ार रुपया या अन्य बहुत कुछ प्राप्त करेंगे । आगे बताया है कि दान किसी वस्तु की अपेक्षा किए बिना करना चाहिए । ऐसा भी वर्णन है कि दान योग्य पुरुष को ही देना चाहिए।

ऐसा भी वर्णन है कि दान प्राप्त करने के लिए किस योग्यता की आवश्यकता हैं । एक ब्राह्मण दान के योग्य है और उनमें भी जिन्हें वेदों का ज्ञान हैं वे अधिक योग्य हैं क्योंकि वे वेद के अर्थ को जानते हैं और दूसरों को शिक्षा देने के लिए योग्य हैं । फिर भी वैष्णव ब्राह्मणों से अधिक योग्य है और गुरु सर्वाधिक योग्य वैष्णव है । अन्त में भगवान स्वयं सब से अधिक योग्य हैं । वे सर्वोत्तम व्यक्ति हैं जिन्हें दान देना चाहिए ।

भगवान की पूजा करना, दीक्षा लेना आदि सभी दान हैं क्योंकि इन सभी में कुछ देने से सम्बन्ध है । यदि आप आरती भी कर रहे हैं तो आप कुछ न कुछ समर्पित करते हैं । इसका मुख्य उद्देश्य यह समझाना है कि कोई भी किसी वस्तु का (सदा के लिए) स्वामी नहीं है । इसलिए यह भी कहा गया है कि दान देने के बाद उसके गुणगान नहीं गाने चाहिए कि, "मैं ने इतना दान किया!" ऐसा करने से मन में अहङ्कार बढ़ेगा, जो व्यर्थ है । यह दान के मूल प्रयोजन को असफल करता है क्योंकि दान का उद्देश्य आसक्ति त्यागना है । यदि कोई दान देने के कारण अभिमान रखता है, तब ऐसा दान उद्देश्य की पूर्ति नहीं करता है । इसलिए दान गुप्त रूप से करना चाहिए ।

अन्ततः भगवान ही दान का अधिकारी है । शास्त्र में दान का निर्देश है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को जीवित रहना है । अतः अन्य जीवित प्राणियों का भी दान दिया जाता है । इसी कारण गृहस्थ जीवन में अन्न देना, यज्ञ करना और भोजन वितरण करने के बारे में बहुत कुछ बताया गया है । सभी उत्सव या त्यौहार में हमेशा भोजन वितरण का समावेश होता है ।

******

प्रश्न: क्या स्वयं को समर्पित करना ही सर्व श्रेष्ठ दान है ?
उत्तर: हाँ । ******

प्रश्न: यदि कोई भिखारी या ग़रीब लोग आप से भीख मांगे तो ?
उत्तर: इसका वर्णन मैं ने पहले किया है । दान देने की बहुत श्रेणी होती हैं । ऐसा वर्णन नहीं है कि दान मत दो, किन्तु दान की श्रेणियाँ होती हैं । दान सभी प्राणीमात्र को दिया जाता है, किन्तु निम्नलिखित स्तर से: ब्राह्मण, फिर ऐसे ब्राह्मण जो वेद गान करते हैं, फिर ऐसे ब्राह्मण जो वेद का अर्थ जानते हैं और दूसरों को वेद पढ़ा सकते हैं, फिर है वैष्णव, तत्पश्चात् गुरु और अन्त में भगवान । ******

प्रश्न: किन्तु सड़क पर कोई आप से भीख मांगे तो ?
उत्तर: आप कुछ दे सकते हैं । ******

प्रश्न: उन्हें कुछ देना चाहिए क्योंकि उन्होंने आप से भीख मांगी है ?
उत्तर: हाँ । ******

प्रश्न: और उसका क्या प्रभाव होगा ?
उत्तर: इसके प्रभाव के बारे में मैं पहले ही व्याख्या कर चुका हूँ । इसका प्रभाव यह है कि आप अपने धन और आसक्ति से मुक्त होते हो, यदि उसे योग्य भाव से किया हो तो, अन्यथा आप के अभिमान में वृद्धि होगी । ******

५५. दीक्षा

प्रश्न: भक्ति उसके द्वारा प्राप्त होती है जिसके पास भक्ति है । जब कोई दीक्षित होता है तो भक्ति शिष्य के हृदय में कैसे प्रकट होती है ?
उत्तर: जब कोई दीक्षा लेता है तब श्रीकृष्ण स्वयं उसे अपने निजी व्यक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं । दीक्षा लेने से पहले श्रीकृष्ण दीक्षा लेने की प्रेरणा प्रदान करते हैं। इसका अर्थ होता है कि श्रीकृष्ण ने आप को स्वीकार किया है । दीक्षा के साथ साथ श्रीकृष्ण साधक को भी स्वीकार करते हैं और वह दीक्षा लेना भी भक्ति है । भक्ति अर्थात् समर्पण, और इसीलिए आप समर्पित होते हैं । किन्तु उसके बाद आप को समर्पण के सिद्धान्त का अनुसरण करना होगा । यदि शिष्य सिद्धान्त का अनुसरण नहीं करता है, अनुकूल कार्य नहीं करता है और सांसारिक वस्तुओं के प्रति आसक्त रहता है, तो श्रीकृष्ण असन्तुष्ट होते हैं । चूँकि श्रीकृष्ण ने स्वयं शिष्य को प्रेरित किया

और समर्पण का अवसर दिया, यदि फिर भी शिष्य ठीक से अनुसरण नहीं करता है तो श्रीकृष्ण अप्रसन्न हो जाते हैं ।

श्रीकृष्ण दीक्षा के समय प्रेरणा देते हैं । दीक्षा अपने आप में भक्ति है क्योंकि आप श्रीकृष्ण को समर्पित हो रहे हो । गुरु, श्रीकृष्ण और भक्ति तीनों समान श्रेणी के हैं । चाहे गुरुदेव दीक्षा देते हैं या कृष्ण आप का स्वीकार करते हैं, दोनों बातें एक समान है ।

******

प्रश्न: भक्ति-सन्दर्भ ग्रन्थ में जीव गोस्वामी कहते हैं कि दीक्षा अर्थात् गुरु का शिष्य को विज्ञान प्रदान करना, जिसके दो पहलू हैं: भागवत स्वरूप ज्ञान और भगवत विशेष सम्बन्ध ज्ञान । वास्तव में यह क्या है ? क्या प्रदान होता है और वह कैसे विकसित होता है ?

उत्तर: जैसा कि श्रीमद् भागवत में वर्णित है कि दीक्षा के बाद भक्त को शिक्षा लेनी है:

तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः ।
अमाययानुवृत्या यै स्तुष्येदात्माऽऽत्मदो हरिः ।। (भा. ११.३.२२)

"शिष्य गुरु को स्वयं की भाँति प्रेम करे एवं अपना परम प्रियतम आत्मा और इष्टदेव समझें, और निष्ठापूर्ण सेवा करें व भक्ति के सिद्धान्त उन्हीं से सीखे । इस सेवा से श्रीहरि, जो सारे संसार की आत्मा है, शिष्य गुरु को (भक्त को) अपने आप को सौंप देते हैं, प्रसन्न होते हैं ।"

दीक्षा को समर्पण से निभाया जाता है और वह गुरु सेवा से होता है । गुरु-आत्म-दैवतः (गुरु आत्म सम प्रिय है) और पूजनीय भी है । शिष्य को गुरु-सेवा निष्कपट भाव से करनी चाहिए । जब कोई ऐसा करता है, तो ज्ञान प्राप्त होता है ।

पहले इसी प्रकार होता था और शास्त्र भी यही कहता है । हमारे समय में इसी प्रकार अनुसरण किया जाता था, यद्यपि उन दिनों में भी कुछ व्यतिक्रम होता था । लोग इसे व्यापार बनाते थे, किन्तु इस का विस्तार नहीं था, जो आज हो रहा है । अब तो लोग जानते भी नहीं है कि वास्तविकता क्या है और हर चीज़ ठीक एक व्यापार हो गई है।

अन्यथा, दीक्षा के पश्चात् (जब शिष्य) गुरु के प्रति सम्पूर्ण समर्पण करता है तो उसका हृदय श्री गुरु से एक हो जाता है । साधक अपना नाम बदल देता है और स्वयं को स्वतन्त्र न समझकर अपना सम्बन्ध केवल गुरु के साथ ही देखता है अर्थात् उसका

पूरा जीवन गुरु के इर्द-गिर्द घूमता है । जब ऐसा होता है, तभी उसे ज्ञान प्राप्त होता है ।

यह कोई वृक्ष के फल की भाँति नहीं है, जो बड़ी सहजता से मिल जाता है । यह ज्ञान शिक्षा से प्राप्त होता है । गुरु भगवान का प्रतिनिधित्व करते हैं और वह एक शिक्षक हैं । अतः वे ज्ञान देते हैं ।   ******

प्रश्न: दीक्षा-मन्त्र के जप के लिए कुछ निश्चित नियम होते हैं । क्या जप के लिए निश्चित समय होता है ? जैसे गायत्री मन्त्र जप दिन में तीन बार किया जाता है, तो क्या हमें भी दीक्षा-मन्त्र का जप तीन बार करना चाहिए ?
उत्तर: दीक्षा-मन्त्र के साथ ऐसा कोई नियम नहीं है जो गायत्री मन्त्र के लिए है । वह वर्णाश्रम प्रथा में है । अपने पापों से मुक्ति पाने के लिए वे यह जप करते हैं । दीक्षा-मन्त्र का जप सवेरे स्नान के बाद और कुछ भी खाने के पहले करना चाहिए । यदि कोई दूसरे समय पर और अधिक करना चाहता है तो वह कर सकता है ।
******

प्रश्न: अभी तक तो हमें यह अनुभूति नहीं हुई है कि मन्त्र, गुरु और विग्रह-देवता एक हैं क्योंकि हम अभी तक उसके योग्य नहीं है । मन्त्र की अनुभूति के लिए क्या योग्यता होनी चाहिए ?
उत्तर: उत्तमा भक्ति का यह मार्ग अन्य प्रक्रियाओं की भाँति कोई काल्पनिक मार्ग नहीं है । कल हमने षड्-दर्शन, आध्यात्मिकता के छः प्रकार के बारे में बात की थी । वैष्णव वेदान्त के अलावा ये सभी दर्शन काल्पनिक हैं ।

उत्तमा भक्ति में प्रत्येक वस्तु परिभाषित है – भगवान, उनका धाम, नाम, साधना, माया इत्यादि । सब कुछ स्पष्ट रूप से परिभाषित है और उनकी अनुभूति कैसे की जाती है यह भी निश्चित है । उत्तमा भक्ति एक प्रायोगिक प्रक्रिया है, जिसका साधक अनुभव कर सकता है । यह साधक की सत्यता और ईमानदारी पर निर्भर है ।

अनुभूति भगवान की कृपा से आती है । स्वयम् एव स्फुरत्यदः (भ.र.सि. १.२.२३४), भगवान के नाम आदि दिव्य हैं और उन्हें भौतिक इन्द्रियों से पाया नहीं जाता, किन्तु जब कोई सेवा करने की इच्छा करता है, तब वे योग्य व्यक्ति में प्रकट होते हैं । यह योग्यता गुरु की प्रसन्नता से प्राप्त होती है । यदि गुरु के साथ बिना किसी भौतिक

स्वार्थ के भगवान की तरह या एक पूजनीय व्यक्ति की तरह व्यवहार किया जाता है तो शास्त्र में जो भी कहा गया है उनका अनुभव करना सम्भव है ।

अन्ततः कारण यह है कि साधक अपने सिद्ध देह में श्रीकृष्ण के साथ वास करेगा । अतः प्रथम उसे यह सिद्ध करना होगा कि वह इसके योग्य है । यह नहीं कि अयोग्य होकर प्रभु के धाम जाए और वहाँ उनके लिए समस्या खड़ी करे । यहाँ गुरु के साथ रहकर ही शुद्ध भक्तिमय व्यवहार दिखाना है और वह भी भगवान की कृपा से ही होता है । यदि कोई कार्य या समुचित व्यवहार करने के लिए योग्य है, अर्थात् बिना किसी स्वार्थ के गुरु को भगवान समान समझकर उनकी सेवा करता है और उन्हें एक सामान्य अथवा सांसारिक व्यक्ति न समझकर उनका आदर करता है तो वह योग्य बनता है और ये सारी चीज़ें उसे प्राप्त होती हैं । ये वास्तविक तथ्य हैं । यह कोई कल्पना नहीं है । यह मूल प्रक्रिया है । सर्व प्रथम तो साधक को यह निश्चित करना है कि वह यह चाहता है या नहीं । इस पथ पर कोई पृथकतावादी मानसिकता नहीं है और न ही ऐसे निश्चित मापदण्ड हैं जो बताते हैं, "यदि आप इस प्रकार करोगे, जप ऐसे करोगे या इतनी बार करोगे, तो आप को इतना फल मिलेगा ।" उत्तमा भक्ति भौतिक नहीं है । यह तो बिना अन्य प्रयोजन के पूर्ण समर्पित होने का विषय है । ******

प्रश्न: दीक्षा-मन्त्र को गुप्त क्यों रखते हैं ? एक शुद्ध मन्त्र दूषित कैसे होता है ?
उत्तर: यह प्रतिबन्ध ऋषियों द्वारा रखा गया है कि मन्त्र को गुप्त रखा जाय । वास्तव में मन्त्र शब्द का यही अर्थ है । सर्वत्र चाहे वह तन्त्र है, यामल या शास्त्र हो, यही कहा है कि मन्त्र को गुप्त रखना चाहिए, अन्यथा उसकी शक्ति नष्ट हो जाती है ।

******

प्रश्न: यदि कोई दीक्षा-मन्त्र को याद ही नहीं रख सकता तो उसे लेने से क्या लाभ होता है ?
उत्तर: विस्मरण होना यह एक बीमारी है । दीक्षा के दौरान हर मन्त्र कान में तीन बार कहा जाता है और शिष्य से अपेक्षा की जाती है कि वह उसे याद रखे । यदि आप उसे याद नहीं रख पाते हैं, तो कम से कम कृष्ण नाम स्वरूप महामन्त्र को नहीं भूलना चाहिए ।

अन्ततोगत्वा दीक्षा का अर्थ होता है गुरु की आज्ञा का पालन करना, यही सारांश है। अतः यदि कोई मन्त्र को याद करने में समर्थ नहीं है, तो महामन्त्र को याद रखें और उसका जप करें । यदि साधक को निष्ठा है तो उस के अनुसार सिद्धि प्राप्त होती है ।

******

प्रश्न: हम सुनते हैं कि पाण्डवों ने वर्णाश्रम गुरुओं से दीक्षा ली । जब कि पाण्डव श्रीकृष्ण के नित्य परिकर हैं और उन्हें दीक्षा लेने की आवश्यकता नहीं थी, तो फिर दीक्षा क्यों ली ? श्रीकृष्ण के काल में एक सामान्य व्यक्ति भक्ति मार्ग पर कैसे आते थे?
उत्तर: परम्परा और दीक्षा की विधि केवल कलियुग के लिए है ।

पूववर्ती युगों में प्रधान रूप से वर्णाश्रम ही था और प्रत्येक व्यक्ति अपने वर्ण और आश्रम के अनुसार दीक्षा पाते थे । एक ब्राह्मण सात वर्ष की आयु में और एक क्षत्रिय ग्यारह वर्ष की आयु में दीक्षा पाता था । फिर वे गुरुकुल जाकर गुरु की शरण में रहते थे, और आज्ञाकारी होकर वेदों का अध्ययन करते थे । गृहस्थी जीवन में वे अपने नित्य कर्तव्यों और यज्ञ इत्यादि का पालन करते थे । यही व्यवस्था थी । यदि वे भक्त थे तो भक्त बनने की इच्छा के साथ और भक्ति भाव के साथ वर्णाश्रम व्यवस्था को निभाते थे, परन्तु वर्णाश्रम ही प्रधान था । अब तो वर्णाश्रम की प्रधानता ही ख़त्म हो चुकी है। इसलिए भक्ति का प्रचार किया गया है ताकि कोई भी इसे ग्रहण कर सकता है ।

******

प्रश्न: आम लोगों को भगवान की पूजा करने की भावना कैसे प्राप्त होती थी ?
उत्तर: पहले भक्ति प्रचलित नहीं थी, पर वर्णाश्रम व्यवस्था प्रधान थी । ......

प्रश्न: वर्तमान युगमें भक्ति क्या विशेष कृपा है ?
उत्तर: मुख्यतः चैतन्य महाप्रभु ने उत्तमा भक्ति का प्रचार किया था । उससे पहले अन्य आचार्य, जैसे कि रामनुजाचार्य और मध्वाचार्य ने भक्ति का प्रचार किया था, किन्तु वह वर्णाश्रम के साथ मिश्रित थी । केवल चैतन्य महाप्रभु ने उत्तमा भक्ति का प्रचार किया था ।

******

प्रश्न: आप ने बङ्गाल से आए उस व्यक्ति की कथा कही थी जो आप के सम्प्रदाय से जुड़कर पैसा इकट्ठा करना चाहता था तो आप ने उसे दीक्षा क्यों दी ? आप ऐसे लोगों को क्यों दीक्षा देते हो जो स्पष्टतः केवल प्रवृत्ति मार्ग में रुचि रखते हैं ? आप से दीक्षा लेने में उनका क्या लाभ है ?
उत्तर: वे केवल सांसारिक सुख की प्राप्ति की इच्छा रखते हैं, जो वे पाते हैं । अतः वे दीक्षा के लिए आते हैं । आज ही कोई आया था क्योंकि वह बाबाजी का वेष चाहता था । मैं ने उसे दीक्षा लेने का कारण पूछा तो उसने कहा, "मैं एक आश्रम में निवास कर रहा हूँ और यह एक सामान्य प्रथा है कि वैष्णव लोग किसी अवैष्णव या अदीक्षित

के हाथ से स्पर्श किए भोजन को स्वीकार नहीं करते । यहाँ तक कि उनके हाथ का छुआ पानी भी ग्रहण नहीं करते हैं । अतः मुझे दीक्षा चाहिए अन्यथा मैं उनकी सेवा नहीं कर पाऊँगा । वे लोग उनसे दीक्षा लेने के लिए मुझ पर दबाव डालते हैं, यद्यपि मैं यह नहीं चाहता हूँ ।" दीक्षा लेने के बाद वह जगन्नाथ पूरी की यात्रा करना चाहता है क्योंकि बाबाजी का वेष धारण करने के बाद आप बिना टिकिट भारतीय रेल में कहीं भी यात्रा कर सकते हो । इसीलिए मैं उसका हित कर रहा हूँ । बस यही मेरा उद्देश्य है । शाब्दिक अर्थ में कहें तो सच में न तो मैं उसका गुरु हूँ और न ही वह मेरा शिष्य है और न ही (उन्हें) दीक्षा से कोई आध्यात्मिक लाभ है । ******

५६. द्वादशी

प्रश्न: द्वादशी के दिन हमें विग्रह को स्नान नहीं कराना चाहिए क्योंकि उस दिन भगवान के चरणों से तुलसी नहीं हटाते हैं । तो क्या द्वादशी के दिन विग्रह के वस्त्रों को बदलना चाहिए ?

उत्तर: हाँ, विग्रह के वस्त्र बदलने चाहिए किन्तु उनके चरणों से तुलसी न हटाएँ ।

******

प्रश्न: पर यह हम कैसे कर सकते हैं, क्योंकि विग्रह बहुत छोटे हैं ? जब मैं उनके वस्त्र बदलता हूँ तब तुलसी हमेशा हट जाती है ।

उत्तर: विग्रह के वस्त्र बदलने के बाद पुनः तुलसी को उनके चरणों में रख दें ।

******

५७. नाम-जप

प्रश्न: जैसे कुछ भक्त करते हैं वैसे क्या हम भी सुबह बिना स्नान किए मन्त्र जप कर सकते हैं ?

उत्तर: नहीं, जप के लिए आप को पवित्र एवं शुद्ध अवस्था में होना चाहिए । यह एक ध्यान है जिसमें हम भगवान को पुकारते हैं । यह सम्मानपूर्वक होना आवश्यक है और यह केवल तभी सम्भव है, जब हम पवित्र रहते हैं । ******

प्रश्न: कुछ गौड़ीय वैष्णव महामन्त्र जप प्रारम्भ करने से पूर्व पञ्चतत्त्व मन्त्र के चार माला जप करते हैं । क्या शास्त्र में यह कहा है अथवा यह निराधार कल्पना है ?

उत्तर: शास्त्र में केवल महामन्त्र जप का विधान है । ******

प्रश्न: हमने सुना है कि पञ्चतत्त्व मन्त्र महामन्त्र से भी अधिक शक्तिशाली है । क्या यह सच है ?

उत्तरः ऐसा नहीं है कि पञ्चतत्त्व मन्त्र महामन्त्र से अधिक शक्तिशाली है । आप को जो भी नाम पसन्द है उसका जप करें । ऐसा करना ही ठीक होगा । विभिन्न अवतारों की भाँति विभिन्न भगवान के नाम विभिन्न रुप से प्रभावशाली होते हैं । ******

प्रश्नः वास्तव में नाम जप कैसे करना चाहिए ? हमें प्रार्थना कैसे करनी चाहिए ?

उत्तरः आप को मन में यह भाव रखना चाहिए कि भगवान आप के स्वामी हैं और आप एक सेवक हैं । वे आप के हैं इस भाव से आप उनका नाम जप करें । आप को यह समझना चाहिए कि नाम और भगवान भिन्न नहीं हैं । उनका नाम पुकारने से आप उनके नज़दीक आते हैं । ******

प्रश्नः जप करते समय क्या हमें केवल नाम पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए ? अथवा.......

उत्तरः केवल नाम पर ही, क्योंकि नाम ही कृष्ण है । ******

प्रश्नः कोई जप कैसे करें ?

उत्तरः हरे, कृष्ण, और राम इन प्रत्येक शब्द का अपना अर्थ होता है । कृष्ण का जप करते समय केवल कृष्ण का ध्यान धरें । ******

प्रश्नः जप करते समय हमें कहाँ ध्यान केन्द्रित करना चाहिए – नाम की ध्वनि, स्पन्दन, विग्रह या फिर भगवान के वर्णन पर ?

उत्तरः जप करते समय आप नाम का जप करते हैं । आप को अपना मन अन्य वस्तु को छोड़कर केवल नाम पर ही केन्द्रित करना चाहिए क्योंकि जप नाम का हो रहा है, न कि किसी स्वरूप, कोई लीला अथवा किसी वस्तु का जिसे आप पसन्द करते हैं । जप करते समय यदि कोई वस्तु, स्वरूप, या कृष्ण लीला के विषय में सोचता है तो वह इस तथ्य से अज्ञात है कि नाम और भगवान अभिन्न हैं । अन्यथा, यदि कोई नाम जप करता है तो अन्य स्वरूप, लीला अथवा अन्य किसी वस्तु के बारे में सोचने की क्या आवश्यकता है ? यदि कोई ऐसा करता है तो नाम गौण हो जाता है और अन्य वस्तु प्रधान बन जाती है । यह अनुचित है तथा नाम के लिए अपने आप में अप्रसन्न कारक है ।

योग और ज्ञान मार्ग में वे मानते हैं कि ध्वनि किसी वस्तु का केवल एक प्रतिनिधित्व करता है । अतः जप करते समय वे कुछ और सोचते हैं । भक्ति मार्ग में नाम किसी अन्य वस्तु का प्रतिनिधि नहीं है, किन्तु नाम और नामी दोनों अभिन्न हैं । (भगवन्) नाम न ही किसी वस्तु को सूचित करता है और न ही किसी वस्तु का प्रतीक है । अन्य

मार्ग में मन्त्र और ध्वनि को प्रतीक मानते हैं इसीलिए वे अन्य कई वस्तुओं के विषय में सोचते हैं ।

भक्ति में आप नाम जप करें और केवल नाम का मनन करें क्योंकि नाम स्वयं भगवान है और नाम में ही सब कुछ समाहित है, चाहे वह स्वरुप, लीला अथवा गुण हो । अतः नाम जप करना चाहिए और उस पर ही ध्यान केन्द्रित करना चाहिए । नाम ही भगवान का स्वरुप है, शब्द ब्रह्म, यह भगवान का ध्वनि रूप है । नाम और भगवान में कोई भेद नहीं है । लोग दूसरी प्रक्रिया से सुनी हुई विचित्र विभिन्न धारणाओं को लेकर भक्ति मार्ग में आते हैं । भक्ति मार्ग की योग्यता ज्ञान, योग और कर्म मार्ग की योग्यता से भिन्न है । योग मार्ग की योग्यता भक्ति मार्ग की योग्यता नहीं है । अतः अन्य मार्ग में लागू योग्यताओं की समझ को त्याग कर केवल भक्ति मार्ग की रीत को अपनाना चाहिए । ******

प्रश्नः क्या आप महामन्त्र का अर्थ समझाएँगे ?
उत्तरः महामन्त्र में कृष्ण के तीन नाम हैं: हरि, कृष्ण और राम । महामन्त्र में ये तीन नाम हरे, कृष्ण और राम सम्बोधनात्मक हैं ।

अतः कृष्ण को प्रेमभाव से पुकारना । यदि आप किसी को प्रेम करते हो और वह व्यक्ति भी आप से प्रेम करती है तब आप उसे बड़े प्यार से बुलाते हो । ठीक उसी प्रेमपूर्ण भाव से महामन्त्र का जप करना चाहिए । मन्त्र-जप रागानुगा या ब्रज भाव में करना चाहिए । एक भक्त भगवान को प्रीतियुक्त सम्बन्ध से पुकारें । ******

प्रश्नः जप करते समय क्या प्रार्थना करना ठीक है ? क्या हमें सोचना चाहिए कि "मुझे अपनी सेवा में ले लीजिए" अथवा केवल मन्त्र पर ही मन केन्द्रित करना चाहिए ?
उत्तरः गायत्री एवं महामन्त्र भगवान की ओर हमारी बुद्धि प्रेरित करें ऐसी अभ्यर्थना है। भौतिक देह का झुकाव स्वभाविक रूप से भगवान की सेवा में नहीं लगता है । इन्द्रियों का विषयों की ओर दौड़ना ही इसका स्वरुप है क्योंकि वह पदार्थ से निर्मित है और आत्मा एवं चेतन के बदले पदार्थ ही पसन्द करता है । इसी कारण मन्त्र जप प्रार्थना के साथ किया जाता है जिस से प्रभु सेवा में हमारी बुद्धि प्रेरित हो, किन्तु यह जप समर्पण के बाद ही किया जाता है । जब साधक समर्पण करता है, विशेष कर दीक्षा के विषय में यह भाव रखता है कि "मैं स्वयं समर्पित हुआ हूँ", तब मन्त्र जप दौरान व्यक्ति यह भाव रखता है कि भगवान जापक को प्रेरित करें ताकि जापक का मन और बुद्धि भगवान की ओर साहजिक रूप से प्रेरित हो, ठीक वैसे जैसे मन और

बुद्धि इन्द्रिय-विषय के प्रति दौड़ती है । महामन्त्र, गायत्री मन्त्र और अन्य सभी मन्त्र का यही अर्थ है । बस यही है जप समय की प्रार्थना या भाव का तात्पर्य ।

सामान्यतः ऐसा समझा जाता है कि जब व्यक्ति जप करता है जैसे कि योग मार्ग अथवा अन्य मार्ग में तो वह व्यक्ति कुछ प्राप्त करने की इच्छा से मन्त्र जप करता है । मन्त्र कुछ प्राप्त करने के लिए एक साधन मात्र है । इन मार्गों में मन्त्र एक ध्वनि मात्र है, जो किसी विशेष विषय की और संकेत करती है । लेकिन भक्ति पथ पर, उत्तमा भक्ति में, मन्त्र स्वयं भगवान है । मन्त्र और भगवान में कोई भेद नहीं है । मन्त्र ध्वनि कोई उपकरण नहीं है जिसके द्वारा आप किसी वस्तु को जान पाओ, किन्तु ध्वनि स्वयं भगवान है । ऐसा नहीं है कि मन्त्र के द्वारा हम किसी व्यक्ति की अथवा अन्य वस्तु के लिए प्रार्थना करें । जब मन्त्र जप किया जाता है तो वह भगवान का ही स्वरुप है - मन्त्र और भगवान अभिन्न हैं । उत्तमा भक्ति अथवा शुद्ध भक्तिपरक सेवा की यही विशिष्टता है कि यहाँ भगवान और उनका नाम अभिन्न हैं । अर्थात् मन्त्र किसी वस्तु को प्राप्त करने का उपकरण नहीं है, किन्तु स्वयं एक चरम ध्येय है जिस की हम अनुभूति करना चाहते हैं, न कि उस से अधिक कुछ और वस्तु की ।

चैतन्य चरितामृत के एक श्लोक में व्याख्या की गई है कि नाम स्वयं श्री कृष्ण हैं, भिन्न नहीं है:
नाम चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्य-रस-विग्रहः ।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान् नामनामिनोः ।। (चै.च.मध्य १७.१३३)

"कृष्ण का नाम चिन्तामणि स्वरुप है, जो स्वभाव से चैतन्य और सभी रस का विग्रह है । यह पूर्ण शुद्ध नित्य मुक्त भी है और स्वयं श्री कृष्ण से अलग नहीं है ।"

हमारे सामान्य अनुभव में शब्द और उसका अर्थ यानि कि विषय दोनों अलग वस्तु हैं। जब कि भगवान और उनका नाम अभिन्न हैं इसलिए नाम को कभी भी असम्मानित नहीं करना चाहिए । नाम प्राप्त करना उच्च आदर्श है । यदि किसी ने नाम प्राप्त कर लिया तो समझो उसने भगवान श्री कृष्ण को प्राप्त कर लिया । फिर भी, वह अनुभूति अपने निजी श्रद्धा पर आधारित है । (भक्ति में) सिद्धि श्रद्धा पर निर्भर करती है । अगर हम में श्रद्धा नहीं है, तो हमें अनुभूति प्राप्त नहीं हो सकती । इसीलिए "आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया" कहा गया है ।

......

प्रश्न: महामन्त्र का क्या अर्थ है ? प्रार्थना का भाव कैसा होना चाहिए ?

उत्तर: महामन्त्र में तीन नाम है: हरे, कृष्ण और राम, जो स्वभाव से ही एक सम्बोधन है । यहाँ सम्बोधन का अर्थ होता है किसी को प्रेमपूर्वक पुकारना और जब आप प्रेम से पुकारते हो तो उसे बार बार दोहराते हो । जैसे आप अपने मित्र से मिलते हो और कहते हो "अरे आओ, आओ ।" अर्थात् आप उसे दो बार पुकारते हो । ठीक उसी तरह इस मन्त्र में सभी नाम दो बार दोहराते हैं । एवमेव प्रीतियुक्त भाव से श्रीकृष्ण को पुकारना है - ब्रजवासियों के भाव से, वहाँ भगवान के साथ प्रीतिभाव रहता है । आप उनको उस प्रीतियुक्त सम्बन्ध से ही पुकारें । ******

प्रश्न: अतः यह हरा (राधा) या ऐसा कुछ नहीं है ?

उत्तर: यदि आप उसका अर्थ हरा लेते हैं, तब वह व्रज भक्ति नहीं है । व्रज भक्ति अथवा रागानुगा भक्ति का अर्थ है आचार्यों के पदचिह्नों का अनुसरण करना । उन्होंने एवं स्वयं महाप्रभु ने हरि जप किया है, न कि हरा ।

जब व्यक्ति अनुकरण करना चाहता है तो वह मूल की अपेक्षा अधिक जताना चाहता है । आप किसी भी नाम का जप कर सकते हैं क्योंकि उस में कोई प्रतिबन्ध नहीं है। आप जो भी भगवान का नाम पसन्द करते हैं, उसका नाम-जप कर सकते हैं परन्तु व्रजभक्ति का अर्थ होता है महानुभावों के पदचिह्नों का अनुसरण करना, विशेषतः श्री चैतन्य महाप्रभु का । महाप्रभु श्रीमती राधा के भाव में रहते थे, वे राधानाम नहीं पुकारेंगे। वे कृष्ण का नाम पुकारते हैं जैसे राधा कृष्ण को पुकारती है । यह तीनों नाम श्री कृष्ण के हैं ।

कुछ लोग जो स्वयं ही मन्त्र बनाते हैं, जैसे कि "राधे कृष्ण, राधे कृष्ण, कृष्ण कृष्ण, राधे राधे, राधे श्याम, राधे श्याम ...." और वे सोचते हैं कि हमारी अपेक्षा वे अधिक अच्छे हैं । वे हरे कृष्ण महामन्त्र का अर्थ ही नहीं समझते हैं । आप जो कुछ भी (कल्पना) करके इच्छित परिणाम नहीं पा सकते । रागानुगा भक्ति प्राप्ति के लिए आप को महाप्रभु की सूचित बातों का अनुसरण करना है, अन्यथा, यह मात्र मनोरंजन है, भक्ति नहीं ।

उत्तमा भक्ति का मूल सिद्धान्त है कि भक्त के हृदय में भगवान है और भगवान के हृदय में भक्त है । वे एक दूसरे से प्रीति भाव से जुड़े हुए हैं । जहाँ राधा है, वहाँ कृष्ण है । कृष्ण भगवान है और राधा भक्त है । जिस प्रीति भाव से राधा कृष्ण को पुकारती है वही है महामन्त्र, और राधा के पदचिह्न पर चलना ही रागानुगा भक्ति है । अन्यथा अनुकरण करने से आप को जो कुछ भी पसन्द है, आप कर सकते हैं, ठीक वैसे जैसे

सब्ज़ी में छोंक लगाने से वह अधिक स्वादिष्ट बन जाती है । अन्य मन्त्र मधुर लगता है एवं अनेक लोग उसे पसन्द भी करते हैं किन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता कि वह यथार्थ वस्तु है । लोग महामन्त्र में भी छोंक लगाते हैं ।

महामन्त्र की बहुत सी व्याख्याएँ हैं क्योंकि संस्कृत में एक शब्द के अनेक विभिन्न अर्थ करने की विशेषता सम्भव है, किन्तु चैतन्य महाप्रभु के मन में जो अर्थ था उसी का ही हमें अनुसरण करना है, न कि कोई विलक्षण अर्थ का जो हमें गुमराह करे ।

******

प्रश्नः और महामन्त्र में राम का नाम भी कृष्ण है, न कि बलराम अथवा .... ?
उत्तरः केवल कृष्ण है । न तो बलराम है, न परशुराम और न ही दशरथ पुत्र राम है। केवल कृष्ण है । कृष्ण राम है ।   ******

प्रश्नः मन्त्र साक्षात् कृष्ण है । मन्त्रजप से साधक किसी अन्य फल की अपेक्षा नहीं रखता है क्योंकि मन्त्र साक्षात् भगवान है । एक उच्च स्तरीय साधक यद्यपि शास्त्र में विश्वास करता है परन्तु उसकी अनुभूति नहीं होती है । तो किस वज़ह से उसे अनुभव में बाधा आती है अथवा साधक में वह अनुभव कैसे आता है ?
उत्तरः सब से पहले तो हमें श्रद्धा होनी ही चाहिए । जैसा कि भगवान श्रीमद् भागवत ६.६.५१ में कहते हैं:
"शब्दब्रह्म परमब्रह्म ममोभे शाश्वती तनू ।"

शब्द-ब्रह्म और परम्-ब्रह्म दोनों मेरे सनातन शरीर हैं । शब्द-ब्रह्म का अर्थ होता है ध्वनि और परम्-ब्रह्म का अर्थ होता है भगवान । यह दोनों उनके स्वरूप हैं और वे एक हैं । प्रथम हम इसे शास्त्र के आधार पर और सद्गुरु के प्रमाण से उसे समझें । जब हम श्रद्धा से उस प्रक्रिया का अनुसरण करते हैं, तब हमें उसकी अनुभूति होती है। हमें शास्त्र की वाणी में विश्वास रखना चाहिए । यद्यपि हम यह सोचने के अभ्यस्त हैं कि (प्राकृत जगत में) शब्द और विषय दोनों भिन्न भिन्न हैं, अतः हमें यह प्रतीति नहीं होती है कि वे दोनों अभिन्न - एक हो सकते हैं । इसकी अनुभूति हमें इस लौकिक जगत में नहीं होती है, किन्तु भगवान और उनका नाम अभिन्न है, एक है।
यदि कोई साधक विश्वास और आपराधिक मानसिकता रहित जप करता है, तब उसे अनुभूति होती है कि भगवान और उनका नाम एक है । नाम स्वयं भगवान का स्वरूप, उनके गुण, उनकी लीलाएँ प्रकट करेगा । सब कुछ नाम से प्रकट होता है, यहाँ तक कि अपना (साधक का) स्वरूप भी । अब तो लोग सिद्ध प्रणाली से स्वरूप पाने की

बातें करते हैं । मूलाचार्य और गोस्वामीगण को किसी से भी सिद्ध प्रणाली प्राप्त नहीं हुई थी, प्रत्येक वस्तु नाम से ही प्रकट हुई थी ।

यदि हमें नाम में विश्वास नहीं है तो हम नाम को गौण और अन्य वस्तु को प्रमुख बना देते हैं । इस स्थिति में साधक भगवान के नाम, स्वरूप आदि की अनुभूति नहीं कर सकता है । नाम स्वयं पूर्णरूप से प्रभावकारी है और यदि कोई आपराधिक मानसिकता रहित जप करता है, तो वह सब कुछ अनुभव करेगा क्योंकि नाम स्वयं भगवान है । यदि हम आपराधिक मानसिकता रखते हैं, जैसे कि भगवान से सम्बन्धित विषयों को भौतिक वस्तु के तुल्य मानना, गुरु को एक साधारण मानव के रूप में देखना, भगवान के चरणामृत को साधारण सा पानी समझना, शालीग्राम शिला को पत्थर का टुकड़ा समझना और प्रभु के नाम को एक साधारण शब्द समझना, तब हम कुछ भी अनुभव नहीं कर सकते ।

******

प्रश्न: गुरु, मन्त्र, विग्रह और शास्त्र के बीच क्या सम्बन्ध है ?
उत्तर: नाम, मन्त्र, देवता (मन्त्र के अधिष्ठ देवता), और शास्त्र सभी एक है । उनके मध्य कोई भिन्नता नहीं है

(अ) नाम: लौकिक जगत में हर एक वस्तु का अपना नाम है और प्रत्येक शब्द (ध्वनि) का अर्थ कुछ कर्म, क्रिया, गुण या वर्ग (श्रेणी) है । नाम का मूलतः अर्थ होता है कि जब आप अपने मस्तिष्क से कुछ समझना या फिर स्वीकारना चाहते हो तो उस वस्तु से जुड़ा हुआ एक शब्द होता है । शब्द में एक शक्ति होती है और शब्द और वस्तु के बीच एक सम्बन्ध होता है । शब्द उस विशेष वस्तु का प्रतिनिधित्व करता है और वह वस्तु शब्द के अर्थ को निर्दिष्ट करता है। एक शब्द का एक अर्थ होता है, जो वस्तु से सम्बन्धित है । नाम में वस्तु को सम्बोधित करने की शक्ति होती है और इन दोनों वस्तुओं के मध्य अकाट्य सम्बन्ध है । यदि एक नाम है, तो उससे सम्बन्धित एक वस्तु अवश्य है और यदि एक वस्तु है तो उसका नाम अवश्य है । इस तरह ये दोनों एक दूसरे से सम्बन्धित है ।

परन्तु, आध्यात्मिक जगत में लौकिक जगत जैसे सम्बन्ध नहीं होते । आध्यात्मिक जगत में नाम और वस्तु दोनों भिन्न भिन्न नहीं है । ऐसा नहीं है कि आप का एक नाम है और वह नाम उस में अन्तर्निहित कुछ शक्ति के द्वारा आप को उस वस्तु की ओर ले जाता है । आध्यात्मिक जगत में नाम स्वयं एक वस्तु है और वस्तु

और नाम एक हैं । इसलिए शब्द और विषय वस्तु के मध्य उपस्थित लौकिक सम्बन्ध का कोई अस्तित्व आध्यात्मिक जगत में नहीं है ।

(ब) मन्त्रः भगवान का नाम और मन्त्र भिन्न नहीं है । किन्तु मन्त्र पर उसके जप और प्रयोग करने पर ऋषियों द्वारा निश्चित प्रतिबन्ध रखे गए हैं । नाम में ऐसे कोई प्रतिबन्ध नहीं है, किन्तु मन्त्र में रहा प्रतिबन्ध कुछ निश्चित योग्यता पर आधारित है । जैसे उन प्रतिबन्धों में से एक है कि मन्त्र बहुत गुप्त होता है । वह गुरुदेव द्वारा शिष्य को कान में दिया जाता है और उसे पूर्ण रूप से गुप्त रखा जाता है ।

उदाहरण स्वरूप, यदि किसी की माता उसके पिता के अतिरिक्त किसी दूसरे पुरुष से सम्बन्ध रखती है, तो वह उस विषय में बात करना पसन्द नहीं करेगी क्योंकि यह एक शर्मिंदा करने जैसी बात है । वह इसे गुप्त ही रखेगी । मन्त्र को भी ऐसे ही गुप्त रखना होता है और इसीलिए उसे बिना होंठ और जीभ हिलाए केवल मन से ही उसका जप करना होता है ताकि दूसरा उसे सुन न पाए । यह पूर्णतः निजी है । मन्त्र की शक्ति उसकी गोपनीयता में है । यदि इसे दूसरों के समक्ष प्रकट किया गया तो इसकी शक्ति नष्ट हो जाती है । ऋषियों द्वारा यह प्रथम प्रतिबन्ध रखा गया है । किन्तु यह प्रतिबन्ध नाम में नहीं है अतः नाम का जप ऊँचे स्वर में भी हो सकता है।

(क) देवता : मन्त्र के अधिष्ठित देवता और नाम एक ही है ।
(ख) शास्त्रः शास्त्र और कुछ नहीं है किन्तु मन्त्र अथवा नाम की एक व्याख्या है । मन्त्र का अर्थ है भगवान को समर्पित होना और प्रीति भाव से उनकी सेवा करना । इस बात को समझने के लिए शास्त्र भिन्न भिन्न इतिहास, व कहानियों का वर्णन करता है और विभिन्न प्रकार के तर्क देता है । यह इसलिए है क्योंकि हम उसे शीघ्र ग्रहण करने के लिए अयोग्य हैं । शास्त्र या मन्त्र का सार है उत्तमा भक्ति या भगवान की प्रेम पूर्वक सेवा करना । यह भागवत के चतुःश्लोकी में व्याख्यायित है, भगवान ने ब्रह्मा को चार श्लोक में (सार) बताया है । वहाँ वे कहते हैं कि केवल भक्ति की ही जिज्ञासा करनी चाहिए और इसके अतिरिक्त कुछ जानने योग्य नहीं है । इसका अर्थ है कि उत्तमा भक्ति ही मूल सार है । शास्त्र भी शब्द के रूप में स्वयं भगवान हैं, जैसे नाम और मन्त्र है ।

(ग) गुरुः गुरु भी भगवान से अभिन्न ही है । हमें अज्ञान से ऊपर उठाने के लिए भगवान गुरु के रूप में प्रकट होते हैं । कोई भी व्यक्ति स्वप्रयास द्वारा अज्ञान से मुक्त

नहीं हो सकता । साधक गुरु से मन्त्र ग्रहण करता है और उसे गुप्त रख कर उसका जप करता है ।

फिर प्रश्न उठता है कि योग्य गुरु से मन्त्र ग्रहण करने के बाद उसका जप करने पर भी क्यों उसकी अनुभूति नहीं होती है ? उसका कारण यह है कि मन्त्र के लिए जो योग्यताएँ आवश्यक है वह उस साधक में नहीं है, किन्तु इसी कारण श्रद्धा में भी कमी नहीं होनी चाहिए अपितु उस योग्यता के स्तर पर आना चाहिए, तभी यह बात समझ सकेंगे ।

यहाँ हम जिस मन्त्र की बात कर रहे हैं वह भगवान का मन्त्र है । जैसा कि गोपालतापनी उपनिषद में व्याख्या की गयी है कि यह मन्त्र १८ अक्षरों का है और इसके ५ भाग हैं। इस मन्त्र का प्रकटन भगवान को समझने के लिए है क्योंकि भगवान हमारी इन्द्रियों से बद्धावस्था में प्राप्य नहीं है । हमारी लौकिक मानस स्थिति में हम भगवान को उस प्रकार प्राप्त नहीं कर सकते जिस प्रकार हम सांसारिक जगत में शब्द और व्यावहारिक विषय का अनुभव करते हैं । मन्त्र उनकी अनुभूति का एक साधन है । भगवान कृपापूर्वक अपने शब्द रूप में प्रकट होते हैं । अवतार अर्थात् मन्त्र-मूर्ति, - भगवान का स्वरूप । उनकी मूर्ति अथवा रूप ही मन्त्र का आकार है । अतः इस संसार में भगवान इसी तरीक़े से प्राप्त होते हैं और यदि कोई श्रद्धा के साथ इस प्रकिया को अपनाता है, नियमोंका उल्लंघन और अपराध नहीं करता है, तब भगवान की अनुभूति होगी ।

यही सम्पूर्ण प्रक्रिया है – भक्ति की प्रक्रिया का मूल सार है कि गुरु और मन्त्र कैसे परस्पर सम्बन्धित है, मूलतः वे एक ही वस्तु के भिन्न अवतार है । ******

प्रश्न: यह प्रतीत होता है कि मन्त्र का एक सामान्य और एक विशिष्ट अर्थ होता है । सामान्य अर्थ होता है भगवान के सेवक के रूप में भगवत्-सेवा प्राप्ति के लिए उन को प्रार्थना करना परन्तु मन्त्र के कुछ विशिष्ट अर्थ भी हैं । यह कैसे ज्ञात हो ?
उत्तर: मन्त्र के सामान्य अथवा विशिष्ट अर्थ होते हैं ऐसी कोई बात नहीं है । ऐसा भी नहीं है कि भिन्न भिन्न मन्त्र के भिन्न भिन्न अर्थ होते हैं । भगवान की उत्तमाभक्ति की अनुभूति मन्त्र का मूलभूत अर्थ होता है । व्यक्ति की अपनी इच्छाओं के कारण अपने अर्थ बनाकर मन्त्र पर थोप देते हैं ।

सामान्य बोली में शब्दों के सामान्य एवं विशिष्ट अर्थ होते हैं, परन्तु मन्त्र के विषय में यह सत्य नहीं है ।

जैसे पहले बताया कि शब्द और उस से संकेतित वस्तु के बीच कोई भेद नहीं है । अतः मन्त्र को उसके प्राथमिक अर्थ में ही लिया जाता है, न कि गौण अर्थ में । यदि आप गौण अर्थ लेते हैं तो आप अपना निजी अर्थ बनाते हो ।

वाच्यत्वं वाचकत्वञ्च देव-तन-मन्त्रयोरिह ।
अभेदेनोच्यते ब्रह्मन् तत्त्वविद्भिर्विचारितः ।।

"वे जो मन्त्र का अर्थ जानते हैं, कहते हैं कि मन्त्र और उसके देवता में कोई भेद नहीं है ।" (हयशीर्ष पञ्चरात्र, भक्ति सन्दर्भ अनु. १९०)

******

प्रश्नः जप के दौरान यदि हम एकाग्र नहीं हो सकते तो क्या इसका अर्थ है कि हम अपराध कर रहे हैं ? दूसरी ओर हम पापों का प्रायश्चित भी नहीं कर सकते, अतः क्या करना है ?

उत्तरः दीक्षा ग्रहण करने के बाद साधक को सावधानीपूर्वक अपराधों से बचना चाहिए। यही मुख्य बात है । सभी अपराधों में मुख्य अपराध है गुरु-अवज्ञा अथवा गुरु का आदेश पालन नहीं करना और शास्त्र में विश्वास न रखना । इन दो अपराधों से ही अन्य अपराध उद्भूत होते व पनपते हैं । यदि कोई गुरु की अवज्ञा करता है और उन्हें एक साधारण व्यक्ति समझता है, (गुरुषु नरमतिः) तब वह गुरु के किसी भी निर्देशन का स्वीकार नहीं करेगा । सामान्य व्यक्ति से निर्देशन ग्रहण करने की स्वाभाविक रूप से किसी में रुचि नहीं होती है । जो शास्त्र का स्वीकार नहीं करता है, वह उससे जोड़तोड़ करता है । भक्ति शास्त्र ज्ञान पर आधारित है और यदि साधक इस में विश्वास नहीं रखता है तब उसका मनमानी अर्थ करता है और वह अपने गन्तव्य तक नहीं पहुँचेगा । सावधानीपूर्वक इन दोनों अपराधों का त्याग करना चाहिए ।

जब कोई दीक्षा लेता है तो वह भगवत प्रेरणा से सम्भव होती है । इसका अर्थ है कि वे आप को स्वीकार करने के लिए इच्छुक हैं । वह दीक्षा लेता है और बाद में शास्त्र और गुरुवाक्य का अनुसरण नहीं करता है तब अपराध होता है इसलिए खतरनाक है। बहुत सावधानीपूर्ण इन अपराधों का त्याग करना चाहिए अन्यथा इसके अलावा अन्य कोई अवसर साधक के लिए नहीं है ।

जब व्यक्ति भगवान के नाम को एक सामान्य शब्द के रूप में मानता है और नाम और भगवान की एकता में विश्वास नहीं रखता है तो उसकी उन्नति की कोई सम्भावना नहीं है । अतः अपराध छोड़ कर निरन्तर जप करते रहना है, चाहे आप का ध्यान केन्द्रित हो रहा हो या नहीं । ध्यान केन्द्रित करने का पूरा प्रयत्न करते रहो। यदि आप सफल नहीं हो पा रहे हैं, तो कोई बात नहीं क्योंकि वह अपराध नहीं है । ......

प्रश्न: मैं ने सुना है कि नाम भगवान की अन्तरङ्गा शक्ति है और जब कोई समुचित परम्परा में दीक्षित होता है, तब वह शक्ति प्रकट होती है । पहले मैं किसी और से दीक्षित था जो एक शास्त्रीय परम्परा से नहीं थे और मैं ने अनुभव किया कि इसका मुझ पर कुछ प्रभाव था । क्या ऐसा है कि (समुचित) परम्परा में दीक्षित होने के पश्चात् ही उसकी पूर्ण शक्ति प्राप्त करने की योग्यता आती है, किन्तु इस से पहले नहीं ?

उत्तर: भगवन्-नाम की शक्ति को कोई अवरोध नहीं कर सकता । दीक्षा के पूर्व या पश्चात् नाम का प्रभाव एक सा होता है । पर यदि कोई सांसारिक वस्तु में आसक्त है, जैसे कि अनुयायी बनाना, धन, पद, प्रतिष्ठा, आनन्द प्रमोद और शारीरिक सुख तथा इन के लिए नाम जप करता है, तब नाम अपनी शक्ति प्रकट नहीं करता है, बल्कि नाम-जप करना एक अपराध हो जाता है । चाहे ऐसी स्थिति दीक्षा के पहले या बाद में घटी हो, तो नाम प्रसन्न नहीं होता है । हमारे जप से भक्ति देवी प्रसन्न होनी चाहिए।

दीक्षा के बाद यदि कोई लौकिक वस्तु की इच्छा करता है तो वह महान अपराध होता है क्योंकि अब वह अपराध जानबूझकर कर रहा है । साथ में वह शास्त्र का उल्लंघन और गुरु अवज्ञा भी कर रहा है क्योंकि उसे यह शिक्षा नहीं दी गयी थी । इसलिए समुचित फल प्राप्त करने के बजाय वह एक अनचाही प्रतिक्रिया प्राप्त करेगा। यदि कोई उसे उचित रीति से करता है तो नाम अपना प्रभाव प्रकट करता है अन्यथा उसकी विपरीत प्रतिक्रिया होती है । जप कभी फलहीन नहीं होता । उसका परिणाम अच्छा या बुरा अवश्य होगा । ऐसा नाम के प्रभाव के कारण होता है । यह एक शक्तिशाली औषधि की तरह है जो रोग को नष्ट कर देती है, यदि उसे वैद्य के आदेशा-नुसार ग्रहण की जाय तो । यदि आदेश के अनुरूप न ली गई तो उसका विपरीत प्रभाव होगा । भक्तिपथ में अनचाहा प्रभाव यह है कि साधक अधिक से अधिक भौतिकवादी बनता जाएगा । जब कोई नाम जप करता है तो भगवान जापक के प्रति आकर्षित होते हैं ।

"सर्वेषामप्यघवताम् इदमेव सुनिष्कृतम् ।
नामव्याहरणं विष्णोर्यतस्तद्विषया मतिः ।। (भा. ६.२.१०)

"समस्त पापियों के लिए केवल यह ही उत्तम प्रायश्चित है कि श्री विष्णु के नाम का उच्चारण किया जाय, जिस से उस मनुष्य का मन भगवान से जुड़े और भगवान का ध्यान उसके प्रति केन्द्रित हो ।"

जब कोई भगवान विष्णु का नाम लेता है तब भगवान का मन और ध्यान उस के प्रति आकर्षित हो जाता है । यदि व्यक्ति सांसारिक सोच या फिर अर्थ, पद, एवं समर्थक जुटाने जैसे भौतिक लाभ की इच्छा रखता है तो भगवान उसके जप करने से अप्रसन्न हो जाते हैं, जिससे विपरीत परिणाम अथवा प्रतिक्रिया प्राप्त होती है ।

यह ठीक एक व्यापार की तरह है जिस में आप काम करते हैं तथा कुछ लाभ प्राप्त करते हैं । आप की रुचि सेवा करने में नहीं किन्तु फल में है । आप की रुचि जिस व्यक्ति के लिए आप कार्य कर रहे हो उसे सन्तुष्टि देने में नहीं है । वह भी जानता है कि आपकी अभिरुचि उस में नहीं है । वह आपके कार्य को गलती से भी प्रेमभाव से की गई है ऐसा नहीं मानता है क्योंकि वह जानता है कि यह केवल व्यापार है । यदि उसकी रुचि प्रीति सम्बन्ध रखने में है तो वह जो धन के लिए किया जाता हो ऐसे काम से प्रसन्न नहीं होगा । ठीक उसी प्रकार जप द्वारा आप सेवा अर्पित करते हो और साथ में नाम जप के बदले किसी और वस्तु में रुचि रखते हो तो इसका अर्थ होता है कि आप कुछ सांसारिक उद्देश्य प्राप्ति के लिए नाम जप कर रहे हो । यह भावना भगवान को अप्रसन्न करती है । ऐसे जप से भगवान को प्रसन्न करने के बजाय आप उन्हें क्रोधित करते हो, हालाँकि नाम उन्हें बहुत प्रिय है । दीक्षा के पूर्व या पश्चात् की ऐसी मानसिकता अपराध है ।

प्रायः दीक्षा लेने के बाद साधक के ऐसे कार्य अधिक आपराधिक हो जाते हैं क्योंकि दीक्षापूर्व वह अज्ञानता में कार्य करता था और मन में भय भी रहता है कि "में कुछ ग़लत कर रहा हूँ" । दीक्षित हो जाने के बाद वह भयमुक्त हो जाता है और अधिक अपराध करने लगता है । अतः परिणाम भी इच्छानुरूप नहीं मिलते हैं ।

नाम की महिमा को समझाने के लिए ही श्रीमद् भागवत की रचना की गयी है । श्रीमद् भागवत के ६ठे स्कन्ध के अजामिल प्रकरण में वह बताया गया है कि नाम इतना शक्तिशाली है कि किसी ने यदि अज्ञानतापूर्वक भी जप किया है या आभास-रूप में जप किया है तो भी उसे हर प्रकार की आसक्तियों से मुक्ति मिलती है । अजामिल ने अपने पुत्र का नाम "नारायण" रखा, तभी से वह सभी बन्धनों से मुक्त हो गया । जब पुत्र को पुकारता था तब वह भगवान को सम्बोधित नहीं करता था, अर्थात् नाम का

जप नहीं करता था फिर भी नामोच्चारण उसे फल देनेवाला हो गया, यद्यपि उसने नामाभास के रूपमें भगवन्नाम लिया था । नाम की शक्ति ही ऐसी है । श्रीमद् भागवत में इन सबकी व्याख्या की गयी है ।

साधारणतः दीक्षा लेने के बाद शिष्य गुरु को पसन्द नहीं करता है, बल्कि वह गुरु का अनादर करता है । इसलिए इच्छानुरूप फल प्राप्ति के बजाय अवाँच्छित प्रतिक्रिया प्राप्त करता है – उसकी अभिरुचि केवल सांसारिक वस्तुओं में ही हो जाती है । मैं हमेशा इस विषय में आश्चर्यान्वित हूँ कि ऐसा क्यों होता है । प्रारम्भ से ही मैं ने यह जानने का प्रयास किया है कि दीक्षा लेने के बाद शिष्य गुरु को पसन्द क्यों नहीं करता है । यह अपराध का ही परिणाम है, और कुछ नहीं । शिष्य को इस के बारे में चिन्तन करना आवश्यक है । नाम में शक्ति है और अजामिल तो दीक्षित भी नहीं था । उसने कोई दीक्षा नहीं ली थी और फिर भी वह पवित्र नाम की शक्ति के कारण सभी आसक्तियों से पूर्णतः मुक्त हो गया था । अतः नाम की शक्ति सर्वदा है ।

******

प्रश्नः क्या यह महत्वपूर्ण है कि हम नाम का उच्चारण ठीक ठीक रीत से करें ? जब हम जप करें तो क्या नाम को सुने अथवा कृष्ण से वार्तालाप करें ? उचित रीति क्या है और हम कैसे उत्तम रीति से जप करें ?

उत्तरः यह आवश्यक नहीं है कि नाम उचित रीति से उच्चारित हो । जैसा कि पहले कहा था कि नाम जप करने के लिए कोई नियम नहीं है । यदि कोई वैदिक मन्त्र का जप करता है, तो उसे उचित विधि से, सही उच्चारण और स्वर शैली के साथ करना चाहिए, किन्तु नाम के विषय में ऐसा नहीं है । केवल यही निर्देश है कि किसी को ऐसा कुछ नहीं करना चाहिए जो भगवान को अप्रसन्न करे । अर्थात् नाम को तुच्छ या व्यर्थ वस्तु सा नहीं समझना चाहिए । नाम के प्रति सम्मान प्रदान करना चाहिए क्योंकि वह भगवान से अभिन्न है । भगवान को जैसा सम्मान देते हैं वैसा सम्मान नाम के प्रति दिखाना चाहिए । यदि कोई नाम के प्रति मानसिक रूप से अनादर रखता है और सोचता है कि वह शक्तिशाली नहीं है, वह लौकिक है, तब स्वाभाविक है कि नाम अपनी शक्ति प्रकट नहीं करता है । यदि कोई ऐसी मानसिकता से जप करता है तो वह विपरीत परिणाम को प्राप्त करता है । उसकी अधिक से अधिक रुचि सांसारिक सुख भोगोंमें हो जाएगी और आध्यात्मिकता में उसकी रुचि समाप्त हो जाएगी ।

जप करने में कोई बन्धन नहीं है । यहाँ तक कि एकाग्रतापूर्वक जप करना अथवा अर्थ का स्मरण रखना अनिवार्य नियम नहीं है । मुख्य सिद्धान्त यह है कि जप बड़े सम्मान

के साथ करना चाहिए । नाम लौकिक है, महत्वपूर्ण नहीं है अथवा शक्तिशाली नहीं है इस सोच का त्याग करना चाहिए । यदि कोई ध्यान केन्द्रित करने में असफल होता है तो भी कोई समस्या नहीं है क्योंकि जिह्वा उसका जप (स्मरण) कर रही है ।

तुण्डेताण्डविनी रतिं वितनुते तुण्डावली-लब्धये
कर्ण-क्रोड-कदम्बिनी घटयते कर्णार्-बुदेभ्यः स्पृहाम् ।
चेतः-प्रांगण संगिनी विजयते सर्वेन्द्रियाणां कृतिं
नो जाने जनिता कियद्भिरमृतैः कृष्णेति वर्णद्वयी ।।

"जिन्होंने नाम का अनुभव किया है वे कहते हैं कि यह सब से मधुर वस्तु है, अर्थात् अत्यधिक आकर्षण करनेवाली वस्तु है । जब मैं जप करता हूँ तो मुझे कोटि जिह्वा की इच्छा होती है और जब मैं श्रवण करता हूँ तो कोटि कोटि कान की इच्छा करता हूँ । जप करने से जो प्रसन्नता प्राप्त होती है, उसकी तुलना किसी अन्य वस्तु से नहीं की जा सकती । मैं यह नहीं जानता कि 'कृष्' और 'ण' इन दो वर्ण में कितनी मधुरता है ।" (रूपगोस्वामी - विदग्ध माधव १.१५)

नाम की महिमा का यह उत्तम भक्तों का अनुभव है । अतः साधक को इसमें विश्वास रखना चाहिए । नामजप अश्रद्धा से न करें । जहाँ श्रद्धा नहीं होती है, वहाँ नापसन्दगी, अनादर एवं जप के लिए घृणा होती है । यदि उसे श्रद्धा है, तो वह अन्ततोगत्वा परिणाम अवश्य पाएगा । ******

प्रश्नः अजामिल को दीक्षा ग्रहण किए बिना कैसे वैकुण्ठ प्राप्ति हुई ? यह भागवत में उल्लिखित नहीं है कि अजामिल ने हरिद्वार में दीक्षा ली थी ।
उत्तरः यह प्रसङ्ग दिखाता है कि यदि व्यक्ति अपराधों से मुक्त है, तो वह नामाभास से ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है । परन्तु ऐसा बहुधा देखने को नहीं मिलता है । यह कथा यहाँ नामाभास की शक्ति का वर्णन करती है । ******

प्रश्नः सिद्धान्तोंके रूप से क्या ऐसा गुरु के बिना भी सम्भव हो सकता है ?
उत्तरः सिद्धान्त में यह सम्भव है । प्रभु के नाम में एक शक्ति होती है । वैसे अजामिल ने भी विष्णु दूतों का सङ्ग प्राप्त किया था और उनके वार्तालाप का श्रवण किया था । इससे पवित्र नाम की महिमा समझने में और भक्ति निष्पादन के लिए वह प्रेरित हुआ था । उसने हरिद्वार जाने के लिए अपना गृह त्याग किया । अजामिल नामापराधी नहीं था । वह एक पापी था । इसलिए यह सम्भव हो सकता है । ......

प्रश्नः एक बार आपने कहा था कि अपने पुत्र प्रेम के कारण अजामिल प्रेमपूर्वक "नारायण" नाम का जप कर रहा था, जिससे उसे एक विशेष पद प्राप्त हुआ । यह विशेष पद कौन सा था ?
उत्तरः अजामिल ने नारायण के साथ सामीप्य प्राप्त किया था । ******

प्रश्नः साधक को अनुकूल समय में जप करना चाहिए अथवा किसी भी समय पर जप कर सकता है ?
उत्तरः अगर सम्भव हो तो ऐसे समय पर जप करना चाहिए जो अधिक सात्त्विक हो क्योंकि तब मन अधिक स्थिर होता है । ******

प्रश्नः यदि मन उद्विग्न हो फिर भी क्या हम जप कर सकते हैं ?
उत्तरः यदि मन बहुत परेशान हो तो उसके शान्त होने तक का इन्तज़ार करें । उद्विग्न मन से जप नहीं करना चाहिए । ******

प्रश्नः इन कारणों से यदि कोई जप नहीं करता है तो क्या वह अपराध नहीं है ?
उत्तरः आप अपनी दिनचर्या ऐसी बनाएँ कि आप अपने अनुकूल समय पर जप कर सकें । इस तरह जब आप का मन अधिक शांत और स्थिर हो, परन्तु जप करना न टालें क्योंकि ऐसा करना मनमुखी होगा । ******

प्रश्नः कभी कभी हम ठीक से जप करने में असमर्थ होते हैं । क्या आप हमें कुछ सलाह दे सकते हैं कि ठीक से हम कैसे जप कर सकें ?

उत्तरः आगे भी मैं ने कई बार कहा है कि आप एकाग्र मन से जप करने का प्रयत्न करें। सही एकाग्रता से जप करें । आपका मन इधर-उधर नहीं भटकना चाहिए । यदि मन जप नहीं कर रहा है तो केवल जपमाला घुमाना ठीक नहीं है । फिर भी ऐसा होगा कि मन इधर-उधर भटकेगा, तो स्वयं को दोषी न मानकर सचाई से जप करते रहें ।

******

प्रश्नः जप करने के दौरान यदि किसी को ध्यान केन्द्रित करने में कठिनाई हो रही हो तो क्या करना चाहिए ?
उत्तरः ध्यान केन्द्रित करने का प्रयत्न करो । यदि ऐसा होता है तो आप को अपना ध्यान नाम की ध्वनि पर केन्द्रित करना चाहिए । अगर ध्यान केन्द्रित करने में सफल नहीं हो

पा रहे हैं तो प्रयत्न करते रहें, उसे न छोड़ें और चिन्तित भी न हों । उत्तम प्रयास करते रहें ।

******

प्रश्नः हम कैसे समझ सकते हैं कि हमें कितनी माला जप करनी चाहिए ? यह जानना कठिन होता है कि या तो हम उत्साह से जप करते हैं या फिर आलसी हैं और जप नहीं कर सकते ?

उत्तरः यदि आप उत्साहित हैं या जप करना पसन्द करते हैं, तो अधिक जप करें । यदि आप का मन अशान्त है या इधर-उधर भाग रहा है तो अधिक जप न करें ।

******

प्रश्नः ओह, ऐसा सम्भव है ?

उत्तरः हाँ । यदि मन बहुत अशान्त है तब आप को जप नहीं करना चाहिए ।

******

प्रश्नः झारखंड वन में जानवरों के साथ श्री चैतन्य महाप्रभु का नामसंकीर्तन को हम कैसे समझें ? क्या उसे हम रूपक की तरह समझें या फिर ऐसा वास्तविक रूप में घटित हुआ था ?

उत्तरः जब भगवान आते हैं और अपनी लीलाएँ प्रदर्शित करते हैं, तो वे वास्तव में सांसारिक व्यक्तियों या प्राणियों के साथ लीलाओं का अभिनय नहीं करते हैं । भगवान अपने ही परिकर के साथ आते हैं, जो अपने निज धाम में स्थित हैं । वे इस लोक के व्यक्तियों को शक्ति के विषय में शिक्षा देने के लिए कार्य करते हैं ताकि लोगों की रुचि (भगवान प्रति) हो जाय । अतः वे रहस्यमय ढङ्ग से कार्य करते हैं ।

वे जानवर भी उनके सङ्गी साथी थे । उन्होंने अपनी लीलाएँ उनके साथ की ताकि लोग समझ सके कि वे भगवान हैं और जानवरों से भी नृत्य और गान करा सकते हैं। इस प्रकार से लोग उनके मार्ग का अनुसरण करते हैं ।

भगवान जो कहते हैं, उन विचारों का अनुसरण करना है । जब तक मनुष्य शरणापन्न नहीं होता है, किसी अन्य का अनुसरण करना उसके लिए इतना सहज नहीं हैं । अतः भगवान को अपनी चमत्कारी शक्ति का प्रदर्शन करना पड़ता है, ताकि सन्देहास्पद व्यक्ति उन्हें महापुरुष मानकर उनके आदेशों का पालन करें ।

******

प्रश्नः तो क्या किसी भी व्यक्ति के लिए ऐसा करना सम्भव है ?

उत्तरः यदि भगवान उसे शक्ति दे तो ।

******

प्रश्नः पेड़ों या जानवरों को कृपा देने के लिए क्या कोई नाम जप कर सकता है ?

प्रश्न: एक बार आपने कहा था कि अपने पुत्र प्रेम के कारण अजामिल प्रेमपूर्वक "नारायण" नाम का जप कर रहा था, जिससे उसे एक विशेष पद प्राप्त हुआ। यह विशेष पद कौन सा था ?

उत्तर: अजामिल ने नारायण के साथ सामीप्य प्राप्त किया था। ******

प्रश्न: साधक को अनुकूल समय में जप करना चाहिए अथवा किसी भी समय पर जप कर सकता है ?

उत्तर: अगर सम्भव हो तो ऐसे समय पर जप करना चाहिए जो अधिक सात्विक हो क्योंकि तब मन अधिक स्थिर होता है। ******

प्रश्न: यदि मन उद्विग्न हो फिर भी क्या हम जप कर सकते हैं ?

उत्तर: यदि मन बहुत परेशान हो तो उसके शान्त होने तक का इन्तज़ार करें। उद्विग्न मन से जप नहीं करना चाहिए। ******

प्रश्न: इन कारणों से यदि कोई जप नहीं करता है तो क्या वह अपराध नहीं है ?

उत्तर: आप अपनी दिनचर्या ऐसी बनाएँ कि आप अपने अनुकूल समय पर जप कर सकें। इस तरह जब आप का मन अधिक शांत और स्थिर हो, परन्तु जप करना न टालें क्योंकि ऐसा करना मनमुखी होगा। ******

प्रश्न: कभी कभी हम ठीक से जप करने में असमर्थ होते हैं। क्या आप हमें कुछ सलाह दे सकते हैं कि ठीक से हम कैसे जप कर सकें ?

उत्तर: आगे भी मैं ने कई बार कहा है कि आप एकाग्र मन से जप करने का प्रयत्न करें। सही एकाग्रता से जप करें। आपका मन इधर-उधर नहीं भटकना चाहिए। यदि मन जप नहीं कर रहा है तो केवल जपमाला घुमाना ठीक नहीं है। फिर भी ऐसा होगा कि मन इधर-उधर भटकेगा, तो स्वयं को दोषी न मानकर सच्चाई से जप करते रहें।

******

प्रश्न: जप करने के दौरान यदि किसी को ध्यान केन्द्रित करने में कठिनाई हो रही हो तो क्या करना चाहिए ?

उत्तर: ध्यान केन्द्रित करने का प्रयत्न करो। यदि ऐसा होता है तो आप को अपना ध्यान नाम की ध्वनि पर केन्द्रित करना चाहिए। अगर ध्यान केन्द्रित करने में सफल नहीं हो

पा रहे हैं तो प्रयत्न करते रहें, उसे न छोड़ें और चिन्तित भी न हों। उत्तम प्रयास करते रहें।

******

प्रश्न: हम कैसे समझ सकते हैं कि हमें कितनी माला जप करनी चाहिए ? यह जानना कठिन होता है कि या तो हम उत्साह से जप करते हैं या फिर आलसी हैं और जप नहीं कर सकते ?
उत्तर: यदि आप उत्साहित हैं या जप करना पसन्द करते हैं, तो अधिक जप करें। यदि आप का मन अशान्त है या इधर-उधर भाग रहा है तो अधिक जप न करें।

******

प्रश्न: ओह, ऐसा सम्भव है ?
उत्तर: हाँ। यदि मन बहुत अशान्त है तब आप को जप नहीं करना चाहिए।

******

प्रश्न: झारखंड वन में जानवरों के साथ श्री चैतन्य महाप्रभु का नामसंकीर्तन को हम कैसे समझें ? क्या उसे हम रूपक की तरह समझें या फिर ऐसा वास्तविक रूप में घटित हुआ था ?
उत्तर: जब भगवान आते हैं और अपनी लीलाएँ प्रदर्शित करते हैं, तो वे वास्तव में सांसारिक व्यक्तियों या प्राणियों के साथ लीलाओं का अभिनय नहीं करते हैं। भगवान अपने ही परिकर के साथ आते हैं, जो अपने निज धाम में स्थित हैं। वे इस लोक के व्यक्तियों को शक्ति के विषय में शिक्षा देने के लिए कार्य करते हैं ताकि लोगों की रुचि (भगवान प्रति) हो जाय। अतः वे रहस्यमय ढङ्ग से कार्य करते हैं।
वे जानवर भी उनके सङ्गी साथी थे। उन्होंने अपनी लीलाएँ उनके साथ की ताकि लोग समझ सके कि वे भगवान हैं और जानवरों से भी नृत्य और गान करा सकते हैं। इस प्रकार से लोग उनके मार्ग का अनुसरण करते हैं।

भगवान जो कहते हैं, उन विचारों का अनुसरण करना है। जब तक मनुष्य शरणापन्न नहीं होता है, किसी अन्य का अनुसरण करना उसके लिए इतना सहज नहीं हैं। अतः भगवान को अपनी चमत्कारी शक्ति का प्रदर्शन करना पड़ता है, ताकि सन्देहास्पद व्यक्ति उन्हें महापुरुष मानकर उनके आदेशों का पालन करें।

******

प्रश्न: तो क्या किसी भी व्यक्ति के लिए ऐसा करना सम्भव है ?
उत्तर: यदि भगवान उसे शक्ति दे तो।

******

प्रश्न: पेड़ों या जानवरों को कृपा देने के लिए क्या कोई नाम जप कर सकता है ?

उत्तर: नाम और भगवान अभिन्न हैं । यदि कोई नाम अपराध करता है तो उसका पतन हो जाएगा क्योंकि नाम ही उनका श्रेष्ठ मित्र है । अविश्वासी या अरुचिकारी व्यक्ति को प्रभुनाम सुनाना अन्य अपराधों में से एक है । यह भगवान को अधिक प्रसन्न नहीं करता है । ऐसा करना आदरणीय भी नहीं है और किसी को भगवन् नाम का इस प्रकार दुरुपयोग नहीं करना चाहिए । उदाहरण के लिए लोग कीर्तन को लाउड-स्पीकर से प्रसारित करते हैं, ताकि दूसरे लोग इसे सुन सकें । किन्तु कुछ ऐसे भी लोग होंगे जिन्हें कीर्तन सुनना पसन्द न हो, तो यह उन व्यक्तियों के पक्ष में पवित्र नाम का अपराध करना होता है जो ऐसे कीर्तन कर रहे हैं ।

ऐसे कितने लोग हैं जिन्होंने नाम कीर्तन सुना तो उनका जीवन परिवर्तित हुआ ? चारों ओर बहुत सारे कीर्तन चल रहे हैं, कितने ही लाउड स्पीकर बज रहे हैं, इस से कितने लोगों का जीवन परिवर्तित हुआ ? ******

प्रश्न: अतः क्या साधक को अधिक चिन्तित होना चाहिए कि वह अपराध रहित जप करता है या नहि ?
उत्तर: हाँ, आप को अपने लिए जप करना चाहिए । ******

प्रश्न: यदि कोई जप करता है तो क्या उससे वृक्षादि लाभान्वित होते हैं ?
उत्तर: उससे आप का कोई सम्बन्ध नहीं है । आप अपने लाभ के बारे में सोचें और वृक्षों के विषय में चिन्ता न करें । पवित्र नाम की शक्ति को समझने के लिए महाप्रभु का प्राणियों के साथ नाम जप करने का दृष्टान्त है । उसका अनुकरण करने की आवश्यकता नहीं है । यह उन लोगों के लिए कोई विधान नहीं है जो स्वयं बड़ी मुश्किल से ध्यान लगाकर जप कर सकते हैं और जप करने के लिए आसक्ति भी नहीं रखते । जब आप ने स्वयं उसका अनुभव नहीं किया है तो आप कैसे दूसरों को लाभ दे सकते हैं ? ******

प्रश्न: क्या मुझे अपनी जप माला में निश्चित संख्या में जप करना चाहिए, क्योंकि मुझे पहले ऐसा कहा गया था ।
उत्तर: कोई भी मन्त्र कम से कम १० बार करना चाहिए । यह कम से कम है और अधिक से अधिक जितना आप चाहें, कर सकते हैं । किन्तु वह मन की एकाग्रता से करना होगा । यह नहीं कि कोई जप कर रहा हो और मन कहीं ओर हो । शान्त और एकाग्र मन से जप करना चाहिए । मन्त्र की ध्वनि और शब्द पर ध्यान केन्द्रित होना चाहिए ।

यदि कोई १६ माला, १७ माला अथवा एक लाख मन्त्र जप के लक्ष्य का दृढ़ निश्चय करता है तब वह स्वतः ही उसे जल्दी करना प्रारम्भ करेगा और रेलगाड़ी की भाँति दौड़ेगा । वह उसे त्वरित समाप्त करने का प्रयास करेगा, जो पूर्णरूप से अर्थहीन है । प्रत्येक मन्त्र का जप समुचित एकाग्रता से कम से कम दस बार करना चाहिए ।

******

प्रश्नः अर्थात् दस बार माला घुमानी है ?
उत्तरः नहीं, दस मन्त्र का जप करना है । हँसिए मत, विधि के अनुसार आप ठीक से एक मन्त्र का भी जप नहीं कर सकते हैं । मैं देखना चाहता हूँ कि कम से कम आप एक बार तो सही ढंग से जप कर सकें ! एक बार मुझे करके तो दिखाओ कि आप कैसे जप करते हैं, क्योंकि आप सोच रहे हैं कि दस तो बहुत कम है और सन्तुष्टि भी नहीं होती है । दिखाओ मुझे कि एक बार भी आप उचित ढंग से जप कर सकते हो।

******

प्रश्नः अर्थात् जब हमें लगे कि हम असावधान हो रहे हैं तब हमें जप करना बन्द कर देना चाहिए ?
उत्तरः हाँ, आप को उचित ढंग से जप करना आवश्यक है फिर असावधानीपूर्वक जप क्यों करें ? जप इस प्रकार न करें जैसे यह एक भार है जिसे आप को हल्का करना है ।

******

प्रश्नः मेरे लिए कीर्तन करने की तुलना में माला जप करना अधिक कठिन लगता है । क्या जप करना आवश्यक है या फिर मैं केवल कीर्तन कर सकता हूँ ?
उत्तरः मैं ने पहले भी कहा है कि कम से कम दस बार तो जप करना चाहिए ।

******

प्रश्नः और क्या मैं कीर्तन नहीं कर सकता ?
उत्तरः कम से कम दस बार तो आप को अपनी माला पर जप करना ही है ।

******

प्रश्नः कुछ वैष्णव की जप माला में आठ दाने के बाद एक धागा होता है । उनका कहना है कि उसे रखना पूर्ण रूप से आवश्यक है । क्या यह शास्त्र में घोषित है ?
उत्तरः यह एक निराधार कल्पना है । जप-माला के विषय में लोग बहुत सी व्याख्याएँ देते हैं । जप माला केवल जपनाम की गिनती के लिए है और कुछ नहीं है ।

******

प्रश्नः सनातन गोस्वामीजी तीन प्रकार के जप का वर्णन करते हैं – वाचिक, मानसिक और उपांशु । क्या वे एक दूसरे से बढ़कर हैं ?

उत्तरः मन के साथ जप करना अन्य दो से उत्तम है क्योंकि प्रत्येक वस्तु आप के मन पर निर्भर करती है । यदि जप वाचिक है यानि जीभ से करते हैं तो आप का मन कहीं और हो सकता । यदि आप मानसिक जप कर रहे हैं तो आप के मन की अन्यत्र जाने की सम्भावना नहीं है । ******

प्रश्नः पुसँश्चरण का क्या अर्थ है ?

उत्तरः यह एक उद्देश्य प्राप्ति के लिए मन्त्र जप करने की एक प्रक्रिया है । ******

५८. नित्य परिकर

प्रश्नः कृष्णलीला में नित्यानन्द कौन है ?

उत्तरः नित्यानन्द बलराम है । ******

प्रश्नः लोग वृन्दावन में श्रीमती राधारानी को माता के नाम से बुलाते हैं । क्या हम भी उन्हें माता के नाम से सम्बोधित कर सकते हैं ?

उत्तरः वैसे तो वह ब्रह्मांड की माता है, परन्तु भक्त अपने-अपने भाव से उन्हें पुकारते हैं । हमारे सम्प्रदाय में उन्हें माता सम्बोधन से नहीं पुकारते हैं क्योंकि वह परकीय रस में कृष्ण के साथ है अर्थात् वह विवाहिता नहीं है और किसी बालक की माँ भी नहीं है। ******

प्रश्नः वृन्दावन आने से पहले रूप और सनातन गोस्वामी विवाहित थे और उनके बच्चे भी थे । उन्होंने अपने परिवार को क्यों त्याग दिया ?

उत्तरः रूप और सनातन सपरिवार रहते थे । बाद में उन्होंने स्वगृह और परिवार का त्याग किया । तदनन्तर उनके परिवार के सदस्य उन से मिलने आए और व्रज में उनकी सहायता भी की । राजेन्द्र सनातन गोस्वामी के पुत्र थे । नहर की ओर राधाकुण्ड में उनकी समाधि है । उनके परिवार के सदस्य गोस्वामियों से और उनके कार्य से बड़े प्रभावित हुए थे । ******

प्रश्नः क्या वे मुसलमान थे ?

उत्तरः नहीं । वे दोनों ब्राह्मण थे । वे मुसलमान राजा हुसैनशाह के मन्त्री थे ।
******

प्रश्न: क्या यह सच है कि रूप गोस्वामी ने महाप्रभु से मिलने से पहले हंसदूत काव्य लिखा था ?

उत्तर: हाँ ।

******

प्रश्न: यह कैसे सम्भव है, क्योंकि विरह भाव का वर्णन उन्होंने बड़े विस्तार से किया है।

उत्तर: वह भगवान के परिकर थे अतः वह आरम्भ से ही जानते थे । यहाँ तक कि श्री चैतन्य को मिलने से पहले ही रूप और सनातन गोस्वामी श्रीमद् भागवत का अध्ययन कर रहे थे और उनके नियमों का पालन करते थे । वे भागवत को समर्पित थे अतः श्री चैतन्य ने उन्हें भागवत सन्देश के प्रचार के लिए चुना था । ऐसा न होता तो श्रीमहाप्रभु ऐसे व्यक्ति को ऐसे कार्य के लिए क्यों चुनते जो भागवत को समर्पित नहीं है ?

******

प्रश्न: क्या अर्जुन ने कृष्ण से दीक्षा या शिक्षा ली थी ?

उत्तर: अर्जुन ने कृष्ण से दीक्षा ग्रहण नहीं की थी । वास्तव में उन्होंने शिक्षा भी नहीं ली थी । अर्जुन एक सामान्य मनुष्य का अभिनय कर रहा था । यदि व्यक्ति किसी सङ्कट में है तो वह अन्य का सम्पर्क करता है और कहता है, "कृपया मेरी सहायता कीजिए । मुझे कुछ अच्छे सुझाव दीजिए ।" परन्तु सामान्यरूप से कोई सुझाव स्वीकारता नहीं है । कृष्ण ने जो कहा, अर्जुन ने वैसा नहीं किया अतः अर्जुन कृष्ण के शिष्य थे ऐसा कहना सच नहीं होगा । ******

प्रश्न: क्या अर्जुन ने कृष्ण की शिक्षा नहीं मानी ?

उत्तर: नहीं । वह अठारह अध्याय तक कृष्ण से बहस करते रहे । ******

प्रश्न: अन्त में उनकी बात मानी क्योंकि वे कुरुक्षेत्र का युद्ध लड़े ।

उत्तर: अवश्य, बाद में कृष्ण का कहा माना क्योंकि उसके पास और कोई विकल्प ही नहीं था । मनुष्य की मानसिकता यहाँ दिखाई गयी है । यदि सही अर्थ में अर्जुन कृष्ण को समर्पित थे तो कृष्ण के कहने पर उसे युद्ध करना चाहिए था, पर उसने ऐसा नहीं किया और कृष्ण से बहस ही करते रहे ।

इसका अर्थ है कि अर्जुन की सोच थी, "आप निर्देश दें । यदि मुझे पसन्द आए तो मानूँगा और यदि पसन्द नहीं आए तो नहीं मानूँगा।" निर्देश लेने का यह कोई तरीका नहीं है । इसी कारण कृष्ण को कहना पड़ा, "तुम मेरे विश्वासी मित्र हो । अब मैं तुम्हें एक सब से अधिक गुप्त राज़ बताने जा रहा हूँ ।" और राज़ बताने के बाद अन्त में

कहा, "तुम्हें जो अच्छा लगे वह करो ।" जगत में लोग अर्जुन की तरह ही व्यवहार करते हैं । वे जो कहते हैं वैसा करते नही हैं ।

जब अर्जुन ने युद्धभूमि में अपने परिवार के सदस्यों को देखा तो भ्रमित हो गया और इसी **भ्रान्ति** में कृष्ण से सहायता माँगी । जब अर्जुन विमूढ़ था तो उसने कहा, "कृपया मुझे निर्देश दें ।" जब आप किसी सङ्कट में होते हो तो किसी के पास जाते हो ताकि समझ सको कि क्या करना है । दीक्षा या शिक्षा की कोई आवश्यकता ही नहीं है ।

******

प्रश्न: कृष्ण ने उद्धव को निर्देश किया था कि ज्ञान का प्रवाह बहता रहे । यह अनुदेश क्या कृष्ण से दीक्षित शिष्य उद्धव और अर्जुन के लिए था या फिर सभी के लिए था?
उत्तर: उद्धव कृष्ण के नित्य परिकर है । कृष्ण ने किसी को भी दीक्षा नहीं दी थी । दीक्षा आचार्य देते हैं जो ब्राह्मण होते हैं, परन्तु कृष्ण क्षत्रिय थे । ******

प्रश्न: मैं ने सुना है कि कृष्ण के मात्र दो ही शिष्य थे, उद्धव और अर्जुन ।
उत्तर: "शिष्य" अर्थात् कृष्ण ने निर्देश दिए, ऐसा नहीं कि वे दीक्षा दे रहे थे । कृष्ण ने गुरुकुल या ऐसा कुछ आरम्भ नहीं किया था । ******

प्रश्न: अपने पूर्व जन्म में नारद मुनि चार साधुओं से मिले थे जो असल में चार कुमार थे और दूसरे जन्म में नारद मुनि चार कुमारों के भाई थे । क्या वे पहले जीवित थे अथवा क्या वे ही व्यक्ति थे ?
उत्तर: ये दोनों प्रसङ्ग अलग कल्प (समय) के हैं; वे इसी (एक) कल्प से नहीं है । एक कल्प में वे भाई हो सकते हैं, पर दूसरे कल्प में प्रायः न भी हो । ******

प्रश्न: नारद मुनि यहाँ अपने अलौकिक देह में उपदेश दे रहे हैं । क्या कुमार भी यहाँ अपने अलौकिक देह में है ?
उत्तर: हाँ, उनका भी अलौकिक देह है । यहाँ उद्देश्य यह नहीं है कि उनके देह किस प्रकार के हैं । यहाँ मुख्य विचार यह बताना है कि भक्ति कैसे प्रादुर्भूत होती है, कोई भक्त कैसे बन सकता है और तदर्थ क्या योग्यता होनी चाहिए । ******

प्रश्न: चैतन्य लीला में जो जगाई और मधाई थे, वे असल में जय और विजय थे ?
उत्तर: हाँ । ******

प्रश्न: तीन जन्मों तक असुर बनकर जीने का उन्हें श्राप था और उन्हें मुक्ति मिली जब कृष्ण ने उनका वध किया । तो क्या यह जगाई और मधाई उनका चौथा जन्म था ? इस बात को कैसे समझ पाएँ ?

उत्तर: वे कृष्णलीला में आये थे अतः मुक्ति का आपका क्या अर्थ है ? वे कृष्ण के नित्य परिकर हैं । वे आते हैं और खेलते हैं । जब कृष्ण आते हैं तो अपने परिकर के साथ आते हैं । वे सभी कृष्ण के अपने हैं, चाहे कोई जगाई बने या नित्यानन्द बने, वे सभी उनके परिकर हैं । वे सभी लीला का एक भाग हैं । तीन जन्मों के बाद वे कृष्ण के साथ पुनः आए तो समस्या क्या है ?

******

प्रश्न: जगाई और मधाई के विषय में मैं ने सुना है कि एक को नित्यानन्द से प्रेम मिला और दूसरे को चैतन्य से मिला । क्या यह सच है ?

उत्तर: नहीं, यह सच नहीं है ।

******

प्रश्न: महाराज युधिष्ठिर ने स्वयं को दोषी समझा और कुरुक्षेत्र युद्ध में सञ्चित पापों को नष्ट करने के लिए यज्ञ करना चाहते थे परन्तु वे तो एक भक्त थे और उन्होंने भगवदिच्छापूर्ति की थी, तो यज्ञ करने की क्या आवश्यकता थी ?

उत्तर: वर्णाश्रम धर्म में व्यक्ति का जीवन स्मृति ग्रन्थ (धार्मिक नियमों की पुस्तक) के आधार पर जिया जाता था और यदि कोई पापकर्म किया हो तो उसका प्रायश्चित स्मृति ग्रन्थानुसार करना पड़ता है । युधिष्ठिर स्मृतिग्रन्थ का पालन कर रहे थे ।

******

प्रश्न: पर वे तो अपना कर्तव्य निभा रहे थे ।

उत्तर: एक राजा की भाँति वह स्मृतिग्रन्थ का पालन कर रहे थे । जैसी आप की धारणा है वह वैसे भक्त नहीं थे कि सब कुछ त्याग दिया हो आदि । यदि वह प्रायश्चित न करते तो सभी लोग उसका दृष्टान्त अपनाते । जो अभक्त हैं वे भी सोचते, "दूसरों का वध करना उचित है क्योंकि राजा ने भी ऐसा ही किया है और कोई प्रायश्चित करना आवश्यक नहीं है ।" तो सामान्यजन के लिए एक आदर्श प्रस्थापित करने के लिए, युधिष्ठिर ने स्मृतिग्रन्थ का पालन किया, जब कि उन्हें ऐसा (प्रायश्चित) करने की कोई आवश्यकता नहीं थी ।

******

प्रश्न: विपत्तियाँ एक भक्त को कैसे लाभदायक होती हैं ? जैसे कुन्ती ने विपत्तियों के लिए प्रार्थना की थी । मेरी समझ के अनुसार मात्र अज्ञान ही बाधा है ।

उत्तर: वह बाधा के लिए नहीं परन्तु विपत्तिओं के लिए प्रार्थना कर रही थी । वह अज्ञानता के लिए प्रार्थना नहीं कर रही थी । कोई भी भक्त अज्ञानता के लिए प्रार्थना

नहीं करेगा । आप अज्ञानतावश अज्ञानता और बाधा को समान मान रहे हो । अज्ञानता यानि कि सर्वनाश । अज्ञानता आप को कहीं भी नहीं ले जाती । मैं ने ऐसी कोई प्रार्थना नहीं देखी जिसने कहा हो, "कृपया मुझे अज्ञानता में डालो ।" आप विपदा का अर्थान्तर कर रहे हो । बाधा अर्थात् मानो कोई कष्ट । कोई नहीं कहता, "मुझे पागल बना दो" या मेरी बुद्धि ले लो ।" कोई ऐसा नहीं सोचेगा । बाधा अर्थात् कुछ शारीरिक समस्या जिसका आप को सामना करना है, जैसे कि धनहानि होना । ******

प्रश्न: विपदा (कष्ट) के लिए प्रार्थना करना उसका क्या अर्थ हुआ ?

उत्तर: रानी कुन्ती कृष्ण की नित्य परिकर है, परन्तु वह सामान्यजन को शिक्षा देने के लिए कह रही है । लोगों का यह स्वभाव होता है कि जब वे कष्ट में होते हैं और कोई सहायता नहीं मिलती तब भगवान का स्मरण करते हैं । यदि उनके पास समृद्धि होती है तो वे भगवान को भूल जाते हैं । उनके लिए रानी कुन्ती कहती है, "जब विपदा में होते हैं, उस समय हमेशा हमें आप का सत्सङ्ग मिलता है ।" वह यह दिखाने की चेष्टा कर रही है कि भगवत्स्मरण होना आवश्यक है क्योंकि वह उसे तभी मिलता है जब वह विपदा में होती है । अतः अनेक या प्रचुर विपदाएँ मुझे मिले । वास्तव में कहें तो वह कृष्णसङ्ग पाने के लिए प्रार्थना कर रही है ।

******

प्रश्न: कुछ गोपियों के पति ने उन्हें रासलीला के लिए क्यों नहीं जाने दिया, अतः उन्हें अपने देह त्यागने पड़े ?

उत्तर: कुछ गोपियों की अन्य इच्छाएँ थी । वे कृष्णसङ्ग के लिए पूर्णतया योग्य नहीं थी। उन्हें रोकने के कारण कृष्ण को मिलने की उनकी इच्छा तीव्र हो गई और इस तरह वे पूर्णतया पवित्र हो गईं ।

यह अन्याभिलाषा को समझाने की या विश्लेषण करने की पूरी प्रक्रिया है । जब से गोपियों को रोका गया, कृष्ण को मिलने की उनकी इच्छाएँ तीव्र हो गयी । इस तरह उन्होंने अपनी अन्य इच्छाओं को त्याग दिया । उनकी मृत्यु नहीं हुई पर अपने अन्य भाव को नष्ट किया । इस तरह वे योग्य बनीं । मूल रूप से यह अन्याभिलाषिता शून्यं या अन्य सभी उद्देश्यों से मुक्ति का विश्लेषण है ।

******

प्रश्न: वसुदेव और देवकी ने कई जन्मों तक प्रार्थना की कि विष्णु उनके पुत्र बने । यह कैसी भक्ति है, क्योंकि उत्तमा भक्ति में भक्त किसी भी वस्तु के लिए प्रार्थना नहीं करता।

उत्तर: वसुदेव और देवकी नित्य परिकर हैं । उन्हें कोई आवश्यकता नहीं है कई जन्म लेने की और उनके पुत्र बनने के लिए कृष्ण को प्रार्थना करने की । वे कृष्ण के मातापिता सदा के लिए हैं ।

जो इस प्रकार की प्रार्थना करते हैं, वे अन्य हैं। जिन्होंने कृष्ण को अपने पुत्र के रूप में पाने के लिए तपस्या की, वे वास्तव में उनके माता पिता नहीं थे। वे अन्य लोग थे। यह दिखाता है कि लोगों की प्रायः यह इच्छा हो कि भगवान उनके पुत्र हों। कृष्ण के मातापिता ही उनके नित्य मातापिता हैं। ऐसा नहीं है कि साधना करने से कोई उनके माता- पिता बन जाय। वसुदेव और देवकी नित्यसिद्ध परिकर हैं। ******

प्रश्न: क्या ये दोनों दो व्यक्तित्व एक व्यक्ति में है ? वे (वसुदेव-देवकी) नित्य परिकर हैं और जब वे कृष्ण के साथ अवतरित होते हैं तब अन्य बद्ध जीव उस समय उनके साथ जुड़ते हैं ?

उत्तर: हाँ, वसुदेव और देवकी नित्य परिकर हैं और कुछ अन्य जीव जिन्होंने कृष्ण को अपने पुत्र के रूप में पाने के लिए तपश्चर्या की, उन्होंने वसुदेव और देवकी में प्रवेश किया। इस प्रकार कृष्ण ने उनके पुत्र बनने का अपना वचन निभाया।

******

प्रश्न: भक्ति सन्दर्भ में बताया है कि भागवत में दो प्रह्लाद हैं। एक वह जो पृथु महाराज जब पृथ्वीदोहन करते थे उस समय जो वत्स बने थे और दूसरे नृसिंह अवतार की लीला में थे। इनमें से कौनसे नित्य (परिकर) प्रह्लाद है जो हमेशा नृसिंह देव के साथ रहते हैं ?

उत्तर: पृथ्वी-दोहनके समय वत्स बने वह नित्य परिकर प्रह्लाद है। ******

प्रश्न: अतः अन्य समय के प्रह्लाद क्या नित्य परिकर नहीं है ?

उत्तर: कभी-कभी नित्य है और अन्य समय वह संसारी जीव है। परन्तु वर्णन ऐसा किया है मानो दोनों एक ही प्रह्लाद है, अतः लोग द्विविधा में न रहे। ******

५९. पञ्च तत्त्व

प्रश्न: पञ्च-तत्त्व में दर्शाये पाञ्च व्यक्ति क्या प्रतिनिधित्व करते हैं ?

उत्तर: श्री चैतन्य महाप्रभु स्वयं कृष्ण हैं। नित्यानन्द प्रभु सङ्कर्षण और अद्वैत आचार्य महाविष्णु हैं। संसार में दोनों कृष्ण के अवतार हैं। जो उनकी पूजा करता है और प्रार्थना करता है तो उसका अस्तित्व शुद्ध पवित्र बनता है। लौकिक अस्तित्व अर्थात् लौकिक पहचान।

श्रीवास ठाकुर भगवान के भक्त हैं और उनकी सेवा करने से साधक (उच्च) भक्तगण की कृपा पाता है । गदाधर पण्डित गोस्वामी भगवान की (अन्तरङ्ग) शक्ति है और उनकी सेवा करने से साधक पहले भगवान की शक्ति पाता है और बाद में महाप्रभु, जो स्वयं भगवान है उनको पाता है ।

व्रज भक्ति के लिए साधक का शुद्ध होना अनिवार्य है । जब अस्तित्व नित्यानन्द और अद्वैत से शुद्ध हो जाता है तो श्रीवास की कृपा से साधक भक्ति को ग्रहण कर सकता है एवं समझ सकता है और अन्त में गदाधर पण्डित गोस्वामी की कृपा से उसे कार्यान्वित कर सकता है ।

******

प्रश्नः क्या आप इस श्लोक का अर्थ समझाएँगे:
पञ्चतत्त्वात्मकं कृष्णं, भक्तरूप-स्वरूपकम् ।
भक्तावतारं भक्ताख्यं, नमामि भक्त-शक्तिकम् ।।
उत्तरः कृष्ण इन पञ्च स्वरूप में प्रकट होते हैं: भक्तरूप स्वयं महाप्रभु है, नित्यानन्द स्वरूप है, अद्वैत प्रभु भक्तावतार है, गदाधरपण्डित गोस्वामी शक्ति है और श्रीवास ठाकुर भक्त है । यह चैतन्य चरितामृत (चै.च. आदि १.१४ और ७.६) के प्रारम्भ में दर्शाया है ।

******

प्रश्नः क्या यह सच है कि श्रीवास ठाकुर नारद मुनि और प्रह्लाद महाराज के मिश्र अवतार है ?
उत्तरः चैतन्य महाप्रभु स्वयं भगवान है और जब वे आते हैं तो उनके साथ अन्य अवतार और उनके परिकर भी आते हैं । महाप्रभु अपने साथ भक्ति का रसपान करने का सब को अवसर देते हैं । इसीलिए स्वाभाविक है कि उनके अलग अलग परिकर आते हैं ।

******

प्रश्नः आप ने एक प्रवचन में पञ्चतत्व को समझाते हुए कहा था कि नित्यानन्द सङ्कर्षण है और अद्वैत आचार्य महाविष्णु है । वे हमारे अस्तित्त्व को शुद्ध करते हैं । इस विषय में क्या आप अधिक बताएँगे ?
उत्तरः सङ्कर्षण और महाविष्णु प्रकृति के तत्त्व के अधिष्ठाता देवता हैं । वे प्रकृति से सृजन करते हैं । हमारा देह भी प्राकृतिक तत्त्वों से बना है जिसका प्रारम्भ प्रकृति, महत् तत्त्व और बाद में अहङ्कार से होता है । उनकी कृपा से यह तत्त्व शुद्ध हो जाते हैं जिस से भगवान की सेवा में उनका उपयोग हो सके । शुद्धी-करण का यही अर्थ है । उनकी

पूजा अर्चना की जाती है जिससे भगवान की सेवा के लिए योग्य बनने का आशीर्वाद हमें मिले। इसे भूत-शुद्धि कहते हैं। ******

प्रश्न: क्या आप इस विषय में अधिक बताएँगे कि कैसे भक्त श्रीवास ठाकुर की कृपा से साधक को शक्ति प्राप्त होती है और उस शक्ति से साधक श्री कृष्ण को पाता है ?

उत्तर: उत्तमा-भक्ति का निचोड़ है अनुसरण करना और स्वतन्त्र होकर कार्य न करना। यह गुरु के भाव का अनुसरण कर के किया जाता है। कृष्ण केवल स्वयं कृष्ण ही नहीं है। वे उनकी शक्ति (गदाधर पण्डित गोस्वामी), उनके भक्त (श्रीवास ठाकुर) और प्रकृति के अधिष्ठाता (अद्वैत आचार्य और नित्यानन्द प्रभु) स्वरूप में प्रकट होते हैं। जो कृष्ण को अनुकूल हो वैसी भक्ति करता है तो वह साधक इन सभी को भी भक्ति अर्पित करता है। अतः वे सभी पञ्चतत्त्व में उपस्थित है।

श्री कृष्ण ने कहा है कि उनकी अपनी सेवा से तो उनके भक्तों की सेवा उत्तम है। कृष्ण को कोई भी सीधा प्राप्त नहीं कर सकता है। ज्ञान, कर्म जैसे अन्य कई मार्ग और भिन्न-भिन्न भक्तिमार्ग हैं जिसमें श्रवण, कीर्तन आदि हैं, परन्तु यह उत्तमा-भक्ति इन सभी मार्गों से भिन्न है। कृष्ण को प्राप्त करने का मार्ग है (गुरु का) अनुसरण करना। उसमें ज़रा सी भी स्वतन्त्रता नहीं है। यदि साधक अन्य उद्देश्य सिद्ध करना चाहता है तो वह उत्तमा-भक्ति का अभ्यास नहीं कर सकता। श्रद्धा साधक को उत्तमा-भक्ति पाने के लिए योग्य बनाती है। अन्य किसी भी योग्यता की आवश्यकता नहीं है। यदि साधक को शास्त्रीय श्रद्धा नहीं है तो उसे अन्य किसी (वस्तु या व्यक्ति) में श्रद्धा होगी। परन्तु साधक को एक बार भक्ति में शास्त्रीय श्रद्धा होगी तो उसे अन्य किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं होगी। यह केवल आध्यात्मिक प्रक्रिया नहीं है, पर संसार में व्यावहारिक भी है। संसार की हर समस्या का कारण है व्यक्ति की स्वतन्त्र मानसिकता। जब ख़ुद की स्वतन्त्र मानसिकता होगी तो स्वतन्त्र इच्छाएँ, उद्देश्य, योजनाएँ इत्यादि भी होंगे। तब वे उनकी दूसरों की इच्छाओं, उद्देश्यों, योजनाएँ आदि से विरोध अवश्य होगा और वहीं से समस्या की शुरुआत होती है।

उत्तमा-भक्ति में साम्यता और एकता होती है। यह तभी सम्भव होता है जब साधक महाभागवत को समर्पित हो क्योंकि महाभागवत कृष्ण सेवा का प्रयत्न करता है। वह कृष्ण को समझता है जो सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में विराजमान है। इस से समाज में एकता आती है। भक्त (श्रीनिवास) का पञ्चतत्त्व में समावेश होने का यही तात्पर्य है।

******

प्रश्न: क्या अपना व्यवहार ग़ौर-निताय या गदाधर-ग़ौर जैसा होना चाहिए ?
उत्तर: जो भी नाम पसन्द आए, वह जपें । ऐसी कोई बात नहीं है जहाँ एक को गौण और दूसरे को मुख्य दिखाना है । यह पाँचो स्वरूप स्वयं महाप्रभु के अवतार हैं । कभी-कभी लोग किसी एक स्वरूप की उपेक्षा करते हैं । यह ठीक नहीं है । पञ्चतत्त्व इन सब को समाविष्ट करता है । आप को जो भी पसन्द आए उसकी सेवा करो ।

******

प्रश्न: ग़ौर निताय और गदाधर ग़ौर की सेवा में क्या अन्तर है ?
उत्तर: ईश्वर एक है पर भक्त के भाव के आधार पर उनकी सेवा होती है । उदाहरण स्वरूप, स्मार्त पञ्चोपासना या पञ्च देवों की सेवा करते हैं । इन देवों की भी अवमानना नहीं करनी चाहिए तो ग़ौर निताय या भगवान के अन्य स्वरूप की क्या बात करें ? किसी भी परिस्थिति में किसी का भी अनादर नहीं करना चाहिए [न किसी साधक का और न ही भगवान के किसी स्वरूप का] ******

६०. परम – गुरुदेव

प्रश्न: क्या आप अपने गुरु, यानि कि हमारे परम-गुरुदेव के विषयमें कुछ जानकारी दे सकते हैं ?
उत्तर: परम-गुरुदेव (श्री विनोद बिहारी गोस्वामी महाराज) का जन्म एक ब्राह्मण परिवार में हुआ था और एक अच्छे ब्राह्मण के जो लक्षण होने चाहिये वे सब उन में थे । वे महाविद्वान थे । उनके व्रजनिवास समय में, पूरे व्रज में उनके समान कोई विद्वान नहीं था । वे भक्ति में संपूर्णत: दृढ़ थे एवं व्यवहार में निष्कपट और सत्यवादी थे । अपने निजी जीवन में वे किसी को धोखा देने के विषय में सोचते भी नहीं थे । उम्र में छोटे और छोटी जातिवालों से भी वे बड़े आदर से व्यवहार करते थे । लोग उनकी पूजा करे या उनके मान सम्मान में वृद्धि हो, ऐसा उन्होंने कभी नहीं चाहा । वे अपने विचार में भी किसीकी निन्दा करने के विषय में नही सोचते थे । भक्तों के गुणों के विषय में जो हम पढ़ते हैं या सुनते हैं वे सब गुण वास्तविक रुप से उन में थे । ये गुण उन्होंने अभ्यास करके नहीं पाये थे पर स्वाभाविक रूप से ही उन में थे। उन्हें मान, सम्मान, धन, पदवी या शिष्यों की कोई अभिलाषा नहीं थी और न ही किसी को धोखा देने की भावना उन में थी ।

ये सभी उनके गुण थे और वे हमेशा कहते थे कि किसी की आलोचना करने की कोई आवश्यकता नहीं है । वे यह भी कहते थे, "लोग जो कुछ भी करते हैं, उसे तुम देखो पर उनकी आलोचना कभी न करो ।" उस समय भागवत निवास में कुछ ऐसे लोग भी रहते थे जो दूसरों को प्रभावित करने का प्रयत्न करते थे तथा ख़ुद को सच्चा साधु

दिखाने या कहलाने का प्रयत्न करते थे, पर परम-गुरुदेव ऐसे बिलकुल नहीं थे। वे कहते थे, "उन्हें जैसा ठीक लगे, करने दो । हमें उस में कोई रुचि नहीं है ।" वे बिल्कुल पारदर्शी थे । वे किसी से कुछ भी छुपाते नहीं थे । ******

प्रश्नः परम-गुरुजी पण्डितबाबा से कैसे मिले ?

उत्तरः परम गुरुदेवने अपनी वानप्रस्थ आयु में घर की सभी ज़िम्मेदारी अपने बेटे को सौंप दी और गृहत्याग करके वृन्दावन पधारे । अर्थात् वे यहाँ अपनी पत्नीत्याग करके आये । उन्होंने यहाँ पण्डितबाबा के विषय में सुना, जो उन दिनों बहुत प्रसिद्ध थे और व्रज में भिन्न भिन्न स्थानों पर रहते थे । फिर पण्डित बाबा दाऊजी बग़ीचे में रहने लगे, जहाँ मेरी उनसे भेंट हुई । दाऊजी बग़ीचा वर्तमान में वृन्दावन शोध संस्थान है। मैं अपने गुरुदेव के साथ वर्तमान मन्दिर के पृष्ठभाग में रहता था जहाँ अभी एक बग़ीचा है और कुछ कमरे हैं । बाद में मैं ने वर्तमान गोशाला और कालीदह का मन्दिर ख़रीदा। पहले मैं पण्डितबाबा के साथ वृन्दावन शोध संस्थान में निवास करता था । पहली बार जब मैं वृन्दावन आया, तब पण्डितबाबा से मिला जो दाऊजी बग़ीचा में रहते थे । पण्डित बाबा और अन्य वैष्णवों ने परामर्श किया कि किस से मेरी दीक्षा दिलाई जाये?

उन दिनों परम गुरुदेव व्रज परिक्रमा पर गोवर्धन की तलहटी की तरफ भ्रमण करते थे । वहाँ से वापस आने के बाद वे पण्डितबाबा के दर्शन करने गए तब पण्डितबाबाने उनको मेंरे विषयमें कहा, "यह लड़का आप की प्रतीक्षा कर रहा है" । इस प्रकार मैं परम गुरु के साथ कालीदह आया । परम गुरुदेव ने पहले मुझे हरिनाम दीक्षा और बाद में मन्त्र दीक्षा दी । दीर्घकालान्तर में बाबाजी वेष भी दिया । इस मन्दिर के पीछे दो कमरोंवाली जगह है जहाँ मैं अपने गुरु के साथ रहता था । जिस कमरे में हम गायों के लिए भूसा (सूखा घास) रखते हैं, वह कमरा परम गुरुदेव ने अपने सेव्य विग्रह के लिए बनवाया था एवं उन्होंने वहीं उन की प्राणप्रतिष्ठा भी की। दूसरी तरफ़ जो कमरे हैं, वहाँ वे निवास करते थे । वे कमरे उनके एक शिष्यने बनवाये थे । यह सारी सम्पत्ति मदनमोहन मन्दिर की थी । उस समय वे उसे पट्टा पर लेते थे । इसी तरह उन्हें यह जगह मिली थी । *****

प्रश्नः क्या आपके सेव्य विग्रह, ग़ौर गदाधर और राधा गोविन्ददेव, परम गुरुदेव द्वारा स्थापित किए गए थे ?

उत्तरः हाँ । पहले वे वहाँ थे (जहाँ अभी भूसा रखा जाता है), बाद में मैं ने ही यह वर्तमान मन्दिर बनवाया । ******

प्रश्न: क्या आप कभी भी विदेश जाने के लिए सोचते हैं ?
उत्तर: मैं इस आश्रम के प्रवेशद्वार से भी बाहर जाना नहीं चाहता हूँ । ******

प्रश्न: आप कह रहे हैं कि महाप्रभुजी का सम्प्रदाय दूषित हो रहा है । तो क्या इसका अर्थ यह है कि एक दिन उसका अन्त हो जाएगा या इस विषय में कुछ किया जा सकता है ?
उत्तर: वह आप पर निर्भर है । ******

प्रश्न: वे कहते हैं कुछ १०,००० वर्ष ?
उत्तर: यदि लोग किसी वस्तु की सुरक्षा न करें तो कुछ भी लुप्त हो सकता है । यह नियम श्रीमहाप्रभु की शिक्षा पर भी लागू हो सकता है । सम्प्रदाय एक शिक्षा है, और यदि लोग उसे सीखेंगे नहीं तो स्वाभाविक है कि वह लुप्त हो जाएगी । आप उसे एक व्यापार सा बना सकते हो और फिर वह एक नाम-मात्र सा रह जाएगा । यदि कोई सच्चे अर्थ में उस शिक्षा को अपने व्यवहार में नहीं अपनाता है तो इसका अन्त ही समझो । ऐसी कौनसी जगह है जहाँ अब आप जाकर इस शिक्षा को पढ़ सकते हो ? यह एक शिक्षा है अतः उसे पढ़ना है, अर्थात् शास्त्र को पढ़ना है । यदि आप उसे नहीं पढ़ोगे और आचरण में नहीं लाओगे, एवं इस शिक्षा को समर्पित हो ऐसा कोई गुरु नहीं होगा तो उस सम्प्रदाय का अन्त ही होगा और आप देख भी रहे हैं कि ऐसा अब हो रहा है ।

******

६१. परम्परा

प्रश्न: सम्प्रदाय और परिवार में क्या भेद है ?
उत्तर: सम्प्रदाय एक सामान्य संज्ञा है, जैसा कि गोड़ीय सम्प्रदाय, जब कि परिवार सम्प्रदाय की एक विशिष्ट शाखा है । ******

प्रश्न: चैतन्य वैष्णव सम्प्रदाय की भिन्न भिन्न शाखा हैं, जैसा कि राधाकुण्ड बाबाजी, गोड़ीय मठ, और आपकी शाखा । क्या ये सभी शाखाएँ कृष्णभक्ति को समान रूप से प्रस्तुत करती हैं ?
उत्तर: सम्प्रदाय के आरम्भ के समय की आज के समय के साथ तुलना करके आप को यह मूल्यांकन करना होगा । आरम्भ में उसका उद्देश्य निवृत्ति मार्ग पर आधारित था, यानि कि आध्यात्मिक एवं शास्त्रानुसार भक्ति करना था । यह बात समझने के लिए आप को यह जानना होगा कि लोग निवृत्ति मार्ग अपना रहे हैं या प्रवृति मार्ग ?

श्री चैतन्य महाप्रभु ने जब यह अभियान शुरू किया तो उन्होंने पण्डित गोस्वामी (गदाधर पण्डित गोस्वामी) को दीक्षा देने के लिए विशेषरूप से नियुक्त किया था । पूजा के लिए महाप्रभुजीने स्वयं उन्हें एक विग्रह दिया और श्रीमद् भागवत सिखाने का उत्तरदायित्व भी दिया । एक आदर्श संस्थापित करने के लिए महाप्रभुजी स्वयं पण्डित गोस्वामी से भागवत सुनते थे । अतः शुरू में पण्डित गोस्वामी ने सभी गोस्वामी गण को और अन्य शिष्यों को दीक्षा दी । वृन्दावन या राधाकुण्ड में आरम्भ में गोस्वामियोंने ही मन्दिर बनवाए थे और सभी गोस्वामी पण्डित गोस्वामी के शिष्य थे । पहले दास गोस्वामी (रघुनाथ दास गोस्वामी) का आधिपत्य राधाकुण्ड पर था और वे भी गदाधर पण्डित की शिष्य-परम्परामें आते थे ।

यह समय अल्पक़ालीन रहा । ऐसा ही होता है - न केवल हमारे सम्प्रदाय में परन्तु हर सम्प्रदाय में होता है । आरम्भ में कोई महान व्यक्ति से अभियान होता है तत्पश्चात् एक या दो पीढ़ी के बाद निवृत्ति प्रवृति में बदल जाती है । दर्शन-शास्त्र के ज्ञान से लोग आजीविका कमाने लगते हैं । फिर सब दीक्षा देना शुरू कर देते हैं । आप को यह जानना होगा कि ऐसे गुरुओं ने क्या वास्तव में शास्त्र का अध्ययन किया है ? क्या उन्हें सही में शास्त्र-ज्ञान है, क्या वे शास्त्र के और गोस्वामियों के दर्शित मार्ग पर चलते हैं ? इसी से आप को अपने सभी प्रश्न के उत्तर मिल जाएँगे ।

वास्तव में उत्तमा भक्ति का मार्ग आचरण प्रधान था यानि कि दृढ़तापूर्वक पालन । परन्तु अब यह प्रायः प्रवचन के रूप में ही रह गया है, न कि आचरण के रूप में, क्योंकि उसका उद्देश्य बदल गया है । पहले लोग निष्ठावान थे और उद्देश्य था कि प्रभुभक्ति में ही उनकी रुचि हो । अब धन एवं अनुयायी ही मुख्य उद्देश्य बन गया है । यह तब होता है जब उद्देश्य शास्त्रप्रधान से हटकर व्यक्ति-प्रधान बन जाता है, अर्थात् व्यक्ति-वाद को शास्त्र से अधिक महत्व देने लगे । फिर व्यक्ति अपनी समझ से उस ज्ञान को फैलाता है क्योंकि उसके मन में धन प्राधान्य है । सारांशमें धन और इन्द्रियभोग पर सभी कर्म केन्द्रित हो जाते हैं ।

गुरु शास्त्रपालन करता है कि नहीं यह परीक्षा आप को अवश्य करनी होगी । क्या वह मूल ग्रन्थों और गोस्वामी के सिद्धान्तों का आचरण करता है कि नहीं । यह भी जाँचना होगा कि शास्त्र पढ़ाने की कोई परम्परा है कि नहीं ?

******

प्रश्न: यदि कोई निवृत्तिमार्ग का आचरण कर रहा है और गोस्वामियों के ग्रन्थों को पढ़ रहा है, उनके कथनों का अनुसरण कर रहा है फिर भले ही वह गोड़ीय मठ, राधाकुण्ड

बाबाजी, वृन्दावन के गोस्वामी या किसी और परिवार के अन्तर्भूत क्यों न हो, इस से क्या फ़र्क पड़ता है ?

उत्तर: यदि वे शास्त्रानुसार आचरण करते हैं तो कोई बात नहीं, परन्तु मुख्य बात यह है कि शास्त्रानुसार आचरण करने के लिए साधक को प्रमाणित परम्परा से अध्ययन करना पड़ेगा । ******

प्रश्न: क्या आप वास्तव में ऐसा मानते हैं ?

उत्तर: हाँ । ******

प्रश्न: क्या आप महाराजजी से यह विशेष रूप से पूछ सकते हैं [४]?

उत्तर: यदि कोई शास्त्रपालन कर रहा है तो कोई बात नहीं, पर उसे शास्त्रपालन ठीक से करना चाहिये, अपने मन से नहीं । यदि ऐसा करता है तो वह स्वाभाविकरुप से प्रमाणित मार्ग में ही होगा क्योंकि इसी को ही प्रमाणित मार्ग कहते हैं । वह जहाँ भी है, कोई फ़र्क़ नहीं होता । ******

प्रश्न: दूसरे शब्दों में कहें तो आप यह कहना चाहते हो कि आप की परम्परा प्रामाणिक है ?

उत्तर: मैं यह बताना चाहता हूँ कि यदि कोई गदाधर पण्डित गोस्वामी की शाखा अपनाता है एवं वह शास्त्र और उनकी बताई हुई शिक्षा का पालन करता है, तो वह अवश्य एक विशुद्ध मार्ग है । फिर भी यह आवश्यक नहीं है कि वह पण्डित गोस्वामी का अनुयायी हो क्योंकि वह पण्डित गोस्वामी की शाखा से जुड़ा है । शिक्षा को यदि कोई ठीक से नहीं अपनाता तो वह सच्चा नहीं है । मुख्य बात यह है कि शिक्षापालन सच्चाई से होना चाहिए ।

आप को यह भी समझना होगा कि मैं अन्य शाखाओं के अस्तित्व को अस्वीकार नहीं करता हूँ । मैं यह कहना चाहता हूँ कि महाप्रभुजी ही थे जिन्होंने केवल पण्डित गोस्वामी को दीक्षा देने के लिए नियुक्त किया । परन्तु अन्यों ने भी दीक्षा दी और अपनी शाखा का प्रचार किया । महाप्रभुजी ने उन लोगों को रोका भी नहीं । उन्होंने श्रीरूप और सनातन गोस्वामी को पुस्तक लिखने, भगवान श्री कृष्णलीलाओं के स्थान का आविष्कार करने, एवं मन्दिर की स्थापना करने के लिए नियुक्त किया । उन्होंने अन्यको ऐसा काम करने के लिए कभी नहीं रोका । ******

---

[४] यह प्रश्न प्रश्नकर्ताने अनुवादक से किया है ।

प्रश्न: गदाधर पण्डित ने सम्प्रदाय के सभी सदस्य को दीक्षा दी, तो फिर सभी यही कहेंगे कि वे गदाधर पण्डित के सम्प्रदाय से हैं ।
उत्तर: वे ऐसा नहीं कहते क्योंकि वे यह स्वीकार नहीं करते, फिर उन के आचरण का प्रश्न ही कहाँ उठता है ? आप गोड़ीय मठ जाओ और उन्हें पूछोगे तो वे भी यह नहीं कहेंगे कि वे गदाधर पण्डित की शाखा से आए हैं । यदि आप जाकर गोस्वामिओं से पूछोगे तो वे भी ऐसा नहीं कहेंगे । चैतन्य चरितामृत में भी उल्लेख किया गया है कि पण्डित गोस्वामी के अनुयायी महाभागवत हैं:

पण्डितेर गण सब भागवत धन्य ।
प्राणवल्लभ सबार श्री कृष्णचैतन्य।।

"गदाधर पण्डित के सभी अनुयायी महाभागवत हैं क्योंकि भगवान श्री चैतन्य महाप्रभु उनके प्राणवल्लभ है ।" (गौरगदाधर प्रेस चै.च. आदि १२.८८)

एक समय ऐसा था जब केवल पण्डित गोस्वामी का परिवार ही वृन्दावन में मुख्य था। श्री नरोत्तमदास ठाकुर ने अपने एक गीत में लिखा है कि वृन्दावन के गोस्वामी पण्डित गोस्वामी के अनुयायी है । यह भी लिखते हैं कि वे पण्डित गोस्वामी के परिवार से हैं।

******

प्रश्न: चैतन्य चरितामृत में या रूप गोस्वामी लिखित ग्रन्थ में वे कहते हैं कि श्रीवल्लभ भी सच्चे वैष्णव हैं ।
उत्तर: किन्तु उनके वंशज यह नहीं मानते । अतः वे श्रीवल्लभ को इस सन्दर्भ में मानते नहीं है । आप स्वयं जाँच कर सकते हैं । मौलिक रूप से वृन्दावन में सभी मन्दिर गदाधर पण्डित गोस्वामी के शिष्यों ने स्थापित किए हैं । इस बात का प्रमाण भी है, पर वे इस सन्दर्भ में बात नहीं करते ।

******

प्रश्न: भूगर्भ गोस्वामी के विषय में क्या कुछ अधिक जानकारी है ?
उत्तर: भूगर्भ गोस्वामी लोकनाथ गोस्वामी के चाचा थे । भूगर्भ गोस्वामी का मन्दिर राधा-दामोदर मन्दिर के सामने था, परन्तु बाद में उस मन्दिर का विक्रय किया गया था और अभी विग्रह राधा-दामोदर मन्दिर में विराजमान है । भूगर्भ गोस्वामी की समाधि श्री रूप गोस्वामी की समाधि के समीप है ।

******

प्रश्न: रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी ने कहाँ और किस से दीक्षा ली थी ?

उत्तरः उन्हों ने जगन्नाथ पुरी में गदाधर पण्डित गोस्वामी से दीक्षा ली थी। उन्हों ने उनसे श्रीमद् भागवत का भी अध्ययन किया था और स्वरूप दामोदर गोस्वामी ने उनकी परीक्षा भी की थी कि श्रीमद् भागवत को यथार्थ समझे हैं कि नहीं।

******

प्रश्नः रघुनाथदास गोस्वामी के दीक्षा गुरु कौन थे ?
उत्तरः स्वरूप दामोदर गोस्वामी। यदुनन्दन आचार्य केवल पारिवारिक पुरोहित थे।

******

प्रश्नः कृष्णदास कविराज गोस्वामी के दीक्षा गुरु कौन थे ?
उत्तरः उन्होंने रघुनाथ भट्ट गोस्वामी से दीक्षा ली थी। ******

प्रश्नः स्वरूप दामोदर गोस्वामी के दीक्षा गुरु कौन थे ?
उत्तरः उन्होंने गदाधर पण्डित गोस्वामी से दीक्षा ली थी। ******

प्रश्नः रघुनाथ भट्ट गोस्वामी ने किससे दीक्षा ली थी ?
उत्तरः गदाधर पण्डित गोस्वामी से। ******

प्रश्नः गोपालभट्ट गोस्वामी के दीक्षा गुरु कौन थे ?
उत्तरः उनके दीक्षा गुरु गदाधर पण्डित गोस्वामी थे, परन्तु वर्तमान में लोग इस बात को नहीं स्वीकारते। पहले लोग अपने गुरु के सन्दर्भ में कभी भी चर्चा नहीं करते थे, अतः ऐतिहासिक दृष्टि से आज इस बात को सिद्ध करना अतिकठिन है। वास्तव में पण्डित गोस्वामी के अनुयायी एवं शिष्यों के शिष्य द्वारा गोस्वामी के सभी मन्दिरों का ध्यान रखा जाता था और सेवा अर्चना की जाती थी। परन्तु कालान्तर में इन सभी का अधःपतन हुआ और सही ज्ञान विस्मृत होने लगा। ******

प्रश्नः बलदेव विद्याभूषण स्वामी के दीक्षा गुरु कौन थे?
उत्तरः राधा दामोदरदास। ******

प्रश्नः विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर के दीक्षा गुरु कौन थे?
उत्तरः राधा रमण। ******

प्रश्नः पण्डित गोस्वामी एक ब्राह्मण थे परन्तु उनके गुरु पुण्डरिक विद्यानिधि क्या एक वैश्य नहीं थे ?

उत्तर: नहीं । पुण्डरिक विद्यानिधि एक ब्राह्मण थे । उनके नाम में पदवी "विद्यानिधि" ही ब्राह्मण की पदवी को सूचित करती है और उसका अर्थ होता है "ज्ञान का भंडार"। उस समय में अब्राह्मण से दीक्षा लेने का कोई प्रश्न ही नहीं था (अर्थात् कोई अन्य जाति-द्विज से दीक्षा न ले) ।

चैतन्य महाप्रभु ने केवल पण्डित गोस्वामी को ही दीक्षा देने के लिए मान्य रखा था । उस समय सभी वैष्णव ने उन से दीक्षा ली थी । किन्तु कालान्तर इस में परिवर्तन आया ।

******

प्रश्न: महाप्रभु ने पण्डित गोस्वामी के अतिरिक्त किसको दीक्षा देने के लिए मान्य किया?
उत्तर: पण्डित गोस्वामी के अलावा अन्य कोई नहीं । महाप्रभु ने वैष्णवों को दीक्षा देने के लिए, राधा कृष्ण की पूजा को स्थापित करने और श्रीमद् भागवत सिखाने के लिए केवल पण्डित गोस्वामी को ही अधिकृत किया था । यहाँ तक कि महाप्रभु ने अपना विग्रह भी उन्हें दिया था और श्रीमद् भागवत भी उन्हीं से सुनते थे । पण्डित गोस्वामी ने अद्वैत आचार्य के पुत्र अच्युतानन्द को भी दीक्षा दी थी ।

******

प्रश्न: अद्वैत आचार्य का कौनसा भाव है और क्या उनकी शाखा अभी भी है?
उत्तर: अद्वैत आचार्य और नित्यानन्द प्रभु की शाखा पर श्रीमान महाप्रभु ने कभी प्रतिबन्ध नहीं लगाया था एवं अन्य वैष्णवों को दीक्षा देने के लिए आदेश भी नहीं दिया था । साथ में उन्हों ने ऐसा करने के लिए कभी उन्हें रोका भी नहीं था । तत्पश्चात् अद्वैत आचार्य और नित्यानन्द प्रभु की शाखा बनी । उनके तिलक चिह्न भिन्न प्रकार के थे । आरम्भ में सभी गोडीय वैष्णव का एक सा तिलक चिह्न था क्योंकि वे सभी पण्डित गोस्वामी की शाखा से थे । अब राधारमण शाखा एवं अद्वैत आचार्य और नित्यानन्द प्रभु की शाखा के अपने अपने तिलक चिह्न है । वर्तमान में बहुत कम ऐसे लोग हैं जो मूल तिलक चिह्न करते हैं । गोस्वामी के समय वृन्दावन के सभी मुख्य मन्दिर पण्डित गोस्वामी[9] के शिष्य या प्रशिष्य द्वारा सम्भाले जाते थे ।
चैतन्य चरितामृत में पण्डित गोस्वामी के विषय में कुछ श्लोक कहे गये है:

---

[9] [सत्यनारायण दास]: "गदाधर पण्डित" कहने के बजाय हम उन्हें सम्मान से "पण्डित गोस्वामी" कहते हैं । वैदिक संस्कृति के अनुसार आदरणीय व्यक्ति को उनके नाम से कभी नहीं पुकारते । उसी तरह रघुनाथ दास गोस्वामी को "दास गोस्वामी" नाम से सम्बोधित करते हैं । नरोत्तम दास ठाकुर को "ठाकुर महाशय", कृष्णदास कविराज गोस्वामी को "कविराज गोस्वामी" इत्यादि ।

बड़ा शाखा - गदाधर पण्डित गोंसाञि ।
तिंहो लक्ष्मीरूपा, ताँर सम अन्य नाञि ।

"पण्डित गोस्वामी महाप्रभु के वृक्ष की मुख्य शाखा थे । वे चौथी शाखा है, लक्ष्मी स्वरूप है और उनके समान कोई नहीं है ।" (चै.च. आदि १०.१३) [आदि १२.७९ में यह भी कहा है कि सभी शाखाओं में गदाधर पण्डित की शाखा सब से महत्वपूर्ण है और उत्तम (महा उत्तम) भी है ।

विशेष, आदि १२.८० में कहा है: " गदाधर गोस्वामी की ग्यारहवीं शाखा भूगर्भ थी और बारहवीं शाखा भगवत दास थी । दोनों वृन्दावन गए और पूरा जीवन वहाँ व्यतीत किया । "

आदि १२.८८ में कहा है: "गदाधर पण्डित के सभी शिष्यों को महाभागवत कहा है क्योंकि भगवान श्री चैतन्य महाप्रभु उनके प्राणवल्लभ हैं ।"

अन्त्य ७.१६३: "गदाधर पण्डित की विशेषताओं का और उन्मादपूर्ण प्रेम का वर्णन कोई नहीं कर सकता । अतः श्री चैतन्य महाप्रभु का दूसरा नाम है गदाधर प्राणनाथ।"
अन्त्यः ७.१६४: "महाप्रभु गदाधर पण्डित के उपर कितने दयालु थे यह कोई बता नहीं सकता, पर लोग महाप्रभु को गदाधर गौराङ्ग ही जानते हैं ।"

अन्त्यः ७.१६६: "गदाधर पण्डित सौजन्य, विनम्र व्यवहार, ब्राह्मण जैसे गुण और श्री चैतन्य महाप्रभु के प्रति उनके दृढ़ प्रेम के कारण पूरे विश्व में आदरणीय है ।"

******

६२. परिचर्या (सेवा)

प्रश्नः हम गिरिधारी की पूजा करते हैं, और गृहमन्दिरमें हम श्रीगौरगदाधर का चित्र भी रखना चाहते हैं, तो क्या हम उस चित्र की पूजा भी कर सकते हैं, या केवल वहाँ रख सकते हैं ?

उत्तरः आप उसकी पूजा कर सकते हैं । हमारे सम्प्रदाय में पूजा नहीं है, पर सेवा है। पूजा और सेवा में अन्तर है । पूजा अन्य सम्प्रदाय में होती है, जैसे कि रामानुज और मध्व सम्प्रदाय । पूजा का अर्थ होता है कि तुम मन्त्रजप करके कुछ अर्पण करते हो। विशेष मन्त्रजप करते हो तत्पश्चात् विग्रह को कुछ अर्पण करते हो । अनुकूल सेवा

करने के लिए कोई आग्रह नहीं है अपितु उत्तमा भक्ति में वह सेवा है जिसका अर्थ है कि सेवा प्रेम से करो ।

रामानुज और मध्व सम्प्रदाय वर्णाश्रम प्रथा एवं पांचरात्रिक विधि अनुसार आचारसंहिता का पालन करते है, जिसका अर्थ है कि वह व्यक्ति योग्य हो, वर्णाश्रम प्रथा में उसका जन्म हुआ हो, ब्राह्मण हो, इत्यादि । वे मन्त्र जप करते हुए विग्रह को भोग अर्पण करते हैं ।

उत्तमा भक्ति में आप ईश्वर को प्रेम से अपनाते हैं । आप और ईश्वर के मध्य एक सम्बन्ध होता है, आप जो सेवा करते हो वह उनको आनन्द प्रदान करे । भोग भी प्यार से अर्पण करे । जिस भाव से और सम्बन्ध से आप का उत्कृष्ट प्रेम श्री कृष्ण के लिए जो है वही अलौकिक जगत में होगा । पूजा करने से आप को उत्तमा भक्ति प्राप्त नहीं होगी । अतः सेवा या परिचर्या का शब्द प्रयोग उत्तमा भक्ति में किया जाता है ।

पूजा में कोई स्नेहमय सम्बन्ध नहीं होता, किन्तु सेवा में एक विशिष्ट सम्बन्ध होता है । दीक्षा ग्रहण के समय से ही भक्त ईश्वर को स्वीकारता है और ईश्वर भक्त को स्वीकारता है, और फिर सेवा का आरम्भ होता है । जब भक्त पर ईश्वरकृपा होती है, उसका प्रभु-प्रेम बढ़ता है और शारीरिक आसक्ति दूर होती जाती है । अन्यथा मानव देह मात्र कुत्ते और भेड़ियों का भोजन है ।

अन्य सम्प्रदायों में वे कुछ मुद्राएँ, विग्रह का आमन्त्रण एवं विसर्जन करते हैं । वे विग्रह को मन्त्रोच्चार के साथ आमन्त्रित करते हैं । वे विधि अनुसार पूजा करते हैं और समाप्त होने के बाद विग्रह का विसर्जन करते हैं । उनका कार्य यहीं समाप्त हो जाता है ।

जब कि उत्तमा भक्ति में एक नित्य सम्बन्ध होता है । यहाँ विग्रह का आह्वान और विसर्जन ही नहीं होता । आप प्रेम और स्नेह से ईश्वर को वस्तु अर्पण करते हो । अपने परिवार के एक सदस्य की भाँति आप ईश्वर के साथ व्यवहार करते हो । यही अन्तर है पूजा और सेवा में । ******

प्रश्नः परिचर्या शब्द का अर्थ क्या होता है ?
******
उत्तरः सेवा ।

प्रश्नः क्या भावनामें ही मुख्य अन्तर है ?
******
उत्तरः वही मुख्य भेद है ।

प्रश्न: क्या श्रीगदाधर-ग़ौर की सेवा श्रीश्रीराधा-कृष्ण की सेवा जैसी ही है ? और क्या वैसी ही सेवा सख्य रस में श्रीग़ौर-निताय की ?

उत्तर: जैसे आप अन्य विग्रह की सेवा करते हो, उसी प्रकार उनकी होती है । सेवा का अर्थ है - आप सेवक हो और वह स्वामी है । इसी भाव से आप सेवा करते हैं ।

******

प्रश्न: हम कृष्ण की वृन्दावन में सेवा करे और उनके विग्रह स्वरूप की सेवा करे, तो उन दोनो में क्या अन्तर है ? हम एक भाव से दूसरे भाव को कैसे पा सकते हैं ?

उत्तर: सेवा से । अर्थात् जो अनुकूल है वेसा करे वही सच्चा भाव या प्रेम है । कृष्ण को केवल एक भगवान मानकर नहीं पर भावरूप से सेवा करनी चाहिए क्योंकि वही प्रेमबिन्दु है ।

एक शिष्य को अपने गुरु दर्शित पथ पर चलना चाहिए । गुरु के भावानुसार सेवा करनी चाहिए, परन्तु गुरु का अनुकरण नहीं करना चाहिए । इस देह में आत्मा सब से प्रिय वस्तु है । जैसे ही आत्मा देह से निकल जाती है, देह निरर्थक हो जाती है, देह का कोई महत्त्व नहीं रहता । उसे फेंक दिया जाता है । इसके लिए किसी शिक्षा की आवश्यकता नहीं है, यह स्वाभाविक है । एक शिष्य को अपने गुरु निर्दिष्ट मार्ग पर चलते समय हमेशा भगवान के लिए जो भाव है वैसा गुरुके लिए होना चाहिए ।

हम उन्हें भगवान कहकर बुलाते हैं, विधि और नियम का पालन करते हैं ताकि अपनी आदतों या संस्कारों के कारण हम उनका अनादर न करें । दूसरे लोग हमारा यह व्यवहार कदाचित् ठीक से समझ न पाएँ । वे यह सोच सकते होंगे कि "यदि वह भगवान नहीं है, तो फिर क्यों उनकी पूजा करते हैं ?" सब कहते हैं कि कृष्ण भगवान है और उन्हें पूजते हैं । हम भी वही कहते हैं परन्तु हमारी सेवा मात्र आदर से ही नहीं परन्तु एक प्रेमीजन के भाव से होती है । यदि उनकी सेवा ईश्वर की तरह करते हैं तब वह एक संरक्षक है और आप सुरक्षणीय. अर्थात् ईश्वर को आप के लिए कुछ सेवा करनी है और यही भावना ईश्वर और आप के मध्य में एक दूरी बनाती है। "आत्मीयता" और "अपनापन", "वे मेरे प्रेमी हैं", "मैं उन्हें प्रेम करता हूँ" या "मुझे उनके अनुकूल कार्य करने होंगे" जैसी कोई भावना नहीं बनती । ईश्वर "मुझे कुछ देगा", "मेरी रक्षा करेगा", "मेरा पालनपोषण करेगा", या "मेरे पास जो कुछ भी नहीं है वह देगा" । "उन्हें मेरी इच्छा पूरी करनी चाहिये ।" ऐसी भावना तब उठती है जब हम उन्हें ईश्वर मानते हैं, परन्तु वह ईश्वर न होकर केवल हमारा प्रेमपात्र है तो फिर हम उससे कोई वस्तु नहीं माँगेगे । हम उनकी प्रेमसभर सेवा में ही लगे रहेगें ।

हमारा देह भौतिक है जो त्रुटियों से भरा हुआ है अतः हम नियमों का पालन करते हैं। यदि उन नियमों का हम पालन न करें तो हम सुस्त, आलसी, ढीले और अपनी आदतों से अशुद्ध बन जाते हैं । अभी हमारे जैसे भाव हैं, वैसे ही भाव मृत्यु पश्चात् भी रहेंगे। भगवान हमेशा विद्यमान हैं । वह कहीं नहीं गए हैं । भगवान के सच्चे भक्त उन्हें अपनी लीला करते देखते हैं । यह तो परदे के पीछे जैसा खेल है । परदा गिरता है, पर कलाकार परदे के पीछे उपस्थित है, वे कहीं नहीं गए । परदे के पीछे रह कर ही वे अपना कार्य करते हैं । कभी कभी परदा उठता है, तब सभी लोग उन्हें देख सकते हैं। परन्तु कभी परदा गिरने के बाद भी कुछ लोग ही उन्हें देख सकते हैं। इसी तरह भगवान अवतरित होते हैं और विशेष समय पर अपनी लीला करते हैं, जैसे कि द्वापर युग में, जिस से सब भक्त उन्हें देख सके, पर अन्य समय में यह भी होता है कि सामान्य लोगों के लिए वे अदृश्यमान रहते हैं । जब हम ईश्वर की लीलाओं में प्रवेश करते हैं तब भाव या भक्ति-भावना जो हम अभी पाते हैं, वही भाव हमारे साथ रहते हैं। इस में कोई अन्तर नहीं होगा ।

गुरु निर्दिष्ट शिक्षापालन करते हुए ही सेवा करनी चाहिए । हमें ईश्वर को ईश्वररूप में नहीं पूजना चाहिए, यद्यपि वे निश्चितरुप से इसी तरह पुकारे जाते हैं । यदि आप उनके साथ ईश्वर जैसा व्यवहार करेंगे तो वहाँ प्रेम नहीं होगा । जब वे सिंहासन पर विराजमान हैं, तो उनके ऐश्वर्य भाव के कारण आप उनकी प्रेम से सेवा करने के सिवाय उनसे लौकिक सुख माँगोगे ।

******

प्रश्नः राधा कृष्ण की सेवा कब, कहाँ और कैसे शुरू हुई ?

उत्तरः राधा कृष्ण की सेवा चैतन्य महाप्रभु से शुरू हुई । ईश्वर जनसमुदाय की योग्यता, विश्वास और रुचि के अनुसार अर्चना का प्रचार करते हैं । आज के युग में लोग व्यापार-रूप से अपनी और स्वपरिवार की समृद्धि के लिए ईश्वर की पूजा करते हैं, परन्तु इस तरह पूजा का दुरुपयोग अन्य युगों में पहले कभी नहीं हुआ ।
कृष्ण एक क्षत्रिय है और भगवान एक ग्वाला हो यह लोगों को स्वीकार नहीं था अतः मथुरा और द्वारका में लोग रुक्मिणी-कृष्ण को पूजते हैं । उनकी मान्यता के अनुसार भगवान एक ब्राह्मण या कमसे कम एक क्षत्रिय ही होना चाहिए ।

अन्य सम्प्रदायों में राधा कृष्ण की पूजा नहीं होती है । यह पूजा षड् गोस्वामियों के प्रयत्नों के कारण प्रचलित हुई । जीव गोस्वामी ने उस पर एक पुस्तक भी लिखी हैः राधाकृष्ण-अर्चना-पद्धति ।

श्री हित हरिवंश गोस्वामी के अनुयायियों द्वारा की जानेवाली राधावल्लभ सहपूजा पद्धति व्रज में योग्य नहीं है क्योंकि वे राधा कृष्ण को विवाहित मानकर चलते हैं। (यहाँ व्रज में स्वकीय भाव मान्य नहीं है।)। ******

प्रश्न: सर्व प्रथम राधा की मूर्ति को किसने स्थापित की ? क्या यह सत्य है कि उनकी स्थापना नित्यानन्द की पत्नी जाह्नवी माता ने की थी ?
उत्तर: यह सच नहीं है। यह ऐतिहासिक घटना है कि सर्व प्रथम राधामूर्ति गदाधर पण्डित गोस्वामी ने उड़ीसा से रूपगोस्वामी को वृन्दावन में उनके राधागोविन्द मन्दिर के लिए भेजी थी। ******

प्रश्न: जब तक बलदेव विद्याभूषण स्वामी ने वेदान्तसूत्र की गोविन्द भाष्य की टीका नहीं लिखी तब तक जयपुर में रामानुज के अनुयायी उस पूजा को चालू रखना नहीं चाहते थे, जो पहले गोड़ीय वैष्णवों द्वारा राधागोविन्दजी की पूजा की जाती थी। यह कैसे सम्भव है ?
उत्तर: राधागोविन्दजी विग्रह की पूजा यहाँ वृन्दावन में शुरू हुई। उसका प्रारम्भ पण्डित गोस्वामी के अनुयायियों से हुआ। पर जब विग्रह को जयपुर स्थानान्तरित किया गया, तब राजमहल में उनकी पूजा होती थी। रामानुजाचार्य के अनुयायियों ने राजा को प्रभावित करके राधा की कृष्ण के साथ पूजानिषेध किया। तब यह मतभेद शुरू हुआ।

उत्तमा भक्ति में राधा कृष्ण की सेवा पञ्चम् पुरुषार्थ है, परन्तु उत्तमा भक्ति का अर्थ कोई नहीं जानता। यहाँ तक कि मायावादी के भी राधाकृष्ण मन्दिर हैं, भागवत सप्ताह का पाठ करते हैं, रासलीला की चर्चा आदि करते हैं। यह लोग भगवान को व्यक्ति के रूप में ही नहीं मानते तो उनकी पूजा का अर्थ ही क्या है ? ******

प्रश्न: यदि वृन्दावन में कृष्ण यज्ञोपवित नहीं पहनते, तो क्या हमको पूजा के समय उन्हें अर्पित करना चाहिए ?
उत्तर: उनको उपनयन अर्पित नहीं किया जाता है। ******

प्रश्न: क्या कृष्ण को तिलक लगा सकते हैं ?
उत्तर: हाँ। वैदिक परम्परानुसार सभी तिलक लगाते हैं। ******

प्रश्न: क्या हम श्री चैतन्य को यज्ञोपवित अर्पित कर सकते हैं ?

उत्तर: हाँ, क्योंकि उन्हें संन्यासी की तरह नहीं पूजते हैं । संन्यासी यज्ञोपवित का त्याग करते हैं ।

******

प्रश्न: क्या हम एक विशेष दिन पर रेशमी पवित्रा कृष्ण को अर्पित कर सकते हैं ? जैसा कि मैं ने दक्षिण भारत में देखा था ।

उत्तर: वह श्रावण मास की शुक्ल द्वादशी पर पहनाये जाते हैं, यह रूपगोस्वामी का तिरोभाव दिन है । सन्ध्या समय दोपहर के भोग पश्चात् रेशमी पवित्रा कृष्ण को पहनाया जाता है । सेवा में जाने अनजाने में जो अपराध होते हैं उसके निवारण के लिए यह पहनाया जाता है । यह चढ़ावा वर्ष में केवल एक बार होता है ।

******

उत्तर: हाँ ।

******

प्रश्न: मैं ने सुना है कि कोई भी वस्तु ग्रहण करने से पहले भगवान को अर्पण करनी चाहिए, यहाँ तक कि नए वस्त्र भी । यह कैसे किया जाता है ?

उत्तर: मात्र विग्रह के चरणस्पर्श करा लो ।

******

प्रश्न: क्या सभी वस्तु विग्रह समक्ष रखनी चाहिए ?

उत्तर: हाँ ।

******

प्रश्न: उस दिन सन्दर्भ में बताया गया था कि दवाइयाँ भी अर्पण करनी चाहिए । यदि उन दवाओं में कुछ अपवित्र घटक, जैसे कि शराब मिश्रित हो तो ?

उत्तर: सब कुछ अर्पण कर सकते हैं क्योंकि आप स्वतन्त्र नहीं है, एक वैष्णव ऐसा ही होता है । यहाँ तक कि अपना मन, देह, गृह और सब कुछ भगवदर्पण किया जाता है।

******

प्रश्न: क्या यह सब हम मानसिक रूप से अर्पण कर सकते हैं ? क्या इसे भाव समझें?

उत्तर: यह सब उसी तरह अर्पण करो जैसे जल पीने से पहले अर्पण करते हो ।

******

प्रश्न: यदि किसी के पास विग्रह और शालिग्राम शिला दोनों हैं, तो क्या यह सही है कि मात्र शालिग्राम को ही स्नान कराये ?

उत्तर: नहीं । यदि विग्रह और शालिग्राम दोनों हैं तो दोनों को स्नान कराना चाहिए ।

******

प्रश्न: शालिग्राम शिला में भी क्या हमें पञ्चतत्त्व का दर्शन करना चाहिए ?

उत्तर: हाँ ।

******

प्रश्न: उस सेवा के समय कौन सा मन्त्र जपना चाहिए ?
उत्तर: उस समय सभी पँचतत्त्वों के मन्त्र जप करते शिला को पूजना चाहिए ।

******

प्रश्न: सप्ताह में कौन से भिन्न भिन्न रंग के वस्त्र विग्रह को पहनाने चाहिए ?

उत्तर: उस के लिए भिन्न प्रणाली है । सेवक को जो मन भाए वह प्रणाली पसन्द कर सकता है । गुरुवार और भगवान के जन्मदिन के लिए पीला रंग है । हर शनिवार और अमावस्या के लिए काला रंग है । हर बुधवार हरा और हर रविवार के लिए लाल रंग है । हर सोमवार, शुक्रवार और पूर्णिमा के दिन विग्रह को सफ़ेद और हर मंगलवार को मेरुन रंग के वस्त्र पहनाते हैं । यह एक सामान्य रूपरेखा है । उसे अपनी रुचि अनुसार भी कर सकते हो ।

******

प्रश्न: एकादशी के दिन वे कौनसा रंग धारण करते हैं ?
उत्तर: आप को जो भी रंग पसन्द हो ।

******

प्रश्न: क्या श्रीमती राधा रानी तिलक लगाती है ?
उत्तर: हाँ, वह तिलक लगाती है, पर यह भिन्न प्रकार का है ।

******

प्रश्न: राधा रानीकी सेवाके समय क्या हम उन्हें भी तिलक लगा सकते हैं ?
उत्तर: हाँ ।

******

प्रश्न: आचमन का क्या अर्थ होता है ?
उत्तर: वह केवल मुख शुद्धि के लिए है ।

******

प्रश्न: और पुनर्-आचमन ?
उत्तर: पुनर् का अर्थ होता है फिर से ।

******

प्रश्न: भूत शुद्धि क्या है और गोड़ीय वैष्णवों की सेवा और जप में उसकी क्या प्रासंगिकता है ?
उत्तर: जब आप अलौकिक भगवान की सेवा करते हैं तब भूत-शुद्धि आवश्यक है । हमारा देह पाञ्च महातत्त्व से बना हुआ है, अतः उसे शुद्ध करना आवश्यक है । उसका नियम है "ना देवो देवम् अर्चयेत्" अर्थात् जो देव नहीं है, वह देव की पूजा नहीं कर सकते । अर्थात् देवता की पूजा करने के लिए आप को भी शुद्ध होना आवश्यक है,

ऐसा नहीं कि सेवक लौकिक और भगवान अलौकिक हो । दोनों का एक स्तर पर होना आवश्यक है ।

शुद्ध होने की रीति है मन्त्र जप अथवा न्यास करना {देह के भिन्न भिन्न अङ्ग को स्पर्श करते करते भिन्न मन्त्र जपना} । परन्तु आध्यात्मिक भक्ति की रीति में यह आत्मसमर्पण से होता है । माम् मदीयम् समर्पयामि ("जब व्यक्ति आत्मसमर्पण करता है तब वह शुद्ध और सेवा के लिए योग्य बनता है । ")

वास्तव में भूतशुद्धि उपासना या अर्चना के लिए है । स्मार्त पद्धति सम्पूर्ण भिन्न है । आप को कुछ विशेष क्रिया करनी होती है, जैसे कि न्यासादि और फिर आप शुद्ध होते हो । भक्ति मार्ग में आप को गुरु को समर्पण करना चाहिये और जब आप गुरु शरण लेते हो, तब से आप उपासना के लिए पवित्र और योग्य बनते हो ।

******

प्रश्न: सेवा के आरम्भ में क्या हमें कोई विशेष भावना जाग्रत करनी होती है और तदर्थ भूतशुद्धि के भाव में प्रवेश करना होता है ?

उत्तर: एक बार आप गुरु को समर्पित हो जाते हो, शुद्ध हो जाते हो. आप को वह पुनः पुनः करने की आवश्यकता नहीं होती । यह निश्चय आप एक बार करते हैं ।

******

प्रश्न: और "नाहं विप्रो नाहञ्च नरपतिर् नापि वेश्यो न शुद्रो" (चै.च.मध्य १३.८०) मन्त्र जपने से क्या भूतशुद्धि मानी जाती है ?

उत्तर: उसका अर्थ वही होता है । आप मन्त्र जप करो या न करो, कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता । सेवक बनने का भाव ही समर्पण होता है । भूतशुद्धि कोई यांत्रिक प्रक्रिया नहीं है, जैसे कि स्मार्त प्रणाली में है, वहाँ वे स्वतन्त्र रहते हैं । जब कि भक्ति मार्ग में स्वतन्त्र अस्तित्व है ही नहीं । यदि आप को भगवान की सेवा करनी है तो आप को उनका होकर उनकी सेवा करनी होगी । आप को उनके आधीन होना होगा, वही है भूतशुद्धि और वही है उपासना शब्द का अर्थ (समीप आना) । ******

प्रश्न: पूजा में स्वस्ति वाचन और मंगलाचरण का महत्व क्या है ? क्या उसका महत्व भक्ति मार्ग में भी है ?

उत्तर: वह स्मार्त विधि (धर्म शास्त्र पर आधारित है जिन्हें वर्णाश्रम प्रथा के अनुयायी निभाते हैं) पर आधारित है । जब भक्त भगवान को समर्पित होता है, तो अलग स्वस्ति की आवश्यकता नहीं है । ******

प्रश्नः कल श्रीनित्यानन्द का जन्मदिन है और हमारे घर में भी नित्यानन्द का विग्रह है, तो उनका आविर्भाव दिन कैसे अच्छी तरह मनाये ?
उत्तरः आप को उनका अभिषेक करना चाहिए । ******

प्रश्नः पञ्चामृत से ?
उत्तरः हाँ, दूध आदि से (पञ्चामृतः दूध, दहीं, घी, मधु और शक्करवाला जल)।

******

प्रश्नः मैं ने सुना है कि भक्तिमार्ग को सात्त्विक तन्त्र से पुकारा जाता है, जैसे पञ्चरात्र। सात्त्विक तन्त्र का अर्थ क्या होता है ?
उत्तरः तन्त्र का विभाजन पूजनीय विग्रह के आधार पर होता है । दुनिया में सब कुछ भौतिक प्रकृति से उत्पन्न होता है, जिसके तीन गुणः सत्त्व, रजस् और तमस् होते हैं। हर एक व्यक्ति में इनमें से कोई एक गुण प्रधान होता है । किसी का सात्त्विक, किसी का राजसिक और किसी का तामसिक स्वभाव होता है । परन्तु तीनों गुण एक साथ होते हैं । ऐसा नहीं है कि जो सात्त्विक है, उसका स्वभाव हमेशा सात्त्विक ही रहता है। सत्त्व गुण भी अन्य दो गुणों से जुड़ा हुआ होता है । परन्तु हर व्यक्ति में एक गुण प्रधान होता है । प्रधान गुण और उस गुण से बनती विशेषताओं के कारण सब की पसन्द भिन्न भिन्न होती है । इस पसन्दगी के कारण किसी को कोई विशेष विग्रह पसन्द आता है और उस में श्रद्धा बनती है । किसी के प्रति श्रद्धा के बिना कोई जीवित नहीं रह सकता ।
सत्त्वानुरूप सर्वस्व, श्रद्धा भवति भारत ।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः । (गी. १७.३)

"हे भरतवंशज, सब की अपनी श्रद्धा अपने हृदय के भाव पर आधारित होती है । अतः वह उसी तरह वर्ताव करता है । "

किसी को सात्त्विक विग्रह में, किसी को राजसिक में और किसी को तामसिक विग्रहों में श्रद्धा होती है । कोई विष्णु की पूजा, कोई भूत पिशाचादि, जब कि कोई अन्य देवी देवता, वृक्ष, प्रकृति या किसी और की पूजा करते हैं । प्रत्येक मनुष्य की किसी न किसी में श्रद्धा होती है । उसकी श्रद्धा को यथावत् रखने के लिए एवं सब को आश्रय देने के लिए भगवान ने शास्त्र दिए हैं, नहीं तो लोग अपने मनमुखी विचार अपनाते हैं और ध्येय से भटक जाते हैं । अपनी श्रद्धानुसार लोग कोई निश्चित रीति अपनाते हैं

क्योंकि अपने विशिष्ट स्वभाव के कारण उन्हें वह पद्धति पसन्द आती है । अतः सत्त्व, रजस् और तमस् गुण में विग्रह के भिन्न भिन्न वर्णन किए हैं । तदनुसार, इन तीनों गुणों के लिए भिन्न भिन्न शास्त्र हैं, जिनको समझ कर सेवा कर सकें ।

सात्त्विक तन्त्र में श्री विष्णु की पूजा के विषय में बताया गया है । उसमें पूजाविधि, पुजारी की योग्यता, और पूजा के लिए पूजा सामग्री को कैसे एकत्रित की जाए उसके विषय में वर्णन है ।******

प्रश्न: विग्रह की सेवा करने, भोग धरने, इत्यादि के लिए यदि हमारे पास विग्रह नहीं है तो हम कैसे सात्त्विक तन्त्र का पालन करें ?
उत्तर: आप के पास एक विग्रह तो होना ही चाहिए । ******

प्रश्न: क्या कम से कम एक होना चाहिए ?
उत्तर: यदि आप पालन करना चाहते हो तो । ******

प्रश्न: क्या वह गुरु से पाया जाता है ?
उत्तर: अवश्य, आप गुरु की अनुमति से लो । यदि पालन करना है, तो गुरु निर्दिष्ट मार्ग पर चलना होगा । शास्त्र भी यही कहता है । ******

प्रश्न: यदि हम सेवा करना चाहते हैं, तो क्या हमें गुरु का सम्पर्क करना होगा एवं उनसे विग्रह सेवा के लिये अनुमति लेनी होगी ?
उत्तर: यदि आप के गुरु हैं तो आप के गुरु जो कहे वही करो । वैसे भी यह कोई मनमुखी रीति नहीं है । ******

प्रश्न: क्या तन्त्र में विग्रह सेवा से भिन्न मन्त्र भी होते हैं ?
उत्तर: हाँ, और भी बहुत कुछ होता है । ******

प्रश्न: आप हनुमान की पूजा प्रतिदिन करते हो । क्या आप समझाएँगे कि हनुमान का हमें कैसे स्मरण करना चाहिए ?
उत्तर: भगवान कहते हैं कि मेरी सेवा से मेरे भक्त की सेवा मेरे लिए विशेष है । हनुमान परम भक्त थे और अपनी सेवा में सम्पूर्ण समर्पित थे, जिसका वे श्रेष्ठ उदाहरण है । भगवान स्वयं कहते हैं,

"मेरा भक्त अपनी भक्ति से मुझे बन्धन में रखता है, जैसे एक चरित्रवान पत्नी अपने सदाचारी पति को वश में कर लेती है ।" (भा. ९.४.६६) यह इसलिए सम्भव है कि भक्त विचलित नहीं होता है । भक्त हमेशा हनुमान की तरह एक लक्ष्य और सेवा में केन्द्रित रहता है । इसी कारण वह भगवान को वश में रखता है और जो ऐसे भक्त की पूजा करता है, तो भगवान उस से प्रसन्न होते हैं । यदि आप भगवान को साक्षात् पूजते हैं तो वे इतने प्रसन्न नहीं होते जितना प्रसन्न वे भक्त को पूजने से होते हैं । अतः शास्त्र में भी कहा है कि जो चराचर जीव को भगवान का अंश समझकर उनके अनुकूल कार्य करता है तो भगवान उस से अति प्रसन्न होते हैं ।

एवं कृष्णात्मनाथेषु मनुष्येषु च सौहृदम् ।
परिचर्यां चोभयत्र महत्सु नृषु साघुषु ।। (भा. ११.३.२९)

"जो अपना परम श्रेय चाहता है उसे ऐसे लोगों से मित्रता बढ़ानी चाहिए जिन सन्तपुरुषो के कृष्ण प्राणवल्लभ हैं । धीरे धीरे सभी लोगों के प्रति सेवाभाव भी बढ़ाना चाहिए । विशेषतः ऐसे लोगों की सेवा करनी चाहिए जो मनुष्य हैं और मनुष्यों में भी जो धार्मिक आचरण के सिद्धान्तों को स्वीकारता है । धार्मिक लोगों में भी भगवत्प्रेमी सन्तो की सेवा करनी चाहिए ।"

अतः श्रीमद् भागवत में जीवों के लिए भिन्न भिन्न श्रेणी की सूची दी है ताकि हम समझ सकें कि ईश्वर भिन्न भिन्न स्वरूप में कैसे प्रकट होते हैं । इस सूची में भक्तगण प्रथम हैं । हनुमान एक महान भक्त है, भगवान को समर्पित है, एकलक्ष्य है और राम की भक्ति के अलावा और कोई विचार उनके मन में नहीं है, अतः वह पूजनीय है ।

सेवा प्रभु की और उसके भक्त की भी करनी चाहिए, वैसे ही जैसे एक चरित्रवान पत्नी न केवल अपने पति की सेवा करती है, पर पति के परिवार के अन्य सदस्यों की भी करती है । जब वह परिवार के सदस्यों की सेवा करती है तो उस से पति भी प्रसन्न होता है । (देखिए विग्रह) ******

६३. परीक्षा एवं विघ्न

प्रश्नः भक्ति-मार्ग में परीक्षा और विघ्न क्यों आते हैं ?

उत्तरः दृढ़ निश्चयी और उत्साही बनने के लिए विघ्न आना आवश्यक है । उदाहरण स्वरूप, यदि यशोदा मैया ने प्रयत्न नहीं किया होता तो कृष्ण को बाँधने की कृपा उन्हें

कृष्ण से नहीं मिली होती । भक्ति भाव है । श्रद्धा के स्तर पर भक्ति होने का अर्थ है दृढ़ निश्चय होना । इसीलिए चाहे कोई भी समस्या क्यों न आए, साधक उसमें सफल हो सकता है । जब विपदा आती है, भक्त अधिक सावधान हो जाता है, दृढ़ निश्चयी बनता है और भगवान को समर्पित हो जाता है एवं वह अधिक प्रगति करता है ।

......

प्रश्न: जब किसी भक्त पर महाविपत्ति आती है तो उसे इसको भगवान का आयोजन समझना चाहिए या अपने कर्म का फल ?

उत्तर: भक्त के ऊपर समस्या उस को अधिक दृढ़ बनाने के लिए आती है और अभक्त को यह बात बताने के लिए कि भक्ति-मार्ग बड़ा कठिन है, जिससे अयोग्य लोग इस मार्ग में प्रवेश न करें और उसे अशुद्ध न करें ।

युधिष्ठिर जैसे महान भक्त को भी कितनी कठिनाईयों का सामना करना पड़ा था ! उनकी तुलना में हम जो सहन करते हैं वह तो कुछ भी नहीं है । उन्हें अपना राज्य गँवाना पड़ा था, जंगल में इधर-उधर भटकना पड़ा और राक्षस और कौरवों के आक्रमण को भी झेलना पड़ा था । कभी कभी युधिष्ठिर महाराज यह सोच कर उदास होते थे कि, "मैं ने ऐसे क्या ग़लत कार्य किए हैं जिससे मुझे ऐसी समस्यायों का सामना करना पड़ता है ?" ऐसी स्थिति में नारद जैसे सन्त आते थे और उन्हें सान्त्वना देते हुए कहते थे, "आप जो कुछ भी कठिनाईयाँ सहन कर रहे हो वह तो कुछ भी नहीं है । बालक प्रह्लाद को देखो, वह कितनी मुश्किलों को सहन कर रहा था !" आपत्ति भेज कर कृष्ण भक्त के विश्वास को और गहरा बनाते हैं ।

भगवान के नाम को सबसे अधिक शुभदा माना जाता है । ऐसा कहा जाता है, कि भगवान का नामोच्चारण जहाँ भी किया जाय, वहाँ कुछ भी अशुभ नहीं रहता । परन्तु कृष्ण स्वयं व्रजवासियों के साथ रहते थे, फिर भी उन पर कितनी आपत्तियाँ आई थीं ! यह उनके कर्मों का फल नहीं हो सकता । यह तो भगवान का ही आयोजन है क्योंकि वे चाहते हैं कि कठिनाइयाँ पाकर मेरे भक्त अधिक दृढ़ बनें । साथ में वे यह भी दिखाते हैं कि भक्त इतनी कठिनाईयाँ झेलने के बाद भी अपनी सेवा ज़ारी रखता है । भगवान यह भी निश्चित करते हैं कि अयोग्य व्यक्ति इस मार्ग को न चुनें । अतः वे भक्तों के लिए आपत्ति का प्रबन्ध करते हैं ।

नारदजी ने पाण्डवों को यह कह कर आश्वासन दिया कि, "कृष्ण प्रत्यक्ष रूप से आप के साथ हैं । भिन्न-भिन्न अवतारों में वे आए, भक्तों को सहायता की और चले गए ।

प्रह्लाद को कई आपत्ति आई, परन्तु नृसिंहदेव उसके साथ नहीं रहे । उन्होंने हिरण्यकशिपु का संहार किया और चले गए । गजेन्द्र हाथी को मगर के मुँह से छुड़ाया और चले गए । परन्तु आप बड़े भाग्यशाली हैं क्योंकि कृष्ण साक्षात् रूप से हमेशा आप के साथ रहते हैं । आप से अधिक अन्य कोई भाग्यशाली नहीं है ।" ऐसे कथन उन्हें उन बाधाओं को सहन करने की शक्ति देते थे । इस प्रकार भक्त की रक्षा होती है ।

******

प्रश्न: क्या भक्त सामने आई आपत्ति को यह माने कि यह अवश्य कृष्ण के द्वारा भेजी गई है ?

उत्तर: आपत्ति भगवान के आयोजन से आती है । ऐसा नहीं है कि भगवान भक्तों को दुःखी करना चाहता है, परन्तु आप को यह समझना चाहिए कि यह चुनौती आप के श्रेय के लिए है । भक्त एक विशेष व्यक्ति है, भिन्न प्रकार का व्यक्ति है । उसकी रीति अन्य लोगों से अलग है क्योंकि वह भगवान से कोई अपेक्षा नहीं रखता । वह भगवान को सम्पूर्ण समर्पित होता है और उसका जो कुछ भी होता है, उसे भगवान का ही समझता है । भक्त भगवान से कैसे कुछ माँग सकता है ? भक्त भगवान को प्रेम करता है और आप जिससे प्रेम करते हो उससे कुछ नहीं माँगते, यद्यपि आप को उसे कुछ देने की, उसकी सेवा करने की इच्छा होती है । यदि आप कुछ माँगते हो, तो वह उत्तमा-भक्ति के मार्ग से विरुद्ध होगा, भक्ति का अर्थ है अन्य इच्छारहित होना, अन्याभिलाषिता शून्यम् ।

जो लोग समस्याओं से, अस्वाभाविक परिस्थितियों एवं विपत्तियों से डरते हैं, उनके लिए कुन्ती ने भगवान कृष्ण को जो प्रार्थना की थी वह समझना कठिन है । कुन्ती ने कृष्ण से कहा था, "कृपा कर मुझे अधिक आपदाएँ दो ।" पाण्डवों ने अपने जीवन में कई विपत्तियों का सामना किया । उनके स्थान पर अन्य कोई होता तो यह सोचता, "अब तो मुझे शांतिपूर्ण जीवन जीने दो ।" परन्तु कुन्ती कृष्ण से प्रार्थना करती है कि उन्हें अधिक विपत्तियाँ दें । यह अकल्पनीय है कि कोई अधिक दुःख की याचना करे ।

भक्त सामान्य जन की तरह नहीं सोचते । महाप्रभु ने भी प्रार्थना की थी, "कृष्ण चाहे मुझे आलिंगन दे या रौंद दे, हर जन्म जन्मान्तर में वही मेरे स्वामी हैं" भक्त कहते हैं कि वे हमारे भगवान हैं, हमारे स्वामी हैं और हर परिस्थिति में हम उनकी सेवा करेगें।

उदाहरण स्वरूप, महाराज के गुरुजी (परम गुरु देव) अपने जीवन के अन्तिम १२ वर्ष पर्यन्त पक्षाघात रोग से पीड़ित रहे । महाराज ने उन्हें पूछा कि स्मृति शास्त्रानुसार क्या

कोई अनुष्ठान करें ? स्मृति में ऐसा वर्णन किया है कि आपसे यदि भूतकाल में कोई ऐसा कार्य हुआ हो जिससे आप को ऐसी बीमारी हो सकती है । आप कुछ विशेष मन्त्र का जप करो, दान करो, या नौ ग्रह को प्रसन्न करो तो ऐसे रोग का निवारण हो सकता है । परन्तु परम गुरुदेव ने यह कहकर मना किया कि, "मैं अपने कर्मों का फल भुगत रहा हूँ और मेरी पीड़ा का कारण कोई ग्रहादि नहीं है । यह तो बस इतना निर्देश करते हैं कि भूतकाल में कुछ ग़लत किया था अतः यह फल मिल रहा है ।" परमगुरु देव यह नहीं चाहते थे कि पक्षाघात से मुक्त होने के लिए ऐसा कोई अनुष्ठान उनके लिए किया जाय । एक भक्त ऐसा समझता है:

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम् ।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक् ।। (भा.१०.१४.८)

"एक व्यक्ति जो हमेशा हर परिस्थिति में आप (भगवान) की पूर्ण कृपा देखता है, अपने पूर्व कर्मों के फल को प्रसन्नता से भुगतता है, प्रेमपूर्ण हृदय, गद्गद् वाणी से और पुलकित देह से आप को समर्पित करता है, वही आप की भक्ति पाने के लिए योग्य बनता है ।"

एक भक्त नित्य कृष्ण स्मरण करते हुए अपने कर्मों के परिणाम को सहन करता है । ऐसा भक्त भगवान की सम्पत्ति का उत्तराधिकारी बनता है क्योंकि वह भगवान से कोई अभिलाषा नहीं करता है ।

कभी ऐसा भी कहा जाता है कि भगवान ने किसी की रक्षा की या किसी को कुछ लौकिक वरदान दिए हों, परन्तु ऐसा उन लोगों के साथ होता है जिनकी श्रद्धा इस मार्ग में विकसित नहीं हुई है । ऐसे विधान उनकी श्रद्धा वृधि के लिए, भक्ति में उनकी रुचि बढ़ाने के लिए किए जाते हैं ।

अतः एक भक्त का मन समझना कठिन है क्योंकि उसके विचार अलग होते हैं । उसकी धारणा और मन एक सामान्य व्यक्ति से बिल्कुल पृथक होते हैं । एक सामान्य व्यक्ति भक्त को नहीं समझ सकता क्योंकि उसकी और भक्त की विचारसरणी सम्पूर्ण रूप से भिन्न होती है । सामान्य व्यक्ति सम्पूर्णतया अपने देह और संपत्ति में मग्न रहता है परन्तु भक्त भगवान के लिए कार्य करने में सदा व्यस्त रहता है ।

******

प्रश्नः हमने गुरु के विषय में ऐसी कई कहानियाँ सुनी है जहाँ वे अपने शिष्यों की और उनकी निष्ठा की परीक्षा करते हैं । क्या हमारे मार्ग में यह परीक्षण होता है और कैसे?
उत्तरः शिष्य दीक्षा लेने के लिए योग्य है या नहीं यह जानने के लिए दीक्षा देने से पहले गुरु शिष्य की प्रायः परीक्षा करते हैं । शास्त्र में इसके लिए सामान्य सूचना दी है कि एक वर्ष तक गुरु शिष्य का निरीक्षण करे । यदि ऐसा सम्भव नहीं है तो कम से कम छः महीने तक निरीक्षण करना चाहिए । यदि यह भी सम्भव नहीं है तो कम से कम एक महीना परीक्षण करना चाहिए । इस प्रक्रिया का मुख्य उद्देश्य मात्र यह देखना है कि शिष्य दीक्षा के लिए योग्य है कि नहीं, जिस से अयोग्य लोगों से इसका दुरुपयोग न हो और उन से दीक्षा प्रथा दूषित न हो ।

******

प्रश्नः पर क्या दीक्षा के बाद गुरु शिष्य की परीक्षा करते हैं कि वह दीक्षा के अनुसार आचरण करता है कि नहीं ?
उत्तरः परीक्षा दीक्षा लेने से पहले की जाती है, दीक्षा के बाद ऐसा कुछ नहीं होता ।

******

प्रश्नः क्या हमें अनुमान करना होगा कि हम परीक्षा में सफल हुए हैं ?
उत्तरः यह आध्यात्मिक मार्ग है और परीक्षा का अर्थ यहाँ होता है कि आप जो कुछ भी कहते हो, वही करते हो । गुरु यही देखते हैं कि आप ऐसा करते हैं कि नहीं । और कोई परीक्षा नहीं होती । परीक्षा यही है कि आप जो कुछ कहते हो वही करते हो या नहीं । इसीमें सभी प्रकारकी परीक्षा समा जाती है ।
यदि आप सत्यवादी हैं, तो आप का जीवन परिवर्तन हो जाएगा, अर्थात् अपने गुरु के आदेशों का आप पालन करते हैं । अन्यथा आप जैसे हैं, वैसे ही रहेंगे, चाहे आप जो कुछ भी करें । अतः यही एक परीक्षा है । यदि इसमें कोई सफल होता है तो उसका जीवन परिवर्तन हो जाता है, परन्तु जो दीक्षा लेकर भी पहले जैसा जीवन ही बिताते थे वही करते हैं, तो वे अभक्त ही रहते हैं ।

******

६४. पाप की स्वीकृति या स्वस्वीकृति

प्रश्नः क्या हम आप से (हमारे) दैनिक जीवन और व्यक्तिगत समस्याओं के बारे में प्रश्न पूछ सकते हैं ?
उत्तरः आप कुछ भी पूछ सकते हैं, चाहे वह दैनिक जीवन हो, व्यावहारिक समस्या हो अथवा दार्शनिक प्रश्नों से सम्बन्धित हो । ******

प्रश्नः जब हमें कोई व्यक्तिगत समस्या (या ग़लत कर्म किया) हो, तो क्या हमें उसका स्वीकार करना चाहिये ?

उत्तर: (परिहासपूर्वक) हाँ, रविवार को। उत्तमा भक्ति के मार्ग में स्वस्वीकृति जैसी कोई वस्तु ही नहीं है क्योंकि यह मार्ग सरलता और सच्चाई का है, कोई कपट का स्थान नहीं। यह मार्ग ज्ञान पर आधारित है, कल्पना (रहस्यवाद) या अज्ञानता पर नहीं।

यदि कोई सही समझ और ज्ञान से गुरु का स्वीकार करता है तो गुरु के प्रति उसका व्यवहार सरल होता है। शिष्य देह के लिए जितना भी आवश्यक है उतना स्वीकार करे। यदि आप को भोजन करना है तो भोजन करो या नीन्द लेना ज़रूरी लगे तो सो जाएँ। निषिद्ध क्रियाकलाप करने की ज़रुरत नहीं है और न ही ऐसा कोई प्रावधान है कि यदि कोई निषिद्ध कार्य करता है तो वह (गुरु के पास) आए और उस ग़लती का स्वीकार करे। पाप की स्वीकृति करना एक प्रकार का व्यापार है।
उदाहरण के लिए: यहाँ वृन्दावन में पण्डा लोग यही व्यापार करते हैं। यहाँ कई लोग आते हैं, विशेषत: पश्चिम बङ्गाल से आते हैं और स्थानीय पण्डा को तीर्थ पुरोहित के रूप में स्वीकार करते हैं। वे आएँगे, प्रणाम करेंगे, कुछ दक्षिणा देंगे और फिर पण्डा कहता है, "आपने जो कुछ भी पाप किए हैं, उन्हें मेरे चरणों में रख दो और अब आप मुक्त हो गए हो।" यह एक व्यापार है – कुछ धन भुगतान द्वारा पापों से छुटकारा पाना।

प्रत्येक व्यक्ति को कर्म करने का अधिकार है, किन्तु कर्मफल देने का अधिकार केवल परमात्मा को ही है। अपने कर्म किसी को देने का या किसी के पाप को स्वयं लेने की शक्ति हम में नहीं है, पर पण्डा तीर्थ-यात्रियों को कहते हैं कि वे ऐसा कर सकते हैं। यह अज्ञानी लोगों को मूर्ख बनाकर पैसे कमाने का केवल एक तरीक़ा है। पण्डा कोई परमात्मा नहीं है।

यदि पाप की स्वीकृति की तो वह एक आदत सी हो जाएगी। उदाहरण स्वरूपमें, कोई गुरु के पास गया और पूछा, "यदि मैं पूजा के दौरान अपान वायु छोड़ता हूँ, तो मैं क्या करूँ ?" गुरु ने कहा, "अपने वस्त्र बदलो, हाथ पैर धो लो, स्वच्छ वस्त्र पहनो और पूजा करो।" शिष्य ने फिर पूछा, "यदि पुनः ऐसा होता है तो मैं क्या करूँ ?" गुरु ने कहा, "पुनः ऐसा करो।" शिष्य ने पूछा, "यदि मैं ऐसा तीसरी बार करता हूँ तो ?" गुरु ने कहा, "पुनः ऐसा करो।" इन प्रश्नो के पीछे यही सोच छुपी है कि शिष्य गुरु से यह कहलवाना चाहता है, "यदि ऐसा होता है तो कोई बात नहीं। वस्त्र बदलने की कोई आवश्यकता नहीं है।" शिष्य ग़लत कार्य करने के लिए अनुमोदन प्राप्त करने का प्रयत्न कर रहा है।

परन्तु, यह (उत्तमा भक्ति) मार्ग ऐसा नहीं है । यह मार्ग सत्यता का है । इसी प्रकार साधक को सत्य बने रहना चाहिए । अन्यथा, पाप की स्वीकृति के समय आप सोचते हैं, " मैं ने जो भूल की है, उससे अब मैं मुक्त हो गया हूँ," और फिर वह ग़लती आप बार बार करेंगे और पुनः उसकी स्वीकृति करेंगे । यह एक स्वभाव सा हो जाएगा । भक्ति मार्ग में इस प्रकार का व्यापार स्वीकृत नहीं है । अन्य मार्ग में यह प्रचलित है, फिर वह हिन्दु धर्म हो या ईसाई धर्म हो, परन्तु उत्तमा भक्ति में ऐसा नहीं है ।

******

६५ पाश्चात्य विद्वानों का मन्तव्य

प्रश्नः पाश्चात्य विद्वान् यह स्वीकार नहीं करते हैं कि समस्त वैदिक साहित्य के लेखक एक ही हैं । वेदान्त, उपनिषदों और पुराणों की भाषा-वैविध्य के अनुसार इन विद्वानों के मन्तव्य भिन्न-भिन्न हैं । पाश्चात्य एवं वैष्णव विद्वान् के मध्य जो मतभेद हैं उस विषय में आप का क्या कहना है ?

उत्तरः मानव प्रकृति दो प्रकार की हैं, देव और असुर, अथवा सत् और असत्, सज्जन और भौतिकवादी । सज्जन लोग ईश्वरके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और इनसे भिन्न आसुरी लोग ईश्वर नहीं मानते हैं ।

जब हम जगत पर दृष्टि डालते हैं तो यह स्पष्ट है कि इसका सृजन किसी व्यक्ति ने किया है । किसी व्यक्ति के सृजन एवं सुव्यवस्था बिना यह अस्तित्व में नहीं आया है, जैसे कि उत्क्रान्तिवाद (क्रम-विकासवाद) की मान्यता है कि मानवजाति बन्दरों से विकसित नहीं हुई है । इस जगत के सृजन के बारे में अनेक वाद सम्भव है जैसे कि शायद बहुत लोगों ने एक लम्बे अन्तराल में इसकी सृष्टि की है, अथवा आप उत्क्रान्तिवाद को मान सकते हैं या किसी सर्वशक्तिमान व्यक्ति ने इस जगत् को बनाया है ।

वेद के बारे में भी इसी प्रकार भिन्न-भिन्न मत है । वैदिक ज्ञान का अस्तित्व है । कई लोग यह मानते हैं कि वेदों की रचना पाखण्डी ब्राह्मणों ने की है क्योंकि वे समाज के अन्य लोगों का शोषण करना चाहते थे और उनसे अपना लाभ उठाना चाहते थे । वे तर्क करते हैं कि वेद में कोई तत्त्व नहीं है । चार्वाक और उनके अनुयायियों का यह मन्तव्य है । पाश्चात्य विद्वान् कोई नई बात नहीं कह रहे हैं । भूतकाल में भी लोगों के इस प्रकार के कथन थे ।

यह अब हम पर निर्भर करता है कि हम क्षुद्र व्यक्तियों द्वारा प्रस्तुत किए गए कथनों का अनुसरण करें या शास्त्र की बातों का । पाश्चात्य विद्वानों के मात्र कथन हैं, उनके पास इसका कोई प्रमाण नहीं हैं । वे मात्र प्रश्न करते हैं "वेदों को किसने लिखा है"? अथवा वे कहते हैं कि ये भिन्न-भिन्न व्यक्तियों द्वारा लिखें गए हैं, क्योंकि वेद की भाषा में वैविध्यता है । उनके कथन प्रमाणहीन एवं असत्य हैं । हमारा प्रत्युत्तर है कि अगर कोई व्यक्ति सर्वज्ञ है, तो उसको अनेक भाषाओं का ज्ञान क्यों नहीं हो सकता ? वह एक ही प्रकार की भाषा प्रयोग क्यों करेगा या एक ही शैली में क्यों प्रस्तुत करेगा ?

यह विचार करें कि जिन लोगों ने वेद की सर्वोच्चता स्वीकार की है वे धोखा देने में रुचि नहीं रखते हैं एवं "जगत् ईश्वर द्वारा निर्मित है" ऐसे कथन से व्यक्तिगत उद्देश्य की पूर्ति नहीं करनी है । जिन लोगों ने वेदों की सर्वोपरि सत्ता और भगवद्वाणी का रूप स्वीकार किया है उनकी तुलना पाश्चात्य विद्वान् के चरित्र, उद्देश्य एवं सामर्थ्य के साथ करना चाहिए । आप को यह देखना चाहिए कि चरित्र, तप एवं ज्ञान में इन दोनों में से कोन श्रेष्ठ है और किस पर विश्वास करना चाहिए ।

द्वितीयतः यदि वेद भिन्न-भिन्न व्यक्तियों के द्वारा लिखे गए हैं तब हम वेद के इस कथन की व्याख्या कैसे करेंगे कि "वेद ईश्वर का श्वास है" या ईश्वर ने "स्वयं ब्रह्माजी को वेद प्रदान किये" ? पुस्तक लिखते समय आप अपने लेखन का श्रेय किसी और को नहीं देते हो, वस्तुतः यह कहते हो कि, "मैं ने लिखा है"। ठीक वैसे ही जब हम मानते हैं कि वेद विभिन्न काल में विभिन्न व्यक्तियों द्वारा लिखे गए, तो इस बात का वे अवश्य निर्देश करेंगे कि पुस्तक का यह भाग वे लिख रहे हैं और दूसरे भाग कोई और लिख रहे हैं । ऐसी कौन सी व्यक्ति है जो पुस्तक लिखना चाहती है पर उसका श्रेय लेना नहीं चाहती ? यदि लेखक इतना महान है कि वह लिखने का श्रेय नहीं ले रहा है तो वह जो कह रहा है कि वेद ईश्वर-कृत है तो आप उस पर विश्वास क्यों नहीं करते हो? इससे क्या कोई फ़र्क़ पड़ता है ? यदि ऐसे निःस्वार्थ लोगों ने इसको लिखा है तो वह ईश्वर-वाणी के समान ही है ।

हम उन व्यक्तियों के निष्कर्ष को क्यों माने जिनका चरित्र सन्दिग्ध और उद्देश्य संशयपूर्ण है ? विशेषतया पश्चिमी विद्वानों की अपनी राय भी सर्वसम्मत नहीं है, तो फिर हम उन लोगों की कौन सी व्याख्या अपनायें ?

अन्ततोगत्वा महत्त्वपूर्ण वस्तु वेदों की शिक्षा है । यह महत्त्वपूर्ण नहीं है कि वेद ईश्वर-वाणी है या ईश्वर ने ऋषि मुनियों को प्रदान किये हैं अथवा कुछ ऋषि मुनियों ने उनको

प्रकाशित किया है । जो मानव वेदों को स्वीकार करते हैं वे अपने अध्ययन द्वारा अपने जीवन में उत्कर्ष लाते हैं । वे जो वेदों की रचना पर खोज कर रहे हैं किसी भौतिक लाभ के लिए कर रहे हैं । उनका इन वेदों की शिक्षा या उपदेश के साथ कोई प्रयोजन नहीं है । उनका उद्देश्य मात्र लेख, शोध, प्रबन्ध, या एक पुस्तक लेखन तक सीमित है। उस के लिए उन्हें कुछ नया कहना पड़ता है । अतः वे वेदों की रचना के विषय में अनेक सिद्धान्तों का उल्लेख करते हैं, किन्तु परम्परागत विचारधारा केवल एक ही है और वह स्वयं वेदों में ही प्राप्त होती है । ******

६६. पुण्य

प्रश्नः क्या पुण्य से आध्यात्मिकता में वृद्धि हो सकती है ?

उत्तरः नहीं । पुण्य या पुण्यार्जित कार्य लौकिक फलदान में वृद्धि करता है, अलौकिक परिणामों में नहीं । मात्र आध्यात्मिक प्रवृति ही अलौकिक परिणामों में बढ़ावा करती है। पुण्य का अर्थ है शास्त्र-पालन करना । व्यक्ति शास्त्र का पालन तीन प्रकार कर सकते हैं: सकाम (सांसारिक इच्छाओं के साथ), निष्काम (बिना सांसारिक इच्छाओं से), और भक्ति से कृष्ण को प्रसन्न करने की इच्छा रखना । पाप का अर्थ है शास्त्र की अवहेलना करना । ******

६७. पूर्व जन्म

प्रश्नः क्या हम अपने पूर्व जन्म के विषय में जान सकते हैं और क्या ऐसा करना उचित है ?

उत्तरः इस जन्म के आधार पर पूर्व जन्म का अनुमान कर सकते हैं । पूर्व जन्म के कर्म से संस्कार बनते हैं या विशेष स्वभाव बनता है, जो इस जन्म में हमारे साथ होते हैं । वर्तमान स्वभाव के आधार पर अनुमान कर सकते हैं कि पूर्वजन्म में उसने कैसे कर्म किए होंगे । इस जन्म में जो कुछ भी होता है, वह हमारे पूर्वजन्म के कर्म एवं जीवन शैली का ही परिणाम है । इस जन्म में जो भी स्वभाव, पसन्दगी और रुचि होती है, उसका कारण यह है कि पूर्व जन्म में तदनुसार अभ्यास किया था ।

योग सूत्र में कुछ विशेष रीति दर्शायी गयी है जिसकी सहायता से हमे पूर्वजन्म का ज्ञान होता है एवं ज्योतिष विद्या की सहायता से भी हम जान सकते हैं । फिर भी अपने पूर्वजन्म के विषय में जानने का कोई अर्थ नहीं है । वर्तमान को समझना चाहिए, शास्त्र की सही समझ पानी चाहिए, उस समझ से उचित निर्णय लेने चाहिए और तदनुसार जीवन व्यतीत करना चाहिए । महत्वपूर्ण बात यह है कि आप को अपना भविष्य अच्छा बनाना चाहिए, जो वर्तमान पर आधारित है । ******

६८. प्रतिस्पर्धा - सहयोग

प्रश्न: भौतिक जगत में हमेशा प्रतिस्पर्धा है । किन्तु भक्ति मार्ग में हमें सहयोगी बनने के लिए कहा जाता है । हम सहयोग भाव कैसे विकसित कर सकते हैं ?

उत्तर: भौतिक जगत में प्रतिस्पर्धा का मूल स्रोत है अज्ञानता । अज्ञानता बुनियादी है जो अनादि अविद्या है और यह अज्ञानता व्यक्ति की अपनी पार्थिव शरीर की आसक्ति से है । व्यक्ति प्रतिस्पर्धा करता है क्योंकि वह सोचता है कि भौतिक उन्नति करना ही जीवन का आधार है । इसके पीछे एक ईर्ष्यालु स्वभाव है । इसका उपाय केवल भक्ति मार्ग है । भक्ति भगवान को समर्पण करने पर आधारित है । "मैं दूसरों से अलग हूँ", "मेरे पास जो है वह तुम्हारे पास नहीं है" जैसी स्वतन्त्र और पृथकतावादी मानसिकता भक्ति में नहीं होती है । इसलिए साधक में साहजिक सहयोग की भावना बनी रहती है और वह विनम्र रहता है । जितना साधक विनम्र और समर्पित रहता है, इतना इस मार्ग में उन्नति करता है । भौतिक जगत में इससे विपरीत होता है और इसी कारण व्यक्ति को संघर्ष करना पड़ता है, प्रतियोगिता का सामना करना पड़ता है और हम स्वाभाविक शत्रु बन जाते हैं ।

यदि व्यक्ति सरल, विनम्र और सहयोगी है तो शत्रुता ही नहीं रहेगी । सांसारिक जगत की इसी समस्या को हल करने के लिए श्री चैतन्य महाप्रभु ने भगवान की उत्तमा भक्ति का प्रचार प्रसार किया है । भक्ति में एक सङ्गठन है और श्री कृष्ण उसके केन्द्र में हैं । वे पूजनीय भगवान हैं और प्रत्येक व्यक्ति उनका सेवक है । अतः हर एक व्यक्ति इस विचार के आधार पर सहयोग करे, फिर संघर्ष और प्रतिस्पर्धा के लिए कोई स्थान नहीं रहता ।

******

प्रश्न: सहयोग क्या है और सहकारी रूप से हम कैसे व्यवहार कर सकते हैं ?

उत्तर: मैं ने आगे भी बताया है कि मार्ग दो प्रकार के होते हैं: निवृत्ति मार्ग और प्रवृत्ति मार्ग ।

प्रवृत्ति मार्ग अर्थात् आसक्ति मार्ग, जिस में व्यक्ति अपने देह से आसक्त होता है और वह देह को निज के रूप में देखता है । अतः यह स्वार्थ कहलाता है या स्वार्थपरता का पथ । यद्यपि देह आत्मा नहीं है तो भी व्यक्ति शरीर को स्वयं के रूप में (आत्मा) मान लेता है और शरीर एवं इन्द्रियों के सुख के लिए रत रहता है । प्रवृत्ति मार्ग में व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के साथ सहयोग करता है जो उसके शरीर से सम्बन्धित है, फिर चाहे वह पत्नी, बच्चे या और कोई हो । वह सहयोग स्वाभाविक है और उसके लिए आदेश

आवश्यक नहीं है । ऐसा करने के लिए किसी को निर्देश नहीं देना होता है क्योंकि भौतिक आसक्ति के कारण वह स्वाभाविक है ।

दूसरा मार्ग है निवृत्ति मार्ग अथवा अनासक्ति मार्ग, जो परार्थ के लिए है (पर का अर्थ है परमेश्वर) । अर्थात् भगवान के लिए कार्य करना । इसमें आदेश है क्योंकि लोगों को इसका पालन करने में रुचि नहीं होती है । अतः शास्त्र इसे सूचित करते हैं, ऐसा करने का आदेश देते हैं क्योंकि इस मार्ग को केवल शास्त्र के माध्यम से ही समझा जा सकता है । अन्यथा व्यक्ति केवल स्वार्थ और शरीर की आसक्ति के कारण ही कार्य करता है।

जैसे व्यक्ति सांसारिक आसक्ति के लिए कार्य करता है, ठीक उसी प्रकार व्यक्ति को अपने तन, मन और वाणी से भगवान के लिए कार्य करने चाहिए । जगत में व्यक्ति अपने भोगविलासमय जीवन के लिए पूर्ण रूप से समर्पित होकर कठिन परिश्रम करता है, जिसके लिए किसी प्रकार के प्रशिक्षण या सलाह लेने की आवश्यकता नहीं है । आध्यात्मिक जीवन अथवा भगवान के लिए भी व्यक्ति को इसी भाव से कार्य करने चाहिए । सांसारिक आसक्ति का उदाहरण दिया जाता है ताकि कोई भी समझ सके कि सहयोग कैसे किया जाता है ।

वास्तव में 'सहयोग' शब्द 'आनुकूल्य' का पर्यायीवाची है, जिसका अर्थ होता है अनुकूल कार्य करना । लोग 'आनुकूल्य' का अर्थ नहीं समझते हैं अतः उसके लिए दूसरा शब्द 'सहयोग' का प्रयोग किया जाता है ताकि लोग समझ सके कि सहयोग अर्थात् भगवान की प्रसन्नता के लिए अनुकूल कार्य करना । व्यक्ति अपने शारीरिक सुख या अपने शरीर से जुड़े लोगों के साथ प्रसन्न होकर जिस प्रकार कार्य करता है, ठीक उसी प्रकार भगवान को प्रसन्न करने के लिए कार्य करना चाहिए । सहयोग का यही अर्थ होता है। अर्थात् गुरु को उनकी प्रभुसेवा में सहयोग देना ।******

प्रश्नः गुरुदेव और भक्त की सेवा में सहयोग देने के विषय में क्या मानसिकता होनी चाहिए ?
उत्तरः यदि व्यक्ति निष्कपट और सरल है, तो सहयोग करेगा । यदि वह सरल नहीं है तो धोखेबाजी करेगा और सहयोग नहीं करेगा । अतः व्यक्ति को सरल और ईमानदार होना चाहिए ।

******

प्रश्नः पिछले दर्शन में आपने व्याख्या की थी कि सहयोग आनुकूल्य का पर्यायवाची है। पहले मैं यह समझता था कि आप ने ऐसा कहा था कि अनुकूल सेवा कैसे करनी है

इसकी हमें समझ नहीं है अतः हमें सहयोग देने का प्रयत्न करना चाहिए । तो अब सहयोग क्या एक पर्यायवाची शब्द अथवा...... ?
उत्तर: यह एक ही वस्तु है, पर जब तक आप आनुकूल्य का अर्थ नहीं समझते, सहयोग शब्द का प्रयोग किया जाता है ताकि कम से कम आप इतना तो सोच सको कि सहयोग का अर्थ क्या होता है ।   ******

प्रश्नः परन्तु आनुकूल्य का अर्थ सहयोग से भी कुछ अधिक होता है । है ना ?
उत्तरः हाँ ।   ******

६९. प्रसिद्ध व्यक्ति

प्रश्नः क्या सन्त तुकाराम श्री चैतन्य से मिले थे और क्या वे गोड़ीय वैष्णव थे ?
उत्तरः वे दोनों का कभी मिलाप नहीं हुआ । उन दोनों के जीवनकाल में लगभग २०० वर्ष का अन्तर है । जब व्यक्ति प्रसिद्ध होता है तो लोग उसका नाम अपने आचार्य अथवा पूर्वज से जोड़ देते हैं । महाराष्ट्र में बहुत कम लोग श्रीचैतन्य के विषय में जानते हैं, पर सन्त तुकाराम अति प्रसिद्ध हैं ।

कुछ ऐसे लोग हैं जिनका कोई सम्प्रदाय नहीं है, पर उन्होंने अन्य प्रसिद्ध लोगों के नाम के साथ अपना नाम जोड़ दिया है । मैं एक सम्प्रदाय के कुछ ऐसे लोगों को जानता हूँ जिन्होंने ऐसा ही किया है । उन्होंने अपने सम्प्रदाय के इतिहास का वर्णन करते हुए कुछ पन्ने लिखे, फिर पन्नों को रसोई घर में ले गए, जहाँ लकड़ियाँ जल रही थी । लकड़ी की आँच और धुएँ से कागज का रंग बदल गया और कागज ऐसे दीखने लगे जैसे कि बहुत पुराने हो ।   ******

प्रश्नः श्री भक्तिवेदान्त स्वामी प्रभुपाद की पुस्तकों में बताया गया है कि श्री तुकाराम ने श्री महाप्रभु से दीक्षा ली थी । क्या यह सत्य है ?

उत्तरः यदि ऐसा हुआ होता तो महाप्रभुजी की आत्मकथा में इसका वर्णन होता । ऐसे कई आत्मकथाकार हैं, पर किसीने भी इसका वर्णन नहीं किया है । ******

७०. प्रार्थना

प्रश्नः हमारी पुरानी संस्कृति में प्रार्थना का अर्थ कुछ वस्तुयाचना करना होता था । सही अर्थ में प्रार्थना क्या है ? प्रार्थना के लिए क्या गुण होने चाहिए ?
उत्तरः प्रार्थना दो प्रकार की होती है:

१. सर्व प्रथम साधक कुछ विशेष वस्तु के लिए प्रार्थना करता है, उदा. भक्ति ।
२. दूसरा प्रकार व्यक्ति अपनी नम्रता व्यक्त करता है । इस में किसी भी विशेष वस्तु की याचना नहीं होती ।

भक्ति मार्ग में प्रार्थना का अर्थ होता है भगवान की सम्पूर्ण शरणागति, क्योंकि स्वयं को स्वतन्त्र समझना यह मनुष्य का स्वाभाविक स्वभाव होता है । अतः स्मरण के लिए एवं "भगवान को समर्पित हूँ" यह भाव नित्य ध्यान में रखने के लिए प्रार्थना करता है । यह स्मरण प्रार्थना का एक मुख्य भाग है । ******

प्रश्नः मैं गुरु की प्रार्थना करूँ या कृष्ण की, क्या दोनों प्रार्थना समान है ?
उत्तरः हाँ । पर उसे सच्चे निर्मल हृदय से और किसी भी गोपनीय हेतुरहित करना होगा।

******

७१. प्रेम

प्रश्नः चैतन्य चरितामृत में वर्णन है कि कैसे श्री महाप्रभु और पंचतत्व ने प्रेम का निधि खोल दिया । दूसरी ओर भगवान का ऐसा प्रेम पाना दुर्लभ है । ये इन विरोधी अवधारणाओं को कैसे समझा जाय ?
उत्तरः श्री चैतन्य महाप्रभु ने किसी को भक्ति और प्रेम प्रदान नहीं किया । वे (भगवान) स्वयं अपने परिकरों के साथ अवतरित होते हैं और उन्हें प्रेम प्रदान करते हैं, जो उन परिकरों के पास तो है ही, पर भगवान और उनके परिकरों के मध्य में होती लीलाओं को देख करके कुछ लोग उनके प्रति आकर्षित हुए, उनकी श्रद्धा बढ़ी और इस तरह भक्ति का मार्ग शुरू हुआ ।

प्रेम भगवान की स्वरूप शक्ति है और इसके अन्तर्गत ह्लादिनी शक्ति और संवित शक्ति है ।

कृष्ण स्वयं प्रेम की अनुभूति करने के लिए अपने परिकरों के बीच एक भक्त की तरह व्यवहार करते हैं । कृष्ण और परिकर प्रेम की अनुभूति करते हैं । प्रेम स्वयं कृष्ण की स्वरूप शक्ति है । ******

७२. प्रेम, भौतिक

प्रश्न: ईश्वर की कृपा से जब माँ को बच्चा होता है तो माँ को उस बच्चे के लिए विशेष प्रेम होता है । क्या यह प्रेम लौकिक है या अलौकिक ?

उत्तर: यह स्वाभाविक है कि माँ अपने बच्चे की देखभाल करे अन्यथा बच्चा जीवित नहीं रहेगा ।

******

प्रश्न: माँ का यह प्रेम क्या एक अलौकिक शक्ति है या लौकिक आसक्ति है ?

उत्तर: वह लौकिक है ।

******

प्रश्न: क्या यह भी भगवान का दिया हुआ है ?

उत्तर: हाँ ।

******

७३. प्रेरणा

प्रश्न: कल प्रवचन में हमने सुना कि यदि हमें परमात्मा से प्रेरणा मिलती है तो हमें गुरु से भी इस विषय का समर्थन लेना चाहिए ?

उत्तर: यदि आप अध्ययन नहीं करोगे और प्रश्न नहीं पूछोगे तो इसका अर्थ यह है कि आप अपनी मनमानी करते रहोगे ।

******

प्रश्न: अर्थात् हमें पूछना ही चाहिए ?

उत्तर: हाँ ।

******

प्रश्न: दीक्षा समय जब कोई गुरु के रूप में कृष्ण को समर्पित होता है और निवृत्ति-मार्ग पर चलने के लिए निष्ठावान है, तो क्या आत्मनिरीक्षण से हमारे अनर्थ एवं दम्भ को जानने के लिए हमारी बुद्धि इनका परीक्षण करने में सक्षम बनती जायेगी ?

उत्तर: हाँ बुद्धि अधिक दृढ़ बनती है और हम को मज़बूत बनाती है । हृदय शुद्ध बनता है और शिष्य यथार्थ रूप से देख सकता है । इसे स्फूर्ति कहते हैं ।

******

७४. बच्चें

प्रश्नः मातापिता जो कृष्णभक्त हैं उन्हें अपने बच्चों को कम से कम कौन सी शिक्षा देनी चाहिये ?

उत्तर: सर्व प्रथम बच्चों को अपने मातापिता का सम्मान कैसे किया जाय इसकी शिक्षा देनी चाहिए । मातापिता ने उन्हें जन्म दिया है, उनकी देखभाल की है और उनकी

समस्त आवश्यकताओं की पूर्ति की है अतः बच्चों को उनके कृतज्ञ होना चाहिए । यदि वे अपने मातापिता के प्रति कृतज्ञ नहीं होते हैं तो पूर्णतः स्वच्छन्द हैं और वे किसी की नहीं सुनेंगे । यह भी सम्भव नहीं है कि वे भगवान की या किसी अन्य श्रेष्ठ भक्त की बात को स्वीकार करेंगे । मातापिता ने प्रत्यक्ष रूप से हमारी देखभाल की है, इस बात की अनुभूति, स्वीकृति, और कृतज्ञता को जो स्वीकार नहीं करते, तो भगवान, जो प्रत्यक्ष रूप से उपस्थित नहीं है, फिर भी वे प्रत्येक व्यक्ति के कल्याण के लिए कार्य करते हैं तो मातापिता के बारे में क्या कहें ?

बुनियादी शिक्षा माँ बाप को सम्मान देने से प्रारम्भ होती है । इस कारण वैदिक परम्परा में उन्हें मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, गुरुदेवो भव सिखाया जाता था । जिसका अर्थ होता है कि हर व्यक्ति को अपने मातापिता और गुरु का भगवान की तरह सम्मान करना चाहिए । इसी मूलभूत सिद्धान्त को उन्हें समझना और अनुभव करना चाहिए। यह नहीं है कि इस प्रकार सम्मान देना बच्चों के ऊपर उसे बलपूर्वक थोपा जाय, परन्तु ठीक-ठीक उसकी अनुभूति करें ।

आधुनिक शिक्षा में दूसरों को आदर देने की कोई समझ नहीं है । आप स्वयं अपने लिए कार्य करते हैं । सम्पूर्ण अस्तित्व रखने के लिए और स्वयं के भोग लिए आप सामने वाले व्यक्ति के प्रति कोई उत्तरदायित्व नहीं रखते हैं । यह आधुनिक शिक्षा है जो केवल कामभोग और सांसारिक सुख की ओर ले जाती है ।
मार्ग दो प्रकार के होते हैं : सत् मार्ग और असत् मार्ग, यथार्थ मार्ग और अयथार्थ मार्ग।

1 सत् मार्ग: वैदिक संस्कृति को परम तत्त्व की समझ पाने के उद्देश्य से स्थापित की गयी थी । वह कोई मनोरंजन की वस्तु नहीं है । वैवाहिक जीवन केवल कामभोग के लिए नहीं था, बल्कि पुत्रोत्पादन के लिए था, जो पूर्वजों की और अन्ततोगत्वा भगवान की पूजा करेगा । वैदिक मन्त्रों के उच्चारण से पति पत्नी जो भिन्न हृदयवाले होते थे, उनके हृदय विवाह उत्सव के द्वारा एक बनाये जाते थे । वे वैदिक मन्त्रों और उत्सवों में श्रद्धा रखते थे । वे विवाहोत्सव के दौरान एक होने की प्रतिज्ञा लेते थे और जीवन पर्यन्त एक साथ रहते थे । कभी विवाह-विच्छेद नहीं होते थे । वे धर्मवृद्धि के लिए सन्तानोत्पादन करते थे । यह सत् मार्ग है ।
बच्चे धर्म में शिक्षित होते थे और उन में अच्छे संस्कार सिंचित किये जाते थे । पति और पत्नी कामभोग की इच्छा से बच्चे उत्पन्न नहीं करते थे । वे गर्भाधान के लिए उचित विधि को निभाते थे जिससे बच्चे में अच्छे संस्कार सिंचित हो और उसका जन्म उचित रीति से हो । गृहस्थ जीवन समाज की नींव है । चाहे कोई साधु बने, संन्यासी बने,

या फिर कोई भी हो, उसे गृहस्थ जीवन से ही आना है, इसके अलावा ओर कोई रास्ता ही नहीं है । अतः सामाजिक नींव दृढ़ रखनी चाहिए, जिसका प्रारम्भ परिवार से होता है ।

2 असत् मार्ग: यदि किसी गृहस्थ जीवन की नींव उचित नहीं है तो ऐसे परिवार से आए हुए व्यक्ति जो साधुमार्ग पर आएँगे, तो यह सम्भावना है कि वे अनैतिक होंगे और शायद उसके परिणाम स्वरूप पूरा समाज भी अनैतिक ही हो जाएगा । अब पुरानी प्रथा टूट चुकी है और इसका परिणाम हम सर्वत्र देख रहे हैं । अभी जिसे हम प्रेम विवाह कहते हैं, वह अन्ततः कामभोग पर आधारित है । इसका परिणाम यह है कि पत्नी पति का सम्मान नहीं करती है । इस में कोई दो राय नहीं कि पति का सम्मान करना चाहिए- पति देवो भव । किन्तु आज के युग में पत्नी अपने पति को एक नौकर समझती है और इसीलिए जब कोई उसे कहता है कि पति पूजनीय है, तो वह इस बात पर हँसती है । यह उसके लिए एक परिहास है । आजकल विवाह केवल एक सामाजिक स्वीकृति के लिए किया जाता है । सम्पूर्ण विवाह व्यवस्था और लोगों को खिलाने पिलाने के लिए धन व्यय मानों लोगों को रिश्वत देने जैसा है, जिस से लड़का लड़की को साथ रहने पर कोई बाधा उत्पन्न न करें । पश्चिम के देशों में तो इस स्वीकृति की भी आवश्यकता नहीं है, अतः बिना विवाह के भी आप साथ रह सकते हो और अपनी मनमानी कर सकते हो । भारत में भी अब यह प्रथा चल पड़ी है ।

ऐसी स्थिति में ऐसे विवाह से जन्मे बच्चों से यह आशा नहीं की जा सकती कि वे धार्मिक भावना रखें । जब वे बड़े होंगे तो वे मनमानी विचार रखेंगे और उसका परिणाम भुगतेंगे ।

उदाहरण स्वरूप, एक व्यक्ति था जो मेरे साथ बहुत वर्षों से रह रहा था, मुझ से अध्ययन कर रहा था, पर उसने मुझे छोड़ दिया और प्रेम विवाह कर लिया । अब वह पूर्णतः फँस गया है । इस व्यक्ति की पत्नी के भाई मेरे पास आए और कहा कि उसने प्रेम-विवाह कर लिया है । उसके पिता ने भी प्रेम विवाह किया था । ऐसे में कोई अपने पुत्र से और क्या आशा रख सकता है ? उसने वैसे ही संस्कार प्राप्त किए थे ।

यदि मातापिता उचित रीति से व्यवहार नहीं करेंगे तो बच्चे भी वैसे ही संस्कार पाएँगे। यदि मातापिता केवल काम भोग के लिए विवाह करते हैं तो बच्चे भी वही सीखेंगे, जैसे कि "जीवन का उद्देश्य काम भोग है, सम्पूर्ण संसार मेरे लिए है और मैं कुछ भी खा

सकता हूँ ।" अब व्यक्ति हर प्रकार का भोजन ग्रहण करता है । मनुष्य मानव माँस भी खा रहा है । यही है असत् मार्ग ।

फिर भी, वैदिक शिक्षा लोगों को सत् मार्ग पर ला सकती है क्योंकि यही समाज में सुव्यवस्था लाएगी और भगवान की सृष्टि की रक्षा करेगी । ******

प्रश्न: ऐसा कहा जाता है कि बिना पुत्र का गृहस्थ आश्रम मरुभूमि जैसा होता है । दूसरी ओर श्रीमद् भागवत ५.५.१८ में कहा गया है कि व्यक्ति को माता, पिता, गुरु या ऐसा कुछ भी नहीं बनना चाहिए जब तक वह बच्चे या शिष्य को मुक्त न कर सके या उन्हें भगवान की ओर न लाए ।

गुरुर्न स स्यात्स्वजनो न स स्यात् पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात् ।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्यान् न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम् ।। (भा.५.५.१८)

"जो सांसारिक बन्धनों से अपने विषय को मुक्त नहीं कर सकता उसे गुरु, सम्बन्धी, पिता, माता, पति या देवता नहीं बनना चाहिए ।" ******

प्रश्नः एक गृहस्थी की बच्चों के माता पिता बनने के लिए क्या योग्यता और कर्तव्य हैं ?
उत्तर: भक्ति एक अलग मार्ग है, और वर्णाश्रम एक भिन्न मार्ग है । भक्ति भगवान की सेवा के लिए है और वर्णाश्रम का उद्देश्य धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष है ।

भक्ति में, व्यक्ति सेवा के लिए समर्पित है और सभी का इसमें अधिकार है । इसके लिए ऐसा कोई बन्धन नहीं है कि व्यक्ति विवाहित या अविवाहित हो । विवाह के समय वैदिक मंत्रों का उच्चारण होता है, अर्थात् पति और पत्नी एक होते हैं । विवाह का उद्देश्य बच्चे को जन्म देना है, जो पूर्वजों का श्राद्ध करें और निरन्तर वंश परम्परा बनी रहे । यदि कोई भक्त है तो उसे बच्चों को जन्म देना चाहिए जिससे वे भी भक्त बने और ईश्वर की सेवा करे । भक्त का उद्देश्य सभी परिस्थिति में भगवान की सेवा करना है । यदि वह विवाहित है तो इसी उद्देश्य के लिए बच्चे उत्पन्न करने चाहिए ।

यह नियन्त्रण सभी वर्णाश्रमी के लिए है जो कहता है कि उनको माता, पिता आदि नहीं बनना चाहिए ताकि वे मात्र काम भोगी जीवन में व्यस्त न बने रहे । उन्हें ऐसे बच्चों को जन्म देना चाहिए जो आध्यात्मिक जीवन (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) को ग्रहण करें । यदि कोई भक्त है तब स्वभावतः वह हर कार्य भगवान के निमित्त करता है । अतः उसके लिए ऐसे कोई आदेश (आवश्यकता) नहीं है । यह श्लोक (श्री.भा.५.५.१८) प्रवृत्ति मार्ग के

सन्दर्भ में कहा गया है । निवृत्ति मार्ग में व्यक्ति स्वाभाविक रूप से ही भक्ति की ओर प्रोत्साहित होता है । अतः यदि कोई निवृत्ति मार्ग पर है, तो उसके लिए इस श्लोक के उद्धरण का कोई अर्थ नहीं है । यदि कोई निवृत्ति मार्ग पर चल रहा है, चाहे वह गृहस्थी हो या न हो, उसका उद्देश्य केवल परार्थ (भगवान की सेवा) के लिए है, न कि अपने स्वार्थ (देह) के लिए कार्य करे । इसीलिए, यदि वह विवाहित है और बच्चे पैदा करता है तो उसका उद्देश्य बच्चे भक्त बने और भगवान की सेवा करे यही होना चाहिए।

******

७५. ब्रह्म

प्रश्नः जब जीव ब्रह्म में विलीन हो जाता है तो क्या उसके लिए यह सम्भव है कि वह (जीव) अपना व्यक्तित्त्व फिर से प्राप्त कर सकता है ?

उत्तरः भगवान की इच्छा हो तभी यह सम्भव है । विलीन हो जाने का अर्थ (व्यक्तित्त्व गुमाकर) एक होना नहीं होता है, इसका अर्थ होता है बिना आध्यात्मिक शरीर के अस्तित्व बनाए रखना । व्यक्तित्त्व नष्ट नहीं होता है ।   ******

७६- ब्रह्मा व ब्रह्मसंहिता

प्रश्नः ब्रह्मा जी ने ब्रह्मसंहिता को कब कहा, अपनी तपस्या के बाद अथवा ब्रह्म विमोहन लीला के बाद ?

उत्तरः ब्रह्माजी ने सृष्टि के प्रारम्भ में ब्रह्म संहिता का गान किया था । प्रलयकाल के बाद ब्रह्मा जी का जन्म भगवान की नाभिकमल से हुआ था । जब वे अपने कर्तव्य के विषय में दिग्भ्रान्त थे, तब उन्हें 'तप तप' शब्द सुनाई दिया, जिसका अर्थ है तपस्या करो । उन्होंने लम्बे समय तक तपस्या की और तब उन्हें एक मन्त्र दिया गया । फिर भगवान प्रकट हुए तो भगवान की महिमा गान करते हुए ब्रह्मा ने जिस प्रार्थना का गान किया उसे ब्रह्मा संहिता कहते हैं। यह पूरा गान भगवान की कृपा से ही हुआ था।

ध्रुव महाराज ने भी स्तुति की थी, यद्यपि वे शिक्षित नहीं थे । भगवान ने अपने शंख से उसका कपोल स्पर्श किया तब ध्रुव महाराज ने स्तुति की । इसी प्रकार ब्रह्मा ने कृष्ण के गुणगान में यह संहिता गायी थी ।

भगवान के तीन प्रकार के क्रिया-कलाप होते हैं । प्रथम है स्वरूपानन्द, (महाप्रलय के बाद योग-निद्रा) स्थिति में जब वे अपनी शक्ति में आनन्दित रहते है; द्वितीय हैं ऐश्वर्य आनन्द (जब वे अपनी शक्ति को सृजन में परिणित करते हैं); तृतीय है स्वरूप-शक्त्यानन्द (जब वे अपने भक्तों के सङ्ग लीला का आनन्द उठाते हैं) ।

भगवान के निष्काम भक्त ब्रह्माजी हैं और उन की प्रसन्नता के लिए उन्होंने इस संसार की रचना की है । किन्तु अपने कार्यों को कैसे किया जाय इस बात से वे अज्ञात थे। अतः प्रथम उन्होंने तपस्या की और जब वह ज्ञान उनके हृदय में प्रकट हुआ तब उन्होंने ब्रह्मा-संहिता का गान किया ।******

प्रश्नः यदि ब्रह्माजी को निष्काम भक्त माना जाता है तो ब्रह्मा-संहिता को क्या कहा जाय? उसमें तो वे शुद्ध भक्त की तरह प्रार्थना करते हैं ?
उत्तरः ध्रुव की भाँति उन्हें भी इस संहिता को बोलने के लिए प्रेरित किया गया था । परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वे एक व्रज भक्त थे । इस प्रकार बोलने के लिए भगवान ने ही उन्हें प्रेरित किया था। ******

प्रश्नः क्या ब्रह्मा जी का ज्ञान ब्रह्ममोहन लीला के समय ढक गया था ?
उत्तरः प्रारम्भ में जब ब्रह्माजी को मन्त्र प्राप्त हुआ तब उन्होंने वृन्दावन में जिस प्रकार भगवान को देखा था उस प्रकार नहीं देख पाए थे । श्रीमद् भागवत के प्रथम श्लोक में जैसे कहा है कि बाँसुरी की ध्वनि से उन्हें यह मन्त्र प्राप्त हुआ था और बाद में उनके हृदय में यह ज्ञान प्रकाशित हुआ था, अर्थात् वह प्रेरणा से प्राप्त हुआ था।

किन्तु अघासुर के वध समय उन्होंने अघासुर की आत्मा में से एक तेजस्वी प्रकाश पुञ्ज को कृष्ण के देह में प्रवेश करते देखा और वे इस के मूल स्रोत के विषय में उत्सुक थे। जब वे व्रज आए और उन्होंने कृष्ण को एक गोपबाल के रूप में देखा तो उन्हें आश्चर्य हुआ और इसका मूल जानने के लिए वे बहुत उत्सुक हुए । वे असमञ्जस में थे कि क्या यह वही है जिसे मैं ने पहले देखा था; इसीलिए ब्रह्माजी ने उनकी परीक्षा लेने का निश्चय किया। उन्होंने कृष्ण के बछड़े और मित्रों को चुरा लिया । (भूलोक के) एक वर्ष के बाद उन्हें अनुभव हुआ कि श्रीकृष्ण स्वयं भगवान हैं, तब उन्होंने पुनः स्तुति की। यह ब्रह्मा की कृष्ण-स्तुति श्रीमद्-भागवत् के दशम् स्कन्ध चौदहवे अध्याय में पायी जाती है । कुछ विद्वान इस बहुत महत्वपूर्ण भाग को स्वीकार नहीं करते हैं । वे कहते हैं कि यह तीन अध्याय बारहवें से चौदहवे अध्याय (श्रीमद्-भागवत् में) प्रक्षिप्त हैं ।

यद्यपि, ये तीन अध्याय कृष्ण को स्वयं भगवान के रूप में स्थापित करते हैं और ये श्लोक की विस्तृत व्याख्या है :

वदन्ति तत्तत्त्व विदस् तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् ।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।। (भा. १.२.११)

"परम तत्त्व को जानने वाले इस तत्व को अद्वय ज्ञान कहते हैं और इसे ब्रह्म, परमात्मा और भगवान के नाम से पुकारते हैं।"

इन तीनों अध्याय के बिना इस श्लोक को समझना कठिन है जिसमें कृष्ण को स्वयं भगवान बताया है । ब्रह्मा को इसकी अनुभूति हुई और फिर उन्होंने कृष्ण की स्तुति की और श्री कृष्ण को स्वयं भगवान के रूप में स्थापित किया । ब्रह्म और परमात्मा उनके अंशावतार हैं । जो साधक उनको बिना गुण एवं रूप के अनुभव करना चाहते हैं, वे उनके लिए ब्रह्म रूप से प्रकट होते हैं । जो लोग शरीर में सर्वव्यापी एवं नियन्ता के रूप में ध्यान धरते हैं, उन्हें परमात्मा के रूप प्राप्त होते हैं । ब्रह्माजी ने ब्रह्मा संहिता (५.१) में कहा है कि कृष्ण स्वयं परम श्रेष्ठ हैं, ईश्वरः परमः कृष्णः ।
विशेषतः उनकी ही शुद्ध भक्तिपरक सेवा जो अन्याभिलाषिता-शून्यम् है, वह ब्रज में श्रीकृष्ण की अपने भक्तों के साथ क्रीडा वर्णन के माध्यम से इन अध्यायों में दिखाई गई है । ग्यारहवे स्कन्ध में श्रीकृष्ण ने पुनः इन क्रीडाओं के बारे में उद्धव जी को कहा था । ******

प्रश्नः महाप्रलय के समय ब्रह्मा का और अन्य सत्यलोक निवासिओं की गति क्या है ?
उत्तरः ज्ञान मार्ग का अनुसरण करने वाले मृत्यु के बाद सत्यलोक में जाते हैं। भक्त न होने के कारण वे अलौकिक जगत में प्रवेश नहीं कर पाते । अधिक से अधिक वे ब्रह्म में लीन हो सकते हैं । जो भक्त हैं और क्रम मुक्ति में रुचि रखते हैं वे भी ब्रह्माजी के लोक में प्रवेश पाते हैं । ब्रह्माजी के जीवन के अन्त में वे अलौकिक जगत में प्रवेश पाते हैं । किन्तु जो लोग ज्ञान-मार्ग पर चलते हैं और समर्पित न होने के कारण वे यहीं (संसार में) रहते हैं और जगत के पुनः सृजन में भी वे लौकिक जगत में जीवन यापन करते हैं । जो कृष्ण के शत्रु हैं और जिनका कृष्ण ने वध किया हैं, वे आध्यात्मिक लोक के बाहर प्रभु की कान्ति में (प्रवेश कर वहीं) रह जाते हैं । ******
प्रश्नः और ब्रह्मा स्वयं ?
उत्तरः ब्रह्माजी एक भक्त हैं अतः वे भगवान के लोक में प्रवेश पाते हैं । ******

७७. भक्त - वैष्णव

प्रश्नः मैं ने सुना है कि आयुर्वेद शास्त्र को समझने के लिए आप की जीवन शैली उन व्यक्तियों की जीवन शैली से मिलती जुलती है जिन्होंने इन शास्त्रों को लिखा है । किन्तु यदि हम आयुर्वेद शास्त्र को समझने में असमर्थ हैं तो उच्च दर्शन जैसी उत्तमा भक्ति को

कैसे समझ सकते हैं क्योंकि हम ज़रा भी शुद्ध नहीं है और पूर्व संस्कार भी नहीं रखते हैं ?

उत्तर: यदि आप निष्ठा से उत्तमा भक्ति की इच्छा रखते हैं और आप उसे पसन्द करते हैं, तो आप उसे समझ सकते हैं । यह कोई दिमाग़ी बात नहीं है । ऐसे कई लोग हैं जो बड़े बुद्धिमान हैं फिर भी वे इसे नहीं समझ सकते क्योंकि उन्हें इसमें कोई रुचि नहीं है ।

******

प्रश्न: आप के पूर्व वार्तालाप में आप ने कहा था कि जो धर्म बदलकर दूसरे धर्म में आते है वे कट्टर होते है । जब कोई वैष्णव बनता है तो क्या उसे भी धर्मान्तरित माना जाता है अथवा वह लोकोत्तर है ?

उत्तर: वैष्णव इस श्रेणी में नहीं आते हैं । वैष्णव का अर्थ होता है, वह जो विष्णु की सेवा-पूजा करता है । विष्णु अर्थात् "सर्वव्यापक" । वैष्णव की दृष्टि भी सर्वव्यापक है । विष्णु का दूसरा अर्थ होता है "वह जो रक्षक है" और "वह जो सबका पालन पोषण करता है" । वैष्णवों का भी यही भाव होता है ।

भगवान इन अन्य धर्मों का प्रचार नहीं करते हैं । धर्म का अर्थ होता है "अनुशासन", और जिसे इसके मूल रूप में भगवान ने स्वयं प्रचारित किया है । वे धर्म जो मनुष्य द्वारा प्रचारित होते हैं, वे दुराग्रहिता लाते हैं, पक्षपाती भाव या पूर्वाग्रह पैदा करते हैं। किन्तु विष्णु महापुरुष हैं और सर्वव्यापी हैं । वे प्रत्येक व्यक्ति के लिए हैं और इसी कारण वैष्णव दर्शन किसी सीमित लोगों या समाज का न होकर सर्वव्यापी है । कट्टरता व्यक्तिगत भावना के कारण आती है । वे कहते कुछ और हैं और भेद या पक्षपात खड़ा करने का प्रयत्न करते हैं । यह ईश्वरीय नहीं है । धर्म-शब्द का उपयोग इन मार्गों के लिए प्रयुक्त होता है, किन्तु यह गौण अर्थ के रूप में है । मूल अर्थ में धर्म समाज में अराजकता उत्पन्न नहीं करता क्योंकि इसके उद्देश्य समाज में ऐक्यता लाना है । भगवान स्वयं इसका प्रचार करते हैं और इसका हेतु ही समाज में समृद्धि लाना और संरक्षण-पालन करना है । अतः सच्चे धर्म में दुराग्रहता नहीं है ।

सृष्टि दो प्रकार की होती है: दैवी और आसुरी । दैवी अर्थात् कृष्ण के अनुयायी और आसुरी अर्थात् जो कृष्ण के विरुद्ध हैं ।

वैष्णव दैवी जीव हैं और अतः वे दूसरे धर्म परिवर्तन-वालों की तरह कट्टर नहीं है । वैष्णव शास्त्र में दृढ़ विश्वास रखते है और उसका पालन करते है । वे ईर्ष्यालु व्यक्ति नहीं हैं ।

******

प्रश्न: आप के शिष्य एक दूसरे के साथ कैसा व्यवहार करें, इस बारे में आप की क्या सोच है और हमें एक दूसरे को किस भाव से देखना चाहिए और उनके साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए ?
उत्तर: वैष्णवों के साथ मित्रतापूर्ण व्यवहार करना चाहिए, ठीक वैसे जैसे आप अपने प्रिय मित्र के साथ करते हो । इस व्यवहार में कोई अपेक्षा, कपट एवं धोखा नहीं होना चाहिए । ऐसा व्यवहार वैष्णवों के साथ करना चाहिए । ******

प्रश्न: क्या हमें परिवार के सदस्य की भाँति व्यवहार करना चाहिए या फिर क्या आप 'ददाति प्रतिगृह्णाति' श्लोक की व्याख्या करेंगे ?
उत्तर: ददाति प्रतिगृह्णाति, गुह्यमाख्याति पृच्छति ।
भुङ्क्ते भोजयते चैव, षड्-विधं प्रीतिलक्षणम् ।। (उपदेशामृतम् ४)

"दान में उपहार देना, उपहार का स्वीकार करना, अपने मन की बात बताना, गोपनीयता से पूछताछ करना, भोजन देना और उसका स्वीकार करना, ये प्रीति के छः लक्षण हैं"।

यह श्लोक सांसारिक लगाव और सांसारिक प्रेम की बात करता है । आध्यात्मिक जगत में वे सभी कार्य होते हैं, जैसे कि उपहार देना और स्वीकार करना, गोपनीयता से बात करना इत्यादि, जिसका वर्णन इस श्लोक में बताया गया है, किन्तु उन्हें करने का भाव भिन्न है । आध्यात्मिक जगत में यह भाव रहता है कि आप कृष्ण या उसके भक्तों से जुड़े हैं और कृष्ण और उसके भक्त आप के हैं अथवा आप से प्रीतिकर सम्बन्ध रखते हैं । जगत में ये वस्तुएँ सांसारिक दृष्टिकोण से की जाती हैं[10] ।

कार्य एक से हैं, पर भाव भिन्न हैं । सांसारिक जगत में केन्द्रबिन्दु देह होता है जब कि आध्यात्मिक जगत में केन्द्रबिन्दु कृष्ण होते हैं । ******

प्रश्न: श्री कृष्ण और महाप्रभु के नित्य परिकर नैत्यिक लीला में उनके साथ हैं, जैसे कि रूप गोस्वामी जो चैतन्य लीला में रूप गोस्वामी और कृष्ण लीला में रूप मञ्जरी है । हमारी क्या स्थिति होगी जब हम आध्यात्मिक जगत में होंगे और गुरु के मार्गदर्शन में

---

10 "यह श्लोक पञ्चतन्त्र पुस्तक पर आधारित है, जो विष्णु शर्मा द्वारा लिखी गई परिकथाओं में से लिया है, जिसका मूल इसप की परिकथाएँ हैं । श्री रूप गोस्वामी ने उनमें सी लिया है ।

भगवान की सेवा करते होंगे ? क्या हम कृष्ण-लीला, अथवा चैतन्य-लीला में या दोनों की सेवा करेंगे ? क्या हम तब दोनों के परिकर होंगे ?

उत्तरः कोई भी श्रीकृष्ण-लीला में सीधा प्रवेश नहीं कर सकता । वह केवल श्री चैतन्य महाप्रभु के माध्यम से ही हो सकता है, जो इधर पधारे और हमें दिखाया कि कैसे कृष्ण-लीला में प्रवेश कर सकते हैं । साधक को मात्र उत्तमा भक्ति के माध्यम से ही प्रवेश मिलता है । एक बार आप श्री चैतन्य के परिकर हो जाते हैं तब आप श्रीकृष्ण की भक्ति भी कर रहे हैं । वहीं से आप कृष्ण-लीला में प्रवेश पाते हैं, ठीक जैसे स्वयं महाप्रभु ने प्रवेश पाया था । चैतन्य चरितामृत में आप ने यह वर्णन पढ़ा होगा ।

चैतन्य के सभी भक्त उनके परिकर हैं और वे कृष्णलीला में भी भाग लेते हैं । अतः उनके दो स्वरूप हैं । बस यही एक रास्ता है जिससे साधक कृष्णलीला में प्रवेश कर सकता है । अन्य कोई रास्ता ही नहीं है । श्री चैतन्य महाप्रभु कृष्ण हैं । वे स्वयं एक भक्त होते हैं और तब वे चैतन्य महाप्रभु के रूप में भक्ति का आस्वादन करते हैं । मूलतः उनका प्रत्येक परिकर भक्ति का रसास्वाद करता है । रसास्वाद कैसे किया जाता है उसकी रीति महाप्रभुजीने दर्शायी है ।

यदि कोई महाप्रभु का अनुयायी होता है, तो केवल उसको ही उत्तमा भक्ति प्राप्त होती है । कृष्णलीला में सीधा प्रवेश करने की अन्य कोई प्रक्रिया नहीं है । चैतन्य का अनुयायी होना अर्थात् गुरु के माध्यम से अनुसरण करना (अर्थात् गुरू आनुगत्य द्वारा ही चलना) । उत्तमा भक्ति में आप श्री चैतन्य की लीलाओं में प्रवेश करते हैं और उस परिस्थिति में आप कृष्णलीला में ओतप्रोत हो जाते हैं । कृष्णलीला में प्रवेश करने का केवल यही एक मार्ग है ।

******

प्रश्नः इसका अर्थ यह है कि उस स्तर पर साधक के दो स्वरूप होते है ।
उत्तरः क्योंकि जब आप अनुयायी हैं तो आप सभी बातों का अनुसरण करते हैं ।

******

७८. भक्ति - अन्य प्रकार की

प्रश्नः क्या कर्म-मिश्र-भक्ति और ज्ञान-मिश्र-भक्ति, वैधी-भक्ति से सम्बन्धित है अथवा यह दोनों अन्य मार्ग हैं ?

उत्तर: कर्म-मिश्र-भक्ति और ज्ञान-मिश्र-भक्ति वैधी-भक्ति का एक प्रकार है । इन दोनों में भक्ति पृष्ठभूमिका में है । ऐसे व्यक्ति की अधिक रुचि इन्द्रिय सुख में अथवा मुक्ति पाने में है ।

******

प्रश्न: भक्ति सन्दर्भ में, मैं ने आरोप-सिद्धा भक्ति और सङ्ग-सिद्धा भक्ति के बारे में सुना है । क्या आरोप-सिद्धा भक्ति कर्म-मिश्रा भक्ति के तुल्य है और सङ्ग-सिद्धा भक्ति ज्ञान-मिश्रा भक्ति के जैसी है ?

उत्तर: आरोप-सिद्धा और सङ्ग-सिद्धा भक्ति मात्र क्रियाकलाप है, जो स्वयं में भक्ति नहीं है और उनका उद्देश्य भक्ति नहीं है, परन्तु ये प्रवृतियाँ गौण हैं । आरोपसिद्धा-भक्ति का अर्थ होता है अपने कर्म भगवान को समर्पित करना और सङ्ग-सिद्धा अर्थात् ऐसे कार्य करना जो आप को भक्ति से जुड़ने में मदद करे ।

लोग सुखभोग अथवा मुक्ति के लिए कर्म और ज्ञान से जुड़ते हैं । उन्हें भक्तिपरक कार्य में कोई रुचि नहीं है किन्तु भक्तिपूर्वक सेवा के बिना न ही किसी कार्य में पूर्णता मिलती है और न ही उसका कोई फल मिलता है । अतः वे इस विशेष क्रिया में सफलता प्राप्ति के लिए भक्ति का सहारा लेते हैं, चाहे वह कर्म हो या ज्ञान । उस समय वे क्रियाएँ (कर्म) भक्ति का सारूप लेकर अपना परिणाम देती हैं, किन्तु वे स्वयं भक्ति नहीं है । यह वास्तव में कर्ममिश्र अथवा ज्ञानमिश्र भक्ति है, किन्तु (उत्तमा) भक्ति नहीं है ।

******

प्रश्न: इस प्रकार के कार्य करते समय क्या वे जानबूझ कर भक्ति का सहारा लेते हैं या फिर शास्त्र में इस प्रकार करना बताया गया है इसलिए करते हैं ?

उत्तर: जानबूझ का अर्थ क्या है ?

******

प्रश्न: ऐसा समझना कि यदि मैं भक्ति करूँगा तो मुझे उन कर्मों का फल मिलेगा ?

उत्तर: नहीं । वे केवल रीत अपनाते हैं । हकीक़त में लोग उसे ठीक से समझते भी नहीं हैं । यहाँ तक कि भक्तों को भी इस अवधारणाओं को समझने में बड़ी कठिनाई होती हैं ।

******

प्रश्न: ऐसा भी कहा गया है कि व्यक्ति छल से या बिना छल से (कैतव या अकैतव) सभी प्रकार की भक्ति कर सकता है, चाहे वह आरोप-सिद्धा-भक्ति हो, सङ्ग-सिद्धा-भक्ति हो या फिर स्वरूप-सिद्धा-भक्ति हो । मुझे अचरज है कि बिना छल की आरोप-सिद्धा-भक्ति क्या है ?

उत्तरः यह विभिन्न चरण हैं जो दर्शाते हैं कि भिन्न भिन्न लोग कैसे भक्ति करते हैं । कैतव (धोखा) अर्थात् आपका लक्ष्य भक्ति के अलावा कुछ और है । अधिकतर यही होता है । अकैतव अर्थात् भक्ति प्राप्ति के लिए सेवा-कार्य करना । उत्तमा-भक्ति को समझने के लिए अलग अलग प्रक्रिया दर्शायी गयी हैं ।

भक्ति अर्थात् सेवा करना और बदले में कुछ भी न माँगना, किन्तु यह बड़ा कठिन है। यहाँ तक कि निष्काम कर्म करना भी कठिन है क्योंकि सभी लोग कोई विशेष फल पाने के लिए कार्य करते हैं । यदि आप कोई कार्य करते हो तो आप उसका परिणाम देखना चाहते हो । यदि परिणाम दिखाई नहीं देता है तो आप उदास हो जाते हैं अथवा उस कार्य को करना छोड़ देते हैं । भक्ति में प्रवेश पाने के लिए इन सभी इच्छाओं का त्याग करना होता है क्योंकि अन्याभिलाषिता शून्यम् अर्थात् भक्ति के अलावा और कोई ध्येय नहीं होना चाहिए ।

उत्तमा भक्ति ऐसी धोखाधड़ी की मानसिकता से मुक्त है । अन्यथा, लोगों की ऐसी सोच है कि यदि आप कुछ कार्य या सेवा करते हो तो कोई कम से कम "आप को आभार या धन्यवाद" तो कहे । यदि कोई ऐसा नहीं कहता है तो आप उदास हो जाते हैं । इसका अर्थ है कि आप को किसी से प्रशंसनीय शब्द सुनने की इच्छा है और भक्ति में रुचि नहीं है । यह भक्ति नहीं है ।

भक्ति का सही अर्थ यह होता है कि आप की केवल सेवा करने में रुचि है और सेवा ही आपका फल है । यह स्वयं ही आपका "धन्यवाद" है । आप को भक्ति कार्य करने का अवसर मिलता है और उसके सिवा आप कुछ नहीं चाहते । अन्याभिलाषिता का यही अर्थ होता है ।

कौन ऐसा हो सकता है ? इसीलिए कैतव के अलग अलग स्तर होते हैं । ज्ञानी भी भगवान का ध्यान धरने में व्यस्त हैं, यहाँ तक कि भगवान का कुछ अनुभव भी कर सकते हैं, परन्तु अन्त में तो वे ब्रह्म की ही इच्छा रखते हैं । उनका ध्यान, उनके जप या कीर्तन सबकुछ केवल कैतवपूर्ण कार्य हैं क्योंकि उन्हें भक्ति में कोई अभिरुचि नहीं है ।

कैतव अलग अलग प्रकार के होते हैं, फिर चाहे वह कर्म मार्ग हो, या फिर ज्ञान, योग अथवा ओर कोई मार्ग ही क्यों न हो । यह भक्ति सन्दर्भ ग्रन्थ में दर्शाया गया है। यदि

कोई केवल भक्ति पाने के लिए आरोपसिद्धा भक्ति करता है तो वह कैतव से मुक्त है। किन्तु ऐसा होना बहुत दुर्लभ है।

******

प्रश्न: क्या इसका यह अर्थ होता है कि धोखाधड़ी प्रवृति के बिना आरोपसिद्धा भक्ति संभव नहीं है क्योंकि भक्त के लिए उद्देश्यहीन सेवा करना बहुत कठिन है फिर अन्य लोगों की तो बात ही क्या करें ?

उत्तरः हाँ, स्पष्टतः ऐसा ही है।

******

प्रश्न: मुझे आरोपसिद्धा भक्ति के विषय में एक और प्रश्न है। कर्मार्पण क्या है ? क्या इसका अर्थ यह होता है कि जो आप करते हो वह सब कुछ श्रीकृष्ण को अर्पण कर दो तो फिर वह भक्ति मानी जाती है ? व्यावहारिक रूप से इसका अर्थ क्या होता है?

उत्तर: आप यह कहो या सोचो कि, "मैं अपना कार्य अथवा उसका फल श्री कृष्ण को समर्पित करता हूँ।"

******

प्रश्न: क्या यही सब कुछ है ?

उत्तर: आम तौर पर लोगों को अपना शरीर ही अधिक पसन्द आता है और उससे लगाव भी अधिक होता है। वे अपने शरीर और शरीर से जुड़ी चीज़ों की अधिक देखभाल करते हैं। अतः उनके लिए भक्ति को, विशेषतः उत्तमा भक्ति को समझना अति कठिन है।

भक्ति में प्रवेश करने का प्रथम सोपान कर्मार्पण है। शास्त्रों के रचयिता, जैसे व्यासदेव ने विभिन्न स्तर बनाए हैं, ताकि सांसारिक व्यक्ति भी उनमें समाहित हो सके। सबसे पहली प्रक्रिया है सकाम कर्म, जिसका अर्थ होता है आप धार्मिक कार्य अपनी सांसारिक इच्छापूर्तिओं के लिए करें। दूसरी प्रक्रिया है निष्काम कर्म, जिससे मुक्ति प्राप्त होती है क्योंकि लोग मुक्ति में भी अधिक रुचि रखते हैं।

कर्मार्पण मूलतः उन लोगों के लिए है जिन्हें आध्यात्मिक जीवन में रुचि तो है किन्तु समर्पित होना नहीं चाहते। इसलिए वे कर्म करते हैं और उसका फल चाहते हैं। अतः अन्ततः वे कम से कम यह कहना तो प्रारम्भ करें कि "मैं भगवान को कुछ निवेदन कर रहा हूँ"। इसे भक्ति नहीं कहते, पर वे इतना कहते हैं अतः इसे भक्ति माना जाता है। कम से कम वे भगवान का स्वीकार तो करते हैं।

जब कि अन्य लोग तो भगवान को मानते ही नहीं हैं क्योंकि वे सोचते हैं, "इसकी क्या आवश्यकता है ? मैं कर्म करूँगा और अपने प्रयास (उद्यम) का फल भोगुंगा ।" सबसे पहला कदम तो व्यक्ति को यही करना है कि कम से कम वह स्वीकार करे कि ईश्वर है । आध्यात्मिक जीवन के विषय में जो अज्ञानता (भ्रम मान्यताएँ) है इससे छूटकारा पाना बड़ा कठिन है । इसका कारण है हमारी सांसारिक आसक्ति । अतः कर्मार्पण में व्यक्ति भगवान के अस्तित्व का स्वीकार करते हैं । एक बार भगवान के अस्तित्व का स्वीकार करने के बाद आप यह मानते हैं कि वे आप के लिए कुछ करते हैं और इसीलिए आप भी अपने कर्म का फल उन्हें अर्पण करते हैं । ******

प्रश्नः क्या कर्मार्पण भक्ति है ?
उत्तरः नहीं, वह भक्ति नहीं है । जैसे नारदजी ने व्यासदेव को कहा थाः

नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरजंन् ।
कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम् (भा. १-५-१२)

"श्री अच्युत की भक्ति रहित नैष्कर्म्य भी शोभा नहीं देता है तो सकाम कर्म की बात ही क्या करें जो साधन और सिद्ध दोनों ही दशाओं में कष्टदायक है एवं वह निष्काम कर्म भी जो भगवान को अर्पण नहीं किया गया है वह कैसे सुशोभित हो सकता है?"

निष्काम कर्म जो भक्ति-हीन है वह व्यर्थ है अतः सकाम कर्म के विषय में तो क्या कहना, जो आरम्भ से अन्त तक अशुभ है । निष्काम में व्यक्ति कम से कम सांसारिक फल भोगने की इच्छा नहीं रखता है । निष्काम यानि जिसे मुक्ति में रुचि है और कर्म यानि जिसे सांसारिक फल की चाह है । मुक्ति अशुभ एवं अमंगल है तो फिर जो कर्म परिणाम में फल के लिए है, ऐसे सांसारिक कर्म का कहना ही क्या है ? अतः कर्मार्पण भक्ति के रूप में विचारणीय नहीं है ।

इसकी जीव गोस्वामी ने भी भा. ७.५.२३ "श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं" श्लोक की टीका में व्याख्या की है । वहाँ भी पुंस्रार्पिता शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ होता है "भगवान को अर्पण करना" । किन्तु टीका में कहा है, "केवल काम करके फल को अर्पण न करें, किन्तु स्वयं को भगवान को अर्पित करें और फिर उनके लिए कार्य करें।"

अन्यथा, यदि कर्म करने के बाद कर्मफल को अर्पित करते हैं, तो आप स्वतन्त्र रहते हैं, अतः आप बहिर्मुख या अभक्त होते हैं । समर्पण में अरुचि होने के कारण आप स्वयं को भगवान से अलग रखते हो ।

भक्ति अर्थात् स्वयं को समर्पित करना । समर्पण अपने कर्म का नहीं किन्तु स्वयं का है। एक बार स्वयं को समर्पित करने के बाद आप जो कुछ भी करते हैं, वह सब कुछ साहजिक रूप से भगवान को समर्पित हो जाता है । (अतः) कर्मार्पण भक्ति नहीं है । कल जैसे मैं ने समझाया कि जिसे भक्ति में रुचि नहीं है उसके लिए यह पहला कदम है, जो भक्तिरूपी लक्ष्यप्राप्ति में सहायक बनता है ।   ******

प्रश्न: हम अपने कर्म भगवान को किस प्रकार अर्पण करें ? कर्म करने से पूर्व क्या हम भगवान को प्रार्थना करें कि हम आप को और गुरु को प्रसन्न करने के लिए योग्य बनें अथवा अन्य कोई प्रक्रिया है ?

उत्तर: उत्तमा भक्ति में आप अपने कर्म और कर्मफल भगवान को अर्पण नहीं करते हैं, परन्तु स्वयं को अर्पण करते हैं । प्रथम आप स्वयं को समर्पित करते हैं और बाद में कर्म करते हैं ।

कर्मार्पण कर्म-मार्ग में किया जाता है या तो अन्य भक्ति मार्ग में किया जाता है क्योंकि वहाँ आप स्वयं को स्वतन्त्र रखते हैं । यदि आप अपने कर्म भगवान को अर्पण करते हैं तो भी आप स्वयं को स्वतन्त्र रखते हैं और अपने कर्मों का फल पाते हैं, अतः आप भक्त नहीं बन सकते है ।

भक्त यानि जो भगवान का है और इसीलिए वह (मात्र) भगवान के लिए कार्य करता है। वह स्वतन्त्र नहीं है । कुछ भी अर्पण करना हो तो आप का स्वतन्त्र होना आवश्यक है । यदि आप श्री कृष्ण के हैं, तो आप जो कुछ भी करते हैं, सब कुछ कृष्ण का है । यदि आप अपने कार्य श्री कृष्ण को अर्पण करना चाहते हो तो पहले स्वयं को स्वतन्त्र करो और बाद में अर्पण करो । फिर आप को अपना कर्मफल मिलेगा, फिर चाहे वह सकाम हो या निष्काम (सांसारिक हेतु या बिना हेतु का) हो ।

दोनों एक ही श्रेणी में आते हैं । जैसे एक भक्त को न पाप-पुण्य में रुचि है, ठीक उसी प्रकार उसे सकाम कर्म और निष्काम कर्म किसी में रुचि नहीं होती है क्योंकि उसके लिए यह अर्थहीन है । निष्काम का यह भी अर्थ नहीं होता कि कोई इच्छा ही न हो । निष्काम अर्थात् छुपा हुआ उद्देश्य होना । सकाम कर्म में आप स्पष्ट रूप से कुछ न

कुछ माँगते हैं, जबकि निष्काम में आप कुछ माँगते नहीं है परन्तु आप की कोई न कोई इच्छा अवश्य है । अन्यथा कोई क्यों स्वयं को स्वतन्त्र रखे ? व्यक्ति स्वयं को स्वतन्त्र रखना चाहता है क्योंकि वह स्वयं के लिए अलग से कुछ चाहता है। एक भक्त निष्काम कर्म को भी त्यागता है, जिस प्रकार सकाम का त्याग किया है।

उत्तमा भक्ति में प्रथम स्वयं को समर्पित करने के बाद कर्म करते हैं इसलिए कर्मफल अर्पण करने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता है । यदि किसी को कुछ फल पाना हो तो वह कर्मार्पण कर सकता है, किन्तु वह भक्ति नहीं है ।

अतः भक्ति सही अर्थ में निष्काम है अथवा सांसारिक इच्छा रहित है । अन्य सभी प्रक्रियाओं में कुछ न कुछ इच्छाएँ रहती है - चाहे वह व्यक्तरूप से हो या अव्यक्तरूप से हो ।

******

प्रश्न: भगवद् गीता कर्म के विषय तीन गुणों का वर्णन करती है । क्या भक्ति में भी उसका अस्तित्व हैं, क्योंकि भक्ति गुणों से मुक्त है ?

उत्तर: भक्ति गुणातीत है, गुणों से परे है । एक सच्चा भक्त पूर्णतः भगवान को समर्पित होता है । उसका मन पूर्णतः सरावोर रहता है, ठीक जैसे गंगा की जलधारा समुद्र की ओर दौड़ती है ।

यद्यपि, अलग अलग उद्देश्य के साथ लोग भक्ति करते हैं अतः इस भक्ति को प्राकृतिक गुण (सत्त्व, रजस्, और तमस् गुण) में भी कहते हैं । कोई सात्त्विक (भक्त) है, कोई राजसिक (भक्त) है, तो कोई तामसिक (भक्त) है । अतः उनकी भक्ति का उद्देश्य इन गुणों के आधारित रहता है । यह गुणों में या गुणमयी भक्ति कही जाती है। वास्तव में व्यक्ति का निजी उद्देश्य रहता है, जो प्राकृतिक गुण सम्बन्धित होता है पर भक्ति सम्बन्धित नहीं होता । जब ऐसा कहा जाता है कि भक्ति सत्त्व या रजस गुण में है, तो इसका अर्थ होता है कि व्यक्ति एक उद्देश्य रखकर भक्ति परक कार्य कर रहा है, जो उन गुणों में है । इसलिए व्यक्ति के गुणों का आरोप भक्ति पर लगाया जाता है। ऐसी भक्ति को गुण-उद्भूत भक्ति कहते हैं । ******

७९. भक्ति मार्ग की रक्षा

प्रश्न: एक पक्ष में हम यह सुन रहे हैं कि अशिक्षित लोग भी भक्ति मार्ग में प्रवेश कर चुके हैं और दूसरे पक्ष में यदि कोई गुरु या ऐसे व्यक्ति का सम्पर्क करे जो कृष्ण के विषय में जानता है और दूसरों को ज्ञान वितरण नहीं करता है तो वह एक दोष है। भक्ति मार्ग को कैसे (अशिक्षित लोगों से) बचाया जाय और उसका ज्ञान वितरण भी हो ?

उत्तर: गुरु को सावधान रहना चाहिए और मात्र उन लोगों को ही ज्ञान देना चाहिए जो सच्चा हो। जो मात्र भौतिक प्राप्ति हेतु सिद्ध करने के लिए भक्ति करते हैं उन्हें कभी महत्त्व नहीं देना चाहिए। ऐसे लोगों को ज्ञान से वंचित रखने में कोई दोष नहीं है।

******

८०. भक्तों की सुरक्षा

प्रश्न: भगवान श्रीकृष्ण कहते हैं कि वह भक्तों की रक्षा करते हैं, परन्तु जगत में फिर भी युद्ध, रोग आदि उत्पात होते हैं। कहाँ तक भक्त भगवान से विशेष सुरक्षा माँगता है ? उदाहरण स्वरूप, भागवत में नारायण कवच है। क्या भक्त को अपनी सुरक्षार्थ भगवान से विशेष प्रार्थना करनी चाहिए या जब कोई समर्पण करता है तो स्वसुरक्षा हो जाती है ?

उत्तर: कोई विशेष प्रयास करने की, नारायण कवचादि पढ़ने की या ऐसा कुछ करने की कोई आवश्यकता नहीं है क्योंकि भगवन्नाम मात्र ही इतना शक्तिमान है। यदि कृष्ण का स्मरण करोगे तो इतना ही पर्याप्त है। उसके पवित्र नाम में ही सब कुछ समाया है और सुरक्षार्थ विशेष अनुष्ठान करने की कोई आवश्यकता नहीं है। नारायण कवच में मात्र भगवान का नाम ही है।

******

प्रश्न: भक्तों के लिए यदि नारायण कवच की आवश्यकता ही नहीं है, तो भागवत में उसका उल्लेख क्यों किया है ?

उत्तर: वह सांसारिक इच्छार्थी के लिए है, भक्तों के लिए नहीं।

******

प्रश्न: क्या सभी भक्तों के लिए भगवत्कृपा निश्चित है, चाहे उसकी समर्पण की भावना का स्तर कोई भी हो, या फिर उन भक्तों के लिए है जो शुद्ध और उच्च स्तर के हैं ?

उत्तर: भगवान सभी भक्तों की रक्षा करते हैं।

******

प्रश्न: भगवान की रक्षा किस प्रकार की होती है ? भगवान क्या भक्त के देह या उसके अधिकार की रक्षा करते हैं या फिर उसकी आध्यात्मिक सुरक्षा ही समझ लेना चाहिए?
उत्तर: भगवान भक्त के भाव, उसके प्रेम की रक्षा करते हैं, न कि उसके पार्थिव देह की । पार्थिव देह क्षणभंगुर है । वह एक या दूसरे दिन नाश तो हो ही जाएगा । रक्षा के लिए उसने हमें समझ तो दी ही है । यदि आप रोगग्रस्त होते हैं तो आप निर्देश की हुई औषधि लेते हो, भूखे हो तो भोजन करते हो, और अन्य कोई समस्या हो तो अपने हाथ, पाँव और बुद्धि का उपयोग करके हल करते हो । जब भूखे होते हो तो भगवान स्वयं एक सेवक की भाँति आपके लिए खाना लेकर नहीं आते । उसके लिए उसने आप को पर्याप्त साधन और समझ दी है, पर वह रक्षा करते हैं प्रीति की, जो वह स्वयं भक्त को देते हैं । यही असली रक्षा है जो वह देते हैं ।

आपने वह चित्र देखा होगा जिसमें कृष्ण रूप गोस्वामी के लिए दूध लाते हैं । ऐसा वह हर किसी के लिए नहीं करते । कभी कुछ विशेष दृष्टान्त हो सकता है, पर ऐसा नहीं है कि प्रतिदिन वह किसी के लिए दूध लाए । ******

प्रश्न: मुझे भगवद्-गीता (९.२२) के इस श्लोक के विषय में जानना है:

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ।। (गीता ९ .२२)

"जो अनन्य भाव से मेरी भक्ति करते हैं, हमेशा मेरा ध्यान धरते हैं और मुझे पूजते हैं, उन नित्ययुक्त-भक्तों की आवश्यकता पूर्ति करता हूँ एवं उनकी संपत्ति की रक्षा करता हूँ ।"

क्या इस श्लोक में भगवान आध्यात्मिक प्रगति की पूर्ति करते हैं ऐसा भी समझना होगा।

उत्तर: हाँ । योगक्षेमं वहाम्यहम् का अर्थ यह नहीं होता कि कृष्ण आप के लिए अनाज के दाने लाएगा । सामान्य जन ऐसा ही समझते हैं, पर वह हर जगह सबके लिए भेजता ही है । ******

८१. भगवत्प्रसाद

प्रश्न: भक्ति सन्दर्भ में सुनते हैं कि कृष्ण को जो पसन्द हो, उस भोजन का भोग देना चाहिए । कोई कृष्ण को स्वरुचि अनुसार पिज़्ज़ा, स्पगेटी आदि जैसा भोजन भोग लगाए तो यहाँ यह व्रजभाव में उचित है क्या ?

उत्तर: जब भी आप को कोई अच्छा लगता है तो उसे अपनी मनपसन्द वस्तु देते हो। अतः ये सब खाद्य पदार्थ भी कृष्ण को लोग भोग में देते हैं । मुख्य बात यह है कि भोगार्पण समय भक्तिभाव होना चाहिए तभी कृष्ण उसे स्वीकार करेंगे ।

******

प्रश्न: कौन सा भोजन कृष्ण को प्रिय है ?

उत्तर: यह सच है कि जो भी वस्तु व्रज में आसानी से उपलब्ध है, कृष्ण को पसन्द है और अतिप्रिय भी है । कृष्ण को वह भोग भी पसन्द है, जो तदीय भक्त का मनपसन्द हो एवं प्रेम से परोसा भी हो ।

******

प्रश्न: शास्त्र में कहा है कि यदि आप एक बार महा प्रसाद लेते हैं तो आप फिर से मनुष्य जन्म लेंगे ।

उत्तर: महाप्रसाद, पवित्र धामादि में एक विशेष अलौकिक शक्ति होती है, जो अयोग्य व्यक्ति पर कभी कृपा नहीं करती क्योंकि कुछ समय बाद अयोग्य व्यक्ति उस शक्ति का दुरुपयोग करता है । अपितु महाप्रसाद में यह शक्ति है किन्तु व्यक्ति योग्य न हो तब तक प्रकट नहीं होती । नहीं तो यह सोच कर सब उस शक्ति का दुरुपयोग करने लगेंगे कि "मैं एक बार महा प्रसाद ले लूँगा, फिर मेरे मन में जो आएगा, वहीं करूँगा क्योंकि पुनः मनुष्य देह तो धारण करने ही वाला हूँ । परवर्ती जन्म में भी मैं पुनः एक बार महा प्रसाद ले लूँगा और मन में जो आएगा, वही करूँगा ।"

वृन्दावन में माफिया भी तिलक लगाते हैं और कण्ठीमाला पहनते हैं, पर तिलक और कण्ठीमाला उन लोगों के लिए नहीं है । तिलक धारण करना और माला पहनने का अर्थ होता है कि आप भगवद्भक्त हैं । तिलक और कण्ठीमाला धारण करने के बाद गुण्डागर्दी नहीं कर सकते, औरों की सम्पत्ति नहीं लूट सकते । क्या आप को लगता है कि तुलसी कण्ठीमाला और तिलक उन पर कृपा बरसाएँगे और उन्हें आशीर्वाद देंगे जिससे वे अपने दुष्टकर्मों के फल से मुक्त हो जाएँगे ? कोई ऐसा नहीं चाहेगा ।

******

प्रश्न: एक भक्त कृष्ण प्रसाद के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं ग्रहण करता पर कभी मैं क्षुधा से अति-पीडित होता हूँ और सोचता हूँ कि यदि कुछ बिस्कुट खालूं तो मैं प्रवचन

में ध्यान केंद्रित करके सुन सकूँ । इस मुद्दे को लेकर कुछ भक्त दुराग्रही हैं और कुछ शिथिल - बेपरवाह । आप इसके विषय में कुछ कहेंगे ?

उत्तर: भक्ति मार्ग भगवत्समर्पण की भावना पर स्थापित है । इस मार्ग में साधक को अपनी स्वतन्त्र मानसिकता का सम्पूर्ण त्याग करना होता है । हृदय से कोई भी स्वतन्त्र भावनाएँ नहीं होनी चाहिए ।

भक्त कुछ नहीं ग्रहण करता जो भगवान को अर्पण न हो, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि हर समय आप को भगवान को अर्पण करना है । आप जिस तरह वर्णन कर रहे हो, ऐसी परिस्थिति में मन से भी भगवान को अर्पण कर सकते हो । फिर भी भोजन कभी बिना अर्पण किए नहीं खाना चाहिए क्योंकि इसका अर्थ होता है कि आप स्वतन्त्र बन रहे हो । अतः "मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ", "मैं भगवान को समर्पित हूँ और सब कुछ उनका है" जैसी अन्तस्फुरणा हमेशा रहनी चाहिए ।

जैसे हमने अपि चेत् सुदुराचारो (गीता ९ .३०) श्लोक के विषय में चर्चा की, उसी तरह सर्वधर्मान्परित्यज्य (गीता १८.६६) श्लोक को भी अनर्थ करके समझा जाता है । यदि आप सर्व धर्म त्याग करेंगे तो कैसे (जीविका) काम कर पाओगे ? त्याग करना अर्थात् अन्य वस्तु को मुख्य मानना । प्रधानता मात्र कृष्ण को दी जाती है । हम उसके भक्त हैं और हमें जीवन की दिनचर्या भी निभानी है । यदि आप भोजन करते हो, पानी पीते हो, या अन्य कुछ भी करते हो, सब कुछ विग्रह को या अपने मन से भगवान को अर्पण करना चाहिए, ताकि स्वतन्त्र भाव से अलिप्त रहो, नहीं तो स्वतन्त्र होने की भावना विकसित होती जाएगी । स्वतन्त्र मन भक्ति से दूर ले जाएगा । अतः आप को ऐसी भावनाओं से स्वयं को बचाना होगा । "सर्व कृष्णमर्पणम् अस्तु" । ******

प्रश्न: ऐसी अनेक सूक्ष्म बातें हैं जो अन्त में विशाल हो जाती है ?

उत्तर: सर्व प्रथम सही भावना विकसित करनी है, पर अन्त में हृदयगुह्य स्वतन्त्र भावना का अवरोध करना होगा । सर्वधर्मान्परित्यज्य का यही अर्थ है । ******

प्रश्न: हमें अपने उद्देश्य के प्रति जागरुकता लानी होगी क्या ?

उत्तर: हाँ, यह सम्पूर्ण जागरूकता है । ******

प्रश्न: हम जो कुछ भी उपयोग में लेते हैं, उन्हें भी अर्पण करना चाहिए क्या ?

उत्तर: हाँ । सब कुछ भगवान को अर्पण करना चाहिए । ******

प्रश्न: ऐसा कहा गया है कि प्रसाद को कभी अवशिष्ट नहीं रखना चाहिए । यदि आप का उदरपूर्ति हो गया है और आप की थाली में कुछ अवशिष्ट प्रसाद है तो क्या करना चाहिए ? आप को उसे किसी भी अवस्था में पूरा करना चाहिए और अस्वस्थ होना चाहिए ?
उत्तर: उसे अवशिष्ट रखने के अतिरिक्त आप के पास अन्य कोई मार्ग नहीं है क्योंकि यदि आप उसे ज़बरन खाओगे तो अस्वस्थ होंगे । ******

प्रश्न: हमारे वैदिक पाकशास्त्र के विषय में लोगों को भोजन पकाना सिखाते हैं । कैसे भोगपूर्व आस्वादन किए बिना भोजन बनाना है, उसका भोग कैसे धरना है आदि बातें भी उन्हें बताना क्या ठीक होगा ?
उत्तर: भोग धरना मात्र उनके लिए है जो दीक्षित है । अदीक्षित को भोग कैसे धरना यह सिखाने का कोई अर्थ नहीं है । ******

प्रश्न: इसका अर्थ यह हुआ कि अदीक्षित मात्र भोग ले सकते हैं ।
उत्तर: स्वाभाविक है । यदि आप अदीक्षित है तो इसका अर्थ है कि आप स्वतन्त्र हैं और जीवन का उद्देश्य है भोग भोगना । यह सिद्धान्तों गीता के ३.१३ श्लोक में बताया है:
यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः ।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात् ।। (गीता ३.१३)

"धार्मिक जो यज्ञ अवशेष में भोग लेते हैं, वे अपने सभी दुष्कर्म के परिणाम से दोष मुक्त हो जाते हैं । परन्तु अधार्मिक जो मात्र इन्द्रिय-सन्तुष्टि के लिए भोजन पकाते हैं और खाते हैं, वे पाप भोग करते हैं ।"

जो मात्र अपने लिए भोजन पकाते हैं, वे पाप खाते हैं । यह बात उनके लिए है जो दीक्षित हैं । उन्हें कभी भी भोग अर्पण किए बिना भोजन नहीं करना चाहिए । उन्हें आस्वादन-पूर्व भोग को अर्पण करना चाहिए । अदीक्षित के लिए अर्पित भोजन क्या है? वे तो कुछ भी अर्पण नहीं करते, तो इस विषय में वे क्या समझ सकेंगे ?
******

प्रश्न: अदीक्षित को हमारा प्रसाद ग्रहण करने से क्या कोई लाभ होगा ?
उत्तर: यह तो उन पर निर्भर है कि उन्हें कितनी श्रद्धा है । यदि उन्हें श्रद्धा नहीं है, तो प्रसाद की महत्ता उनके लिए कुछ भी नहीं है । अतः एक विधि है कि जिनको श्रद्धा नहीं है उन्हें प्रसाद नहीं देना चाहिए । वे प्रसाद का अनादर करेंगे और जिस भक्त ने

उन्हें प्रसाद दिया है वह भी अपराधी ठहरता है । वह जान बूझकर उस अश्रद्धालु से ऐसा अनादर करवाता है जो कृष्ण से संलग्न है ।

दो प्रकार की भावना होती हैं: पसन्द और नापसन्द । प्रसाद और अन्य वस्तु जो भगवान से सम्बन्धित है उन में स्वयं ही कुछ शक्ति होती है । यह वास्तविकता है पर वह व्यक्ति की भावना पर निर्भर करता है कि उसे उन वस्तु में श्रद्धा है कि नहीं, उसे वह पसन्द है कि नहीं । प्रसाद मात्र उसकी वह भावना को पुष्टि करेगा । यदि उसे श्रद्धा है, तो प्रसाद ग्रहण करने के बाद वह अधिक भक्ति की ओर प्रगति करेगा और यदि श्रद्धा नहीं है तो उसकी नापसन्द बढ़ेगी ।

प्रसाद ग्रहण करने से भक्ति के प्रति आनुकूल्य भाववृद्धि होता है । वह अपनी क्रूरता, द्वेष, काम-वासना त्याग देगा और भगवान का भक्त बनेगा । यही प्रसाद का वास्तविक प्रभाव है । प्रसाद ग्रहण करने का यही सर्व श्रेष्ठ लाभ है । यह तभी होगा जब उसे प्रसाद में श्रद्धा होगी और प्रसाद सही भावना से ग्रहण करेगा । यदि भावना उचित नहीं है तो प्रसाद का असर भी सही नहीं होगा ।

वास्तव में वृन्दावन में सभी ने दीक्षा ली है । साधु, गृहस्थी, यहाँ तक कि गुण्डों ने भी दीक्षा ली है और प्रसाद खाते हैं, पर असल में वे क्या करते हैं ? गुण्डे असुर की तरह वर्ताव करते हैं । वे असुर हैं । उन पर प्रसाद का प्रभाव क्यों नहीं होता ? यदि लोग अपराधी हैं, तो आध्यात्मिक वस्तुओं का प्रभाव भी नहीं होगा । इसका अर्थ यह नहीं है कि वस्तुओं में शक्ति नहीं है । वे अपनी शक्ति नहीं दिखाएगें क्योंकि व्यक्ति शक्ति की अपेक्षा नहीं करते । यदि व्यक्ति ऐसी शक्ति ही नहीं चाहता तो भगवान भला उसे क्यों देगा ?

इसी कारण शास्त्र में विधान किया गया है कि जो भक्ति से प्रतिकूल है उन्हें कभी प्रसाद देना नहीं चाहिए । अभक्त को प्रसाद देना यानि प्रसाद को कूडे में फेंकने के समान है । यदि आप को कोई पसन्द है और उसे बहुत प्यार करते हो तो किसी को या सभी को ऐसी कोई वस्तु नहीं देंगे जो आप के प्रिय व्यक्ति की हो । आप वह प्रिय वस्तु केवल अपने लिए और अपने पास ही रखेंगे । यदि आप को कोई लड़का या लडकी पसन्द है और वे आप को कोई भेट देंगे तो आप उस भेट को कूड़े में नहीं फेकेंगे क्योंकि ऐसा करके आप उस व्यक्ति की ओर अपना अनादर व्यक्त करते हो । प्रसाद का आदर करना चाहिए । यह अलग बात है कि हम इस संसार में रहते हैं

और कभी कभी कुछ परिस्थितियों में हमें ऐसे लोगों को भी प्रसाद देना पड़ता है जो भक्त नहीं है । कभी किसी को ज़बरन प्रसाद न दें ।

व्यक्ति की श्रद्धानुसार सफलता मिलती है । यदि श्रद्धा ही नहीं है, तो आध्यात्मिक मार्ग में कोई प्रगति नहीं होती । श्रद्धा ही प्रथम स्तर है । अतः कृष्ण ने भगवद्गीता में कहा है:

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।। (गीता ४.४०)

"जो अज्ञानी है, अश्रद्धालु है और जिसके मन में सन्देह है, वह नष्ट हो गया है । विचलित मनवाले व्यक्ति के लिए न इस ज़गत में, न ही अन्य ज़गत में सुख है ।"

जो व्यक्ति अज्ञानी, अश्रद्धालु है, शंकाशील है, वह नष्ट-भ्रष्ट हो जाएगा । इसका कारण है उसकी अज्ञानता । अतः वह हमेशा ग़लत ही करेगा । विशेषतः उसे सहज भी विश्वास नहीं है । यदि वह कोई भी ईश्वरीय वस्तु जैसे कि प्रसाद के सम्पर्क में भी आएगा तो भी वह उसका आदर नहीं करेगा । उसके मन में शङ्का ही रहेगी । अतः लाभ का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता, बल्कि उसे और हानि सहन करनी होगी।

******

प्रश्नः हमारी पाकशास्त्र की पुस्तक लिखते समय हमारे पास बहुत प्रसाद था, जो हमने अपने पड़ोस में वितरण किया । उन्हें हम लोग और प्रसाद भी अच्छा लगा, परन्तु उन्होंने उस भोजन को प्रसाद समझ कर नहीं ग्रहण किया तो क्या उन्हें कोई आध्यात्मिक लाभ नहीं होगा ?
उत्तरः लाभ अपनी अपनी श्रद्धानुसार होता है । यदि श्रद्धा नहीं है, तो अन्य मनपसन्द भोजन पाने की बात हो जाती है । ******

प्रश्नः "यदि लोग प्रसाद पाएँगे तो उन्हें कुछ आध्यात्मिक लाभ होगा" यही भावना कर हमने ऐसा किया था ।
उत्तरः मैं ने उदाहरण दिया कि वृन्दावन में भी सभी प्रसाद पाते हैं, पर उनकी भावना कहाँ है ? ******

प्रश्नः हम बिस्कुट वितरण करते हैं, पर विक्र के पूर्व श्रीगिरिधारी को सभी बिस्कुट भोग लगाते हैं । अब व्यावहारिक क्या है ? क्या हमें बिस्कुट आदि का भोग नहीं

लगाना चाहिए ? हमें आखिर गिरिधारी को कुछ न कुछ तो भोग लगाना है और हज़ारों पैकेट वितरण करने हैं, पर कुछ लोगों को पसन्द नहीं आया तो क्या करें ?
उत्तर: आप जो भोजन में पाते हो, उसी का ही भोग लगाओ । जो खाद्यवस्तु आप विक्र करते हो उसका भोग लगाना आवश्यक नहीं है । ******

प्रश्न: मैं समझ सकता हूँ कि पाकशास्त्र के क्रम में भोग कैसे धरा जाय यह हम लोगों को दिखा नहीं सकते, पर क्या उन्हें हम यह कह सकते हैं कि ऐसा ध्यान करना हैं कि पाने से पूर्व यह भोग उन के द्वारा भगवान को अर्पण किया गया है ?
उत्तर: आप ऐसा कर सकते हैं । आप उन्हें यह कह सकते हो कि भगवान हमें यह भोजन पहुँचाता है और भोजन से पूर्व हमें उनको याद करना चाहिए और आदर करना चाहिए । ******

प्रश्न: पाकशास्त्र के क्रम में लोग चाहते हैं कि हम उनके साथ भोजन ग्रहण करें, पर भोग धराये बिना हम पा नहीं सकते तो ऐसी परिस्थिति में हम कैसे व्यवहार करें ? अपने मन से क्या हम भोग लगा सकते हैं ?
उत्तर: आप ऐसा कर सकते हैं क्योंकि बिना भोग लगाए कुछ भी ग्रहण करना नहीं चाहिए । आप भोग लगाओ और आप ही ग्रहण करो । ******

प्रश्न: मन में ?
उत्तर: हाँ । ******

८२. भय

प्रश्न: कोई भय से कैसे मुक्त हो सकता है क्योंकि इस लौकिक जगत में सभी भयभीत रहते हैं ।
उत्तर: भक्ति भय दूर करती है । मुख्य भय है मृत्यु का जो सभी के मन की गहराई में छिपा हुआ है । लोग मृत्यु से क्यों डरते हैं ? वे मृत्यु से डरते हैं क्योंकि मृत्यु उनसे सब कुछ छीन लेता है, विशेष कर वस्तु और व्यक्ति जिसमें वह आसक्त हैं । मृत्यु इस हद तक वियोग लाता है कि आप को जिस शरीर से इतनी आसक्ति थी उससे भी अलग कर देता है ।

भक्ति आप को निर्भय बनाती है क्योंकि भक्तिमार्ग में सही शिक्षा मिलती है । भक्ति में ही सही ज्ञान मिलता है, सिर्फ आध्यात्मिक ज्ञान ही नहीं बल्कि साथ में व्यावहारिक ज्ञान भी प्राप्त होता है । संसार में सफलता पूर्वक कैसे जीवन बिताना है, भक्ति यह भी

सिखाती है । मृत्यु के अलावा मनुष्य को अन्य लोगों से व्याधि या हिंसक पशुओं का भी भय सताता है । ऐसे में अभयमय जीवन कैसे बिताया जाय यह हमें भक्ति सिखाती है । उदाहरण स्वरूप, यदि आप भक्ति की साधना कर रहे हो तो भोजन की आदतों पर आपका नियन्त्रण रहेगा । आप ऐसा भोजन नहीं पाओगे जो बहुत तामसिक हो अथवा बीमारी ला सके । इससे आप का स्वास्थ्य ठीक रहता है और अनुशासन का पालन करने से निर्भय रहते हो । जो नियंत्रित नहीं है (इन्द्रियलोलुप है) वह अवैध कार्य करता है और हमेशा भयभीत रहता है । जिन का मानस अपराधी बन गया है उन्हें सदा भय रहता है, परन्तु जब वे भक्त बनते हैं तब भयरहित हो जाते हैं ।

देह में आसक्ति के कारण भय पैदा होता है और भक्ति उस भय को दूर करती है । (क्योंकि) भक्ति में सही समझ है । भक्ति आसक्ति को दूर करती है, जो अज्ञानता (अविद्या) से होती है । भक्ति किसी प्रकार की ग़लत धारणा नहीं है । भक्ति का वर्णन शास्त्र में किया गया है एवं जो कुछ भी आप सद्गुरु से सुनते हो । भक्ति आप को निर्भय बनाती है किन्तु उसमें विपत्तियाँ भी आ सकती है । पाण्डव, ध्रुव महाराज और प्रह्लाद महाराज आदि को भी कठिन आपत्तियों का सामना करना पड़ा था । उन लोगों की बात तो छोड़ो, यहाँ तक कि श्री रामचंद्र और श्री कृष्ण जो स्वयं भगवान हैं उन्हें भी आसुरिक, पापी मन वालों के साथ भी निपटना पड़ा था । ऐसे आसुरिक लोग सदा रहते हैं जिन्हें हम बदल नहीं सकते ।

कठिन परिस्थितियों में भी भक्ति निर्भय बनाती है । लोगों को धन के अभाव का भय होता है कि "यदि मैं धन उपार्जन नहीं करूँगा तो मेरा क्या होगा ?" किन्तु एक भक्त सभी परिस्थितियों में भी निर्भय रहता है क्योंकि उसे ईश्वर में श्रद्धा है । निर्भय रहने का उपाय केवल भक्ति है ।

******

प्रश्न: मेरी अनुभूति है कि मेरा बहुत कुछ व्यवहार भय से प्रेरित होता है । यह बचपन से है और इसे जानकर भी उसे बदलना मेरे लिए बहुत कठिन है । ऐसा बताया है कि भक्ति में सभी व्यवहार प्रीति से होता है । क्या इस भय से छूटने के लिए आप कुछ मार्गदर्शन देंगे ?

उत्तर: ज्ञान और सही समझ से भय दूर होता है । जब भय होता है तब हृदय संकुचित हो जाता है, भावनाएँ बहुत दब जाती हैं । यदि आप हृदय की तुलना कमल से करोगे तो समझ पाओगे कि रात्रि को जैसे कमल बन्द हो जाता है ठीक वैसे ही भय से हृदय बन्द हो जाता है । भय का असर ऐसा होता है । साधारणतया यह स्वभाव है कि आप

को जिस परिस्थिति से भय लगता है आप उससे छुटकारा पाने का प्रयत्न करते हो । लेकिन सम्भव है कि परिस्थिति को बदलने की क्षमता आप में न हो । भय अज्ञानता के कारण होता है । यदि सच्चा ज्ञान और सच्ची समझ है तो भयभीत होने का कोई कारण नहीं है ।

यदि कोई गाय के ऊपर चीख़ रहा है या उसे मार रहा है तो गाय भी उस से डरने लगेगी और उसके पास नहीं जाएगी । आप गाय को डराकर उस से काम करवा सकते हो परन्तु जब वे आप से नहीं डरेगी तब आप के पास आएगी और उनकी हरकतों से आप को कुछ भय नहीं होगा ।

आम तौर पर बचपन में बच्चों को भय से नियन्त्रित किया जाता है । भय के कारण वे कार्य करते हैं और विनयशील बनते हैं । परन्तु यह भय युवावस्था एवं प्रौढावस्था में भी बना रहता है और (प्रसंगोवशात्) मनमें आ जाता है । इसीलिए सही समझ से कार्य करना चाहिए । अपने मन में यह प्रश्न पूछो, "मुझे क्यों भय लगता है ? उसका क्या कारण है ?" यदि कोई उचित कारण हो तो जिस परिस्थिति के कारण भय बनता है उसे दूर करने का प्रयत्न करो और यदि कोई कारण ही नहीं है तो भयभीत क्यों होना ?

******

८३. भूत / प्रेत

प्रश्नः आयुर्वेद शास्त्र में कुछ रोगों का वर्गीकरण किया गया है उन का कारण भूत-प्रेत-राक्षस आदि बताते हैं । क्या इसका कारण यह है कि उस समय वे इन रोगों के कारण को नहीं ढूँढ पाते थे या फिर क्या भूत-प्रेत-आदि योनि सही में होती है ? चरक संहिता और वाग्भट्ट संहिता दोनों कहते हैं कि कुछ विशेष परिस्थिति में उदाहरण स्वरूप, जब आप अतिक्रोधित होते हो तब भूत-प्रेत या राक्षस शरीर को ग्रस्त कर लेते हैं एवं उन में से जिसने शरीर-ग्रस्त किया है, उस के स्वभावानुसार, शरीर में विशेष चिह्न दिखाई देंगे ।

उत्तरः भूत-प्रेत-आदि कुछ नहीं है । यह केवल एक मानसिक तनाव है जो त्रिविध दोष (कफ़-पित्त-वायु) असंतुलन होने से होता है ।

भूत प्रेत आदि पहले हुआ करते थे परन्तु अब वे मनुष्य-रूप में होते हैं । एक उसके लक्षण से पहचानी जाती हैं । अब भूत-प्रेत आदि के लक्षण मानव जाति में दिखायी देते हैं, जैसे कि पागलपन करना, विमनस्क होकर घूमना, छिछोरापन होना, गंदी आदतें

होना, दूसरों के लिए आफ़तें खड़ी करना, दूसरों पर अधिकार जमाना आदि । भूत-प्रेत का अब कोई अस्तित्व नहीं है क्योंकि उन्हों ने अब मानव देह धारण कर लिया है। (आधुनिक मनुष्य का व्यवहार उन भूत आदि जैसा हो गया है) पूर्व कालीन समय में वे एक वर्ग के रुप में पैदा किये गए थे क्योंकि उस समय मानव लोग थे जिनको वे ग्रस्त कर सकते थे । अब तो मानव मानव नहीं रहा अतः उनका मनुष्य रूप में कोई भी अस्तित्व नहीं है । एक भूत (वास्तविक) दूसरे भूत (मानव) पर क़ब्ज़ा नहीं करता । जब मनुष्य भूत या असुर की तरह वर्ताव करता है तो दूसरे भूत नहीं रहेंगें क्योंकि वे किन पर अपना कब्ज़ा जमाएँगे ? [इसे हँसी मज़ाक में कहा गया था] ।

******

प्रश्नः क्या इन सभी परिस्थितियों को अब त्रिविध दोष के असन्तुलन- शारीरिक और मानसिक असन्तुलन कहा जाता है ?
उत्तरः हाँ । अब यह भूतहा धन्धा कहीं काम नहीं आ रहा है ।   ******

८४. मन, बुद्धि, अहम् और चित्त

प्रश्नः मन, बुद्धि, अहम् और चित्त का क्या अर्थ है ?
उत्तरः मन विचार करता है, बुद्धि निर्णय लेती है, अहम् उन्हें जकड़ कर रखता है और हृदय या चित्त उन संस्कारों का संग्रह करता है । उदाहरण स्वरूप, मानो मिठाई की दुकान है । सबसे पहले आँख और मन से उसकी जानकारी मिलती है, फिर अहम् उसे विचार देता है, "मैं इसे खरीदकर खा सकता हूँ" फिर बुद्धि निश्चय करती है, "मुझे इसे ख़रीदना चाहिए और खाना चाहिए," । फिर उसे ख़रीदते हो और खाते हो। चित्त में उसे खाने का अनुभव (संस्कार के रूपमें) जमा हो जाता है । परन्तु यह सब कुछ (अनुभूति) आत्मा बिना सम्भव नहीं है ।******

प्रश्नः शास्त्र कहता है कि जब सृष्टि की रचना होती है तब मन सत्त्व गुण से होता है परन्तु बुद्धि रजो गुण से होती है । यह कैसे समझा जाय क्योंकि बुद्धि तो मन से उच्च स्तर पर है ?

उत्तरः प्राकृतिक गुण उनकी शुद्ध स्थिति में नहीं रहते । वे हमेशा मिश्रित होते हैं पर कोई एक गुण प्रधान होता है । उदाहरण स्वरूप, सामान्य रूप से बुद्धि में रजस् और मन में सत्त्व गुण प्रधान होता है । बुद्धि को उँचा कहते हैं क्योंकि बुद्धि मन को नियन्त्रण में रख सकती है । किसी को नियन्त्रण में रखना यह रजस् का गुण है, सत्त्व का नहीं ।

******

प्रश्न: बुद्धि और मेधा में क्या अन्तर है ?
उत्तर: समझने की क्षमता को मेधा कहते हैं जो बुद्धि की क्रियाओं का एक भाग है ।

******

८५. मन्दिर

प्रश्न: मन्दिर में कब घंटी बजानी चाहिए ?
उत्तर: मन्दिर की घंटी मन्दिर के द्वार खुलने से पूर्व बजानी चाहिये ।

******

८६: ममत्व (अपनापन, भगवान में आसक्ति)

प्रश्न: जब शिष्य गुरु के हृदय से तादात्म्य बनाने के लिए प्रेरित होता है तब शिष्य स्वतन्त्रत नहीं रहता है, परन्तु फिर भी अपनी वैयक्तिकता रहती है । यह भी सम्भावना रहती है कि वह गुरुके चरित्र की नक़ल करे । इस विषय में कुछ कहेंगे ?
उत्तर: गुरु के हृदय से ऐक्य पाने का अर्थ उनकी नक़ल करना नहीं है । नक़ल करने में और अनुगामी बनने में बहुत अन्तर है । जो गुरु की नक़ल करता है वह नर्क में जाता है । गुरु की नक़ल करना अर्थात् गुरु का स्थान लेना ।

गुरु स्वामी है और शिष्य सेवक है । यह ऐक्यता एक भाव है अर्थात् गुरु की रुचि एवं ध्येय को समझना, उनकी सेवा करना और उनका आदर करना । शिष्य कभी-भी गुरु का स्थान नहीं ले सकता । उसे हमेशा गुरु से आदरपूर्ण व्यवहार करना चाहिए । गुरु की उपयोग में ली गई वस्तुओं को नहीं लाँघना चाहिए और उनकी परछाईं को पाँव से छूना नहीं चाहिए । ऐसे में नक़ल करने का प्रश्न कहाँ आता है ?

अनुसरण करना अर्थात् उनके आदेशों का पालन करना, सत्यवादी बनना, उनके जैसी रुचि रखना और स्वयं को उनका सेवक समझना । बाह्य और आंतरिक दृष्टि में गुरु को नित्य हृदय में रखना और उनके आदर्शों का पालन करना ।
ऐक्यता का यही अर्थ है, फिर भी अपना अस्तित्व अलग रखना होगा । यदि स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है तो अनुसरण करने का प्रश्न कहाँ आता है ? सम्पूर्ण ऐक्य में अनुसरण या पूजा नहीं हो सकती । (किसी भी व्यवहार में दो व्यक्ति होने चाहिये) परन्तु यदि गुरु की सेवा, अनुसरण और आदर किया जाय तो स्वाभाविक रूप से ही शिष्य का अलग अस्तित्व होगा । अलग अस्तित्व होने के बाद भी रुचि और लक्ष्य एक होंगे । शिष्य की अपनी अलग रुचि नहीं होती है । यदि उसकी रुचि गुरु से विपरीत है तो वह उसे लौकिक जगत में भटका देगा ।

गुरु के जैसी ही रुचि और लक्ष्य होना और अपने लिए कुछ भी अलग लक्ष्य न होना यही लौकिक अस्तित्व से मुक्त होने का रास्ता है । इसका अर्थ होता है धोखाधड़ी वाली वस्तुओं से मुक्त होना, विश्वसनीय, प्रामाणिक और ईमानदार बनना । नक़ल करना और अनुसरण करने में बहुत बड़ा भेद है । ******

प्रश्न: स्वतन्त्र होने की इच्छा की जड़ इतनी गहरी है कि उससे छुटकारा पाना असम्भव है । हम जानते हैं कि अभक्ति और बन्धन का यही मुख्य कारण है । स्वतन्त्र होने की इच्छा को कैसे दूर किया जाय ?

उत्तर: जब आप को गुरु के प्रति ममत्व होगा तभी स्वतन्त्रता छूट सकती है । मात्र इसी उद्देश्य से श्री चैतन्य महाप्रभु ने उत्तमा-भक्ति का प्रचार किया । उनके प्राकट्य के पहले लोग केवल धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के बारे में ही जानते थे । उत्तमा-भक्ति राग (गहरी आसक्ति) पर टिकी है जहाँ साधक को अनुभूति होती है कि उनका भगवान के साथ तादात्म्य भाव है और उनसे भिन्न नहीं है । यही सच्चा ऐक्य है । उदाहरण स्वरूप, माँ अपने बच्चे को लेकर इतनी चिन्तित होती है कि वह भूखी होगी फिर भी अपने बच्चे को पहले खाना खिलाएगी । वह ऐसा नहीं सोचती है कि, "मैं अलग हूँ । बच्चे का जो होगा वह होगा, मैं तो खा लेती हूँ ।" [कुछ अर्वाचीन माँ शायद ऐसा करेगी] परन्तु जब वही बच्चा बड़ा होता है तब माँ का बच्चे से लगाव कम हो जाता है। वही बड़ा बच्चा जब माँ को यदि पसन्द नहीं है तो वही (अर्वाचीन) माँ उस बड़े बच्चे का ख़ून भी कर सकती है ।

जब ममत्व अधिक होता है तो स्वयं को अलग नहीं रख सकते । स्वतन्त्र होने की इच्छा के लिए यही एक मात्र समाधान है । इससे भिन्न और कोई समाधान नहीं है । अतः (ममत्व को) ज्ञान और कर्म से ढकना नहीं चाहिए । ज्ञान और कर्म (से ममत्व को) ढकना अर्थात् आप की अलगाववाद की मानसिकता है । यह अलगाववाद की मानसिकता ममत्व – दृढ़ राग या लगाव से ही नष्ट हो सकती है ।

यह ज्ञान हमें श्री चैतन्य महाप्रभु ने दिया है । अन्यथा भागवत में सौभरि मुनि जैसे सन्तों की कहानियाँ हैं । सौभरि मुनि ने अपनी इन्द्रियों को वश में करने के लिए हज़ारों वर्ष तप किया परन्तु वे स्वयं को स्वतन्त्र समझते थे । वे सोचते थे कि वह भगवान से अलग होकर आनन्द पा सकते हैं । उत्तमा-भक्ति में यह असम्भव है । उदाहरण स्वरूप, मानो इस गोशाला में एक बिल्ली है जिसने अभी-अभी चार बच्चों को जन्म दिया है । जब जब वह चूहे को देखेगी तो वह उन्हें पकड़कर अपने बच्चों के पास लाएगी । यदि वह अपने आप को स्वतन्त्र और स्वार्थी समझेगी तो वह ख़ुद ही सभी चूहे खा

जाएगी । अर्थात् एक माँ बनी बिल्ली भी अपनी स्वतन्त्रता का त्याग करती है क्योंकि उसे अपने बच्चों से लगाव है । जब यही बच्चे बड़े हो जाते हैं तो उसी माँ से लड़ते हैं और माँ भी उनसे लड़ती है । बाद में वह उन्हें खाना भी नहीं देती । यहाँ यह उदाहरण मात्र ममत्व को दिखाने और अपने छोटे बच्चों को स्वयं भूखा रह कर भी खाना खिलाने वाली माँ के भाव को दिखाने के लिए दिया है । ******

प्रश्न: अर्थात् जब लगाव होता है तब स्वाभाविक रूप से या उसके फ़ल स्वरूप क्या स्वतन्त्रता का भाव दूर हो जाता है ?

उत्तर: हाँ । वह तुरन्त दूर हो जाता है । एक अंश भी नहीं रहता है । बिल्ली के उदाहरण से यह समझ पाओगे । पहले वह नहीं खाएगी परन्तु बच्चों को खिलाएगी और बाद में वह खाएगी । बच्चे खा सके इसलिए वह स्वयं भूखी भी रहेगी । ******

प्रश्न: इस लगाव का अभ्यास नहीं किया जा सकता हैं ना ? क्या वह भगवत्कृपा से मिलता है ?

उत्तर: हाँ । ******

प्रश्न: आप बारबार ममत्व के बारे में कहते हैं । क्या आप इस विषय में अधिक बता सकते हैं ?

उत्तर: "मैं" शब्द एक व्यक्ति विशेष को सूचित करता है और व्यक्ति का धर्म है ममत्व। "मैं" इस देह में चेतना, या आत्मा हूँ । आत्मा ही हमें "मैं" का अनुभव कराती है । इस सचेत वस्तु या आत्मा की विशेषता को ममत्व की मनोवृत्ति, "मैं" या "मेरा" भावना को कहते हैं । "मैं" भाव व्यक्ति-निष्ठ या आत्म-निष्ठ है जो "मेरा", "ममत्व" भाव से वस्तुओं में प्रवेश करता है । इस प्रकार "मैं" का क्षेत्र बढ़ता है ।

******

प्रश्न: आध्यात्मिक शक्ति जब इन्द्रिय और मन में प्रवेश करती है तब भक्त को कैसी अनुभूति होती है ?

उत्तर: उसे ऐसा लगता है कि वह भगवान से जुड़ा है और गुरु सम्बन्धित जो भी चीज़ें हैं वह उसकी है । उसे स्वामी और सेवक के सम्बन्ध का अनुभव होता है । भक्त सेवक है और भगवान पूजनीय या जिसकी पूजा की जाय वह है । भक्त को भीतर ऐसी चेतना की अनुभूति होती है । ******

प्रश्न: क्या यह भी ममत्व भाव है अर्थात् भगवान मेरे हैं और मैं भगवान का हूँ ?

उत्तर: हाँ । ******

प्रश्न: गुरु से लगाव बढ़ाने के लिए, उन्हें समझने के लिए और वार्तालाप करने के लिए शिष्य को अधिक समय गुरु के साथ बिताना होगा अन्यथा वह दिखावा सा होगा । यदि आप किसी को पहली बार मिलते हो और आप को उस व्यक्ति से लगाव हो जाता है तो वह भी दिखावा होगा ।
उत्तर: अधिक तौर पर हाँ, परन्तु मेरे लिए वह अनायास हुआ था । ******

प्रश्न: यदि वह ममत्व स्वतः स्फुरित न हो तो क्या होगा ?
उत्तर: यदि वह स्वतः अच्छा लगता है तो अच्छी बात है । यद्यपि ऐसा न हुआ तो पहले यह निश्चित करना होगा कि इस पथ को अनुसरण करना है कि नहीं । निवृत्ति-मार्ग पर चलना चाहते हो कि नहीं ? यदि निवृत्ति-मार्ग अपनाना चाहते हो तो उसे अपना संकल्प बनाओ जिससे आप कृतनिश्चयी बन जाओगे । फिर श्रद्धा, विश्वास से उस मार्ग पर चलते रहोगे । इसका अर्थ है कि आप अनुकूल कार्य करोगे और प्रतिकूल कार्यों से दूर रहोगे । जैसा व्यवहार कृष्ण के साथ करोगे उसी प्रकार आप गुरु के साथ व्यवहार करो । इस भावना से प्रारम्भ करो और फिर इस भाव में वृद्धि होती जाएगी ।

अन्यथा घनिष्ठ परिचय से अपमान का भाव आ सकता है । केवल (स्थानिक) समीपता से लगाव नहीं बढ़ता है । कुछ तो बीज होना चाहिए । यह बीज रूपी संकल्प है कि, "यही मार्ग है जिस का मैं अनुसरण करना चाहता हूँ ।"

इस संसार में सब के मन में द्वेष का बीज है । संसार में श्रद्धा साहजिक भाव नहीं है। यदि भक्ति करने का संकल्प नहीं है तो फिर द्वेष का बीज होगा, जो अपना असर दिखायेगा । गुरु के साथ घनिष्ठता उनके प्रति द्वेष का भाव बढ़ाएगा । पहले संकल्प होना आवश्यक है, फिर उनका सत्संग सहायता करेगा ।　******

प्रश्न: जब गुरु-मुख से स्पष्ट निर्देश न मिले कि श्रीकृष्ण और गुरु को कैसे प्रसन्न करें तो क्या यहाँ हृदय की निष्कपटता ही एक मात्र रास्ता है ?
उत्तर: हाँ ।

******

प्रश्न: क्या यह हृदय का ही प्रश्न है ?
उत्तर: हाँ ।

******

प्रश्न: यदि साधक हृदय से निष्ठावान और समर्पित है तो वह समझ सकेगा कि कौन सी सेवा आनन्द देने वाली है वग़ैरह वग़ैरह ।
उत्तर: हाँ । मैंने वही बताया । इस प्रक्रिया में गुरु और शिष्य के हृदय एक होते हैं ।

******

प्रश्न: आप ममत्व को विस्तारपूर्ण समझा सकते हैं ? गुरु के सम्बन्ध में शिष्य के भाव कैसे होने चाहिए ?

उत्तर: ममत्व का यह भाव बिल्कुल वैसा है जैसा हमें हमारे शरीर से या उस से जुड़ी वस्तुओं से होता है । हमारा शरीर "मैं" शब्द का विषय है । हमें अपने देह से ममत्व है । "मैं" और "मेरा" एक दूसरे से जुड़े हैं । ममत्व अर्थात् किसी का अपना होने का भाव है ।

ठीक उसी प्रकार यदि आप कृष्ण या भगवान के समीप जाना चाहते हो तो आप को भी उनके प्रति वैसा ही भाव होना चाहिए । गुरु भगवान का प्राकट्य है । हमें गुरु के प्रति इस ममत्व के भाव का अभ्यास करना चाहिए । ******

प्रश्न: हम अपना यह भाव गुरु के प्रति कैसे प्रकट कर सकते हैं कि "आप मेरे हो" ?
उत्तर: दो प्रकार की मनोवृत्ति होती हैं । पहले में यह भाव होता है "मैं आप का हूँ" और दूसरे में यह भाव होता हैं कि "आप मेरे हो" । यह भाव लौकिक या अलौकिक हो सकता है ।

लौकिक जगत में पति पत्नी, सेवक स्वामी जैसे सम्बन्ध होते हैं, जहाँ सेवक को यह भाव होता है कि वह स्वामी है, परन्तु यह एक मात्र व्यापार है । सेवक स्वामी को सम्पूर्ण रूप से समर्पित नहीं है क्योंकि इस व्यापारिक सम्बन्ध में वह भौतिक उद्देश्य से (धन, वस्तु, कार्य आदि के बदले में) सेवा करता है ।

अलौकिक जगत में साधक को ऐसा भाव होता है कि वह भगवान का है और इसी भाव से भगवान की सेवा करता है और उन पर आधारित रहता है । किन्तु साधक इस भाव से यदि नहीं चलता है तो सम्बन्ध टूट जाते हैं । भगवान मेरे अपने हैं या गुरु मेरे अपने हैं ऐसा भाव जब साधक को होता है तो उसे भगवान या गुरु को प्रसन्न करने की इच्छा होती है । भगवान को कैसे प्रसन्न करें, कैसे सन्तुष्ट करें और ऐसा क्या करें जिस से भगवान प्रसन्न हो ऐसे भाव उसके मन में बढ़ते हैं । यह सम्बन्ध नित्य है ।

लौकिक सम्बन्ध में सेवा तो है परन्तु वह किसी उद्देश्य से की जाती है । अलौकिक सम्बन्ध में भगवान या गुरु को प्रसन्न करने की इच्छा होती है, अन्य कोई उद्देश्य नहीं होता है । इन दोनों में यही भेद है ।   ******

८७. माया

प्रश्न: भक्ति या भगवान को समर्पित होने की प्रक्रिया में जीव गोस्वामी दर्शाते हैं कि साधक कैसे माया दूर कर सकता है ? यह विधान दर्शाता है कि चूँकि साधक भगवान को समर्पित है, वह अपने ज्ञान और त्याग से माया को दूर करने का प्रयत्न करता है । क्या भगवान को समर्पित होने से माया दूर हो सकती है ?

उत्तर: भगवान को समर्पित हुए बिना माया से छुटकारा नहीं मिलता । भगवान की शरण लेने से ज्ञान और वैराग्य मिलेगा जिससे माया से मुक्ति मिलना सम्भव होता है। एक जादूगर का जादू उनकी शरण में जाने के बाद ही समझ पाओगे ।

इसके बाद जीव गोस्वामी भक्ति के बारे में बात करते हैं । कृष्ण की शरण के बिना ज्ञान सम्भव नहीं है क्योंकि ज्ञान का अर्थ केवल कृष्ण या भगवान को जानना नहीं है। इसका अर्थ कृष्ण के साथ स्वयं के सम्बन्ध को जानना भी है । आप को यह जानना होगा कि वह सम्पूर्ण है और आप उसका एक अंश हो । वह नियन्त्रक है और आप उसके नियन्त्रण में हो । कृष्ण सम्पूर्ण है और आप उसका हिस्सा हो । केवल ऐसा ही ज्ञान होना आवश्यक है । ऐसा ज्ञान नहीं होना चाहिए जो ऐसी सोच सिखाए कि, "मैं परम तत्त्व हूँ", जिसका प्रचार शंकराचार्य ने किया है । ऐसा ज्ञान मुक्ति नहीं देता । कृष्ण कहते हैं:

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।। (गीता ७.१४)

"तीन प्राकृतिक गुणों से बनी माया को मेरी दैवी शक्ति से पार करना बड़ा कठिन है। किन्तु जो केवल मेरी शरण में आता है वही इस माया को सरलता से पार कर सकता है ।"

प्रपत्ति, शरणागति या शरण लेने का अर्थ होता है यह जानना कि (जिनकी शरणागति लेते है) वह श्रेष्ठ है और मैं (शरणागत) निम्न हूँ । यदि आप ईश्वर को अपने समान मानोगे तो वहाँ प्रपत्ति सम्भव नहीं है । इसी कारण माया से नहीं बच सकते ।

गोस्वामियों ने यह स्थापित किया है कि भगवान निशक्तिक (बिना शक्ति, बिना ताक़त के) नहीं है । वह शक्तिमान सशक्तिक (शक्ति, क्षमता वाले) है इसलिए अपनी शक्ति से भगवान बहिरंग शक्ति को प्रभावित कर सकते हैं । अन्यथा कोई कैसे उसे पार कर सके ?

******

प्रश्नः यदि हम संकल्प करते हैं फिर भी येन केन माया हम पर हावी हो जाती है तो उसे कैसे अपराध माना जाय ?
उत्तरः ऐसा नहीं होता । संकल्प करने के बाद माया आप पर हावी हो जाये ऐसा कुछ नहीं है ।

******

प्रश्नः परन्तु मेरे साथ ऐसा ही होता है ।
उत्तरः भक्ति-मार्ग में माया जैसी कोई वस्तु ही नहीं है । माया ज्ञान-मार्ग , योग-मार्ग और कर्म-मार्ग में है, भक्ति-मार्ग में माया नहीं है । कृष्ण यह कहते हैं:

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।। (गीता ७.१४)

"तीन प्राकृतिक गुणों से बनी माया को मेरी दैवी शक्ति से पार करना बड़ा कठिन है। किन्तु जो केवल मेरी शरण में आता है वही इस माया को सरलता से पार कर सकता है ।

"केवल वे लोग जो मेरी शरण लेते हैं वे ही मेरी माया को पार कर सकते हैं" । माया अर्थात् अज्ञान और जो कोई भगवद् भक्त बनता है एवं यह समझ जाता है कि वह भगवान का दास है, तब उसकी अज्ञानता दूर हो जाती है । अज्ञानता अर्थात् अपने स्वरूप के विषय की भ्रान्ति । अन्य मार्गों में यह नहीं समझाते है कि हम भगवान के दास हैं एवं हमारा (मूल) स्वरूप है भगवान की सेवा करना ।

अतः अज्ञानता अन्य मार्ग में होती है । अन्य मार्गों में साधक स्वतन्त्र रहता है, अपने स्वतन्त्र अहम् से कार्य करता है और अपनी ही ताक़त से कुछ पाने के लिए संघर्ष करता है । अतः माया में ही फँसा रहता है । भक्ति-मार्ग में साधक भक्त बनने के बाद गुरु की शरण में जाता है और स्वयं को गुरु और भगवान का सेवक समझता है तब माया का कोई प्रश्न नहीं रहता । ऐसे साधक को कभी ऐसी अनुभूति नहीं होती कि मैं स्वतन्त्र हूँ ।

इसके अतिरिक्त, माया भी भगवान की सेविका है । जब साधक भगवान को समर्पित हो जाता है और सेवक बन जाता है तब माया सेवक को परेशान नहीं करती । माया केवल उन्हें परेशान करती है जो भगवान को समर्पित नहीं है और उन की सेवा करना नहीं चाहते । वह भक्त को परेशान नहीं करती । ******

प्रश्न: क्या यही प्रमाण है कि हम समर्पित नहीं है ?

उत्तर: हाँ, यही प्रमाण है । मैं यही कह रहा हूँ, "लोग सत्यवादी नहीं है ।" यदि वे सत्यवादी और निष्ठावान हैं तो इस मार्ग में सर्वथा कोई समस्या नहीं है । यदि अन्य मार्ग अपनाते हो तो कई जटिल चीज़ें करनी होती हैं । उदाहरण स्वरूप, योग-मार्ग में यम, नियम, आसन, प्राणायाम इत्यादि करना होता है परन्तु भक्ति बहुत सरल है । भक्त बनने के लिए भगवान ने कोई जटिल प्रक्रिया नहीं दर्शायी है । सिर्फ़ आनुकुल्येन कृष्णानुशीलनम् है । भक्ति में यह भी निश्चित नहीं है कि सेवा विशेष प्रक्रिया से ही की जाय । भक्ति-मार्ग में न कोई जटिलता है और न ही माया है । वास्तव में केवल यही मार्ग माया से मुक्त है । यदि माया इस मार्ग में भी होती तो माया से मुक्त होने का और भी कोई रास्ता ही नहीं होता । ******

८८. मुक्ति या मोक्ष

प्रश्न: जीवन मुक्त वह व्यक्ति है जिसने आध्यात्मिक-जीवन में उन्नत अवस्था प्राप्त की है। वह अपनी पहचान देह से नहीं करता है फिर भी वह तीन प्राकृतिक गुणवाले देह में स्थित है तो वह कैसे शारीरिक पीड़ा और सुख का अनुभव कर सकता है ?

उत्तर: जो इस देह से मुक्त है ऐसे भक्त की मानसिकता आप को समझनी चाहिए । इसके लिए सबसे पहले आप को बन्धन का अर्थ समझना होगा क्योंकि मुक्ति और बन्धन (अन्योन्य आश्रय) परस्पर जुड़े हुए हैं । एक को समझोगे तो ही दूसरे को समझ पाओगे । बन्धन वास्तविक नहीं है । वस्तुतः जीव बन्धन में नहीं है क्योंकि बन्धन उसके मूल स्वरूप में नहीं है । वह मात्र प्रकृति के गुणों से है । अतः बन्धन बाहरी है ।

देह में आसक्ति अज्ञान के कारण होती है और अज्ञान अर्थात् जो वास्तविक नहीं है वह। वह अनुचित ज्ञान पर आधारित है । जब कोई भक्ति पथ अपनाता है तब अज्ञान दूर हो जाता है । भक्ति श्रद्धा से यानि कि शास्त्र और गुरु के शब्दों में विश्वास करने से शुरू होती है । फिर गुरु-सेवा आरम्भ होती है । गुरुसेवा एक तलवार की तरह बन्धनों की गाँठ को काट देती है । इससे साधक को अनुभूति होती है कि बन्धन सच्चा नहीं था । इसे जीवन मुक्ति कहते हैं ।

मुक्ति पानेवाला साधक अपने मन को समझ सकता है । इस स्तर पर पहुँचकर मन इन्द्रिय-सुख की ओर नहीं भागता । वह अपने मन का अध्ययन कर सकता है और मन किस ओर ढल रहा है यह भी समझ सकता है । वह समझ सकता है कि वह सन्मार्ग पर है या असत् मार्ग पर है अर्थात् इन्द्रिय-सुख के मार्ग पर है या प्रभुसेवा में समर्पण मार्ग पर है । जीवन मुक्त वह है जिसे इन्द्रिय-सुख में रुचि नहीं है क्योंकि उसे भक्ति में श्रद्धा है, गुरु को समर्पित है और गुरुसेवा करता है । इसे इन्द्रिय-सुख में रुचि नहीं है अतः वह देह में रहते हुए भी देह में आत्मभाव नही रखता है । मुक्ति का अर्थ यह नहीं है कि साधक को कुछ भी अनुभव नहीं होता है । परन्तु मुक्ति और बन्धन भावना की बात है ।

मुक्ति पाने का अर्थ यह नहीं है कि साधक में दैवी-गुण आ गए जैसे कि भूख, पीड़ा, ठंडी, व गरमी की अनुभूति न होना । ऐसी बातों को अन्य मार्ग में कहा जाता है परन्तु भक्ति-मार्ग में नहीं । ज्ञान-मार्ग और योग-मार्ग में कई रहस्यपूर्ण बातें दर्शाते हैं, जो सच नहीं है । यदि ज्ञान-मार्ग या योग-मार्ग का अध्ययन करोगे तो उसमें कहा है कि यदि आप मुक्त हो गए तो दुःख की अनुभूति नहीं होगी । यह बात ग़लत है । मुक्ति किसी अन्य मार्ग में नहीं परन्तु मात्र उत्तमा-भक्ति में ही प्राप्त होती है । जब तक आप देह धारण करते हो, तब तक पीड़ा की अनुभूति होती है । मुक्ति अर्थात् इन्द्रिय-सुख से इच्छारहित होकर सदा प्रभु सेवाकी इच्छा करना (वर्तमानमें या भविष्यमें) ।

ज्ञान-मार्ग लौकिक गुणों से ही सम्बन्धित है क्योंकि ज्ञान सत्त्वगुण से आता है । आप ज्ञान से कैसे मुक्ति पाओगे जब आप प्राकृतिक गुणों की असर में हैं ? ज्ञानी और योगी माया से छुटकारा पाने का प्रयत्न करते हैं । उन्हें माया से बहुत भय लगता है । माया अविद्या, अस्मिता राग, द्वेष और अभिनिवेश है - अर्थात् अज्ञान, देहासक्ति, तीव्र इच्छाएँ, द्वेष और मृत्यु का भय होना । वे ज्ञान पाकर इन सभी से छुटकारा पाने का प्रयत्न करते हैं । परन्तु ज्ञान भी सत्त्वगुण में है । वे ज्ञान की मदद से अविद्या (अज्ञान) को दूर करना चाहते हैं । वे जिस ज्ञान की बात करते हैं वह भी लौकिक है । वे गन्द को गन्द से दूर करने का प्रयत्न कर रहे हैं परन्तु ऐसा प्रयत्न व्यर्थ है । अतः वे प्रयत्न करते रहते हैं । भागवत में दिए गए सभी उदाहरण जैसे कि सौभरि मुनि और कुमारों की कहानियाँ यही समझाने के लिए है कि स्वप्रयास से कोई माया से छुटकारा नहीं पा सकता ।

फिर भी कृष्ण गीता में कहते हैं कि भक्ति में साधक प्रारम्भ से ही मुक्त हो जाता है:

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ।। (गीता ७.१४)

"मेरी दैवी शक्ति माया तीन गुणों से बनी है जिस पर विजय पाना बड़ा कठिन है । जो मेरी शरण में आता है वही माया को पार कर सकता है ।"

यदि साधक को श्रद्धा है तो वह बिल्कुल स्वतन्त्र नहीं है और इसी कारण वह मुक्ति पाता है । इसका यही अर्थ है जब यह कहते हैं कि भक्ति में प्रारम्भ से ही साधक मुक्ति प्राप्त करता है । इस मुक्ति के विषय में भ्रमित न हो कि मुक्ति के बाद आप हवा में उड़ पाओगे या दुःख की अनुभूति नहीं होगी । मुक्ति का अर्थ यह होता है कि साधक स्वतन्त्र नहीं है और उसका भाव भगवान में स्थिर है ।

बाकी सभी रहस्यमय अर्थ मनगढ़न्त है । भक्ति में प्रारम्भ से ही उसकी मुक्ति होती है जो सही प्रक्रिया से शरणागत होता है क्योंकि बन्धन या अविद्या का कारण अब नहीं है । उसे लौकिक द्वन्द से उत्पन्न न कोई राग, न कोई द्वेष, और न ही देहासक्ति है। वह बस यही जानता है कि "मैं भगवान का दास हूँ" । इसे मुक्ति कहते हैं ।

******

प्रश्न: ऐसा बताया गया है कि जीवन मुक्त साधक सम्पूर्ण रूप से गुरु और कृष्ण सेवा में समर्पित होता है फिर भी उसे भूख और प्यास लगती है परन्तु श्रीमद् भागवत यह बताता है कि महाराज परीक्षित सात दिन तक प्रभु कथा श्रवण में इतने मग्न हो गए थे कि उन्हें भूख और प्यास की पीड़ा की अनुभूति नहीं हुई थी । इन दोनों बातों को कैसे समझें ?
उत्तर: परीक्षित महाराज स्वयं शुकदेव गोस्वामी को इस विषय में कहते हैं:

नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते ।
पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम् ।। (भा.१०.१.१३)

"मैं ने जल का भी परित्याग कर दिया है । फिर भी वह असह्य भूख-प्यास की पीड़ा मुझे तनिक भी नहीं सता रही है क्योंकि मैं आप के मुखकमल से झरती हुई भगवान की सुधामयी लीला-कथा का पान कर रहा हूँ ।"

शुकदेव गोस्वामी को परीक्षित महाराज पर शङ्का होने लगी । उन्होंने सोचा कि प्यास को लेकर वे इतने दुःखी हो गए कि उन्होंने शमीक ऋषि के गले में मरा हुआ सर्प डाल दिया जिसके कारण सात दिन में मृत्यु पाने का उन्हें शाप मिला । वे शान्त चित्त से

कैसे कथा-पान कर सकते हैं ? इस सन्देह को मिटाने के लिए परीक्षित ने कहा, "यह परिताप मुझे परेशान नहीं करता है क्योंकि मैं सुधापान कर रहा हूँ ।" यह प्रसङ्ग इस पर ज़ोर देता है कि इस कथा से उन्हें इतना आनन्द मिलता था कि उनके लिए असह्य पीड़ा भी गौण थी । यद्यपि उनके परिवार के सभी सदस्य, सम्बन्धी, पत्नी, बच्चे और सभी वहाँ उपस्थित थे परन्तु उनकी ओर उन्होंने अपना ध्यान भी नहीं दिया ।

वस्तुतः महाराज परीक्षित का जन्म श्रीमद् भागवत के प्रचार के लिए हुआ था । माँ के गर्भ में ही वे श्री कृष्ण को ढूँढ रहे थे । अतः उनका शापित होना इस प्रकार से नियोजित था कि वे सब कुछ त्याग दें और श्रीमद् भागवत की कथाश्रवण करें । यह प्रसङ्ग सूचित भी करता है कि भक्ति-मार्ग अन्य मार्गो से भिन्न है । जब कोई भक्ति में तल्लीन हो जाता है तो उसे अन्य परेशानियाँ नहीं होती है । भक्ति का महत्त्व दिखाने के लिए इस प्रकार वर्णन किया गया है ।

प्रारम्भ में ही परीक्षित महाराज ने सन्तों से यह भी कहा था:
तं मोपयातं प्रतियन्तु विप्रा गङ्गा च देवी धृतचित्तमीशे ।
द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा दशत्वलं गायत विष्णुगाथाः ।। (भा.१.१९.१५)

"मैं आप की और गंगा नदी की शरण लेता हूँ; कृपया किसी भी बात की चिंता न करें। भले ही मुझे तक्षक नाग या कोई भी आकर काट खाये । कृपया कृष्ण कथा कहते रहिए और अन्य बात की चिन्ता न करें ।" ******

८९. मृत्यु

प्रश्नः जब व्यक्ति मर जाता है तो लोग सोचते हैं कि यदि वे उसे राधाकुण्ड का जल और तुलसी पत्र दें तो उसे प्राप्त होगा... मैं नहीं जानता वह क्या है । अभी आप ने कहा कि धाम, तुलसी इत्यादि वस्तुएँ केवल योग्य व्यक्ति पर प्रभाव डालती हैं । तो क्या अभक्तों के साथ ऐसा करना उचित है ?

उत्तरः यह केवल एक प्रथा है इसलिए लोग ऐसी बातें करते हैं । भक्त हो या अभक्त, जब वह मर जाता है और इन वस्तुओं का लाभ उन्हें जीवित अवस्था में नहीं मिला तो मृत्यु के बाद क्यों मिलना चाहिए ?

मुख्य बात यह है कि लोग जान-बूझकर ग़लतियाँ करते हैं । यहाँ तक कि वे आध्यात्मिक मार्ग में आते हैं और दीक्षा ग्रहण करते हैं, फिर भी वे गुरु को पसन्द नहीं करते । अतः वे अपराध करते हैं और गुरु को सहयोग भी नहीं देते हैं । वास्तव में वे कृष्ण

के समीप ही जाना नहीं चाहते हैं और यही सब से बड़ी समस्या है । वे यह नहीं चाहते क्योंकि यदि चाहते तो यह स्वाभाविक है कि उसी उद्देश्य को प्राप्त करने के लिए वे कार्य करेंगे । आप जिस वस्तु के लिए इच्छा रखते हो, उसी अनुसार कार्य करते हो, पर आप यदि इच्छा ही नहीं रखते तो उसके लिए कार्य भी नहीं करेंगे ।

जिन लोगों को कृष्ण में रुचि नहीं है, वे अपराधी हैं, गुरु के साथ अशिष्ट व्यवहार करते हैं और गुरु को सहयोग नहीं देते हैं क्योंकि वे अपना स्वार्थ रखते हैं । ऐसी स्थिति में मृत्यु के बाद वह श्री कृष्ण के पास क्यों जाएगा ? यदि जीवित अवस्था में उसे श्री कृष्ण में थोड़ी सी भी रुचि होती तो उसने अच्छा सा व्यवहार किया होता । सभी समस्याएँ इसलिए आती हैं क्योंकि वे गुरु का सम्मान नहीं करते हैं । फिर वे शास्त्र की और दूसरों की आलोचना करते हैं, और ये सभी समस्याएँ गुरु अनादर से प्रारम्भ होती है ।

गुरु आध्यात्मिक जीवन में सफलता के लिए आधार स्तम्भ है । यदि कोई गुरु से दुर्व्यवहार करे या गुरु का अनादर करे तो आध्यात्मिक जीवन का प्रश्न ही नहीं उठता। वह भौतिक जीवन है ।

गुरु के पास वही आता है जिस पर कृष्ण की कृपा हो क्योंकि कोई भी अपने आप प्रेरणा प्राप्त नहीं कर सकता । जब ऐसी प्रेरणा होती है तो उसके पीछे कृष्ण की अहैतुकी कृपा ही कारण है । फिर वह गुरु को स्वीकारता है और दीक्षा लेता है । उसके बाद साधक की इच्छा है कि गुरु का अनुसरण करे या न करे । इसमें और कोई सहायता नहीं कर सकता । अतः सौभाग्य से यह प्रेरणा मिली है तो तदनुसार कार्य करना चाहिए । यदि वह ऐसा करता है तो वह भगवान का सेवक है ।

बस यही होता है: पहले लोग दीक्षा ग्रहण करते हैं और बाद में अपनी ही योजना बनाते हैं और स्वतन्त्र हो जाते हैं, तब सेवा का प्रश्न ही नहीं रहता । आध्यात्मिक मार्ग जैसा लोग सोचते हैं इतना सहज भी नहीं है । ऐसा नहीं कि आप केवल वृन्दावन में रहें और यहाँ आप की मृत्यु हो जाय और आप कुछ आध्यात्मिकता प्राप्त कर लेंगे । आध्यात्मिक प्राप्ति ऐसी सोच पर निर्भर नहीं करती है ।

******

प्रश्न: क्या भक्त को मृत्यु की अनुभूति अलग रूप से होती है ? ऐसा कहते हैं कि मृत्यु के समय ध्रुव महाराज ने वैकुण्ठ जाने से पूर्व यमराज के मस्तक पर अपना पाँव रखा था । इसका क्या तात्पर्य है ?

उत्तर: यह घटना दर्शाती है कि कैसे वैधी भक्ति का अनुसरण करके कोई कैसे वैकुण्ठ में भगवान का परिकर हो जाता है । रागानुगा भक्ति और वैधी भक्ति अलग अलग है। गुरु का अनुसरण करने से ही पूर्णता पाना सम्भव है । जब गुरु के प्रति लगाव बढ़ता है तब स्वभावत: अनुकूल क्रिया करने लगते हो । वैधी भक्ति में आप स्वतन्त्र रह सकते हो, रागानुगा भक्ति में नहीं ।

एक रागानुगा भक्त के लिए इस दृष्टि से मृत्यु नहीं है क्योंकि वह नित्य कृष्ण-सेवा के लिए परिष्कृत भाव अथवा चेतना रखता है । इस जीवन के बाद भी वह निरन्तर कृष्ण की सेवा करता है । उसकी सेवा चलती रहती है । ******

प्रश्न: हम किस प्रकार समझ सकते हैं कि भीष्म ने मृत्यु की सही समय तक प्रतीक्षा की थी, यद्यपि वे भगवान के भक्त थे ?

उत्तर: वे वैधी भक्त थे, व्रज भक्ति के भक्त नहीं थे और वर्णाश्रम व्यवस्था का पालन करते थे । वे उचित समय की प्रतीक्षा कर रहे थे क्योंकि वर्णाश्रम व्यवस्था में ऐसा माना जाता है कि जब सूर्य उत्तरायण में होता है, तब वह समय मृत्यु के लिए शुभ होता है । भीष्म का अपने मृत्यु पर नियन्त्रण था अतः इस शक्ति का लाभ उठाया था।

******

प्रश्न: जब कोई भक्त देह-त्याग करता है तो उसके साथ वियोग की पीड़ा को कैसे सहन करें ?

उत्तर: यदि कोई भक्त देह-त्याग करता है तब अन्य भक्त दुःखी होते हैं क्योंकि वे एक भक्त का सङ्ग खो रहे हैं और उससे अलग होने का भी अनुभव करते हैं । जैसे वे भगवान के लिए प्रीति रखते हैं वैसे वे भगवान के भक्त से भी प्रेम रखते हैं । कृष्ण कहते हैं कि उन्हें भक्त बहुत प्रिय है । जब ऐसा प्रिय भक्त वियुक्त होता है तो अन्य भक्त दुःखी होता है । इसका अर्थ यह नहीं कि वह उदास हो जाता है ।

संसार में लोग दुःखी होते हैं और व्यथा का अनुभव करते हैं जब उनके अपने मित्र और सम्बन्धी की मृत्यु होती है । यह सांसारिक आसक्ति का कारण है । कभी कभी यह कुछ आडम्बर भी होता है । कभी किसी की मृत्यु होती है तो लोग दुःखी होने का ढोंग भी करते हैं । भारत में कभी कभी लोग रोने के लिए दूसरे व्यक्तियों को किराए पर भी बुलाते हैं । परन्तु भक्त वास्तव में दुःख का अनुभव करता है क्योंकि वह पुनः उस भक्त-सङ्ग को प्राप्त नहीं कर सकेगा । ******

प्रश्न: यदि भक्त की मृत्यु पश्चिम देश में होती है तो क्या कोई विशेष उत्सव करना चाहिए ?

उत्तर: उसकी भस्म को वृन्दावन लाएँ, यमुना में बहा दें और वैष्णवों में प्रसाद वितरण करें ।

*****

९०. युद्ध

प्रश्न: इन दिनों भारत और पाकिस्तान के बीच युद्ध जैसा वातावरण (तनाव) है । इस विषय में भक्त को क्या सोचना चाहिए ? क्या उसे ऐसा सोचना चाहिए, "मैं कृष्ण पर निर्भर हूँ अतः मैं वृन्दावन में ही रहूँगा और देखूँगा कि कृष्ण की क्या इच्छा है ?" फिर भक्त को धान्य संग्रह करना चाहिए, या कहीं सुरक्षित स्थान पर जाने का प्रबन्ध करना चाहिए इत्यादि ?

उत्तर: सर्व प्रथम तो युद्ध अनिवार्य है, चाहे वह अभी हो या बाद में । दैवी शक्ति और आसुरी शक्ति के बीच हमेशा युद्ध होता चला आया है । अभी आसुरी शक्ति अधिक प्रबल होती जा रही है । हमें हमेशा सत्य के पक्ष में रहना चाहिए और जहाँ तक सम्भव हो, सच्चे लोगों को साथ देना चाहिए । यदि आप को लगता है कि कुछ समस्या होगी, सामग्री की कमी होगी तो इसलिए आप को प्रबन्ध करना चाहिए ।

******

९१. रहस्यमय अप्रकट शक्ति

प्रश्न: मैं योगानन्द द्वारा लिखित उनकी आत्मकथा पढ़ रहा हूँ । उसमें वे योगियों की असाधारण यौगिक शक्तियों का वर्णन करते हैं । इन यौगिक शक्ति की भक्ति में आवश्यकता नहीं है क्योंकि उसका मुख्य लक्ष्य है ईश्वर प्रेम । क्या इसे विस्तारपूर्वक समझाएँगे ?

उत्तर: भक्ति एक अलग मार्ग है और यौगिक शक्ति का उस में कोई उपयोग नहीं होता। भक्त केवल सेवा करने में रुचि रखता है । यदि कृष्ण उसे यौगिक शक्ति देना चाहे तो भी उस शक्ति का सेवा में उपयोग न हो तो उसे उस में कोई रुचि नहीं होगी। यदि कोई इस असाधारण शक्ति को प्राप्त करना चाहता है तो उस साधक को अपने देह में तथा उस प्रक्रिया में सम्पूर्ण तल्लीन हो जाना पड़ेगा एवं उस में आसक्त होना होगा । परन्तु भक्ति में इसकी कोई उपयोगिता नहीं है, न अपने लिए और न औरों के लिए । इन शक्तियों से वह कुछ जादू कर सकता है और कुछ अनुयायी प्राप्त कर सकता है । परन्तु यह अन्य को कैसे सहायक है ?

दूसरी बात यह है कि प्रायः यह सब झूठ है । किसी के पास अद्भुत शक्ति नहीं होती। मैं महान योगियों को मिला हूँ और किसी के पास कुछ नहीं था । यह केवल एक दिखावा है । मैं ने कई योगियों को ऐसी अद्भुत शक्ति दिखाने को कहा । कई योगियों ने कहा कि उनके पास ऐसी कोई शक्ति नहीं है । महाराष्ट्र से आए कई लोग महाभाव प्रकट करते थे और समाधि लगाते थे, परन्तु वह एक छल होता था । भक्ति-मार्ग में साधक को ऐसी अद्भुत शक्ति की वस्तुतः कोई आवश्यकता नहीं है । आप को इस विषय में बहुत स्पष्ट रहना होगा । यदि आप को अद्भुत शक्तियों में रुचि है तो भक्ति-मार्ग से दूर चले जाओगे । यह मार्ग अनुकूल सेवा करने का है और यदि कोई अद्भुत शक्ति प्राप्त करना चाहता है तो उसका अर्थ यह होता है कि वह स्वयं के लिए कुछ करना चाहता है । उसकी रुचि भक्ति में नही है । ******

९२. रास

प्रश्न: परकीय भाव क्या है ?

उत्तर: व्रजभक्ति या उत्तमा भक्ति में एक स्वाभाविक आकर्षण होता है । उदाहरण स्वरूप- एक पुरुष और एक स्त्री के बीच स्वाभाविक आकर्षण होता है । एक वेश्या के साथ सम्बन्ध होना भिन्न बात है । वह मात्र एक व्यापार है । एक पुरुष और एक स्त्री के बीच आकर्षण तब होता है जब वे प्रेम-सम्बन्ध से जुड़े होते हैं और विवाहपूर्व का आकर्षण तत्पश्चात् के आकर्षण से गहरा होता है । विवाह पश्चात् वह ५०-५०% होता है; ५०% आकर्षण और ५०% व्यापार । जब तक उनकी पारस्परिक इच्छापूर्ति होती है, तब तक दोनों साथ-साथ रहते हैं, अन्यथा वे विवाह विच्छेद कर देते हैं । यह अविवाहित युवा लड़के और लड़कियों का उदाहरण उत्तमा भक्ति को समझ ने के लिए दिया है क्योंकि उत्तमा भक्ति राग पर आधारित है । इसको परकीय भाव कहते हैं । परकीय की दूसरी परिभाषा है "सर्वोत्तम भगवान मेरा है" । इसका अर्थ है भगवान केवल भक्त के हैं । परकीय रस परमश्रेय है । परकीय रस में कामवासना नहीं है । अर्थात् कपटरहित भाव से सेवा करना एवं संपूर्ण समर्पण और यथाशक्ति निस्वार्थ सेवा करना है । ******

प्रश्न: एक गृहस्थ मञ्जरी भाव[11] (उत्तमा भक्ति, व्रज भक्ति या शुद्ध भक्तिभाव) कैसे विकसित कर सकता है ?

---

11 मञ्जरी व्रज में एक युवा लड़की है, जो राधा और कृष्ण की नित्य परिकर है । वह राधा और कृष्ण की गोपीवृन्द की सहायता करती है ।

उत्तरः मञ्जरी भाव किसी देह या पद पर आधारित नहीं है । मञ्जरी भाव पाने के लिए सद्गुरु को सम्पूर्ण रूप से आत्म-समर्पण करना और सच्चा बनना होगा । सभी गोपी गृहस्थ हैं । मञ्जरी भाव सभी मानवजाति के लिए है और इससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि वह गृहस्थी है या त्यागी है । मञ्जरी भाव एक भावना है । उस भाव की तीव्र इच्छा करनी चाहिए और वह आप को निश्चित प्राप्त होगा । *****

९३. रुचि

प्रश्न: रुचि जो रागानुगा भक्ति की प्रेरक-शक्ति है, क्या वह साधना से या अन्य कोई रीति से प्राप्त हो सकती है ?

उत्तर: उत्तमा भक्ति केवल भक्त या कृष्णकृपा से ही पा सकते हैं, अन्य कोई प्रक्रिया रुचि प्रदान नहीं करती । अतः रुचि भी उसी कृपा से पायी जाती है । यदि किसी को थोड़ी सी भी रुचि है तो यह लक्षण बताते हैं कि वह भक्ति पथ पर है । यदि अपराधी न हो तो क्षणिक सत्सङ्ग भी मुक्ति देता है । ******

प्रश्न: कथा-रुचि और अनर्थ निवृत्ति के बाद जो रुचि होती है, इन दोनों में क्या अन्तर है ?

उत्तर: कथा-रुचि प्राथमिक सोपान है और अनर्थ निवृत्ति से पश्चात् जो रुचि होती है वह परिपक्व रुचि है अर्थात् आप अनर्थ से मुक्त हो गए हैं, निष्ठावान हैं और भक्ति में तल्लीन हैं । ******

प्रश्न: वैधी भक्ति में श्रद्धा से प्रेम तक के सोपान हैं, रागानुगा भक्ति में क्या है ?

उत्तर: इन दोनों मार्गों में मूल अन्तर है, आप को किस प्रक्रिया से साधना की प्रेरणा प्राप्त हुई । उत्तमा भक्ति[12] या रागानुगा में साधक आरम्भ करता है क्योंकि उसे भक्ति में रुचि है । रुचि का अर्थ है भगवान की वाणी को पसन्द करना ।

यदि किसी को भगवान अच्छे लगते हैं तो भगवान से सम्बन्धित प्रत्येक वस्तु उसे अच्छी लगेगी । यदि किसी को कुछ पसन्द है तो वह स्वाभाविक रूप से ही पसन्दगी के प्रति कार्यकलाप करता है । भगवत्कृपा से वह प्रेरित होता है । अन्यथा वैधी और रागानुगा भक्ति की प्रक्रिया एक सी है । प्रवृतियाँ और क्रियाकलाप भी समान हैं, जैसे कि श्रवण, कीर्तन आदि । उत्तमा भक्ति में मात्र एक ही भेद है कि व्यक्ति को उस में रुचि है । अतः किसी भी विधान की आवश्यकता नहीं है और वह पूर्णतया सन्तुष्ट

[12] वैधी और रागानुगा दोनों उत्तमा भक्ति है, पर श्री महाराजजी उत्तमा शब्द मात्र रागानुगा के लिए उपयोग में लेते हैं ।

होता है । उसके पास गुरु है, अर्थात् उसके पास सब कुछ है । फिर उसका मन इधर-उधर नहीं भागता है और "मुझे यह चाहिए, मुझे वह चाहिए" जैसी कोई माँग नहीं करता । बस यही भेद है ।

वैधी और रागानुगा के बीज भिन्न हैं । आरम्भ में जिस रुचि की अनुभूति करते हैं वह रुचि नहीं है जिसका वर्णन (भक्ति श्रेणी में) निष्ठा के बाद किया है । आरम्भिक रुचि मात्र आप को कार्यरत करती है । ******

प्रश्न: शुरू में जो रुचि होती है तो क्या वह आसक्ति के पूर्व की स्थिति - प्रबल रुचि नहीं है ?

उत्तर: नहीं । उस प्रकार की रुचि भिन्न होती है । शब्द एक है, पर अर्थ भिन्न है । एक आरम्भ का स्तर है, दूसरा उस से कहीं उच्च स्तर है । ******

प्रश्न: जिन को राग मार्ग में रुचि नहीं है, पर उस पर चलने की स्पृहा है, उस विषय में जीव गोस्वामी कहते हैं कि ऐसे (रुचि-रहित) साधकों को वैधी मार्ग अपनाना चाहिए, परन्तु उसे (कालान्तर में) रागमार्ग के साथ मिलाना चाहिए । ऐसे में क्या करना चाहिए?

उत्तर: रागानुगा की योग्यता है स्वाभाविक रुचि होना । यदि रुचि नहीं है, तो दोनों का मिश्रण होगा, पर अल्प रुचि तो होनी ही चाहिए । ऐसे साधक रागानुगा मार्ग ग्रहण कर सकता है, पर उसके आचरण में कुछ भेद होंगे । वैधी मुख्यतः पञ्चरात्रिक विधि, जबकि रागानुगा मुख्यतः नामकीर्तन, श्रवणादि है । वह रागमार्ग अपनाएगा, तथापि उसे अल्प रुचि है । रुचि प्राप्त करने की आकांक्षा से वह रागानुगा की साधना को वैधी रीति से अपनाएगा । यह मिश्रण है, जिस में थोड़ी सी पसन्दगी है और शास्त्र की विधि का पालन करता है । अर्थात् वह राग प्राप्ति की इच्छा से विधि-पालन करता है।

******

प्रश्न: वह एकीकृत के अर्थ के विषय में क्या कह रहे थे ?

उत्तर: एकीकृत (किसी भी दो वस्तु विचारादि को एक बनाना) अर्थात् वह रागानुगा को वैधी की तरह अपनाता है । वहाँ अल्प रुचि है अतः उसे रागानुगा का एक अङ्ग माना जाता है । वह मन्त्र-जप, श्रवण इत्यादि भी रागानुगा भक्ति की तरह करता है, परन्तु शास्त्रविधि से । इस अर्थ में यह एकीकृत हुआ ।

रागानुगा भक्ति में गुरु या गोसेवा अति महत्त्वपूर्ण है । सामान्य रूप से वैधी मार्ग का अङ्ग नहीं है, जहाँ पाञ्चरात्रिक विधि या विग्रह सेवा को महत्त्व दिया जाता है, जो अन्य

सम्प्रदायों में भी है । वे ये सब क्रियाएँ शास्त्रविधान के अनुसार करते हैं । रागानुगा में भी आरम्भ में प्रायः रुचि नहीं होगी । उदाहरण स्वरूप से आरम्भ में गो-सेवा करते हो, पर बिना रुचि से । वह गायों की प्रसन्नतार्थ करते हो, इस सोच से कि सेवा करने से गायें प्रसन्न रहेगी । आप की इच्छा है कि गोसेवा में रुचि हो अथवा ऐसा सुना है कि ऐसा करना अच्छा है, अतः आप करते हो । यदि गो-सेवा निष्ठा से करते हो, तो वह पसन्द आने लगेगी । फिर सेवा स्वाभाविक हो जाएगी । शुरू में करते हो क्योंकि कुछ विधान ऐसा कहते हैं कि ऐसा करने से हित होगा, पर बाद में स्वाभाविक रूप से वह पसन्द आने लगेगा और अपनी सेवा से कोई भी प्राप्ति की इच्छा नहीं रखोगे ।

******

प्रश्न: परिचर्या सही अर्थ में सेवा है, जो गुरु या जिस व्यक्ति की आप सेवा करते हो उनकी प्रसन्नतार्थ होती है ?

उत्तर: हाँ । वैधी निश्चित क्रियाओं तक सीमित है । रागानुगा में वह सेवा है, जिस में प्रायः हर कार्य का समावेश होता है; वह आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनम् है । अनुशीलनम् सभी प्रवृतियों का समावेश करता है । ******

प्रश्न: यदि कोई सही आचरण करता है तो वह विशेष सेवा में रुचि जागरुत कर सकता है या क्या गुरु भी विशेष रूप से उसे मार्ग-दर्शन करते हैं ?

उत्तर: भक्ति का अर्थ होता है कि आप गुरु की छत्रछाया में आ गए । गुरु ही मुख्य है। रागानुगा में सहजता आने से पहले आपको सहयोग देना अति आवश्यक है । वही प्रथम सोपान है क्योंकि सहज रुचि प्राप्त करना कोई सरल काम नहीं है । वह साध्य नहीं है, वह आप के बस की बात नहीं है । भक्ति ढेर सारे अभ्यास से नहीं पायी जाती है, वह ऐसे ही नहीं प्राप्त होती । वह गुरुकृपा से मिलती है । अतः पहला कार्य है गुरु को सहयोग देना । जब आप सहयोग देना आरम्भ करोगे तो आनुकूल्य का अर्थ समझ में आ जाएगा । जब आप वह (आनुकूल्य) करना शुरू करोगे, तो सहजता आ जाएगी।

यद्यपि लोग सोचते हैं कि यदि कोई साधना-भक्ति करता है, तब वह भाव-भक्ति में पूर्णता प्राप्त कर लेगा, पर रागानुगा भक्ति में ऐसा नहीं होता । इसका रहस्य यह है कि आप को गुरु का अनुसरण करना होगा । यह सब बातें आप को शास्त्र में कहीं भी लिखी हुयी नहीं मिलेगी । यद्यपि यह आवश्यकीय परम सिद्धान्त है, जो लोग प्रायः चूक जाते हैं और भ्रान्त हो जाते हैं, तथापि शास्त्र स्पष्ट कहता है और गुरु-शरणागति भी स्पष्टता परिभाषित है ।

जनसमुदाय भक्तिरहस्य को प्राप्त करने की सही रीति नहीं समझते हैं । वे भक्ति का एक प्रकरण पढ़ते हैं, जैसा कि श्रवण का या फिर हरिदास ठाकुर के मन्त्रजप का दृष्टान्त पढ़ते हैं और फिर १०० माला मन्त्रजप करना शुरू कर देते हैं या परिक्रमा करते हैं, या फिर निर्जला एकादशी करते हैं या ऐसे ही कुछ कार्य करते हैं । इतना करते रहने के उपरान्त भी उन्हें कुछ प्राप्त नहीं होता । भक्ति में मूल बात है कि स्वतन्त्र मानसिकता से मुक्त होना । दुनिया में सभी स्वतन्त्र रूप से कार्य करते हैं । जब भक्ति को अपनाते हो तो आप स्वतन्त्र रूप से भक्ति नहीं कर सकते और यदि आप करते हो तो उस में आप सम्पूर्ण सफल नहीं होंगे[13] । ******

प्रश्न: क्या शुश्रूषा यानि सेवा करने की इच्छा या सुनने की इच्छा ?
उत्तर: उसके दोनों अर्थ होते हैं क्योंकि सेवा श्रवण से आरम्भ होती है । जब सेवा करते हो तो शुश्रूषा भाव आ जाता है । नवधा नौ प्रकार की भक्ति में श्रवण सर्व प्रथम है:
श्रवणं कीर्तनं विष्णु-स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यम् आत्मनिवेदनम् ।। (भा. ७.५.२३)

"श्री विष्णु की भक्ति नवधा है: श्री विष्णु के विषय में सुनना, उनके लिए कीर्तन करना, उनका स्मरण करना, उनके पदकमल की सेवा करना, उनकी पूजा करना, प्रार्थना-स्तुति आदि करना, उनका सेवक बनना, उनका मित्र बनना और सम्पूर्ण आत्मसमर्पण।"

परन्तु भगवान के महाभागवत से ही उनके विषय में सुनना चाहिए, न कि कोई व्यावसायिक वक्ता से । उदाहरण स्वरूप, जब दूध पीने की इच्छा होती है तो शुद्ध दूध पीना चाहोगे । यदि उस में कोई ज़हर या अशुद्धि है, तो वह दूध आप के स्वास्थ्य को नुक़सान पहुँचाएगा । उसी प्रकार भगवान के विषय में उन्हीं से सुनना चाहिए जो भगवान के भक्त हैं । यदि किसी व्यावसायिक वक्ता से सुनेंगे तो आप के मन में भी उनके जैसी सोच आएगी कि, "वह उपदेश देता है और अनेक अनुयायियों को अपनी ओर आकर्षित करता है, मुझे भी उसके जैसा बनना है ।" कृष्ण प्रति रुचि बढ़ाने के बजाय आप की रुचि शास्त्रनिषेध की ओर बढ़ेगी, जैसा कि, "मैं ढेर सारे पैसे बना सकता हूँ और फिर आराम से जीवन यापन कर सकता हूँ ।" ऐसी इच्छाएँ मन में

---

[13] इसी मुख्य सिद्धान्त पर श्रीमहाराजजी अधिकतर अपने हर उत्तर में विशेष जोर देते हैं । अतः इस प्रश्न का उत्तर यह एक बार गुरु पसन्द आ जाय तो आप उनके लिए प्रसन्न चित्त से कुछ भी करोगे ।

उद्भूत होंगी । यह फल कथारुचि का नहीं है । यह रुचि तो स्वार्थ है । जब लोग व्यावसायिक वक्ता से सुनते हैं तो ऐसा ही होता है । श्रोता उनके जैसा ही बनना चाहते हैं ।

******

प्रश्न: भक्ति सन्दर्भ के आरम्भ में कुछ श्लोक हैं जो शास्त्र वै पुंसाम् से प्रारम्भ होते हैं और जीव गोस्वामी कहते हैं कि एकान्तिक श्रेय रुचि में, विशेषकर हरिकथा में वृद्धि करता है । क्या आप इस बात को विस्तार से समझाएँगे ?

उत्तर: व्यक्ति में दो प्रकार के भाव होते हैं: एक है राग और दूसरा द्वेष । जब कुछ अच्छा लगता है तो आप को उसकी हर वस्तु पसन्द आती है । आप उसके विषय में विशेष सुनना चाहेंगे और उस में सभी अच्छाइयाँ ही देखोगे । जब आप किसी को पसन्द नहीं करते तो उसकी आलोचना करने में या उसकी त्रुटियाँ ढूँढने में आनन्द आता है ।

जगत में सामान्य रूप से जनसमुदाय को भगवान की कथा सुनने में नैसर्गिक कोई रुचि नहीं होती । अतः किसी के उपदेश से या सत्सङ्ग से, या फिर कोई धार्मिक कार्य में जुड़ने से उसकी कथारुचि बढ़ने लगती है, जो उसके लिए श्रेय है क्योंकि वही रुचि उसे आत्यन्तिक श्रेय के प्रति ले जाएगी ।

अतः जीव गोस्वामी कहते हैं कि आध्यात्मिक जीवन में कथारुचि हमेशा प्रथम सोपान है । यही बात लौकिक जीवन में भी लागू होती है । जब कुछ करना अच्छा लगता है तो उस विषय में अधिक सुनना चाहोगे, चाहे वह सांसारिक प्रवृति हो, कोई व्यापार, खेलकूद हो या अन्य कुछ भी हो । जिस में रुचि नहीं है तो उस विषय में कुछ भी सुनना नहीं चाहोगे । अतः जीव गोस्वामी कहते हैं कि कृष्णकथा रुचि ही एकान्तिक श्रेय है । एक बार वह अच्छी लगी तो उस विषय में अधिक सुनना चाहोगे और सुनने के कारण उसमें रुचि और बढ़ेगी ।

******

प्रश्न: ये श्लोक मानो ऐसा सूचित कर रहे हैं कि कृष्णकथा श्रवण से रुचि अपने आप बढ़ती जाएगी ।

उत्तर: ऐसा नहीं कहते पर यह कहते हैं कि यह परम श्रेय आत्यन्तिक अपेक्षित है ।

******

प्रश्न: यह श्लोक है:

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेनकथासु यः ।
नोत्पादयेद्यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ।। (भा. १.२.८)

"यदि मनुष्य स्वनुष्ठित धर्म सही रीति से निभाता है पर उससे श्रीकृष्णकथा में उसकी रुचि नहीं होती है तो उसका (धर्मपालन का) श्रम व्यर्थ है । "

उत्तर: तत्पश्चात् वे कहते हैं:
शुश्रूषो श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः ।
स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात् ।। (भा. १.२.१६)

"ओ विप्र, निष्ठावान व्यक्ति, जब तीर्थधाम में निवास करते या यात्रा करते हुए महाभागवतों की सेवा शुश्रूषा करता है तब उस में वासुदेव-कथा की रुचि बढती है।"

यह रुचि महत्सेवा - महाभागवत की सेवा करने से आती है । जीव गोस्वामी कहते हैं कि वर्णाश्रम धर्मपालन का चरम उद्देश्य है कि (वासुदेव) कथारुचि पाने के लिए आओगे अन्यथा अन्य वस्तुओं की तरह वह (वर्णाश्रम धर्मपालन) भी व्यर्थ होगा । वह यह बताने का प्रयत्न कर रहे हैं कि धर्म का हेतु उस में से कोई लौकिक लाभ पाने के लिए नहीं है । नारद मुनि ने भी यही कहा है । ******

प्रश्न: मेरा कहने का तात्पर्य यह है कि जब हम गुरुशरण में जाते हैं और उनके मार्गदर्शन से सेवा करते हैं, जैसे कि साधना भक्ति ... ।
उत्तर: फिर वह अति उत्तम होगा, वह परम धर्म है ।
स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति ।। (भा. १.२.६):

"निःसन्देह मानवता का सर्वोच्च कर्तव्य वह है, जो श्रीकृष्ण की अबाधित और अहैतुकी भक्ति के प्रति ले जाय । इस भक्ति से आत्मा सम्पूर्ण रूप से सन्तुुष्ट होती है ।"

******

प्रश्न: आरम्भ में प्रायः अधिक रुचि न हो । मेरा प्रश्न है, यदि कोई अपने गुरु की आनुकूल्य से सेवा करता है, तो रुचि सेवा की आनुषंगिक है ?
उत्तर: भा १.२.१६ मैं ने यही कहा है: जब किसी को सेवा शुश्रूषा का भाव होता है, तो रुचि बढ़ती है । ******

प्रश्न: पर यहाँ (भागवत में) सूचित करता है कि परम धर्म का यह विशिष्ट लक्षण है । क्या व्याख्या करेंगे ?
उत्तर: सामान्य धर्म, जिसे वर्णाश्रम धर्म कहते हैं, उस में साधक की भगवान के लिए

आसक्ति नहीं होती है । वह अधिकतर अपने इस जीवन में एवं परकाल में मात्र लौकिक सुख में ही रुचि रखता है । अन्त में वह भगवान से जुड़ने या भगवत्सेवा करने के बजाय मात्र धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिए ही सोच सकता है । जब साधक में कथा रुचि होती है तो स्वाभाविक रूप से ही उसे भगवान पसन्द आते हैं और उसे भगवत्सेवा करनी अच्छी लगती है । यह उच्चतर है और ऐसा ही कहा हैं: स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे, यही पर-धर्म है; दूसरा कोई पर-धर्म नहीं है। यह सामान्य अपर-धर्म है, जो ईर्ष्या या मात्सर्य पर आधारित है क्योंकि इस में राग और द्वेष दोनों शामिल हैं । परधर्म मात्सर्य से मुक्त है - स वै पुंसां परो धर्मो (भा. १.२.६), धर्मः प्रोझ्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सताम् (भा. १.१.२) । केवल भक्ति में ही व्यक्ति ईर्ष्या से मुक्त हो सकता है । अन्य धार्मिक कार्यों में व्यक्ति ईर्ष्यालु और स्वार्थी होता है।

******

प्रश्नः भक्ति सन्दर्भ ग्रन्थ में औपपत्तिक श्रुति प्रमाण की टिप्पणी में एक सन्दर्भ है । क्या आप इसके अर्थ के विषय में कुछ स्पष्टता करेंगे ?

उत्तरः वह श्रुति (वेद) और तर्क से प्रमाण देते हैं । औपपत्तिक अर्थात् तार्किक । जब आप लौकिक कार्य करते हैं और जो भी फल पाते हैं वे कुछ समय के बाद समाप्त हो जाते हैं । उसी तरह जब आप स्वर्ग में जाते हैं, वह भी अल्पक़ालीन होता है । यदि कथा में रुचि, जो एकान्तिक श्रेय है जाग्रत न हो तो उस धर्म से आप को जो भी लाभ मिलते हैं वे निरर्थक हैं । इस कारण वे (श्री जीव गोस्वामी) श्रुति में से प्रमाण दे रहे हैं । मात्र श्रुति ऐसा कहती है इसलिए नहीं, पर एक तर्क भी है, जिसे औपपत्तिक कहा जाता हैं ।

******

९४. लीला

प्रश्नः हमने सुना कि गोवर्धन पर्वत धारण का अर्थ शाब्दिक रूप से नहीं लेना चाहिए। अब जब मैं यह लीलाएँ सुनता हूँ तो मैं उनका दार्शनिक अर्थ चुनता हूँ । ऐसी लीलाएँ, जैसे की गोवर्धन पर्वत उठाना वास्तव में न हुआ हो, पर कहानी दर्शन समझाने के लिए है ।

उत्तरः कृष्ण के दो स्वरूप है: ऐश्वर्य और माधुर्य । ऐश्वर्य स्वरूप से वे गोवर्धन पर्वत भी उठा सकते हैं और साथ-साथ उनका माधुर्य स्वरूप भी है । लीला यह भी दर्शाने के लिए है कि सम्पूर्ण ऐश्वर्य के साथ-साथ माधुर्य भी है । आप को दोनों पहलू देखने चाहिए ।

******

प्रश्नः यदि ऐश्वर्य है तो कृष्ण असम्भव को सम्भव कर सकते हैं, पर दूसरी ओर आप यह भी कहते हैं कि, "कोई कैसे मान सकता है कि कृष्ण गोवर्धन पर्वत उठा सकते हैं या अन्य लीलाएँ भी कर सकते हैं ?" मैं लीला को या तो उसके दार्शनिक सन्दर्भ में या शाब्दिक अर्थ के सन्दर्भ में सोच सकता हूँ ।
उत्तरः आप को दोनों रीति से सोचना होगा । उनकी अकल्पनीय शक्ति के कारण दोनों सम्भव है । वे भगवान हैं ।

******

प्रश्नः श्रीमद् भागवत में ये चार प्रसिद्ध श्लोक हैं:
सत्सङ्गेन हि दैतेया यातुधाना मृगाः खगाः
गन्धर्वाप्सरसो नागाः सिद्धाश्चारणगुह्यकाः ।।
विद्याधरा मनुष्येषु वैश्याः शुद्राः स्त्रियोऽन्त्यजाः
रजस्तमःप्रकृतयस्तस्मिंस्तस्मिन् युगेऽनघ
बहवो मत्पदं प्राप्ता स्त्वाष्ट्रकायाधवादयः
वृषपर्वा बलिर्बाणो मयश्चाथ विभीषणः ।।
सुग्रीवो हनुमानृक्षो गजो गृध्रो वणिक्पथः
व्याधः कुब्जा व्रजे गोप्यो यज्ञपत्न्यस्तथापरे ।। (भा.११.१२.३-६)

"ओ उद्धव ! मात्र सत्सङ्ग से कई राक्षस, यातुधान, पशु और पक्षी, गन्धर्व और अप्सरा, नाग, सिद्ध, चारण और गुह्यक, विद्याधर और मानवजाति में वैश्य और शूद्र, स्त्रियाँ, अन्य निम्न जाति के राज़सिक एवं तामसिक स्वभाव वाले वृत्रासुर, प्रह्लाद, वृषपर्वा, बलि, बाण, मय और विभीषण, मनुष्येतर - सुग्रीव, हनुमान, जाम्बवान, गजेन्द्र, जटायु, व्यापारी तुलाधार, धर्मव्याध, कुब्जा, गोपियाँ, ब्राह्मण पत्नियाँ एवं अन्य सभी ने विभिन्न युगो में मेरा धाम पाया है ।"

यहाँ कृष्ण कहते हैं कि मात्र सत्सङ्ग से वह पराधीन हो जाते हैं । वे विभिन्न प्रकार के जीव एवं साथ में पशु, राक्षस और जिन स्त्रियों को सत्सङ्ग मिला उनका उदाहरण देते हैं परन्तु क्या ये सभी भगवान के परिकर नहीं है ?

उत्तरः जब भगवान इस लौकिक जगत में आते हैं तो वे शिक्षा देते हैं । वे अपने साथ अपने परिकरों को भी लाते हैं और उनकी लीलाओं से लोगों को शिक्षित करते हैं । वे दिखाते हैं कि सत्सङ्ग से आध्यात्मिक प्रगति कैसे होती है । साथ साथ वे सत्सङ्ग के प्रभाव का सन्देश भी देते हैं । उनके लिए लौकिक जगत में लोगों से मिलना और उनकी प्रगति / उन्नति करना आवश्यक नहीं है । वे अपने परिकरों के माध्यम से अपनी

लीला दिखाते हैं । परिकरों को भिन्न-भिन्न जातियों में रखकर यह दिखाते हैं कि सत्सङ्ग के माध्यम से वे कैसे भक्त बन सके । ******

प्रश्न: फिर भी, ये बन्दर जो आप से महा प्रसाद चुराने का प्रयत्न करते हैं, क्या वे भी सत्सङ्ग करते हैं ? इन श्लोकों का क्या अर्थ है क्योंकि पशु सत्सङ्ग का लाभ नहीं उठा सकते ?
उत्तर: सत्सङ्ग की महत्ता दिखाने के लिए भगवान ऐसी लीला करते हैं । सामान्य रूप से अमानव के लिए साधु-सङ्ग का लाभ उठाना असम्भव है । ऐसी लीला से भगवान सत्सङ्ग की शक्ति दिखाते हैं । यह विशुद्ध सत्त्व की शक्ति है जिसको ग्रहण करने के लिए योग्य होना आवश्यक है । इन बन्दरों में प्रकृति के निम्न गुण हैं । उन में कोई समझ नहीं है । यदि योग्य ग्रहण शक्ति है, तो सत्सङ्ग का प्रभाव सम्भव है । परन्तु योग्यता न हो तो मानव भी इसका (विशुद्ध सत्त्व की शक्ति का) अङ्गीकार नहीं करेंगे। भगवान अपने परिकर के साथ आते हैं, फिर चाहे वे बन्दर, पक्षी या किसी भी रूप में हो । उनका बन्दर आदि जैसा देह होता है परन्तु उनका भाव उत्तम होता है । अतः ऐसा होना सम्भव है । ये परिकर भक्त ही हैं अतः सम्भव है । ये लीलाएँ इस प्रकार अभिनय की जाती हैं जैसे लौकिक जगत में मनुष्य भी ऐसा करें । भगवान भिन्न-भिन्न जातियों द्वारा यह दिखाते हैं कि वे (अमानव लोग) भी प्रगति कर सकते हैं । सारांश यही है कि यदि पशु के लिए यह सम्भव है तो मानव के लिए भी अवश्य सम्भव है ।

******

प्रश्न: शाश्वत वस्तु में परिवर्तन नहीं लाया जा सकता । यद्यपि वैष्णव ऐसा क्यों कहते हैं कि अव्यय शाश्वत ब्रह्ममें लीलाएँ है ? वह स्थिर नहीं है, उसमें परिवर्तन होता रहता है ।
उत्तर: वैष्णव समझते हैं कि ब्रह्म भगवान से स्वतन्त्र नहीं है ।
यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्डकोटि कोटिष्वशेष-वसुधादि-विभूति-भिन्नम् ।
तद् ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं गोविन्दमादि पुरुषं तमहं भजामि ।। (ब्र.सं. ५.४०)

ब्रह्मा संहिता के इस श्लोक के अनुसार ब्रह्म भगवान की आभा है । उस का स्थान वैकुण्ठ की बाह्य परिधि में है । वह ऐसी अभिव्यक्ति है जो ब्रह्म की तरह सर्वव्यापी है। लोग ऐसा सोचते हैं कि ब्रह्म सर्वव्यापी, निष्क्रिय और निष्काम है । उनकी कोई क्रियाकलाप नहीं है एवं कोई भिन्न अङ्ग नहीं है और वह शाश्वत है । स्वाभाविक है कि जिस व्यक्ति में ऐसी योग्यता है, उस में शाश्वतता के गुण होंगे ।
श्रीकृष्ण गीता में कहते हैं:
ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च ।

शाश्वतस्य च धर्मस्यसुखस्यैकान्तिकस्य च ।। (गी.१४.२७)

"वास्तव में मैं ब्रह्म, अक्षय, अमरत्व, सनातन धर्म (भक्ति) और परम आनन्द (प्रेम) का आश्रय हूँ ।"
"मैं ब्रह्म का आश्रय हूँ," और यदि ब्रह्म शाश्वत है तो स्वाभाविक है कि ब्रह्म का आश्रय भी शाश्वत है ।

दूसरा, एक भारतीय तर्क है: नित्य गतं नित्यं, अनित्य गतम् अनित्यम् । अर्थात् पदार्थ अस्थायी है, उसके गुण भी अस्थायी है । जो पदार्थ नित्य है उसके गुण या कार्य भी नित्य है । यदि भगवान नित्य है तो उनके गुण एवं कार्य भी नित्य है ।

कार्य वह है जिसका आदि और अन्त है । तो फिर कार्य कैसे नित्य हो सकते हैं ? उगते सूर्य से यह समझ सकते हैं । यदि हम एक ही स्थान पर स्थित हैं तो हम उसे पूर्व में उगते, मध्याह्न में शिर पर और फिर सायँ को ढलते भी देख सकते हैं । उगते सूर्य को हम यहाँ (पूर्व) से पश्चिम में जाते देखते हैं । परन्तु यदि हम पश्चिम की ओर पृथ्वी की गति से जाये तो जहाँ जहाँ हम जाएँगे वहाँ वहाँ सूर्योदय दिखाई देगा । यानि सूर्य का उगना नित्य दिखायी पड़ेगा । इसी प्रकार हमेशा सूर्योदय होता है, मध्याह्न में शीर्ष-बिन्दु पर आता है, सूर्यास्त होता है ।

इसी प्रकार भगवान का हर कार्य नित्य है । असंख्य ब्रह्माण्ड हैं । कृष्ण इस ग्रह पर अवतरित होते हैं और बढ़ते (बाल्य से युवा आदि अवस्था में) हैं । परन्तु जब यहाँ (इस ग्रह पर) बढ़ते हैं तब अन्य ब्रह्माण्ड में वे बालरुप में अवतरित होते हैं । जो लीलाएँ वे यहाँ करते हैं, उसके बाद वही लीलाएँ वे अन्य ब्रह्माण्ड में भी करते हैं और फिर वही लीलाएँ किसी और ब्रह्माण्ड में भी करते हैं । यह क्रम सदा चलता ही रहता है । ठीक उसी प्रकार उनकी हर लीला नित्य है । जब लीला एक ब्रह्माण्ड में समाप्त होती है तो अन्य ब्रह्माण्ड में आरम्भ होती है ।

******

प्रश्न: क्या प्रत्येक लीला नित्य होती है ?
उत्तर: हाँ ।

******

९५. लीला स्मरण

प्रश्न: लीला स्मरण के लिए क्या योग्यताएँ होनी चाहिए ?
उत्तर: लीला स्मरण के लिए साधक को अपने देह और इन्द्रियों में आसक्ति नहीं होनी

चाहिए । यदि कोई इस आसक्ति से स्मरण करता है तो स्मरण का आनन्द लौकिक होगा क्योंकि वह भोक्ता के भाव से मुक्त नहीं है ।

यदि आप योग-मार्ग पर चल रहे हो तो आप को यम, नियम, आसन, प्राणायाम, आदि का अभ्यास करना होगा जिससे शरीर की आसक्ति से मुक्त हो जाओ । अन्यथा जब आप ध्यान के लिए बैठोगे तो आप का स्थायी स्वभाव जो लौकिक है वह उत्तेजित हो जाएगा । भगवान की लीला आप के स्थायी लौकिक स्वभाव को उत्तेजित करने का मुख्य स्रोत बन जाएगी । यदि आप अपने देह की आसक्ति से मुक्त नहीं है तो कृष्ण लीला का आस्वाद भी लौकिक ही रहेगा । इसका लीलास्मरण से कोई सम्बन्ध नहीं है ।

कीर्तन के लिए इस योग्यता की आवश्यकता नहीं है । अतः सभी लोग कीर्तन कर सकते हैं । परन्तु स्मरण के लिए विशेष योग्यता है कि लौकिक देह के साथ जो आसक्ति है उनसे मुक्त होना आवश्यक है । इसलिए भिन्न-भिन्न सोपान का पालन करना होता है । प्रथम सोपान है गुरु की शरण लेना, सेवा करना जिससे आप के अनर्थ नष्ट हो जाएँगे और आप स्थायी भाव या स्थायी भक्ति पाओगे । उसके बाद ही स्मरण करना सम्भव होगा ।

******

प्रश्नः मञ्जरी भाव में लीला-स्मरण का अभ्यास सैद्धान्तिक है या मनगढ़ंत है ?
उत्तरः मञ्जरी भाव का ध्यान लीलास्मरण का एक अङ्ग है । यह नवधा भक्ति का एक अङ्ग है परन्तु वह योग्य लोगों के लिए है । वह हर किसी को और सभी को नहीं दिया जाता है । वह उन लोगों के लिए है जिनकी कम से कम शास्त्र में श्रद्धा है । अर्थात् अलौकिक श्रद्धा होना, न कि प्राकृतिक गुणों से युक्त लौकिक श्रद्धा । लीला स्मरण की यह विधि ऐसे साधक को सिखाई जाती है जो लौकिक कामनाओं से मुक्त है । इसे किसी भी व्यापार के उद्देश्य से नहीं दिया जाता ।

यह एक भाव है इसमें कुछ भी शारीरिक नहीं है । पहले भाव आता है, फिर आध्यात्मिक देह आता है । इसलिए इसे मञ्जरी भाव कहते हैं । इसे मञ्जरी देह नहीं कहते, परन्तु मञ्जरी भाव कहते हैं । भाव का प्रचार नहीं हो सकता परन्तु उसे (योग्य साधक को) सिखाया जा सकता है ।

पहले लोग शिक्षित थे और उन्होंने इसका अभ्यास किया, समझ पाए और आचरण किया । अब तो लोगों को इसकी कोई समझ नहीं है । कोई पश्चिम देश से आता है

और इस विषय में कोई समझ नहीं है उसे आप कहो कि, "आप का स्वरूप १४ वर्ष की कन्या जैसा है और आप को अपना ध्यान उस पर केन्द्रित करना चाहिए । तो वह किस पर ध्यान केन्द्रित करेगा ? वह वहीं ध्यान केन्द्रित करेगा जो वह जानता है। जैसे कि एक युवा लड़का किसी युवा लड़की से मिलता है तो वह और क्या सोचेगा ? वह वही सोचेगा जिसकी अनुभूति उसे इस जन्म में या पूर्व जन्म में हुई है और वह है मात्र सम्भोग (के संस्कार) । इसका भक्ति के साथ क्या लेना-देना ?

सैद्धान्तिक रूप से ऐसा ध्यान भक्ति का अङ्ग है, परन्तु जिस तरह से उसका अभ्यास किया जा रहा है वह भूतकाल में नहीं था । इसका कारण है कि अयोग्य लोग इसका दुरुपयोग कर रहे हैं । लोगों ने इसका व्यापार बना दिया है । मूलतः गोस्वामियों ने इसे धन ऊपार्जन या अनुयायियों को आकर्षित करने के लिए नहीं दिया था । अब तो यही मुख्य उद्देश्य बन गया है । दीक्षा के समय आधुनिक गुरु इसे एक कागज पर छपवाकर शिष्यों को देते हैं । पहले ऐसे नहीं होता था । स्वरूप तभी प्रकाशित करते थे जब साधक योग्य हो जाता था ।

यहाँ एक बाबा का मन्दिर है । एक बार उनका एक शिष्य मेरे पास आया और कहने लगा, "मैं मेरे गुरु के पास गया और उन्होंने मुझे बताया कि मैं १२ वर्ष की मञ्जरी हूँ और मुझे अलौकिक स्वरूप वर्णन बताया ।" शिष्य ने मुझ से उसका अर्थ पूछा क्योंकि उसके गुरु ने इसकी विधि (मञ्जरी भाव की स्मरण रीति) के बारे में उसे कुछ भी बताया नहीं था । ऐसा रहस्योघटन किस काम का ? इसे अर्वाचीन समय में लोगों ने बहुत भ्रष्ट कर दिया है ।

श्रीरूप गोस्वामी भक्तिरसामृत-सिन्धु में कहते हैं कि आप सेवा साधक देह के साथ साथ भाव देह से भी करो ।
सेवा साधक रूपेण, सिद्ध-रूपेण चात्र हि ।
तद् भाव लिप्सुना कार्या व्रज-लोकानुसारतः ।। (भ.र.सिं. १.२.२९५)

"रागानुगा भक्ति का भाव पाने की जो साधक इच्छा रखता है उसे व्रजवासियों के अनुगामी बनकर साधक देह के साथ साथ सिद्ध देह से भक्ति करनी चाहिए ।"
उस प्रकार का ध्यान भक्ति का अङ्ग है पर उसके लिए योग्यता भी ज़रूरी है ।

******

प्रश्न: साधक गुरु को समर्पित है, उसे श्रद्धा है और वह निष्ठावान भी है परन्तु मञ्जरी भाव के विषय में उसे अधिक जानकारी नहीं है तो क्या होगा ? क्या यह आवश्यक है

कि उसे यह जानकारी देनी चाहिए जिस से वह मञ्जरी भाव पा सके ?

उत्तर: मञ्जरी भाव का अर्थ है समर्पण का अन्तिम सोपान । उसका पर्यायी शब्द है दास्य भाव । यह उत्तम स्तर का दास्य भाव है जो श्री कृष्ण से मिलता है । अलौकिक देह देने की शक्ति उनके सिवा किसी के पास नहीं है । मञ्जरी भाव देना अर्थात् आप को कृष्ण सेवा में जोड़ना । ऐसा कोई जीव नहीं है जो यह कर सके । अतः भगवान स्वयं यह भाव देते हैं । यदि साधक सम्पूर्ण रूप से गुरु को समर्पित है और गुरु सेवा करता है तो यह भाव उसे देने के लिए कृष्ण गुरु को प्रेरित करते हैं।

वैकल्पिक रूप से, जैसा कि नारद मुनि का उदाहरण है, तो कृष्ण स्वयं भक्त को प्रेरित कर सकते हैं । अपना पूर्व जन्म कहते समय नारदजी ने बताया था कि उन्हें कैसे अलौकिक देह मिला । इसलिए यह एक ही बात है कि यह भाव या तो कृष्ण द्वारा प्राप्त होता है या फिर गुरु द्वारा कृष्ण कृपा से मिलता है । श्रीमद् भागवत में इसका वर्णन किया है कि कैसे श्री कृष्ण-कृपा से नारदजी को शुद्ध भागवती तनु (भा.१.६.२८) अर्थात् अलौकिक देह प्राप्त हुआ । [भागवत. १.६.२७ में नारदजी की योग्यताएँ दर्शाते हुए कहा है "कृष्ण के विचारों में तल्लीन" "लौकिक आसक्ति और अन्य भौतिक पदार्थों की कामनाओं से मुक्त" और भा.१.६.२६ में कहा है "पूर्ण रूप से सन्तुष्ट, नम्र, ईर्ष्या से परे और लौकिक इच्छाओं से मुक्त"]

जिन साधुओं के साथ नारद सङ्ग करते थे उन्होंने नारद को उनके स्वरूप के बारे में कुछ भी नहीं कहा था । न ही उन्होंने यह काग़ज़ पर लिख कर उन्हें दिया था । जब किसी के पास योग्य गुरु हो और शिष्य पूर्ण रूप से शरणागत हो तो इसका अर्थ ऐसा होता है कि वह अपने जन्म, देश, परिवार, जाति या अन्य किसी में अहम्भाव नहीं रखता है। जब वह दृढ़ भाव से स्वयं को भगवान का सेवक समझने लगता है तब भगवान गुरु को प्रेरित करते हैं जिससे गुरु शिष्य को इस भाव से अवगत करे और शिष्य सही रीति से ध्यान कर सके ।

अन्यथा अभी जो हो रहा है वह एक व्यापार है । वास्तव में इन लोगों को मञ्जरी-भाव के बारे में कोई जानकारी नहीं है । यह मात्र एक युवा लड़की का देह नहीं है । मुख्य वस्तु है भाव । यदि कोई पुरुष स्वयं को युवती के देहरूप ध्यान धरे तो कैसे उसे यह (भाव) श्री कृष्ण तक ले जाएगा ? आप कृष्ण के पास स्वयं को एक युवती रूपमें ध्यान करके नहीं परन्तु उसके सेवक बन कर जा सकते हो । यदि कोई पुरुष स्वयं को एक युवती समझकर ध्यान धरता है तो युवतियाँ क्या करेगी ? वे तो पहले से ही

युवती रुपमें हैं । वे किसका ध्यान करेंगी ? यह तो छल है । उत्तमा-भक्ति छल रहित है । इस प्रकार की रीति या अभ्यास के बारे में आप ने जो कुछ भी सुना है उसका वास्तविक वस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं है । यह भक्ति के नाम पर एक छल है । साधक को इससे प्रभावित नहीं होना चाहिए यद्यपि दिखने में यह आकर्षक है । यह आकर्षक दीखती है क्योंकि हमें सम्भोग की अनुभूति है । अन्यथा एक पुरुष को एक स्त्री बनने की इच्छा होने में क्या बड़ी बात है ? हम कई बार स्त्रियों को फ़रियाद करते सुनते हैं कि पुरुषों द्वारा उनका शोषण और उत्पीड़न होता है । वे यह भी कहती हैं कि एक दिन के लिए भी स्त्री बनना कितना कठिन है । एक पुरुष की स्त्री बनने की इच्छा के पीछे मुख्य आकर्षण है सम्भोग । उसके लिए एक युवा पुरुष का एक युवती के साथ सम्भोग का विचार ही उसके लिए आनन्द की बात है । इसे भक्ति नहीं कहते ।

इसे मञ्जरी भाव कहने के बदले आसुरिक भाव कहना चाहिए क्योंकि यह विचार साधक को भगवान से सम्पूर्ण विरुद्ध ले जाएगा । यदि वह साधु है और इस प्रकार की साधना के लिए योग्य नहीं है, तो इस का अभ्यास करने से उसका मन अपने आप उत्तेजित होगा । बाह्य रूप से वह दम्भ करेगा कि वह साधु है परन्तु अन्दर से उसका मन शारीरिक सुख की कामनाओं से भरा होगा । इस तरह श्री कृष्ण की भूमि वृन्दावन में उसे पाखण्डी बनना पड़ता है । विशेष साधना के नाम पर वह दम्भी बनेगा । अवैध सम्भोग के लिए उस पर (मानसिक) दबाव बढ़ेगा । अतः इसे आसुरी भाव कहते हैं । किसने ऐसे गुरुओंको नए साधकों को ऐसा भाव देने के लिए अनुमति दी है ? उनकी क्या योग्यता है ? मेरी समझ में यह नहीं आता है । ******

[देखें: सिद्ध प्रणाली]

९६. लौकिक इच्छाएँ

प्रश्न: साधक को लौकिक इच्छाओं से लगाव हो तो क्या होगा ?

उत्तर: समर्पित होने के बाद लौकिक इच्छाओं में बदलाव आएगा । वैदिक संस्कृति में लड़की के विवाह के बाद वह अपने पति की जीवनशैली को स्वीकारती है । जैसे कि, विवाह के पहले वह एक प्रकार का भोजन खाती थी और विवाह पश्चात् दूसरे प्रकार का भोजन लेती है जो उसका पति लेता है । यह तत्कालीन बदलाव है । जब अहम् बदल जाता है, आप के कार्य भी (उसके अनुरूप) तुरन्त बदल जाते हैं । यह एक सामान्य बात है ।

ठीक उसी प्रकार आप कार्यालय जाते हो और आठ घंटे कार्य करते हो । उस समय आप का अहम् होता है, “मैं इस कम्पनी में कार्य करता हूँ, मैं इस कम्पनी का हूँ, यह

मेरी कम्पनी है ।" लोग जहाँ भी जाते हैं, इस भाव को अपने साथ रखते हैं । अपनी पहचान देते हुए कहते हैं, "मैं उस बैंक में काम करता हूँ या उस कम्पनी के लिए काम करता हूँ । आप इस भाव को इस हद तक पालते हो कि जब कम्पनी में कुछ अच्छा होता है तो आप को खुशी होती है और कम्पनी के साथ कुछ अघटित होता है तो दुःखी होते हो । ऐसा भाव हमेशा रहता ही है परन्तु कार्य बदलते वह भाव भी बदलता है । जैसे कि मानो आपने रिलायन्स कंपनी में काम करना शुरू किया हो और दूसरे दिन से ही आप रिलायन्स के कर्मचारी की तरह बर्ताव करना शुरू कर दोगे ।
यदि आप दीक्षा का अर्थ समझोगे तो दीक्षा के समय ही आप में परिवर्तन होने लगेगा। यदि आप ने सिर्फ़ क्रिया के रूप में दीक्षा ली है और उसका अर्थ नहीं समझते हो तब १०%, ५०% शरणागति का प्रश्न उद्भव होता है । इसका तो प्रत्यक्ष अनुभव करना होता है ।

उदाहरण स्वरूप, व्रजवासियों ने कृष्ण के लिए अपना सब कुछ अर्पण कर दिया, अपना घर, सम्बन्धी, धन और यहाँ तक की अपनी इच्छाएँ भी अर्पण कर दी तथापि वे पारिवारिक जीवन व्यतीत करते थे । यह उन लोगों का प्रभावशाली चरित्र निर्देश करता है । इसे समझने का प्रयत्न करें । रास लीला के बाद कृष्ण ने गोपियों को अपने घर वापस भेजा । वे उनके साथ रुकी नहीं । लोग सोचते हैं कि रास लीला सर्वोत्कृष्ट लीला है । फिर भी गोपियाँ अपने घर वापिस लौटीं । उन्होंने अपने पारिवारिक जीवन और दिनचर्या का त्याग नहीं किया था । उनका सब कुछ कृष्ण के लिए ही था ।

समर्पण के कई दृष्टान्त हैं, जो अंग्रेज़ शासन दरमियान भारत के स्वतन्त्रता संग्राम के समय दिखायी दिए थे । सुभाषचन्द्र बोस और महात्मा गांधी जैसे लोगों ने महा विद्यालय और विश्वविद्यालय में प्रवचन दिए । विद्यार्थीगण निश्चिन्त होकर उनके साथ जुड़ गए । उन्होंने सोचा भी नहीं कि, "मेरा क्या होगा ? मेरा कौन ध्यान रखेगा ? मुझे कौन सहयोग देगा ? मेरे मातापिता क्या सोचेंगे ?" स्वेच्छा से सब समर्पित हो गए और इन नेताओं का अनुसरण करने का दृढ़ निश्चय किया । इनमें से कई लोगों ने अपने प्राणों का भी बलिदान दिया और वह भी मात्र स्वतन्त्रता के लिए । भक्ति में इससे भी अधिक समर्पण आवश्यक है यद्यपि हम तो उतना भी नहीं करते जितना इन विद्यार्थियों ने स्वतन्त्रता संग्राम के लिए किया था और फिर भी हम उच्च परिणाम की अपेक्षा रखते हैं ।

यह तो केवल वर्तमान राजनेताओं जैसा है जो स्वतन्त्रता संग्राम के राजनेताओं जैसी ही भाषा बोलते हैं परन्तु ये सभी वर्तमान राजनेता उसका व्यापार करते हैं । अतः कोई

उन्हे समर्पित नहीं होता है । उनके अनुयायी भी समर्पण का प्रदर्शन करते हैं । नेता और अनुयायी दोनों अपने हृदय में यह जानते हैं परन्तु बाहरी रूप से उसे दिखाते नहीं है । विशेष कर भारत में लोग इन दिनों भक्ति पथ पर चलते हैं इस आशा से कि उन्हें कोई आर्थिक लाभ होगा या मठ या आश्रम में कोई स्थान मिलेगा या अपना विवाह हो जाएगा या विदेश-गमन होगा । भक्ति इन सभी उद्देश्यों के लिए नहीं है । समर्पण का उत्तम दृष्टान्त है गोपियाँ और सम्पूर्ण शरणागत होने के बावजूद वे पारिवारिक जीवन व्यतीत करती थीं । ******

प्रश्नः माधुर्य-कादम्बिनी में अनिष्टा भक्ति में छः गुण बताए हैं । क्या वह इसलिए है कि हम इन का सामना कर सकें या फिर हम उन्हें पहचाने एवं जान सकें कि समस्या कहाँ है ?

उत्तरः आप समस्या के सम्पूर्ण ज्ञान से इसको हल कर सकते हो मात्र जानकारी से कुछ नहीं होता । ******

प्रश्नः हम इन अनिष्ठित-दशा की समस्याओं का सामना कैसे कर सकते हैं ?

उत्तरः भजनक्रिया इस का समाधान है । माधुर्य कादम्बिनी में भक्त की उन्नति के क्रमानुसार अलग सोपान बताये हैं । इन सोपान का अनुभव केवल वैधी भक्ति में होता है । ऐसा उत्तमा-भक्ति में नहीं होता है । श्रद्धा के सोपान से ही साधक को उत्तमा-भक्ति में ऐसी किसी भी समस्या का सामना नहीं करना पड़ता है क्योंकि उत्तमा-भक्ति भगवान की स्वरूप-शक्ति है । साधक की पूर्ण श्रद्धा, रुचि और इच्छा सेवा के लिए होती है ।

जब सेवा करने की इच्छा होती है तब किसी अन्य कामना के लिए मन का भटकना, उस में विचलन आना, कभी अन्य वस्तु में रुचि होना, कभी निराश होना ऐसे अवरोधों की कोई गुञ्जाईश ही नहीं रहती । ऐसी स्थिति वैधी भक्ति में होती है क्योंकि वैधी में प्राकृतिक गुणों का मिश्रण होता है । जब साधक पर इन गुणों का प्रभाव होता है तब मन ऐसी स्थिति का अनुभव करता है । कभी मन उच्च सत्त्व गुण, कभी रजस् गुण और कभी तमस् गुण में होता है । वैधी भक्त को आहार, अभ्यास, ध्यान के विधि नियमों का पालन करना होता है जिससे सदा उच्च गुण में स्थिर रहे । कठोर अभ्यास से धीरे धीरे प्रगति होती है । फिर भी उत्तमा-भक्ति में ऐसे कोई सोपान नहीं है । प्रारम्भ से ही साधक सभी समस्याओं से मुक्त होता है । ******

प्रश्नः मैं (क्यों) अस्थिर (अवस्था में रहता हूँ) ?

उत्तर: प्राकृतिक गुणों में अस्थिरता होती है । उदाहरण स्वरूप, यदि आप को खूब प्यास लगी हो तो वहाँ अस्थिरता नहीं है । आप मात्र सोचते हो, "कहाँ से मुझे पानी मिलेगा ?" ऐसा नहीं होता है कि आप का मन अस्थिर हो जाता हो और कभी आप पानी पीना चाहते हो और कभी नहीं ।

उत्तमा-भक्ति में प्रारम्भ से ही कोई स्वतन्त्रता नहीं होती है । साधक को ऐसा कभी नहीं लगता कि वह गुरु से स्वतन्त्र है । न तो उसे अपने शरीर से लगाव होता है और न ही कोई अन्य इच्छाएँ या भिन्न उद्देश्य होता है । अतः, ऐसी समस्याएँ उसके लिए नहीं आती है । ऐसी समस्या तभी आती है जब आप सोचते हो कि आप स्वतन्त्र हो, एवं शरीर में आसक्त हो और अलग इच्छाएँ या भिन्न उद्देश्य हो । उत्तमा-भक्ति में ऐसी समस्याएँ प्रारम्भ से ही छूट जाती है । अतः विचलन और अस्थिरता नहीं होते ।

******

प्रश्न: कभी कभी मैं स्वयं को इस वर्णन के अनुसार पाता हूँ । मेरा मन विचलित होता है । क्या इसका अर्थ यह होता है कि मैं प्राकृतिक गुणों के प्रभाव में हूँ ?

******

उत्तर: वह यही दर्शाता है ।

प्रश्न: क्या यह वर्णन जानना आवश्यक है ?

उत्तर: यदि आप विचलित हो रहे हो तो यह वर्णन जानना आवश्यक है । आप को उत्तमा-भक्ति को जानना होगा और उत्तमा-भक्ति को जानने के लिए अन्य भक्ति के बारे में भी जानना होगा जिस से आप में विवेक आये (और उनका भेद देख सको) । माधुर्य-कादम्बिनी में दिए गए ये वर्णन ज्ञान देते हैं । लोग भिन्न-भिन्न मार्ग और परिवेश से आते हैं । सभी प्रकार का मिश्रण है और इन सभी को अच्छी तरह से समझना आवश्यक है परन्तु यदि साधक ठीक से उत्तमा-भक्तिमें स्थिर है तो प्रारम्भ से ही ऐसी मानसिक समस्याएँ आएगी नहीं ।

******

प्रश्न: "प्रारम्भ" का अर्थ क्या होता है ? प्रारम्भ से अन्त तक क्या होता है ?

उत्तर: यदि कोई समस्या है तो उसका अन्त होता है और प्रारम्भ से ही ऐसी समस्याएँ कोई अवरोध खड़े नहीं करती है । यदि कुछ अवशेष रह जाते हैं तो वे भी शीघ्र दूर हो जाते हैं ।

सर्व प्रथम तो साधक को श्रद्धा होनी चाहिए । जान बूझकर उसे अन्य कोई (स्वतन्त्र) योजना नहीं बनानी चाहिए और यदि पूर्व संस्कार से कोई इच्छा अतृप्त है तो वह भी

सेवा करने से दूर हो जाएगी । मन तरङ्गों की भाँति विचलित नहीं होता है जैसा कि माधुर्य कादम्बिनी में दर्शाया है । उत्तमा-भक्ति के साधक को अभ्यास करते हुए मन में यदि कभी वासना प्रकट होगी तो भी वह सेवा करता रहेगा और विचलित नहीं होगा। वैधी में मन विचलित होने के कारण साधक का सेवा कार्य रुक जाता है । अन्य रुचि के कारण वह विचारविमर्श करता है और सोचता है, "क्या मैं सही हूँ ?" उत्तमा-भक्ति के साधक को ऐसा नहीं होता है ।

यदि आप यह समझते हो कि अलौकिक श्रद्धा क्या है तो आप यह (वैधी और उत्तमा के बीच का) भेद भी समझ पाओगे । अलौकिक श्रद्धा में कोई सन्देह नहीं होता क्योंकि अलौकिक श्रद्धा यानि कि शास्त्र के अर्थ में पूर्ण विश्वास होना । निश्चय और दृढ़ संकल्प के कारण आप को कोई शङ्का नहीं होगी ।

अलौकिक श्रद्धा में प्राकृतिक गुणों का मिश्रण नहीं है । जब लौकिक श्रद्धा होती है तभी साधक का मन विचलित होता है । जब साधक ज्ञान, योग जैसे आध्यात्मिक मार्ग का अभ्यास करता है तब श्रद्धा सत्त्वगुण में होती है । परन्तु सत्त्वगुण स्थायी नहीं है क्योंकि गुणों में परिवर्तन होता रहता है जिससे साधक विचलित होता है । कभी तमोगुण, कभी रजोगुण तो कभी सत्त्वगुण प्रधान बन जाता है । गुण की प्रधानता के आधार पर साधक का मन बदलेगा पर यदि श्रद्धा अलौकिक है तो कोई उतार-चढ़ाव नहीं होगा ।

श्रीमद् भागवत में सौभरि मुनि, च्यवन मुनि और ब्रह्म साक्षात्कारी चार सनतकुमार आदि के प्रसङ्गो से यह बात दर्शायी गयी है । उनकी (उपर्युक्त) श्रद्धा सत्त्वगुण में है और यद्यपि वे अपनी साधना दीर्घ समय से कर रहे हैं फिर भी मन विचलित होता है। केवल ऐसी (लौकिक) श्रद्धा का खण्डन करने के लिए और (उत्तमा) भक्ति में श्रद्धा अलौकिक होती है यह दर्शाने के लिए इनके उदाहरण पूर्वपक्ष के रूप में दिए गये हैं । यह उदाहरण आचरण में लाने के लिए नहीं है, केवल त्याग देने के लिए है।

यहाँ तक कि चार सनत कुमार जो उच्च स्तर पर पहुँचे हुए थे फिर भी श्री विष्णु के द्वारपाल पर क्रोधित हुए थे । दो पार्षदों ने नग्न कुमारों को द्वार पर रोककर अपना कर्तव्य निभाया था तो कुमारों को क्रोध क्यों आया ? इसका अर्थ यह है कि वे अभी भी लौकिक गुणों के प्रभाव में थे । परन्तु पार्षदों कुमारों पर क्रोधित नहीं हुए थे । दक्ष और शिव के अनुयायियों की तरह वे भी प्रत्युत्तर में कुमारों को अभिशाप दे सकते थे ।

यह दर्शाता है कि भक्ति पूर्णतया अलौकिक है और उसमें कोई विचलन नहीं होता है क्योंकि लोग अलग अलग सोपान और ध्येय से आते हैं अतः भक्ति में भी इस प्रकार का विश्लेषण किया गया है ।   ******

प्रश्न: इसका पालन करने की असमर्थता कहाँ से आती है ?
उत्तर: इसका कारण अज्ञानता है ।   ******

प्रश्न: भक्त में सुषुप्त वासनाएँ जो मूर्च्छित कषाय (जिनकी लौकिक कामनाएँ नियन्त्रण में हैं) के रूप में है तो क्या वह अपराध के कारण बनती है जैसे भरत महाराज का प्रसङ्ग ?
उत्तर: नारदजी ने अपने पूर्व जन्म में कोई अपराध नहीं किए थे । उनका सात्त्विक कषाय था कि उनको जंगल का शांत वातावरण प्रिय था । भरत महाराज ने वैधी भक्ति का अभ्यास किया था ।

उत्तमा-भक्ति में कृष्ण (की सेवा) से भिन्न कोई वासना नहीं होती क्योंकि साधक ने प्रारम्भ से ही स्वतन्त्र इच्छाओं के बिना भक्ति की है और ज़ारी रखता है । स्वतन्त्र वासनाओं के कारण मूर्च्छित कषाय होता है । अतः आंशिक दूषण रहने की संभावना होती है तब अपराध होने की संभावना है ।

वैधी या उत्तमा भक्ति-मार्ग में साधक निर्धूत कषाय (जिसकी वासनाएँ नष्ट हो चुकी है) के सोपान तक पहुँच सकता है ।

श्रीमद् भागवत में भरत महाराज की कहानी भक्ति की शक्ति का उदाहरण है । भक्त की भक्ति पशु के देह में भी नष्ट नहीं होती है । ******

९७. वर्णाश्रम धर्म

प्रश्न: जीव गोस्वामी वर्णन करते हैं कि श्री हरि की प्रसन्नता के लिए स्वाभाविक धर्म से अर्थात् श्री हरि को सहज स्वभाव के अनुसार कर्तव्य निभाते हुए प्रसन्न करने से भी भक्ति पायी जाती है । वर्णाश्रम का धर्म पालन भक्ति की ओर कैसे ले जाता है ?

उत्तर: स्वाभाविक धर्म पालन से भगवद् भक्ति पाना ही परम श्रेष्ठ है यदि वह भगवान की प्रसन्नता के लिए की जाती है । अर्थात् आप भगवान को समर्पित हो जाओ और अपने स्वाभाविक धर्म से (स्वभाव के अनुसार) उनकी सेवा करो, जो आप को शुद्ध

भक्ति के अन्तिम सोपान पर पहुँचाएगा । यदि आप कोई लौकिक उद्देश्य से करोगे तो आप को लौकिक लाभ होगा, परन्तु यदि कोई भगवान को प्रसन्न करने के लिए करेंगें तो सन्त पुरुषो का सङ्ग मिलेगा और उन सत्पुरुषों की सेवा करने से भक्ति प्राप्त होगी।

******

प्रश्न: क्या हम यह समझें कि यह भक्ति नहीं है, परन्तु हमें भक्ति की ओर ले जाने वाली प्रक्रिया है, क्योंकि पहले हमें साधु सङ्ग मिलेगा बाद में भक्ति ?
उत्तर: हाँ । यही बात उन्होंने पहले कही थी: । ******

स वै पुंसां परोधर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सम्प्रसीदति ।। (भा. १.२.६)

"मानव का परम कर्तव्य है कि अधोक्षज कृष्ण की अहैतुकी और अप्रतिहता भक्ति प्राप्त हो, जिस भक्ति से आत्मा प्रसन्न होता है ।"

******

प्रश्न: अभी बताया गया कि वर्णाश्रम धर्मपालन का मुख्य उद्देश्य है कि भक्ति की ओर जाना । क्या आप इस विषय में विशेष बताएँगे क्योंकि वर्णाश्रम धर्म स्पष्ट रूप से यह नहीं कहता कि आप कृष्ण को समर्पण करो ।
उत्तर: वर्णाश्रम धर्म जिस भक्ति की ओर ले जाता है वह उत्तमा-भक्ति नहीं है । भक्ति भिन्न भिन्न प्रकार की होती है । तमस्, रजस् और सत्त्व गुण में भी भक्ति होती है । वर्णाश्रम धर्म भी भक्ति है क्योंकि इस भक्ति में लोग निर्देशों का पालन करते हैं । यदि आप भगवान को कुछ अर्पण करते हो, तो इस कार्य के फलरूप प्रायः आप को भक्ति मिल सकती है, यह परन्तु उत्तमा-भक्ति नहीं है जिसका लक्षण अनुकूल सेवा करना है। वर्णाश्रम-धर्म में ऐसा कोई वर्णन नहीं है । भक्ति अनेक प्रकार है । भक्ति शब्द का प्रयोग मातृभक्ति, देशभक्ति और अन्य भक्ति के लिए भी किया गया है । सभी अर्थ में यह भक्ति है, परन्तु यह वह शब्दार्थ नहीं है जिसका हम उत्तमा-भक्ति में प्रयोग करते हैं ।

श्रीमद् भागवत में यह दर्शाया है कि निर्गुणा भक्ति एक ही प्रकार की होती है, जब कि गुणों पर आधारित भक्ति अनेक प्रकार की होती है । निर्गुणा-भक्ति में आप सहज रूप से भगवान में तन्मय हो जाते हो, परन्तु जब भक्ति प्राकृतिक गुणों से संलग्न होती है, तब वह राजसिक, तामसिक, या सात्त्विक भक्ति कहलाती है । गुणों की विविधता से भक्तिके ८१ प्रकार बनते हैं और उन सभीके लिए भक्ति शब्द का प्रयोग किया जाता है। ******

प्रश्न: क्या निर्गुणा भक्ति का अर्थ मात्र उत्तमा-भक्ति है, या वैधी-भक्ति भी ?
उत्तर: उत्तमा-भक्ति यानि दोनों - वैधी और रागानुगा भक्ति ।

******

प्रश्न: यदि किसी का जन्म वर्णाश्रम धर्म में हुआ है तो क्या वह साधना-भक्ति का आचरण करते हुए वर्णाश्रम-धर्म का भी पालन करता है ? परन्तु जिसका जन्म पाश्चात्य देश में हुआ हो तो उसे कौन से धर्म का पालन करना चाहिए ?
उत्तर: मात्र पाश्चात्य देश में ही नहीं, भारत में भी लोग वर्णाश्रम-धर्म का पालन करने के लिए योग्य नहीं है । अतः चैतन्य महाप्रभु ने भक्ति का प्रचार किया । भक्ति उत्तम धर्म है और वह सभी के लिए है । वर्णाश्रम-धर्म मर्यादित था । प्राचीन भारत में सभी लोग वर्णाश्रम धर्म का पालन नहीं करते थे । ऐसे लोग जो वर्णाश्रम-धर्म से बाहर थे वे निर्वासित कहलाते थे ।

******

प्रश्न: हमने प्रवचन में सुना है कि गोपियों के त्याग और उनकी महानता को सही अर्थ में हम नहीं समझ पा रहे हैं क्योंकि हमें वर्णाश्रम-धर्म का भी अनुभव नहीं है । शरणागति की शिक्षा भी नहीं मिली क्योंकि वर्णाश्रम धर्म के बारे में नहीं जानते हैं । क्या इसे एक बाधा माना जाय कि हमारा जन्म वर्णाश्रम में नहीं हुआ और हमें शरणागति की शिक्षा भी नहीं मिली ? या यही पर्याप्त है कि हम इस बात (शरणागति) को समझें ?
उत्तर: यदि आप नहीं समझ पाते हो तो अवश्य वह एक बाधा है । मुख्य बात उसे समझना है । यदि आप उसे समझ नहीं पाते हैं तो अवश्य वह एक बाधा ही है फिर आप का जन्म वर्णाश्रम में हुआ है या नहीं, कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता है ।

******

प्रश्न: क्या वर्णाश्रम-धर्म के अनुगत न होना एक बाधा है ?
उत्तर: यदि आप भक्ति को नहीं समझ पा रहे हो, तो वह अवश्य एक बाधा है, फिर चाहे आप का जन्म भारत या किसी भी दूसरे देश में हुआ हो । जो कुछ भी हो, यदि आप समझ नहीं पा रहे हो तब वह बाधा ही है ।******

प्रश्न: हमें शरणागति की अनुभूति नहीं है, यदि हम किसी को भी समर्पित हुए हों तो गुरु को समर्पित होना अतिसरल हो जाएगा ।
उत्तर: हाँ । उदाहरण स्वरूप, क्या आप ने कभी भी किसी कम्पनी में काम किया है और अपने अधिकारी को प्रसन्न करने का प्रयत्न किया है ? उस अनुभव के प्रयोग से

आप समझ पाओगे कि गुरु को कैसे प्रसन्न किया जाय, परन्तु आप ने ऐसा कार्य ही नहीं किया है तो समर्पण का क्या अर्थ होता है वह आप नहीं समझ पाओगे । यदि आप ने काम किया है तो आप सोचोगे, "जैसे मैं ने वहाँ काम किया था, वैसे ही मैं यहाँ काम करूँगा ।" फिर यह काम करना आप के लिए अति सरल है, परन्तु किसी अधिकारी के नीचे काम करने का कोई अनुभव ही नहीं है, तो इस विषय को समझना बहुत कठिन है । यदि आप में इसे समझने की क्षमता है, तो अच्छी बात है। मुख्य सिद्धान्त है शरणागति के भाव को समझना और उस का आचरण करना है ।

******

९८. विग्रह

प्रश्न: क्या आप विग्रह की प्रतिष्ठा के विषय में बतायेंगे ? क्या हमें विग्रह-स्थापना करनी चाहिए और कैसे करनी चाहिए ?

उत्तर: विग्रह-प्रतिष्ठा बहुत लम्बी प्रक्रिया है और बहुत दिनों तक चलती रहती है । उसमें पूजा के विभिन्न प्रकार जुड़े हुए हैं । प्रतिष्ठापक को बहुत सी वस्तुओं का संग्रह करना होता है, यज्ञ करना, लोगों को भोजन देना, मन्त्र जप करना होता है । यह एक बहुत जटिल प्रक्रिया है । और एक बार ही (प्राण) प्रतिष्ठा की जाती है तो वह कई कारणों से नष्ट भी हो जाती है (अर्थात् विग्रहमें से प्राण चले जाते है तब उनकी परिचर्या नहीं की जा सकती ।). उदाहरण स्वरूप, यदि एक अयोग्य व्यक्ति जैसे कि एक म्लेच्छ, एक स्त्री जो अपनी अपवित्र अवस्था (रजस्वलावस्था) में विग्रह का स्पर्श करती है, या साधक निरन्तर दो दिन तक विग्रह की पूजा नहीं करता है, या तो विग्रह गिर जाता है, तब प्रतिष्ठा नष्ट हो जाती है । प्रतिष्ठा कैसे नष्ट होती है उस विषय में कई बातें शास्त्र में कही गयी हैं ।

विग्रह की प्रतिष्ठा का मूल उद्देश्य लोगों में श्रद्धा उत्पन्न करना है । जब आप किसी विशाल कार्यक्रम का आयोजन करते हैं तब आप लोगों को आमन्त्रित करते हैं और भोजन खिलाते हैं, जो आप को सहयोग देते हैं । अन्यथा प्रतिष्ठा की आवश्यकता नहीं है क्योंकि भगवान सर्वत्र हैं और विग्रह में भी है । पूजा करने की इच्छा भी स्वयं भगवान देते हैं और वह स्वयं विग्रह स्वरूप में स्थापित होते हैं ताकि आप पूजा कर सकें । इस प्रकार किसी प्रतिष्ठा की आवश्यकता नहीं है ।

यदि आप विग्रह की प्रतिष्ठा नहीं करते हैं तो कोई इस बात को स्वीकार नहीं करेगा कि आप भलीभाँति पूजा कर रहे हैं । वे आएँगे भी नहीं और आप के विग्रह को प्रणाम भी नहीं करेंगे क्योंकि उनके मन में है कि विग्रह की प्रतिष्ठा नहीं हुई है । प्रतिष्ठा न

होने के कारण वे विश्वास नहीं करेंगे कि कोई यथार्थ में भगवान की पूजा कर रहा है। समाज में लोगों का समर्थन प्राप्त करना बहुत आवश्यक है इस कारण से प्रतिष्ठा करना आवश्यक है ।

भगवान बुद्ध ने अहिंसा दर्शन की शिक्षा दी थी, पर आज लोग क्रूरता से देव-प्रतिमाओं को नष्ट कर रहे हैं । [अफ़ग़ानिस्तान में तालिबान ने दो हज़ार साल पुरानी बुद्ध की प्रतिमा को नष्ट कर दिया था ।] ऐसा क्यों करते हैं ? इसका कारण है लोगों के समर्थन का अभाव । जब लोगों का समर्थन मिला तो एक सौ पचास फूट ऊँची बुद्ध की प्रतिमा बनायी गयी, लेकिन आज लोक सहयोग न होने के कारण लोग देवी देवताओं की प्रतिमाओं को रोकेट और बम से नष्ट कर रहे हैं । (परिहासपूर्वक) अब तो भगवान भी मनुष्यों की कृपा पर है ।

बनारस में बहुसंख्यक शिवलिंग हैं क्योंकि बनारस शिवजी की नगरी है । जब मुसलमानों ने वहाँ आक्रमण किया तो उनके शासन के दौरान कई मन्दिरों को नष्ट किया था । नष्ट मन्दिरों से शिवलिंग चारों ओर बिखरे पड़े थे और किसी ने परवाह भी व्यक्त नहीं की थी । उन शिवलिंग का लोग सीढ़ी के रूप में उपयोग करते थे और उस पर अपने पाँव रख कर चढ़ते थे ।

विग्रह की प्रतिष्ठा मूलतः लोगों के समर्थन और श्रद्धा के लिए है, जिस से उनकी श्रद्धा बढ़े कि: "हाँ, यहाँ प्रतिमा स्थापित है" । अन्यथा स्थापना की कोई आवश्यकता नहीं है।

******

प्रश्न: क्या प्रतिष्ठा अपराध के कारण नष्ट होती है ?
उत्तर: प्रतिष्ठा तब नष्ट होती है जब आप वर्जित (अक्षम्य) कार्य करते हैं, जैसा कि मैं ने ऊपर सूचित किया है ।

******

प्रश्न: किन्तु शालिग्राम शिला, जो स्वयं प्रकट है, उस के विषय में क्या ?
उत्तर: यदि शालिग्राम शिला खण्डित होती है, तो आप को उसकी पूजा नहीं करनी चाहिए । शालिग्राम शिला की पूजा के लिए बहुत से नियम हैं । कृष्ण शिला में नित्य विराजमान है, जैसे विग्रह में होते हैं । फिर भी, जैसे मैं ने पहले कहा था कि लोगों को विश्वास नहीं है । जब आप कहते हैं कि, "भगवान स्वभावतः शालिग्राम में निवास करते हैं और अतः प्रतिष्ठा की कोई आवश्यकता नहीं है" । लोग इस बात को मानते हैं क्योंकि लोगों को इन शब्दों में विश्वास है । किन्तु शालिग्राम शिला की भाँति भगवान

का कोई भी विग्रह सर्वत्र विराजमान है और यदि नया विग्रह बनाया गया तो भगवान उस में भी विराजमान है । शालिग्राम शिला की भाँति हर विग्रह स्वयं प्रकट है लेकिन लोग उस में श्रद्धा नहीं रखते । उसके लिए आप बड़ा महोत्सव मनाते हैं, जिस से लोगों में श्रद्धा बढ़े । जब आप कुछ स्थूल और दिखावा करते हो तब लोग उस में विश्वास रखते हैं ।

******

प्रश्नः एक प्रसङ्ग है कि सनातन गोस्वामी ने देखा कि मथुरा में मदनमोहन किसी ब्राह्मण चोबेके बच्चे के साथ खेल रहे हैं । हम कैसे समझें कि एक विग्रह ऐसा कर सकता है?

उत्तरः यह प्रसङ्ग सम्भव है क्योंकि विग्रह जब अपने भक्तों के साथ होते हैं तो कुछ भी कर सकता है । उदाहरण स्वरूप, राधा गोविन्द का विग्रह कभी कभी पुजारी से विशेष भोजन तैयार करने के लिए कहते थे । साक्षी गोपाल ने भी अपने भक्तों के साथ भ्रमण किया था, प्रतिदिन भोजन करते थे और उन से वार्तालाप भी करते थे ।

******

प्रश्नः वास्तु शास्त्र के अनुसार क्या यह आवश्यक है विग्रह का मुख उत्तर या पूर्व में होना चाहिए ?

उत्तरः मन्दिर-वास्तु गृह-वास्तु से भिन्न है । गृह-वास्तु की वेदिकाओं के विषय में भिन्न भिन्न मत है, किन्तु विग्रह का मुख पश्चिम की ओर नहीं होना चाहिए ।

[देखें: परिचर्या – पूजा/सेवा] ******

९९. विदेश में नियमाचरण

प्रश्नः हम अपने भक्तिभाव को पश्चिम के देशों में कैसे निभा सके ? सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य क्या है ?

उत्तरः जितना सम्भव हो उतना शास्त्राध्ययन, व्याख्यान श्रवण, मन्त्र जप और कृष्णभक्ति आदि में रुचिवाले का सत्सङ्ग करना चाहिए । दूसरें लोगों से आवश्यकता अनुसार ही व्यवहार करना चाहिए । ******

प्रश्नः हम सिद्धान्तो का समझौता कितना कर सकते हैं ? उदाहरण स्वरूप, व्यापार या अध्ययन में सम्बन्ध रखने के लिए कभी कभी कहीं अनिवेदित खाद्य पदार्थ भी ग्रहण करना पड़ता है जो शाकाहारी होता है परन्तु भगवान को अर्पण नहीं किया होता है आदि । मर्यादा कहाँ तक रखनी है ? ऐसी परिस्थिति में भी क्या सुरक्षित है?

उत्तरः जहाँ तक सम्भव हो, ऐसी परिस्थितियों से बचते रहो । यदि और कोई सम्भवता नहीं है तो उस कार्य को हृदय से मत करो । आपातकालीन परिस्थिति की तरह आसक्तिरहित होकर कार्य करो । ******

प्रश्न: पश्चिम देश में गुरुदेव से सम्बन्ध कैसे बनाए रखे ?
उत्तर: उनका स्मरण करो और मानसिक सेवा करो । ******

प्रश्न: साधुसङ्ग कैसे किया जाय जब प्रत्यक्ष रूप से हम गुरु के सामने नहीं है ?
उत्तर: मानसिक रूप से गुरु को अपने साथ रखो ।

******

प्रश्न: क्या आप विस्तार से समझाएँगे कि गुरु की मानसिक पूजा कैसे की जाती है ?
उत्तर: सेवा का अर्थ है सहयोग देना, पसन्द करना, समर्थन देना और अपने गुरु के लिए ममत्त्व होना । जब ऐसी भावना होगी तो स्वयं समझोगे कि आगे क्या करना है।

******

प्रश्न: उत्तमा-भक्ति में सेवा क्या वियोग में हो सकती है ?
उत्तर: इस प्रश्न का अर्थ क्या है ?

******

प्रश्न: मेरा प्रश्न पूछने का यह अभिप्राय है कि गुरु के बताए निर्देश के अनुसार कैसे गुरु की सेवा कर सकता हूँ जब मेरे गुरु वृन्दावन में है और मैं कहीं और हूँ, तब ?
उत्तर: अवश्य वियोग में सेवा है क्योंकि हर समय तो आप अपने गुरु के साथ नहीं हो सकते । जब आप वृन्दावन में हो और अपने घर जाते हो तब भी गुरु साक्षात् आप के साथ नहीं होते, अतः वियोग तो रहेगा ही । यदि वह एक कक्ष से दूसरे में गये तो भी वियोग है । वियोग विभिन्न प्रकार के होते हैं: अल्प-क़ालीन और दीर्घकालीन । अभी अलग हो रहे हैं तो वह अल्पक़ालीन वियोग होगा क्योंकि हम पुनः मिलेंगे ।

******

प्रश्न: उदाहरण स्वरूप, पश्चिम देश में रहने के कारण यदि हम दीर्घ समय के लिए अलग हो रहे हैं तो गुरुसेवा करने का कौन सा उत्तम रास्ता है ?
उत्तर: आप निजी कर्तव्य करो और गुरु का स्मरण करते रहो । यदि आप वहाँ नौकरी करते हो तो कैसे सेवा कर पाओगे ? आप आर्थिक सहायता कर सकते हो । वहाँ अपने आध्यात्मिक आचरण करते हुए आप आर्थिक सेवा कर सकते हो ।

******

प्रश्न: इस प्रकार से क्या हम प्रगति कर पाएँगे ?
उत्तर: वह आप पर निर्भर है । इसे आप लम्बाई या वजन में नहीं नाप सकते । यह भाव पर आधारित है । यदि गुरु निर्दिष्ट नियमों का पालन करेंगे, तो प्रगति कर पाएँगे और नहीं करोगे तो प्रगति नहीं होगी ।

******

प्रश्न: शिष्य दूसरे देश में रहता है तो गुरु की शारीरिक अनुपस्थिति में वह गुरुसेवा कैसे कर सकता है ?

उत्तर: भक्ति ममत्त्व पर आधारित है और व्रज भक्ति का यही सार है । यदि शिष्य को गुरु के लिए ममत्त्व है तो कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि वह गुरु के समीप है या दूर है । यदि ममत्त्व नहीं है तो भी समीप होने में या दूर रहने से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता ।

उदाहरण स्वरूप, किसी के पास पालतू मुर्ग़ी है और निकट जंगल में भी मुर्ग़ी है । उस व्यक्ति को पालतू मुर्ग़ी से लगाव होगा परन्तु वनस्थ मुर्ग़ी से नहीं होगा । यदि वनस्थ मुर्ग़ी की हत्या होगी तो वह दुःखी नहीं होगा, किन्तु उसकी पालतू मुर्ग़ी के मर जाने से होगा । एवं मन की दो वृत्ति होती है - राग और द्वेष । यदि आप को गुरु के प्रति प्रीति है, तो आप जहाँ कहीं भी होंगे, उन्हें सहयोग देंगे । प्रीति का मापदण्ड स्थान की दूरी नहीं है । यदि आप को वह पसन्द ही नहीं है और उन पर अरुचि है तो आप सहयोग कभी नहीं करेंगे ।

हम एक दृष्टान्त लेते हैं एक माता और उसके बच्चे का ।- माँ को अपने बच्चे से स्नेह है अतः वह उसका पोषण करती है । उसी घर में धायी भी है किन्तु उस बालक के लिए उसे इतना स्नेह नहीं होगा जितना माँ को अपने बच्चे के लिए है क्योंकि धायी को उस बालक के पोषण के लिए वेतन मिलता है । माँ का स्नेह ही उस बालक के लिए सब कुछ करने के लिए प्रेरित करता है । यदि माता को भी बालक के लिए स्नेह नहीं है तो वह भी उसका उचित पोषण नहीं करेगी । ऐसा नहीं है कि वह माता है अतः अपने बालक का पोषण करती है, परन्तु बालक के प्रति अपने स्नेह के कारण करती है । यही प्रीति / स्नेह व्यक्ति को प्रेरणा देता है ।

यदि आप को कोई पसन्द नहीं है या उससे घृणा करते हो तो आप का मन उस नापसन्द व्यक्ति का किसी न किसी युक्ति से विनाश करने में नए नए रास्ते दिखाएगा। उसकी कैसे हत्या करें, कैसे अधिक कष्ट दें, कैसे उस को सहयोग न दें या कैसे उसके जीवन में विघ्न खड़े करें यही सोचोगे । यदि आप की उस व्यक्ति के प्रति प्रीति है तो आप का मन उसे अधिक सहायता करने के विषय में सोचेगा । माँ का भी वैसा ही है। अपने बालक के प्रति आसक्ति ही उसे बालक का पालनपोषण करने के लिए प्रेरित करती है । यह (रागानुगा) मार्ग भी प्रीति के भाव पर आधारित है ।

कुछ ऐसे शिष्य भी हैं जो यहाँ मेरे पास रहते हैं और मेरे समीप भी हैं पर उन्हें मेरे प्रति प्रीति नहीं है । यद्यपि कुछ ऐसे भी शिष्य हैं जो अन्य देश में रहते हैं, फिर भी

मुझसे बहुत लगाव है । मुख्य बात है कि तुम्हारा भाव कैसा है । आसक्ति और अनासक्ति के कारण ही मन बन्धन का कारण है एवं वही मन मुक्ति का कारण भी है।

******

प्रश्न: जब गुरु या कृष्ण के लिए प्रीति ही नहीं है तब सांसारिक भोग भोगने का भाव भगवान के प्रति विमुखता है ।

उत्तर: स्वाभाविक है, जब मनुष्य भगवान को पसन्द नहीं करेगा तो वह भगवान से मुँह मोड़ लेगा । बहिर्मुख का यही अर्थ होता है । कृष्ण की ओर देखने के बजाय वह इन्द्रिय सुख की ओर देखता है ।

******

प्रश्न: जब भक्त गुरु से दूर होता है, प्रत्यक्ष रूप से गुरु के साथ नहीं होता है फिर भी उसे कुछ सुखद अनुभूति होती है । इसका कारण क्या कृष्ण का उस पर प्रसन्न होना है ?

उत्तर: भक्ति-मार्ग भगवान के प्रति ममत्त्व या उनके साथ के सम्बन्ध पर आधारित है। यहाँ स्थान की दूरी का कोई महत्त्व नहीं है । चाहे आप गुरु के समीप हो या उनसे दूर। आप को सन्तुष्टि गुरु प्रति आनुकूल्य होने से ही होती है, अन्य वस्तु से नहीं होती है । दूरी विघ्न नहीं है क्योंकि आत्मा को कोई भी वस्तु बाधित नहीं कर सकती है ।

******

प्रश्न: कौन सी योग्यता, त्रुटियाँ एवं अवरोध को भारतीय भक्तों की तुलना में पाश्चात्य भक्तों को साधना करनें में सामना करना पड़ता है, यद्यपि इसका सामान्यीकरण करना कठिन है । इसके कोई सामान्य लक्षण हैंः ?

उत्तर: इसे समझने के लिए मैं आप को एक दृष्टान्त दूँगा । आप उन लोगों का निरीक्षण करो जो यहाँ धाम में रहते हैं और जो धाम में कुछ दिनों के लिए आते हैं । आप को इन दोनों के बीच का भेद दिखायी देगा । आप देखोगे कि बाहर से आने वाले लोगों में बहुत श्रद्धा है और उन्हें यहाँ सेवा करना अच्छा लगता है । वे स्वयं को आध्यात्मिक कार्यों में संलग्न रखते हैं, इस स्थान का विकास करने का प्रयत्न करते हैं और उसमें अपना धनव्यय भी करते हैं । यह हक़ीक़त है कि यहाँ जो भी विकास आप देख रहे हो वह बाहर से आने वाले लोगों के कारण हुआ है । यहाँ के स्थानीय लोगों का बहुत कम सहयोग है ।

यहाँ धाम में जो लोग रहते हैं उनके पास प्रायः ममत्त्व नहीं है । वे भौतिकवादी हैं । वे फ़िलोसोफी को भी समझना नहीं चाहते । इस दृष्टान्त को आगे बढ़ाएगें तो जानोगे कि बङ्गाल, ओड़िसा या आसाम यात्रियों में भी यहाँ धाम के प्रति स्थानीय लोगों की तुलना में अधिक श्रद्धा, मान एवं आदर है । स्थानीय लोगों के भाव में और यात्रियों

के भाव में यह भेद है ।

एवं विदेशी लोग जो धाममें पधारते हैं उनको विशेष रुचि होती है और फ़िलोसोफी को ग्रहण करने की शक्ति भी अधिक होती है । कारण यह है कि वे लोग श्रमशील एवं अनपराधी होते हैं, स्थानीयवासियों की भाँति नहीं । विदेश से जो आते हैं वे विशेष प्रयोजन लेकर आते हैं अतः स्थानीय निवासियों की तुलना में विदेशीओं में फ़िलोसोफी को ग्रहण करने की अधिक क्षमता है ।

उदाहरण स्वरूप, जब भक्तिवेदान्त स्वामी यहाँ वृन्दावन में रहते थे तो एक भी व्यक्ति को वह अपनी फ़िलोसोफी से प्रभावित नहीं कर पाए । स्थानीय लोगों में भक्ति को लेकर कोई रुचि नहीं है । परन्तु जब भारत देश से विदेशगमन किया तो वहाँ अनेक लोगों को फ़िलोसोफी समझाने में सफल रहे ।

******

१००. विनम्रता

प्रश्न: शिक्षाष्टक के तीसरे श्लोक का अर्थ क्या यह होता है कि पहले आप को विनम्र और सहनशील होना चाहिए फिर आप नित्य जप कर सकते हो या नित्य जप करने से आप विनम्र और सहनशील बन सकते हो । प्रथम क्या आता है ?

उत्तर: दोनों में से कुछ भी नहीं । ऐसा नहीं है कि आप विनम्र हो इसलिए जप कर सकोगे या जप करने से आप विनम्र हो जाओगे । आप ने अनुभव किया होगा कि इन दोनों में से एक भी बात नहीं बनती । यदि आप विनम्र होने का अभ्यास करते हो तो वह एक मात्र दम्भ और कपट है क्योंकि आप स्वयं अपने शरीर से और कौटुम्बिक सम्बन्धों से आसक्त रहोगे । यह एक दुकानदार जैसा है जो अपने व्यापार वृद्धि के लिए प्रयत्न करता रहता है । यदि आप उन से कुछ ख़रीदना चाहोगे तो वे आप से अच्छी तरह बात करेंगे और जब उनका कार्य सिद्ध हो जाता है तो वही लोग आप से झगड़ा भी कर सकते हैं । जब उन्हें आप से कुछ पाना है तो वे बड़ी विनम्रता से आप के साथ व्यवहार करते हैं । यह विनम्रता नहीं है । यह एक दिखावा और ढोंग है । लोग भी ऐसा ही करते हैं जब वे यहाँ आते हैं, नमन करते हैं और पूछते हैं, "मैं यहाँ क्या सेवा कर सकता हूँ ?" यह विनम्रता नहीं है क्योंकि उनका अपना व्यक्तिगत मक़सद होता है । अतः विनम्रता और सहिष्णुता साथ साथ नहीं हो सकते । कोई व्यक्ति, जिसे आप नमन करते हो, यदि वह आपकी इच्छा विरुद्ध कुछ कहे तो वह आप के उद्देश्य को सिद्ध करने में बाधारूप होगा । फिर आप क्रोधित होंगे और नमन करते समय ईर्ष्या भाव को मन में छुपायेंगे ।

ठीक उसी प्रकार यदि आप मन्त्रजप करते हो तो उस से आप की विनम्रता में वृद्धि नहीं होगी क्योंकि आप के मन में कोई गुप्त उद्देश्य है । अतः समर्पण के बाद ही मन्त्रजप करना चाहिए और नाम-जप या मन्त्र-जप का यही वास्तविक अर्थ है । विनम्रता तभी आएगी जब आप ने गुरु की शरण ली हो और उन्हें सब कुछ समर्पित कर दिया हो । यही विनम्र बनने का सही रास्ता है । यदि आप ने सही अर्थ में दीक्षा ली है तो आपकी मानसिकता स्वच्छन्द नहीं होगी और देह और उस से सम्बन्धित वस्तुओं में कभी-भी आसक्ति नहीं होंगी । यही अर्थ है शरणागति का । जब आप ऐसा करेंगे, तभी विनम्रता और सहनशीलता स्वाभाविक होगी और उस स्थिति में श्लोक में जो बताया है उस प्रकार अनुसरण करना सम्भव होगा । अन्यथा, एक नाट्य या खेल की भाँति सब कुछ एक दिखावा होगा और वह कुछ काम नहीं आएगा ।

इसलिए प्रक्रिया है कि गुरु स्वीकार करो और उन्हें समर्पित हो जाओ । शरणागति का यह अर्थ नहीं है कि आप यह भूल जाओ कि आप कौन हो । आप अपनी योग्यता जानते हो तथापि आप अभिमानी नहीं होंगे । जब समर्पित होते हो तो आप का अभिमान यह होता है कि आप भगवान के सेवक हो । यह आप को सहनशीलता और विनम्रता प्रदान करेगा क्योंकि अब आप अपनी सम्पत्ति या भौतिक योग्यताओं से प्रभावित नहीं होंगे ।

जब आप किसी लम्बे व्यक्ति को देखते हो तब आप को ज्ञात होता है कि आप क़द में उससे छोटे हो । ठीक उसी प्रकार जब आप अपने से अधिक अच्छे और योग्य व्यक्ति को मिलोगे तब आप को अपने पद का पता चलेगा और आप में साहजिक रूप से विनम्रता आएगी । बस इसी प्रकार जब आप भगवान, जो मन्त्र-अवतार हैं, उसे समझोगे तभी आप उनकी योग्यताओं को समझ पाओगे । इसके बाद ही सही विनम्रता प्रकट होगी । यदि आप के सद्गुरु है, आप उन्हें समर्पित हैं और यह समझते हैं कि गुरु एक सामान्य मनुष्य नहीं परन्तु भगवान का अवतार है, तो वहाँ अपने आप विनम्रता बनी रहेगी । इसके बाद ही मन्त्र-जप सम्भव है ।

उत्तमा-भक्ति व्यावहारिक धर्म है । यह कोई ऐसी कल्पना नहीं है कि, "मैं मन्त्र-जप करता रहूँगा और फिर एक दिन मैं विनम्र बन जाऊँगा ।" ऐसा कभी नहीं होगा और बदले में आप अधिक अभिमानी बन जाओगे । आप सोचोगे, "मैं मन्त्र-जप करता हूँ और ये लोग निकम्मे हैं जो मन्त्र-जप नहीं करते हैं । ये लोग माया में फँसे हैं ।" अर्थात् विनम्र बनने के बजाय आप अभिमानी बन जाओगे । हालाँकि बाहर से आप विनम्र होने का दिखावा करोगे, पर अन्दर से आप कठोर बने रहोगे । भक्ति कोई ऐसी चीज़

नहीं है जो अव्यावहारिक यानि कि मात्र सैद्धान्तिक या काल्पनिक हो । वह यह भी नहीं है कि, "मैं विनम्र बन गया हूँ क्योंकि मैं ६४ माला मन्त्र जप करता हूँ।"
आगे भी जैसे आप को समझाया कि दृष्टान्तरूप यदि कोई आप से लम्बा है तो आप कुछ कहेंगे, परन्तु आप को अनुभूति होगी कि वह आप से लम्बा है । आप को यह हक़ीक़त स्वीकार करना ही होगा । ठीक उसी प्रकार आप गुरु को स्वीकार करते हो तो आप स्वतः ही उनका आदर-सत्कार करते हो क्योंकि आप जानते हो कि गुरु भगवान है । हर बात में वह आप से अधिक योग्य है । यदि आप इस वास्तविकता का स्वीकार करते हो तो विनम्रता बड़ी साहजिक होगी । नहीं तो यह कभी नहीं होगा क्योंकि आप अपना शरीर, उस से जुड़ी बातें और वस्तु, जैसे कि जन्म, शिक्षण और योग्यता आदि से जुड़े लगाव का त्याग नहीं कर रहे हो । आप हमेशा इन्हीं बातों से पहचाने जाओगे और उनका गर्व रहेगा । ******

प्रश्नः क्या आप तृणादपि सुनिचेन अर्थात् हमें विनम्र मन से मन्त्र जप करना चाहिए इस श्लोक को विस्तार से समझाओगे ? मन्त्र जप करते समय क्या भावना रखनी चाहिए ? विनम्रता क्या है ?

चैतन्य चरितामृत आदि १७.३१:
तृणादपि सुनीचेन तरुरिव सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन कीर्तनीय सदा हरिः ।।

"जो अपने आप को घास के तिनके से भी तुच्छ समझता है, जो वृक्ष से भी अधिक सहनशील है, और जो व्यक्तिगत सम्मान की चाह नहीं रखता, फिर भी सबका आदर करने के लिए सदा तत्पर रहता है, वह हमेशा बड़ी सरलता से भगवान के पवित्र नाम का जप कर सकता है ।"
उत्तरः यदि कोई भगवान को पूजना चाहता है तो भगवान के जैसा ही स्वभाव रखना चाहिए । इसका मुख्य सिद्धान्त है देवं भूत्वा देवं यजेत् । – अर्थात् यदि आप भगवान या देव की आराधना करना चाहते हो तो आप को भी पवित्र (देव-सम) बनना होगा । भगवान उनके नाम से भिन्न नहीं है:

नामचिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यो रस-विग्रहः ।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नात्मा नाम-नामिनोः ।। (चै.च. मध्य १७.१३३)

जगत में वस्तु और ध्वनि अलग अलग है, परन्तु भगवान के नाम और स्वरूप (वाच्य

और वाचक) एक दूसरे से अभिन्न है, दोनों में एक्य है । अतः यदि आप को मन्त्र-जप करना है, अर्थात् भगवान का नाम लेकर आप उनका आदर करना चाहते हो तो वह शुद्ध मनोभाव से होना चाहिए । आप को भगवान जैसा ही स्वभाव यानि कि विनम्रता पानी चाहिए । मुख्य रूप से यह इस बात का निर्देश करता है कि मनुष्य को "मैं स्वतन्त्र हूँ" यह लौकिक अहम् और अभिमान का त्याग करना चाहिए । जब तक आप में यह मानसिकता रहेगी, आप के मन्त्र-जप का विपरीत असर होगा क्योंकि आप मात्र अपने स्वतन्त्र अस्तित्व बनाने का या बढ़ाने का प्रयत्न कर रहे हो ।

मैं घास के तिनके से भी तुच्छ हूँ इस सोच का मुख्य भाव यही है कि कोई भगवान से स्वतन्त्र नहीं है । यद्यपि जीव उसका एक अंश है, सेवक है, अतः सहनशील है ।

वृक्ष का दृष्टान्त देने का प्रयोजन यही समझाना है कि वृक्ष सहिष्णु है क्योंकि वह सबका हित करता है । यदि कोई उसे निर्मूल करना चाहे तो भी वह फ़रियाद नहीं करता है । वह खड़ा ही रहता है और कुछ भी नहीं माँगता है । भक्त भी एक वृक्ष जैसा है । वह किसी भी लौकिक वस्तु पर आधारित नहीं होता किन्तु वह केवल भगवान पर आधारित होता है और अपनी सेवा करता रहता है । इस श्लोक का यही तात्पर्य है ।

*****

१०१. विरजा नदी

प्रश्नः लौकिक और अलौकिक जगत के मध्य में क्या विरजा नदी है एवं सङ्कर्षण वहाँ विराजमान होते हैं ? इस विरजा नदी का क्या अर्थ होता है ?

उत्तरः विरजा - "रजस् से मुक्त" अर्थात् प्राकृतिक गुणों से मुक्त । यह निर्देश करता है कि अलौकिक जगत लौकिक जगत और प्राकृतिक गुणों से परे है । विरजा नदी का पानी वेदों का प्रस्वेद (पसीना) है । यह भी सङ्केत करता है कि वेदों का अनुशासन, पालन करने से ही इस नदी को पार कर सकते हैं ।

*****

१०२. विराट् रूप

प्रश्नः भक्ति को अभिधेय तत्त्व स्थापित करने के बाद एक श्लोक हैः

तस्माद् भारत सर्वात्मा, भगवानीश्वरो हरिः ।
श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम् ।। (भा. २.१.५)

"अतः हे भरतवंशज, जो व्यक्ति भय से मुक्त होना चाहता है उसे सभी के नियन्त्रक और उत्तम नियामक ऐसे भगवान श्री कृष्ण का श्रवण, स्मरण और गान करना चाहिए।"

तत्पश्चात् शुकदेव गोस्वामी परीक्षित महाराज को कहते हैं कि मनुष्य को केवल भगवान का श्रवण, स्मरण और गान करना चाहिए । इसके बाद वह विराट् रूप का वर्णन करते हैं (श्रीमद् भा. २.१.२३) । केवल भगवान का स्मरण, श्रवण और गान करना चाहिए यह कहने के बाद क्यों शुकदेव गोस्वामी विराट्र रूप का वर्णन करते हैं?
उत्तर: शुकदेव गोस्वामी ने भागवत का पूरा सारांश बता दिया है, परन्तु जब श्रद्धा होगी तभी इस प्रकार आचरण होगा । परन्तु लोगों में श्रद्धा नहीं है । भगवान सर्वव्यापी है यह समझ लोगों को उनकी श्रद्धा-वृध्धि में सहायता करती है । अतः शुकदेवजी विराट्र स्वरूप का वर्णन करते हैं, जिस से मनुष्य भगवान को सर्वत्र देख सके और समझ सके कि सब कुछ भगवान के दिव्य देह का प्राकट्य है । इस (समझ) के बाद ही मनुष्य का भक्ति के प्रति झुकाव हो सकता है ।

उदाहरण स्वरूप, अर्जुन श्री कृष्ण का विराट् स्वरूप देखने के बाद ही समझ पाया कि भगवान सर्वत्र है । उस के बाद उस ने कृष्ण में कुछ विश्वास रखा क्योंकि विराट् रूप देखने बाद ही अर्जुन जान सका कि कृष्ण भगवान हैं । अर्जुन श्रीकृष्ण का आदर करने लगे ।

लोगों में भगवान के प्रति श्रद्धा बढ़े इसलिए विराट् स्वरूप का वर्णन किया गया है । जिसे हर जगह भगवद्भाव दीखता है । उसे उत्तम भागवत कहते हैं जिसका वर्णन ११वाँ स्कन्ध में किया गया है । यदि सर्वत्र भगवद्भाव नहीं दिखायी देगा, तो कैसे कोई भगवान का स्मरण या गुणगान कर सकेगा ?

विराट्र रूप का यह वर्णन महाराज परीक्षित के लिए नहीं है क्योंकि वह तो पहले से ही भक्त है और भगवान के नित्य परिकर है । जब महाराज परीक्षित गर्भ में थे, तब उन्होंने श्रीकृष्ण को देखा था जिन्होंने स्वयं ही उनकी रक्षा की थी । तत्पश्चात् वे हमेशा कृष्ण का अन्वेषण करते रहे अतः उनका नाम परीक्षित है । विराट्र रूप का यह वर्णन सामान्य जन समुदाय को शिक्षा देने के लिए है, जिस से धीरे-धीरे (आध्यात्मिक-मार्ग में) प्रगति हो ।

इसी प्रकार भगवद् गीता में भी कृष्ण जो शिक्षा देते हैं, वह अर्जुन के लिए नहीं, परन्तु सामान्य लोगों के लिए है । शिक्षाप्रदान करने के लिए अर्जुन को केवल एक माध्यम बनाया गया है । उसी प्रकार श्रीमद् भागवत में भी दी गई शिक्षा परीक्षित महाराज के लिए नहीं है ।

एक सामान्य व्यक्ति यह नहीं सोचता कि यह जगत भगवान की शक्ति का प्राकट्य है। इसी धारणा के कारण वह सब का शोषण करने की वृत्ति रखता है । यदि वह ब्रह्माण्ड में (सर्वत्र) भगवान को देखेगा तब वह ऐसा कार्य करना (शोषण) बन्द कर देगा और धीरे धीरे (मानवता की ओर) प्रगति करेगा ।

श्रीमद् भागवत के मङ्गलाचरण में (१.१.२) एक भक्त बनने के लिए क्या योग्यता होनी चाहिए यह दर्शाया गया है: उसे निर्मत्सराणाम् सताम् बनना चाहिए, द्वेषभाव से मुक्त रहना चाहिए और करुणामय होना चाहिए । ऐसा भक्त बनने के लिए दो रीति है । प्रथम रीति है, आप महान भक्त के सङ्ग से यह प्राप्त करो । (उत्तमा-भक्ति में ऐसा कुछ विधि विधान नहीं बताया है कि आप ऐसा करो वैसा करो क्योंकि यह सब कार्य हृदय के भावानुरूप होता है) । दूसरी रीति है लोग अपनी इच्छापूर्ति के लिए किसी साधना का अनुसरण करते हैं । उनके लिए यह निर्देश दिया है कि भगवान को सर्वत्र देखो, क्योंकि जब वे भगवान को सर्वत्र देखना शुरू करेंगे, तो द्वेषभाव से मुक्त हो जाएँगे और दयालु बनेंगे । यह रीति ज्ञान और योगमार्ग की है । ज्ञान और योग मार्ग में कहा गया है कि मनुष्य को अहिंसक होना चाहिए । यदि आप भगवान को सर्वत्र देखने लगोगे तो ज्ञान और योग मार्ग के सभी नियमों का पालन करने लगोगे ।

विराट् रूप का ध्यान करना उनके मतानुसार दर्शाया है, परन्तु वह भक्ति से मिश्रित है। उत्तमा-भक्ति में ऐसे विधानों की कोई आवश्यकता नहीं है ।

*****

प्रश्न: विराट् रूप, विश्व रूप के कोई अनुयायी (भक्त) हैं ?
उत्तर: नहीं, भक्त यह स्वरूप देखना नहीं चाहेगा क्योंकि वह उसके लिए भयावह है, जैसे माता यशोदा और अर्जुन के लिए था । आप विराट् रूप की सेवा नहीं कर सकते हो, अतः भक्त यह रूप देखना पसन्द नहीं करेगा- यद्यपि कभी-कभी कृष्ण तेजस्विनी शक्ति दिखाने के लिए यह विराट् रूप धारण करते हैं ।

१०३. विषाद

प्रश्न: हम कैसे एक विषाद-ग्रस्त भक्त की सहायता कर सकते हैं, जो बहुत दुःखी है? वह कहता है, "मैं ये सभी बातें सुनता हूँ, लेकिन यह सब उन लोगों के लिए है जो समर्पित है और मैं सांसारिक इच्छाओं से जान सकता हूँ कि मैं समर्पित नहीं हूँ इसलिए मुझे कोई आशा नहीं है ।"
उत्तर: भक्ति बहुत सहज है । हक़ीक़त में तो यह एक भाव है जहाँ साधक अनुकूल कार्य करेगा, प्रतिकूल कार्य कभी नहीं करेगा । जगत में मनुष्य कुछ न कुछ

करता है तो वह उपरोक्त भाव के अनुरूप कर्म क्यों नहीं करता है ? इस में बाधा कहाँ है ? श्रीकृष्ण भगवद् गीता में कहते हैं कि वास्तव में यदि भक्त मुझे एक पत्र थोड़ा जल, एक पुष्प और फल भी अर्पण करता है, तो मैं उसे स्वीकार करता हूँ। तो फिर क्या कठिनाई है ?

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति ।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः ।। (गीता ९.२६)

"यदि एक शुद्ध हृदय भक्त भक्ति पूर्वक एक पत्ता, पुष्प, फल, जल लाकर मुझे अर्पण करता है तो मैं उसका स्वीकार करता हूँ ।"सभी प्रकार की निराशा, विषाद और विचार अज्ञानता से आते हैं । वे देह में अत्यासक्त के कारण होते हैं । ये सभी आसक्तियाँ भौतिक विषय और वस्तुओं की पसन्द नापसन्द से आती हैं । यदि कोई भक्ति करना चाहता है तो वह दृढ़ निश्चय करे और उसके अनुरुप व्यवहार करे । फिर ऐसे विचारों को महत्व मत दो कि "मैं इसे नहीं कर सकता अथवा यह सम्भव नहीं है ।" यदि कोई भक्ति नहीं करना चाहता है, तो आप क्या कर सकते हैं ? कुछ भी नहीं ।

जैसा श्री कृष्ण कहते हैं, "मुझे आचार्य (गुरु) जानो । । मुझ से ईर्ष्या मत करो और मुझे एक सांसारिक व्यक्ति की भाँति मत देखो - मेरा अनुसरण करो ।" आचार्य या गुरु एक सांसारिक व्यक्ति नहीं है, इस सोच से कार्य करने को भक्ति कहते हैं । आचार्य से और उन से सम्बन्धित वस्तुओं से ईर्ष्या न करना भी भक्ति है, तो हृदय में ऐसा भाव रखने में क्या कठिनाई है ? भक्ति बहुत सरल है और उस में कोई जटिलता नहीं है । ऐसा नहीं है कि कोई जटिल कार्य करना होगा, जैसे कि अन्य मार्ग में कुछ जटिल आसन या चीज़ें सीखनी होती है । भक्ति में ऐसा कुछ करना नहीं है । भक्ति सरल है और आप सरल हृदयी बने और कार्य करें ।

भक्ति क्रिया योग है अर्थात् कर्म करना और प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ करता ही है । आप को केवल अपना भाव ही बदलना है ।

******

१०४. वृन्दावन धाम, परिक्रमा, आदि

प्रश्न: गोलोक और गोकुल वृन्दावन में क्या अन्तर है ?

उत्तर: वृन्दावन का ऐश्वर्य स्वरुप ही गोलोक है और गोकुल वह स्थान है जहाँ कृष्ण "मनुष्य" की भाँति उनकी माधुर्य लीला करते हैं ।

*****

प्रश्न: प्रकट लीला के समय का वृन्दावन और आज जो वृन्दावन हम देख रहे हैं उनमें क्या अन्तर है ?
उत्तर: इन दोनों के बीच में कोई अन्तर नहीं है । प्राकट्य लीला करते समय यहाँ उपस्थित सभी को भगवान कृष्ण के दर्शन होते हैं । यदि हम पूर्व आचार्यगण का अनुसरण करेंगे एवं उसी भाव से वृन्दावन में रहेंगे और सेवा करेंगे तो आज भी हम अप्रकट लीला का दर्शन कर सकते हैं ।

अप्रकट लीला भगवान के स्वधाम में परदे के पीछे होती रहती है । आप के घर आए हुए कोई अवाँच्छनीय व्यक्ति से पीछा छुड़ाने के लिए जैसे आप घरमें कहीं छिप जाते हो जिससे वह आप को देख न पाए, ठीक उसी तरह श्री कृष्ण भी अभक्तों से स्वयं को छुपा लेते हैं, जिसे अप्रकट लीला कहते हैं ।

अलौकिक साधन सांसारिक सिद्धि के लिए नहीं हैं । उदाहरण स्वरूप, पुत्र प्राप्ति के लिए गोवर्धन परिक्रमा और राधा-कुण्ड में स्नान करना उचित नहीं होता, क्योंकि पुत्र प्राप्ति सांसारिक इच्छा है । अलौकिक साधन जो भगवत्प्रेम के लिए है उसका इस प्रकार दुरुपयोग होता है ।

वृन्दावन धामवास की लाभप्राप्ति के लिए आप को वृन्दावन में धाम के अनुकूल रूप से रहना होगा जिस से गुरु, गाय, धाम आदि में आप की स्नेह वृध्धि हो । इसका मुख्य सार है आनुगत्यम्, अर्थात् पूर्वाचार्यों द्वारा निर्दिष्ट आचरण करना, जिस से आज भी भगवल्लीला का दर्शन कर सकेंगे ।

*****

प्रश्न: राधाकुण्ड जाने से क्या लाभ होते हैं ?
उत्तर: यह पिकनिक जैसा है जो आनन्द प्रमोद के लिए है । वहाँ जाकर आप कुछ धन व्यय करते हो, इस से अधिक कुछ नहीं । आप स्वयं वहाँ जाकर इसकी अनुभूति कर सकते हो ।

*****

प्रश्न: महाराज जी, क्या आप धाम की सेवा करना जैसे कि परिक्रमा करने से या यमुना स्नान करने से प्रसन्न होंगे ?
उत्तर: आप परिक्रमा करो या यमुना स्नान करो, इस से न तो मैं प्रसन्न हूँगा और न ही अप्रसन्न बनूँगा । इन बातों से मुझे कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि ऐसा करने या न करने के लिए न मैं ने आप को या न किसी अन्य को कहा है । आप ऐसा करते हो क्योंकि आप को वह पसन्द है, ऐसा करना आप की स्वरुचि है । इन सब बातों का भक्ति से

कोई सम्बन्ध नहीं है। यह सब सामाजिक धर्म है। धर्म के विषय में लोगों की अपनी अपनी धारणा होती है, जैसे कि परिक्रमा करना।

विशेष कर व्रज में परिक्रमा बहुत प्रचलित है। लोग अपने गाँव की भी परिक्रमा करते हैं। इसका भक्ति से क्या सम्बन्ध है ? भक्ति का अर्थ है गुरु को समर्पित होना और उनके मार्गदर्शन पर चलना, अनुकुल कार्य करना और प्रतिकूल कार्य कभी न करना / आनुकूलस्य संकल्प प्रातिकूलस्य वर्जनम्। (चै.च. मध्य २२.१००)

कई बार व्रज के लोग, विशेष कर साधु लोग, वृन्दावन के विषय में शिक्षा देने के लिए बङ्गाल या अन्य स्थान पर जाते हैं। वे कहते हैं, "वृन्दावन महान है। वृन्दावन की रज में महाशक्ति है और ऐसा ही यमुना नदी, और गोवर्धन पर्वत इत्यादि है।" अतः कई लोग वृन्दावन आते हैं और परिक्रमा करते हैं। साधु लोग ऐसा भी कहेंगे, "यदि आप को पुत्र नहीं है (पश्चिम के देशों में वंशज न होना कोई समस्या नहीं है, परन्तु भारत में वंशज प्राप्ति एक बड़ी उपलब्धि है।) गोवर्धन-परिक्रमा करने से आप को पुत्र प्राप्ति होगी।" फिर वे लोग परिक्रमा करेंगे, फिर भी पुत्र प्राप्ति नहीं होती है। फिर वे मेरे पास आते हैं और मुझ से पूछते हैं, "परिक्रमा करने से क्या लाभ होते हैं ?" यदि किसी को घुटनों में दर्द है, तो ऐसे प्रचारक उन्हें कहेंगे, "यदि आप गोवर्धन की परिक्रमा करोगे तो आप के घुटनों का दर्द चला जाएगा", परन्तु ऐसा कुछ नहीं होता है। यह सब सामाजिक प्रथा है, जिनका भक्ति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है।

परिक्रमा भगवान की सेवा का एक अङ्ग है, परन्तु ये लोग किसी भी प्रकार की सेवा नहीं करते हैं। वे लोग तो यह भी नहीं जानते कि परिक्रमा क्या है और वे क्यों कर रहे हैं ? वे करते हैं क्योंकि अन्य लोग करते हैं, और ऐसा सोचते हैं कि यदि नहीं करेंगे तो लोग कहेंगे, "ओह ! आप ने परिक्रमा नहीं की ? हम तो गोवर्धन परिक्रमा के लिए गए या कुम्भ मेले में गए, परन्तु आप नहीं गए ?" बाक़ी लोग गए और वे नहीं जा पाए अतः स्वयं को निम्न मानते हैं, उन्हें विशिष्ट प्रकार की ग्लानि होती है, बस इसीलिए बहुत लोग परिक्रमा करते हैं। इसका मेरे साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। यह बात न ही मुझे प्रसन्न और न ही अप्रसन्न करती है।

.....

प्रश्न: परन्तु गोस्वामियों के धर्म शास्त्रों में, जैसे कि भक्ति रसामृतसिन्धु में दर्शाया है कि परिक्रमा भक्ति के लिए प्रेरक है।

उत्तर: धर्म पुस्तकों में अनेक बातें बतायी हैं। उन में से आप कुछ चुन लो और उसका पालन करो क्योंकि उस से आप की क्षुधा और स्वास्थ्य सुधरता है किन्तु आप उसे

भक्ति से (पालन) नहीं करते हो । यदि भक्ति में आप को इतनी ही रुचि है तो जो गुरु कहते हैं वैसा आप क्यों नहीं करते ? परिक्रमा करना आदि के पीछे कारण यही है कि ऐसा करना आप की स्वरुचि है, और जब आप स्वरुचि से जो कुछ भी करोगे वह भक्ति नहीं है । जब आप भक्ति रसामृत सिन्धु या किसी अन्य ग्रन्थ का आश्रय लेते हो, तो आप जो कुछ करना चाहते हो उसे सिद्ध करने का प्रयत्न करते हो, कि जो आप करते हो वह भक्ति है या फिर आप वह करना चाहते हो जो समाज करता है । यद्यपि ये लोग भक्ति नहीं जानते हैं, फिर भी आप उनका अनुगमन कर रहे हो । यदि आप से कोई ऐसा करने का कारण पूछे तो आप ऐसा उत्तर देते हो कि, "भक्ति रसामृत सिन्धु में ऐसा करने को कहा है।" परन्तु भक्ति रसामृत सिन्धु में कहा है (१.२.७४): गुरुपादाश्रय तस्मात् कृष्णदीक्षादि-शिक्षणम्, विस्रम्भेण गुरोः सेवा साधु वर्त्मानुवर्त्तनम् - गुरु की शरण लो, दीक्षा लो, गुरु से भक्ति की रीति सीखो, गुरु की सेवा करो और सन्त पुरुषों का अनुसरण करो । यही भक्ति की रीति है । भक्ति का यही प्रथम सोपान है, भक्ति की नींव है और यदि आप ऐसा नहीं कर रहे हैं, तो आप मात्र हवा में महल बना रहे हैं ।

.....

प्रश्न: उपदेशामृत में दर्शाया गया है कि हमें प्रतिदिन राधाकुण्ड का स्नान करना चाहिए और कुछ लोग ऐसा करते भी हैं । किन लोगों के लिए यह निर्देश दिया है ?

उत्तर: जो कृष्ण के भक्त हैं उनका अनुयायी होकर ही वहाँ निवास करना चाहिए । यही शिक्षा इस श्लोक में दी है । उसे वहाँ स्वतन्त्र रूप से निवास नहीं करना चाहिए। जो कृष्ण के अनुरागी हैं, उनका अनुसरण करना होगा और उनकी सेवा करनी होगी, तब वह सार्थक होगा । श्रीरूप गोस्वामी यह शिक्षा देते हैं कि जिनके पास उत्तमा-भक्ति है वे कैसे जीवन व्यतीत करते हैं । स्वतन्त्र रूप से व्रजनिवास का असर आप देख सकते हो । व्रजधाम से बाहर रहने वालों की तुलना में व्रजवासीओं में अधिकतम लोग बहिर्मुखी हैं और अधिक भौतिकवादी हैं । .....

प्रश्न: राधा-कुण्ड की तीर्थयात्रा से हमको कोई लाभ होता है ?

उत्तर: इससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं होता । प्रायः लोग वहाँ आनन्द प्रमोद के लिए जाते हैं, जैसे लोग पिकनिक मनाते हैं । केवल जो भक्ति को समझते हैं तथा भक्त है वे भक्ति भाव से वहाँ जाते हैं ।

.....

प्रश्न: यह भी दर्शाया गया है कि जो अनुरागी हो ऐसे लोगों का अनुसरण करना चाहिए। क्या वे श्रीगुरु हैं ?

उत्तर: हाँ । .....

प्रश्न: आज राधा-कुण्ड का प्राकट्य दिन है । इस समय उस में स्नान करने की क्या विशेषता है ?

उत्तर: राधा-कुण्ड या ऐसे स्थानों की विशेषता भक्ति से सम्बन्धित है । यदि कोई भक्त है तो यह धाम उन्हें भगवान और उनकी लीलाओं का स्मरण करवाता है क्योंकि यह धाम भगवान से सम्बन्धित है । ऐसे धाम भक्तों के लिए एक उत्प्रेरक की तरह काम करते हैं, भक्तजन में भक्तिभाव वृध्धि होती है, जिससे भक्त भक्ति-भाव में पूर्ण मग्न हो जाय । क्योंकि राधा-कृष्ण अतिपूजनीय हैं एवं राधा-कुण्ड राधा और कृष्ण को अधिक-तम प्रिय है, अतः राधा-कुण्ड भी पूजनीय है क्योंकि वह उनसे सम्बन्धित है । राधा कृष्ण ने अनेक लीलाएँ इस स्थान पर की थीं । यदि हमें कृष्ण के लिए प्रीति है, तो ऐसे धाम के लिए भी प्रीति होनी चाहिए ।

"यदि आप उपवास रखोगे या स्नान करोगे तो आप को कुछ प्राप्त होगा" ऐसा विधान अभक्त को प्रेरित करने के लिए है । सामान्य जन सांसारिक सुख पाना चाहता है और यदि आप उसे धर्म सम्बन्धित कुछ करने के लिए प्रेरित करना चाहते हो तो आप को उसे लौकिक लाभ दिखाना होगा जो वह चाहता है । फलतः उसे कहना होगा कि यदि कुछ सेवा करेंगे तभी आप जो चाहते हो वह मिलेगा और इस प्रलोभन में वह कुछ सेवा करेगा ।

******

प्रश्न: ऐसा लगता है कि वैष्णव समाज में महाभागवतों के समाधि मन्दिर को विशेष महत्त्व दिया गया है । क्या वहाँ जाना महत्त्वपूर्ण है ? क्या भक्ति-रसामृत-सिन्धु ग्रन्थ को समझने में सहायता होगी यदि कोई श्री रूप गोस्वामी के समाधि का दर्शन के लिए जाता है तो ? क्या वहाँ जाने से कोई लाभ होता है ?

उत्तर: वर्णाश्रम प्रथा में जब किसी की मृत्यु होती है तो अग्निदाह-विधि होती है, जो (षोड़श संस्कार में) अन्तिम संस्कार से पूर्व संस्कार (१५वाँ) है किन्तु जब किसी ने भागवत-संन्यास-वेष लिया है तब वह वर्णाश्रम प्रथा से बाहर हो जाता है । अपने परिवार और बच्चों से जो सम्बन्ध पूर्व था, वह नहीं रहता है । यदि वह विवाहित नहीं था, तो पुत्रादि से सम्बन्ध का कोई प्रश्न ही नहीं है । उसे दाह संस्कार या अग्नि संस्कार कोई दे ऐसी सम्भावना नहीं है । स्मृति शास्त्र के अनुसार यह विधि उनके पुत्र या जो उसी वंश से है वही ऐसा करने के लिए योग्य है । वे अग्निदाह देते हैं एवं पिण्डदान भी करते हैं । क्योंकि भागवत-संन्यासी सम्पूर्ण रूप से भगवान को समर्पित है, अब उसका अपने परिवार से कोई सम्बन्ध नहीं होता है । उसका गोत्र परिवर्तन हो जाता है । उसका अच्युत गोत्र होता है । उसका दाह संस्कार नहीं करते हैं क्योंकि शास्त्र में इस का कोई विधान नहीं दिया गया है । अतः उनके मृत शरीर को या तो भूमि में गाड़

दिया (भूमि-समाधि) जाता है, या जल में बहा दिया (जल-समाधि) जाता है । हमारे सम्प्रदाय में भूमि-समाधि दी जाती है ।

स्वयं श्री चैतन्य महाप्रभु ने हरिदास ठाकुर के देह को भूमि में गाड़ दिया था । मुख्य प्रथा है समाधि । (नित्यलीला प्रविष्ट) महाभागवत के स्मरण के लिए उस पर कुछ निर्माण (समाधि) किया जाता है । वे भगवान के महान भक्त थे अतः स्मरण के लिए समाधि की जाती है । यह आवश्यक नहीं है कि लोग समाधि की पूजा करें ।

*****

प्रश्न: समाधि की पूजा करने का कोई विधान नहीं है, किन्तु पूजा करने से क्या कोई विशेष लाभ होता है ?

उत्तर: उत्तमा-भक्ति में लाभ के प्रश्न ही उपस्थित नहीं होते हैं । इस धारणा को त्याग दो क्योंकि भक्ति स्वगत लाभ के लिए नहीं की जाती है ।

*****

प्रश्न: परन्तु क्या उस से भक्ति नहीं बढ़ती ?

उत्तर: इस प्रकार की मान्यता भी लौकिक है । फलतः आप अपनी लौकिक मान्यता को कोई आध्यात्मिक नाम देकर छुपाना चाहते हो । लोग दीक्षा लेते हैं, परन्तु गुरु को स्वीकार नहीं करते हैं । वे लोग कदाचित् समाधि पर जाएँगे और उस की पूजा करेंगे। ऐसा करने से उन्हें क्या लाभ होगा ? यदि आप ने भक्ति-रसामृत सिन्धु का पठन किया हो तो ज्ञात होगा कि "समाधि की पूजा करनी चाहिए" ऐसा कथन कहीं नहीं लिखा है।

ताजमहल को भी एक समाधि की तरह बनाया गया है । जब निर्माण हुआ था तब व्यापार या ऐसी कोई मान्यता लेकर नहीं बनाया था । वह एक बेगम की स्मृति में बनाया गया था, परन्तु आज वह एक विशाल व्यापार का केन्द्र बन गया है । एक प्रवेश की टिकट का १०००/- रुपए दाम है । वास्तव में निर्माण का यह उद्देश्य नहीं था। एवं मूलतः समाधि निर्माण के पीछे भी ऐसा कोई प्रयोजन नहीं था ।

कालान्तर में वह प्रयोजन सामाजिक बन गया और लोग उसका लाभ उठाते गए । वे ऐसा प्रचार करते हैं कि "यदि आप समाधि की पूजा करोगे तो आप को ऐसा लाभ होगा, वैसा लाभ होगा ।" कुछ लाभ होगा यही मानकर समाधि की पूजा के लिए प्रेरित होते हैं, अन्यथा कोई ऐसा नहीं करेगा । इस प्रक्रिया में समाधि के मालिक को दान मिलता है ।

*****

प्रश्न: कल समझाया गया था कि वर्णाश्रम प्रथा से बाहर वैष्णव बाबाजी वेष-धारण

करते है । आप ने यह भी निर्देश किया कि हरिदास ठाकुर सर्व प्रथम वेष्णव थे जिन्हें श्रीमहाप्रभु ने अपने हाथों से समाधि दी । क्या वह मुस्लिम परिवार से थे इसलिए उनके मृत शरीर को दाह नहीं किया जा सकता था अतः समाधि में रखा गया ?

उत्तर: हरिदास ठाकुर को समाधि में रखा गया था क्योंकि वह एक परमहंस वैष्णव थे अतः उनका जन्म या जाति से कोई सम्बन्ध नहीं था । .....

प्रश्न: मैं ने सुना है कि महाभागवत को समाधि में रखा जाता है क्योंकि उनका आध्यात्मिक देह होता है और वे पूर्ण रूप से भगवत्समर्पित होते हैं । क्या वे महाभागवत अभी भी उनकी समाधि में उपस्थित हैं जैसे में ने सुना है अतः वहाँ जाकर हम प्रार्थना कर सकते हैं ?

उत्तर: वे मात्र उनकी समाधि में ही नहीं, परन्तु हर स्थान पर उपस्थित हैं । आप उन की कहीं भी प्रार्थना कर सकते हो क्योंकि भगवान सर्व व्यापी हैं । प्रह्लाद महाराज की रक्षा के लिए स्तम्भ से प्रकट होना यही सिद्धान्त को सिद्ध करता है । भगवान ने अपना सर्वव्यापी रूप दिखाने के लिए ऐसा किया था । इसी प्रकार भगवत् परिकर भी सर्वव्यापी है ।

जहाँ भी स्मरण में आए, आप उनको वहाँ भज सकते हो । आप को उनकी समाधि तक जाने की आवश्यकता नहीं है । मूलतः समाधि उन के स्मरणार्थ बनायी गयी है । यदि लोग उन्हें कहीं भी स्मरण नहीं कर सकते तो वहाँ जाकर स्मरण कर सकते हैं । यदि श्रद्धा से घास के तृण को भी भगवान समझ कर नमस्कार करोगे तो वे उस को भी अवश्य स्वीकार करेंगे क्योंकि वे सर्वत्र सर्वव्यापी हैं ।

.....

प्रश्न: राधा मदनमोहन मन्दिर पर सनातन गोस्वामी की समाधि है, उनकी समीप में एक समाधि है, जिसे ग्रन्थ समाधि कहते है । ऐसा कहते हैं कि उन दीवारों में गोस्वामीयों के गूढ़ साहित्य हैं । क्या यह सच है ?

उत्तर: जिस पुराने खण्डित साहित्य का उपयोग नहीं किया जा सकता था उन खण्डित साहित्य के संग्रह के लिए ऐसी समाधि निर्माण कभी-कभी की जाती थी, जिससे कोई उनका अनादर न करे । यह समाधि गोस्वामियों के साहित्य राशि के लिए अति लघु है । इस समाधि में क्या है यह जानने के लिए उसे एक बार खोला भी गया था, पर वहाँ कुछ नहीं मिला ।

.....

प्रश्न: ब्रह्म-संहिता में निर्देश किया गया है कि वृन्दावन चिन्तामणि से बना है । चिन्तामणि का अर्थ क्या है ?

उत्तर: चिन्तामणि का अर्थ होता है जो आप की अभिलाषा पूर्ण करे ।

******

प्रश्न: कई लोग ऐसा मानते हैं कि यदि आप वृन्दावन में देहत्याग करोगे तो आप कृष्णलोक जाओगे । यदि कोई वृन्दावन में देहत्याग करे तो उस की अन्तिम गति कहाँ होती है ।

उत्तर: मात्र (वृन्दावन में) मृत्यु पाने से कोई भगवान के धाम नहीं जा सकता । वह उसकी भावना पर निर्भर है, जैसे कि कृष्ण ने स्वयं गीता ८.५ में कहा है, "अन्तकाल में जो केवल मेरा स्मरण करता है, उसे मेरी गति प्राप्त होती है । इस में कोई सन्देह नहीं है ।" अन्तकाल में जिसका जो भाव होता है, वह उसी गति को प्राप्त करता है ।

सामान्यतः यहाँ वृन्दावन में मरनेवाले को नरक प्राप्त होता है क्योंकि वृन्दावन से बाहर निवास करनेवालों को वृन्दावन के लिए अधिक आदर है, जब कि अधिकतर जो वृन्दावनवासी हैं, उन्हें वृन्दावन के लिए कोई आदरभाव नहीं है । वे प्रायः धाम के प्रति अपराध करते हैं । अगर वे भगवद्धाम के ही अपराधी हैं, तो कैसे वह धाम को प्राप्त कर सकेंगे ?

वृन्दावन में मृत्यु होना अन्तिम गति के लिये कोई साधन नहीं है अपितु आपकी भावना अन्तिम गति का निर्णय करती है । जैसे उपादेशामृत आँठवे श्लोक में कहा है: तिष्ठन् व्रजे तदनुरागी जनानुगामी । अर्थात् "व्रजवास के समय में ऐसे भक्त का अनुगामी बनो जिसे कृष्णप्रेम है ।" शास्त्र विधान करते हैं कि वृन्दावनवास की योग्यता है कि भगवान और उनके भक्त को समर्पित होना, उनका सत्सङ्ग करना और उनकी सेवा करना । व्रजवास का यही तात्पर्य है । किसी भक्त ने मरने के बाद भगवद्धाम प्राप्त किया ऐसा कथन मृत भक्त के लिए आदरसूचक वचन है ।

सामान्यतः लोग जान-बूझकर अपराध करते हैं । उन्हें सम्पूर्णतया ज्ञात हैं कि यह भगवद्धाम है और उसका मान सम्मान करना चाहिए, तथापि उसका उपयोग अपने स्वार्थ सिद्धि के लिए करते हैं जैसे कि दूसरें लोगों से आदर और सेवा की अपेक्षा रखना । जो लोग अपना मान, प्रतिष्ठा और स्वपूजा में रुचि रखते हैं, वे भगवद्धाम कभी नहीं जा सकते हैं । यदि वे धाम में निवास करते हैं, तो उन्हें यह स्वीकार करना होगा कि यह भगवद्धाम है, अतः यहाँ उसी तरह व्यवहार करे जैसा भगवद् धाम में भक्त करते है ।

धाम में शक्ति है तथापि अयोग्य साधक को फल नहीं देता है । अजामिल वृन्दावन में वास नहीं करता था फिर भी उसे केवल नामाभास से वैकुण्ठधाम प्राप्त हुआ क्योंकि वह अपराधी नहीं था ।

******

प्रश्नः धाम ऐसे लोगों को क्यों सहन करता है ?

उत्तरः धाम सहनशील है जैसे माता पिता अपने स्वच्छन्दी और नटखट बच्चे के साथ सहनशील होते हैं । तथापि, उन्हें अभ्रद व्यवहार पसन्द नहीं है, फिर भी सहन करते हैं इस आशा से कि एक दिन वह सुधर जाएगा । यह उनका वात्सल्य भाव या दया है। मातापिता की तरह यह धाम भी सहन करता है ।

*****

प्रश्नः व्रज में वास्तविकता क्या है ? ऐश्वर्य (वैभव) है या माधुर्य ? ऐसा वर्णन किया गया है कि यहाँ कि भूमि चिन्तामणि है । क्या यह वास्तविक है तथा यह ऐश्वर्य व्रजमाधुर्य से आच्छादित है, या जैसा हमें दृष्टिगोचर होता है वैसा ही है ?

उत्तरः व्रज में पूर्ण ऐश्वर्य एवं पूर्ण माधुर्य है । माधुर्य ऐश्वर्य पर आधारित है । ऐश्वर्य अर्थात् गुण या कार्य करने की क्षमता । जिस मनुष्य की सेवा करनी है और उस में न कोई योग्यता है, न उत्साह, न शक्ति और न ही बुद्धि है, तो उस सेवा में कितनी मधुरता होगी ? किन्तु यदि कोई ऐसा व्यक्ति है, जिसके पास शक्ति, धन, बुद्धि और सर्व गुण सम्पन्न है, फिर भी न उसे उन वस्तुओं का घमण्ड है और न ही वह अन्यजनों को अपने ऐश्वर्य के आधार पर शोषित करना चाहता है, परन्तु केवल अन्यों की सेवा करना ही चाहता है, वह है माधुर्य । माधुर्य का अर्थ होता है आप का जिनके साथ सम्बन्ध है उस के लिए कार्य करना । जब वह व्यक्ति प्रसन्न होता है, तो आप में भी सन्तोषभाव उद्भव होता है उसे माधुर्य या उत्तमा-भक्ति कहते हैं । भगवान सम्पूर्ण ऐश्वर्यमय हैं, तथापि वे एक मनुष्य की तरह कार्य करते हैं । ऐसा (मनुष्य रूप में क्रियाकलाप) देखने से उनके भक्तगण सन्तुष्ट होते हैं और जब भक्तगण कृष्ण को प्रसन्न देखते हैं तब वे और भी प्रसन्न होते हैं ।

यदि आप का कोई सम्बन्ध है, चाहे सेवक और स्वामी का, पिता और पुत्र का, या प्रेमी और प्रेमिका का तो माधुर्य का अर्थ है सम्बन्धानुसार (अनुकूल) कार्य करना । ऐसा तभी सम्भव हो सकता है जब उस सम्बन्धानुसार कार्य करने की योग्यता आप के पास है । अतः ऐश्वर्य की आवश्यकता है । यद्यपि भक्तगण को केवल ऐश्वर्य में रुचि नहीं होती है और कृष्ण भी अपना ऐश्वर्य प्रकट करना नहीं चाहते हैं । इसका अर्थ यह नहीं है कि ऐश्वर्य नहीं है । (व्रज में) चिन्तामणि और कल्पतरु भी हैं परन्तु उनका कोई उद्देश्य या प्रयोजन नहीं है ।

वास्तव में इस परम शिक्षा का उद्देश्य है कि आप उत्तमा-भक्ति के दर्शन को सीखो, जिस में आप भगवान की प्रसन्नता के लिए कार्य करो, जिस से आप भी सन्तुष्ट होंगे। ज़रा कल्पना करो, वास्तव में यदि जन-समुदाय सङ्गठित रहे, निःस्वार्थ जिए एवं कार्य मात्र दूसरों के सन्तोष के लिए करे तो यह जगत कितना सुन्दर हो जाय ! फिर किसी को भी मात्र ऐश्वर्य में रुचि नहीं होगी ।

ऐश्वर्य अर्थात् जो उपयोगी है और प्रयोजनीय है । यदि किसी के पास धन, ज्ञान, पद, सत्ता और प्रभाव है, तो उस व्यक्ति के पास ऐश्वर्य है । यदि आप को किसी वस्तु की आवश्यकता है तो ऐसे ऐश्वर्यधारी व्यक्ति के प्रति आकर्षित होंगे क्योंकि आप जानते हैं कि आप को उस व्यक्ति से कुछ सहायता मिल सकती है । यहीं से स्वार्थ प्रयोजन आरम्भ होता है । संसार में यदि कोई बहुत धनिक है तो आप उस व्यक्ति से सम्बन्ध रखना चाहोगे क्योंकि आपको ज्ञात है कि उससे कुछ मिलेगा ।

माधुर्य में व्यक्तिगत लाभ नहीं है । ऐसा नहीं है कि व्यक्ति धनवान नहीं है, या उसके पास धन या ज्ञान नहीं है, परन्तु ऐसे व्यक्ति से अपना लाभ पाना माधुर्यभाव में नहीं है । व्रज में सबके पास ऐश्वर्य है; अतः सभी परिकर अपने आप में सन्तुष्ट हैं ।

यदि कोई सामान्य जन भूखा है तो वह यह नहीं सोचेगा, "पहले मैं दूसरे व्यक्ति को भोजन दे दूँ।" पहले वह अपनी भूख मिटाने के लिए सोचेगा । परन्तु व्रज के नित्य परिकर पूर्ण रूप से सन्तुष्ट है । न वे व्यक्तिगत प्रसन्नता के विषय में सोचते हैं और न ही उनकी कोई अन्य अभिलाषा होती है । यह उत्तमा-भक्ति की परिभाषा है: अन्याभिलाषिता शून्यं – अन्य सभी कामनाओं से मुक्त । अतः वे सेवा कर सकते हैं और जब कृष्ण की किसी विशेष भाव से सेवा करते हैं तब अतिमधुर होती है क्योंकि वे अपने लिए कुछ भी नहीं चाहते हैं ।

जगत को इस प्रकार की शिक्षा श्रीचैतन्य महाप्रभु देना चाहते थे क्योंकि उस प्रकार ही हमें जीवन जिना चाहिए । भक्ति कोई वस्तु नहीं है जो मृत्यु के बाद मिलती है । आप को इसका अभ्यास यहीं करना है । यही परम शिक्षा है ।

व्रज में पूर्ण ऐश्वर्य और पूर्ण माधुर्य दोनों हैं, पर ऐश्वर्य मुख्य नहीं है । उदाहरण स्वरूप, यदि किसी को पुत्र है जिस में सद्गुण का अभाव है, तो उस के सम्बन्ध में माधुर्य नहीं है । परन्तु यदि चरित्रवान पुत्र है, उसमें ज्ञान, धन, सुन्दरता, सत्ता और अन्य सभी

अच्छाइयाँ हैं और फिर भी उस में इन ज्ञानादि को लेकर न कोई घमण्ड है, तो सोचो वहाँ सम्बन्ध में कितनी मधुरता होगी ? उस में बहुत सारे अच्छे गुण हैं, फिर भी वह अभिमानी नहीं है और एक सामान्य जन की तरह व्यवहार करता है । जब व्यक्ति को इन अच्छाइयों का अभिमान हो जाता है, तब वह दूसरों का शोषण करता है ।

कृष्ण, परम सर्वोच्च ऐश्वर्य-सम्पन्न पुरुषोत्तम है फिर भी उन में कोई अभिमान नहीं है, यही माधुर्य है । वह एक सरल व्यक्ति के समान रहते हैं । जब उन्होंने गोवर्धन पर्वत धारण किया तब व्रजवासी उनकी महिमा गाने लगे, पर उन्होंने कहा, "नहीं, नहीं, मुझ में ऐसी कोई विशेषता, कोई महानता नहीं है। आप सभी के आशीर्वाद से मैं यह कर सका । ये सभी गोपबालक मेरी सहायता करते थे । वे भी अपनी लकड़ी से इस पर्वत को उठा रहे थे, और बलराम भी सहायता कर रहे थे ।" उन्होंने जो कुछ भी किया उसका अभिमान नहीं किया, और यही बात सम्बन्धों में मधुरता भर देती है ।

उत्तमा-भक्ति या व्रज भक्ति का अर्थ है सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त होते हुए भी उसका अभिमान न होना । अर्थात् अति सामान्य होना एवं लोक कल्याण के लिए एक सामान्य जन जैसा व्यवहार करना । जब आप के पास ऐश्वर्य है तभी आप कल्याण के काम कर सकते हैं । यदि आप के पास ऐश्वर्य ही नहीं है तो आप कौन सी सेवा कर पाओगे ? आप केवल अपनी ही आवश्यकतापूर्ति के लिए सोचते रहोगे । वृन्दावन में ऐश्वर्य है यदि कोई भक्त देखना चाहे तो, परन्तु किसी भी भक्त को ऐश्वर्य देखने में कोई रुचि नहीं है ।

•••••

प्रश्न: भागवत पुराण में कृष्ण धाम के विषय में क्यों कोई वर्णन नहीं है ? उसमें मात्र परम गति या धाम कहा है । यह धाम कैसा है, वहाँ क्या गति विधियाँ होती है उसके विषय में कुछ वर्णन नहीं है । वर्णन भागवत की टीकाओ में ही मिलता है, मूल ग्रन्थ में नहीं । ऐसा क्यों है ?

उत्तर: भागवत में धाम के विषय में विवरण है । पहले तो वह है वैयक्तिक ब्रह्म, अर्थात् कृष्ण के जन्म और लीला का विवरण है । यह लीला जहाँ होती हैं, वह उनका धाम है क्योंकि वह अपने धाम में विराजमान है ।

•••••

प्रश्न: किन्तु यह स्पष्ट रूप से भागवत पुराण में नहीं दर्शाया है । यह तो गौड़ीय वैष्णवों का मीमांसादर्शन है, परन्तु कहीं भी मूल ग्रन्थ में विवरण नहीं किया गया है कि यह धाम ही गोलोक धाम के समान है । यह केवल १६वीं सदी के गौड़ीय वैष्णवों का मत है ।

उत्तर: यह मात्र टीकाओं में ही नहीं है, पर उसका आध्यात्मिक प्रमाण भी है ।

*****

प्रश्न: कहाँ है ?

उत्तर: अन्य पुराणों में ।

******

प्रश्न: भागवत में तो नहीं है । इस ग्रन्थ में कृष्ण अवतार की लीलाओं का गोलोक की नित्य लीलाओं के साथ सम्बन्ध का कोई वर्णन नहीं है । कोई विवरण नहीं है ।

उत्तर: प्रायः प्रत्यक्ष विवरण नहीं है । मैं ने पहेले भी कहा है कि भागवत सब कुछ स्पष्ट रूप से नहीं कहता है । जीव गोस्वामी ने कई श्लोकों का विश्लेषण किया है जो कृष्ण की अनुपस्थिति में बोले गये थे फिर भी श्लोकों में वर्तमान काल का उपयोग हुआ हैं । दृष्टान्त श्लोक भा.१०.९०.४८ है । कृष्ण-सन्दर्भ ग्रन्थ में इस श्लोक का विस्तृत वर्णन किया है । तात्पर्य है कि कृष्ण सदैव विराजमान है । एवं श्लोक भा.४.८.४२ कहते हैं कि कृष्ण हमेशा मधुवन या मथुरा में विराजमान हैं ।

वेदों में भी वर्णन किया है कि भगवान कहाँ विराजमान हैं । उत्तर में कहा है कि वे अपनी महिमा में विराजमान है । कुछ ऐसे भी वाक्य हैं जो कहते हैं कि उनका धाम असीमित है एवं वे अपना धाम कभी नहीं त्यागते हैं । जब आप भागवत को इन निर्दिष्ट दृष्टिकोण से देखोगे तो समझ सकोगे कि यह धाम भी उनका अपना धाम है ।
भागवत में एक श्लोक है जो कहता है कि भगवान हमेशा मथुरा में विराजमान है:

राजधानी ततः साभूत् सर्व-यादव-भूभूजाम् ।
मथुरा भगवान यत्र नित्यं सन्निहितो हरिः ।। (भा. १०.१.२८)

"उस समय से मथुरा नगरी जहाँ कृष्ण नित्य विराजमान है, वह नगरी यादव वंश के सभी राजाओं की राजधानी बनी ।"

जीव गोस्वामी ने भागवत में से ऐसे कई वाक्य दिखाए हैं । वे कदाचित् स्पष्ट न हो, परन्तु विश्लेषण से उन्होंने दिखाया है कि कृष्ण वृन्दावन में हमेशा विराजमान है ।

******

प्रश्न: ध्रुव लोक को लौकिक जगत में वैकुण्ठ लोकसम दर्शाया है । लौकिक जगतमें इस वैकुण्ठ लोक का क्या प्रयोजन है और वहाँ किसकी गति होती है ?

उत्तर: लौकिक जगत में कोई वैकुण्ठ लोक नहीं है क्योंकि वैकुण्ठ एक आध्यात्मिक स्थान है अतः वह लौकिक जगत में नहीं हो सकता । परन्तु जैसे पृथ्वी लोक में वृन्दावन, भगवद्धाम, वैकुण्ठ लोक से भी उत्तम है ठीक इसी तरह ध्रुव लोक भी है ।

यह सब भगवल्लीला है, जो सांसारिक लोगों के लिए है, जिससे उनकी रुचि भक्ति में हो । परन्तु वैकुण्ठ धाम में भक्ति बिना प्रवेश निषेध है । जो भक्त है या जिन पर भगवत्कृपा है, उसी को ही वैकुण्ठ में प्रवेश मिलता है । अलौकिक धाम पर आप जा सकते हो यदि आप की भावना आध्यात्मिक है । यदि भावना आध्यात्मिक नहीं है और आप वृन्दावन, द्वारका या अयोध्या देखोगे तो भी आप को यह स्थान लौकिक दीखेगा। ये सभी भगवद्धाम हैं, परन्तु यदि दृष्टि लौकिक है तो हर धाम लौकिक ही दिखायी देगा । धाम अपना स्वरूप (ऐश्वर्यादि) प्रकट नहीं करेंगे ।

*****

प्रश्न: कल आप ने बताया था कि लीलास्मरण का प्रचार महाप्रभु और गोस्वामियों के बाद हुआ था । इस लीला स्मरण का प्रचार कब हुआ और किसने किया था ?
उत्तर: स्मरण भक्ति का एक अङ्ग है । वह प्रारम्भ से ही था । श्री रूप गोस्वामी ने स्वयं लीला स्मरण पर श्लोक लिखे जो स्मरण-मङ्गल-स्तोत्र के नाम से प्रसिद्ध हैं । उस आधार पर कृष्णदास कविराज ने गोविन्द लीलामृत ग्रन्थ लिखा । इसलिए लीला-स्मरणम् प्रारम्भ से ही था क्योंकि वह भक्ति का एक अङ्ग है ।

स्मरण के विषय में आज लोग जो कथन कहते हैं, उसकी आवश्यकता गोस्वामियों को नहीं थी क्योंकि वे सत्यवादी थे । परन्तु बाद में जैसे अयोग्य व्यक्ति इस मार्ग में आने लगे, उन्होंने उसका उपयोग शारीरिक आवश्यकतापूर्ति जैसे भोजन, धनप्राप्ति और आनन्द प्रमोद करने में किया । यही परिस्थिति बाकी भक्तिके अङ्गो के साथ भी है, चाहे वह स्मरण, कीर्तन या और कुछ भी हो, सभी का प्रयोग लोग इन्द्रिय-सुख के लिए करते हैं ।

प्राचीन समय में कीर्तन इतनी मात्रा में नहीं होते थे, जितने आज हो रहे हैं । आज कीर्तन किसी भी कारण को लेकर हो रहे हैं । यदि किसी की मृत्यु हुई तो लोग कीर्तन करते हैं, यहाँ तक कि मृतदेह को श्मशान घाट ले जाते समय भी कीर्तन करते हैं । यदि किसी का विवाह है तो कीर्तन करते हैं, यदि किसी का जन्मदिन है तब भी कीर्तन करते हैं । इतने सारे (प्रसङ्ग में) कीर्तन पहले कभी नहीं होते थे । इन सारे कीर्तन का असर क्या है ? आज कीर्तन केवल आनन्द-प्रमोद का साधन बन गया है ।

गोस्वामिगण और अन्य भक्त भी कीर्तन करते थे, परन्तु आज सभी लोग कीर्तन करने लगे हैं । भेद केवल इतना है कि आज लौकिक प्रयोजन सिद्धि के लिए करते हैं और पहले जो प्रयोजन अभिलक्षित था वह प्रयोजन अभी नहीं रहा है । जब लोग अपराधी

होते हैं और उनकी धारणा भौतिकवादी होती है, तो वे हर साधन का उपयोग भी लौकिक लक्ष्यार्थ करते हैं ।

भारत स्वतन्त्रत होने के बाद वैष्णव धर्म की अधिक अधोगति हुई । उदाहरण तौरपर, जब मैं वृन्दावन आया तो यहाँ कोई संन्यासी नहीं थे और कोई भगवा वस्त्र धारण नहीं करते थे । सभी वैष्णव लोग थे और सफ़ेद वस्त्र धारण करते थे । भक्ति-सिद्धान्त सरस्वती महाशय यहाँ एक बार आए थे, परन्तु रुके नहीं थे । वे पण्डित बाबा से मिले थे । उस समय गौड़ीय मठ नहीं था। किसी ने यह सुना भी नहीं था कि गौड़ीय वैष्णव भगवा वस्त्र धारण करते है । १९६०[14] के दायरे में धीरे-धीरे परिस्थिति में परिवर्तन आने लगा । लोग इन्द्रिय-सुख के पीछे भागने लगे और धर्म लुप्त होने लगा । पिछले चालीस वर्षों में लगभग सब कुछ परिवर्तित हो गया । इसका मुख्य कारण लोगों की अयोग्यता है । जब लोग सच्चे नहीं होते हैं तो वे धर्म, भगवान या हर किसी का उपयोग अपने भौतिक लाभार्थ करते हैं । उदाहरण स्वरूप, बौद्धधर्मियों ने अहिंसा का प्रचार किया, परन्तु उनके ही अनुयायी हिंसा फैलाते हैं । उनमें से अधिकतर माँसाहारी हैं ।

ऐसा सभी धर्मों में होता है और उसमें कोई नयी बात नहीं है । प्राचीन समय में लोग सच्चे थे । बाद में अयोग्य व्यक्ति आए और इन सभी वस्तुओं का दुरुपयोग अपने सांसारिक सुख के लिए करने लगे ।

वृन्दावन में वाहनव्यवहार की सुविधा के बाद धर्म का अधिक पतन हुआ । ब्रिटिश राज्य के अन्तकाल के समय रेल्वे मार्ग की तैयारी हुयी थी । पहले यहाँ सड़कें नहीं थी । रेल्वे सुविधा के बाद लोगों का वृन्दावन में आवागमन सरल हो गया और अयोग्य लोग भी आने लगे । पहले सड़कें और रेल्वे न होने के कारण लोगों को पदयात्रा करनी पड़ती थी । वह इतना सरल नहीं था क्योंकि यहाँ जंगल का विस्तार था अतः कोई भी निश्चित मार्ग नहीं थे ।

जो सही अर्थ में भक्ति में रुचि रखते थे, वे ही आते थे क्योंकि उन्हें भक्ति के विषय में ज्ञान था और उस में श्रद्धा भी थी । जब वे यहाँ आने का निर्णय करते तो सम्पूर्ण रूप से अपने पारिवारिक सम्बन्धो का त्याग कर देते थे । त्याग करने से पहले वे सभी को मिलते थे । यह भूतकाल की बात है जब कोई व्यक्ति ऐसे घर त्याग करता

---

[14] उसी क्रम में अन्य संन्यासी जैसे उड़िया बाबा, स्वामी करपात्री, स्वामी अखण्डानन्द इत्यादि वृन्दावन आए ।

तब परिवार के लोग पुनः उसे कभी देख नहीं पाते थे । वह अपने सभी परिवार के सदस्यों से अनुमति लेते थे । परिवार के लिए वह एक शुभ प्रसङ्ग हुआ करता था कि कोई सम्बन्धी वृन्दावन जा रहा है ।

वह पदयात्रा करके बड़ी कठिनाइयों का सामना करता हुआ वृन्दावन पहुँचता था । विशेष कर बङ्गाल के यात्रिओं के लिए यहाँ पहुँचना बड़ा कठिन था क्योंकि उस जङ्गल विस्तार को पार करने में कई महीने चलना पड़ता था । एक बार यहाँ आने के बाद वे वापिस कभी नहीं जाते थे । यदि कोई इतनी कठिनाइयाँ सहन करके धाम आया है, तो स्वाभाविक है कि धाममें वह आनन्दप्रमोद नहीं करेगा । बहुत गम्भीर विचारशील लोग ही यहाँ आए । अधिकतर वे प्रौढावस्था में आए । वे शिक्षित थे । उस समय यह विचार भी नहीं कर सकते थे कि कोई धाम में आकर इन्द्रिय-सुख के विषय में लिप्त होंगे ।

वृन्दावन धाम का अपना प्राकृतिक वृन्दावन भाव था । आप ऐसे लोगों की योग्यता के विषय में सोच सकते हैं जो शिक्षित, ज्ञानी, एवं संस्कृत-विद्वान थे और धाम में निवास करते थे । वे अच्छे परिवार से थे, सदाचारी थे । यदि किसी संयोग से उन्हें अपने गाँव लौटना पड़ा, तो समाज में उनका बड़ा सत्कार किया जाता था । लोग कहते, "यह वृन्दावन से पधारे हैं ।"

जब वृन्दावन रेल मार्ग से जुड़ गया, अयोग्य लोग यहाँ आने लगे तब वृन्दावन का पूरा वातावरण दूषित हो गया । पक्के रास्ते तैयार होने के पश्चात् लोग यहाँ आनन्दप्रमोद के लिए आने लगे । एक समय मैं अपनी परीक्षा देने रेल्वे मार्ग से इन्दौर गया था । मुण्डन होने के कारण लोग स्वाभाविक रूप से यह जानते थे कि "मैं एक साधु हूँ "। उन्होंने मुझे पूछा कि "क्या मैं वृन्दावन से आया हूँ" और यह भी पूछताछ की, "क्या यह सच है कि वृन्दावन में शरीर-सुख के लिए स्त्रियाँ भी मिलती है ?" इसका अर्थ है कि यहाँ का वातावरण इतना कलुषित हो गया था कि लोग वृन्दावन के बारे में इतना निम्न सोचने लगे थे । मैं इस विषय में कुछ भी नहीं जानता था, परन्तु पूछे गए प्रश्न से अनुमान किया जा सकता है कि ऐसा कुछ हो रहा है ।

मांसाहार करना, शराब पीना आदि सब बुराइयाँ वृन्दावन में फैल गयी हैं । अतः कभी-कभी लोग आते हैं और पूछते हैं, "बड़े शहर में और इस धाम में क्या अन्तर है ?" सही में अब तो कोई अन्तर नहीं है क्योंकि उसी प्रकार के लोग यहाँ आते हैं और वैसी ही सुविधा और वातावरण उन्हें चाहिए जो बड़े शहरों में उपलब्ध है । पहले वृन्दावन

कैसा था और आज कैसा है यह दोनों बातें अलग-अलग हैं ।

*****

प्रश्न: हमने सुना है कि भक्ति के लिए वृन्दावन अच्छा स्थान है । क्या यह सच है ?
उत्तर: सैद्धान्तिक रूप से सत्य है, परन्तु व्यावहारिक रूप से ऐसा नहीं है क्योंकि लोगों ने अपने दुर्व्यवहार से वृन्दावन को अशुद्ध कर दिया है । लोग धर्म के सिद्धान्तों का पालन नहीं करते हैं । धर्म अर्थात् अनुशासन, और यदि अनुशासन है तो (भक्ति के लिए) उचित धाम है । जब लोग अनुशासन नहीं अपनाते, तो धाम अपना मूल्य खो देता है । वर्तमान में हर तीर्थधाम की यही परिस्थिति है । सैद्धान्तिक रूप से सभी तीर्थधाम पवित्र है, पर व्यावहारिक रूप से यह सत्य नहीं है।

******

प्रश्नः यदि साधक सच्चाई से भक्ति करना चाहता है तो क्या वृन्दावन से बाहर रहकर करना अच्छा है ?

उत्तरः यदि साधक सच्चा है तो बाहर या भीतर का कोई अन्तर नहीं है । मुख्य सिद्धान्त है निष्ठा अर्थात् गुरु एवं शास्त्र का अनुसरण करते हुए अनुकूल कार्य करना । यही तात्पर्य है क्योंकि लोगोंने शुद्ध फ़िलोसोफी को सांसारिक मान्यता से दूषित कर दिया है अतः भक्ति को समझना और अनुभूति में लाना कठिन हो गया है ।

******

प्रश्न: क्या इस (निष्ठा) स्तर पर सब कुछ एक-सा है ?

******

उत्तर: हाँ ।

प्रश्न: कोई अन्तर नहीं है । वृन्दावन में क्या सब प्रकार की अनुभूति या अपराध का फल शीघ्र होता है ?
उत्तर: वह साधक की निष्ठा पर निर्भर है ।

*****

प्रश्न: पहले मैं ने सुना था कि जिसकी भक्ति में कोई विशेष प्रगति नहीं है, उस साधक के लिए साधु और धाम का सहवास लाभदायी होता है । धीरे धीरे उसके आध्यात्मिक जीवन में श्रद्धा दृढ़ होती जाती है । परन्तु आप के उत्तर से अनुमान किया जाता है कि ऐसा नहीं होता है ।
उत्तर: जिस स्थान में आपको सत्सङ्ग मिल जाए, वही स्थान अच्छा है । यहाँ प्रायः साधु केवल वेष ही धारण करते हैं, आचरण नहीं । लोग यहाँ आते हैं और साथ में अपनी अधूरी इच्छाएँ, देहासक्ति, पारिवारिक जीवन, जन्म स्थान और पुरानी धारणा लेकर आते हैं । वे यहाँ आकर मात्र अपने वस्त्र बदलते हैं, क्योंकि साधु को विशेष प्रकार के वस्त्र परिधान करने होते हैं । वे मात्र नया परिधान पहनते हैं, परन्तु भीतर से वैसे ही होते हैं । इनमें से अधिकतर लोग घातक हैं । वे सच्चे अर्थ में साधु नहीं है

तो ऐसे साधुसङ्ग करने का क्या लाभ है ? उनके जैसे लोग आम समाज में भी है। भेद मात्र इतना है कि इन्होंने साधु वेष पहना है । ये लोग मात्र नाम और वस्त्र से साधु हैं, परन्तु "साधु" की परिभाषा से तो वे साधु नहीं है । ऐसे सत्सङ्ग का कोई मूल्य नहीं है । *****

प्रश्न: पवित्र धाम का वर्णन है कि हर वृक्ष कल्पवृक्ष है और वहाँ की रज चिन्तामणि है, क्या हमें इन वृक्षों को इसी भाव से देखना चाहिए ?
उत्तर: धाम में लौकिक और अलौकिक दोनों का मिश्रण है । यदि आप की दृष्टि लौकिक है तो मात्र लौकिक पदार्थ दिखायी देगा । यदि आप का भाव अलौकिक है तो सभी वस्तु अलौकिक दिखायी देगी ।

जिन लोगों ने धाम का इस प्रकार वर्णन किया है उनकी दृष्टि अलौकिक थी और उन्होंने जो देखा वही वर्णन किया है । यह भगवान के विग्रह की भाँति है । यदि आप में अलौकिक दृष्टि नहीं है, तो आप के लिए विग्रह मात्र एक भौतिक वस्तु है और यदि अलौकिक दृष्टि है तो उसी विग्रह में आप को भगवान दिखायी देते हैं । धाम के विषय में भी ऐसा ही है ।

जब कृष्ण यहाँ धाम में थे, तब भी ऐसा ही था क्योंकि धाम भी लौकिक और अलौकिक का मिश्रण है । ऐसा नहीं है कि शास्त्र में जो वर्णन किया गया है, वैसा ही सब को दिखायी देता है । सांसारिक व्यक्ति को वह सामान्य दिखेगा । यदि वृन्दावन में सब कुछ अलौकिक होता तो लोग उसे चुरा कर ले जाते । व्यक्ति की दृष्टि उसके भाव और निष्ठा पर आधारित है ।

जिन लोगों का हृदय कृष्णलीला में लीन हो गया है और जिन्होंने भक्ति पायी है, उन्हें वृन्दावन धाम अलौकिक दीखता है । जिनकी दृष्टि लौकिक है उन्हें यहाँ सब कुछ लौकिक दीखता है । भाव दो प्रकार के होते हैं: प्रीति और विद्वेष । जिसे धाम पर प्रीति है उनकी दृष्टि अलौकिक है और जिसे धाम नापसन्द है उसे धाम में सब कुछ एक लौकिक वस्तु की भाँति दीखेगा । यह प्रीति भी अलौकिक है । उदाहरण स्वरूप, आप को गाय पसन्द हो या न भी हो । जब आप को वह पसन्द है और आप का हृदय कोमल है तो आप को उसके प्रति अलग भाव होगा । यदि आप को गाय नापसन्द है तो आप को गाय अन्य पशु की भाँति दिखायी देगी । वैसा ही धाम के सन्दर्भ में है । भाव भक्तिमय होगा तो कृष्ण से सम्बन्धित सब कुछ प्रीतिमय दिखायी देगा । भाव अलौकिक नहीं है तो वही सब कुछ सामान्य-सा दिखेगा ।

यदि भाव नहीं है तो आध्यात्मिक वर्णन का कोई भी अर्थ आप के लिए नहीं है । यदि मनुष्य को भक्ति पसन्द नहीं है तो आध्यात्मिक वस्तु उसके सामने क्यों प्रकट होगी ? यदि भक्ति प्रिय है तो वह स्वाभाविक रूप से अभिव्यक्त होगी । यह सब कुछ भाव पर निर्भर है । सब वर्णन केवल भाव पर आधारित है । अर्थात् सामान्य मनुष्य के लिए यह इन्द्रियग्राह्य नहीं है ।

******

१०५. वेदान्त सूत्र

प्रश्न: वैष्णव के लिए वेदान्त सूत्र का क्या महत्त्व है ? क्या इसका महत्त्व इसलिए है क्योंकि श्रीमद् भागवत उसका भाष्य है ?

उत्तर: श्रीमद् भागवत वेदान्त सूत्र का सारांश है अतः उसका महत्त्व है । परन्तु भागवत में वेदान्त सुत्रों के अनुसार भाष्य[15] नहीं दिया गया है ।

*****

१०६. वेष (वैष्णव संन्यास)

प्रश्न: वेष (वैष्णव संन्यास) और वर्णाश्रम धर्म के संन्यास में क्या अन्तर है?

उत्तर: वर्णाश्रम में संन्यास चौथा सोपान है । ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और संन्यास। संन्यास भी चार प्रकार के होते हैं: कुटिचक, बहूदक, परिव्राजक और परमहंस । वैष्णव संन्यासीको भगवत परमहंस कहते हैं, अर्थात् उन्होंने सर्वस्व कृष्णको समर्पित किया है।

*****

प्रश्न: क्या वेष (सफ़ेद वस्त्र जो बाबाजी लोग पहनते हैं) सदाकाल से है या फिर महाप्रभुजी के आने पर आया ?

उत्तर: उस परिवेश का अस्तित्व जगत के सृजन के समय ही था, परन्तु श्री महाप्रभु ने उसका प्रचार किया क्योंकि शास्त्र में उसका निर्देश किया हुआ था, किन्तु उसका पालन नहीं हो रहा था ।

*****

प्रश्न: प्रकाशानन्द सरस्वती को शिक्षा देने के लिए श्रीमहाप्रभु ने मायावाद पन्थ में संन्यास लिया, किन्तु उसी समय उन्होंने वेष का भी प्रचार किया । इसे कैसे समझा जाय ?

उत्तर: श्रीमहाप्रभु के प्राकट्य के समय और उस से भी पहले मात्र वर्णाश्रम प्रथा प्रचलित थी । भक्ति इतनी विशेष प्रचलित नहीं थी । अतः उन्होंने केशव भारती से

---

[15] श्रीमहाराज सर्व प्रथम व्यक्ति है जिन्होंने श्रीगौरगदाधर प्रेस से प्रकाशित वेदान्त-दर्शन में प्रत्येक वेदान्त-सूत्र के अनुरूप भागवत के श्लोकों का निर्देश किया है ।

संन्यास लिया क्योंकि लोग उनकी महानता को समझ नहीं पाते यदि उन्होंने (बाबाजी) वेष न अपनाया होता ।

उस समय भक्ति मुख्य धर्म नहीं था, और यदि उन्होंने संन्यास न लिया होता तो लोग उनको सुनते भी नहीं । महाप्रभु ने भागवत धर्म का प्रचार किया । वर्णाश्रम संन्यास में वे भगवा वस्त्र और दण्ड धारण करते हैं । भक्ति में संन्यासी को भागवत परमहंस कहते हैं, जिसका प्रचार महाप्रभु ने किया था । गौड़ीय सम्प्रदाय में भगवा वस्त्र धारण करने की और दण्ड धारण करने की प्रथा नहीं है । ******

प्रश्न: नित्यानन्दप्रभु ने श्रीमहाप्रभुका दण्ड तोड़ दिया था, हम इस प्रसङ्ग को कैसे समझें?

उत्तर: श्री चैतन्य महाप्रभु का संन्यास लेना मात्र एक नाटक था ताकि लोग उनकी शिक्षा को स्वीकार करें । महाप्रभु को संन्यास लेने की कोई आवश्यकता नहीं थी, परन्तु उस समय वे प्रसिद्ध नहीं थे और जब उन्होंने भक्ति का प्रचार आरम्भ किया तो लोग उनके विरुद्ध हो गए थे । उस समय बंगाल में तन्त्र विद्या और शक्ति पूजा अति प्रचलित थी, जो आज भी है अतः लोग उनके और भक्ति-प्रचार के विरुद्ध थे । उन्हें सन्तुष्ट करने के लिए श्री चैतन्य ने संन्यास दीक्षा ली थी । परन्तु जगन्नाथपुरी जाते समय, रास्ते में नित्यानन्द प्रभु ने उनका दण्ड तोड़ दिया क्योंकि उसकी कोई आवश्यकता नहीं थी । पुरी में वे किसी संन्यासी से मिलने नहीं जा रहे थे । दण्ड तोड़ने का उद्देश्य यही दर्शाना था कि यह संन्यास वस्तुतः संन्यासी बनने के लिए नहीं लिया था । सामान्यरूप से संन्यास यह दर्शाता है कि वे मन, वचन और कर्म से भगवान को समर्पित हो चुके हैं । ******

प्रश्न: वेष धारण करने के लिए क्या योग्यता होनी चाहिए ?

उत्तर: वेष धारण करने की योग्यता है गुरु को पूर्ण रूप से समर्पित होना और उनके निर्देश मार्ग पर चलना ।

•••••

प्रश्न: बाबाजी वेष क्या है?

उत्तर: बाबाजी वेष तीन शब्दों से बना है: बाबा, जी, और वेष । बाबा शब्द का प्रयोग इस प्रान्त के उन लोगों के लिए उपयोग में लिया जाता है जो आदरणीय है, ज्ञानी है और अन्यजनों के हित के लिए काम करते हैं । वे लोग भगवान की सेवा को समर्पित हैं । बाबा शब्द का प्रयोग उन्हें मान और सम्मान से सम्बोधित करने के लिए किया जाता है । बाबा का सही में अर्थ होता है पितामह । 'जी' शब्द श्रेष्ठता दर्शाता है । 'जी' शब्द संस्कृत शब्द 'जयति' शब्द से आया, जैसे आप 'जय' शब्द कहते हैं, ऐसे 'जी' शब्द 'जयति' शब्दका अपभ्रंश है । 'जी' शब्द का सम्बोधन ऐसे लोगों को सम्मान

के लिए या उनकी श्रेष्ठता दर्शाने के लिए किया जाता है । वेष का अर्थ होता है वस्त्र, विशेष कर वह वस्त्र जो ऐसे सम्मानित लोग धारण करते हैं । यह शब्द सूचित करता है कि ऐसे सम्मानित लोग सम्पूर्ण रूप से भगवान को समर्पित हैं, ज्ञानी हैं एवं उन्हें संसार में कोई रुचि नहीं है, पूर्णरूप से भगवान और उनके भक्तों की शरण में हैं, अन्य जनों के हितार्थ के लिए ही कार्य करते हैं और इस (भक्ति) मार्ग में पूर्ण श्रद्धा रखते हैं । वेष का यही अर्थ है । जैसे कोई लोग कुछ विशेष प्रसङ्गादि को दर्शाने के लिए विशेष वस्त्र धारण करते हैं, वैसे बाबाजी भी उपरोक्त बातों को दर्शाने के लिए सफेद वस्त्र धारण करते हैं । यह वेष सबसे आदरणीय व्यक्ति को दर्शाता है । मनुष्य भिन्न-भिन्न श्रेणी के होते हैं: प्रथम श्रेणी, द्वितीय श्रेणी और तृतीय श्रेणी । बाबाजी अर्थात् सर्वोत्तम व्यक्ति । मानव उत्क्रान्ति में वे सर्व श्रेष्ठ हैं ।

******

प्रश्न: बाबाजी वेष के लिए क्या योग्यता होनी चाहिए ? क्या कुछ विशिष्ट स्तर की भावना या आध्यात्मिक उन्नति की प्राप्ति होनी चाहिए, या फिर ऐसा संन्यास जीवन व्यतीत करने की आस्था ही पर्याप्त है ?

उत्तर: भगवान के प्रति पूर्ण निष्ठा ही इसकी योग्यता है । ऐसा व्यक्ति उसकी जन्मभूमि, पदवी, जाति इत्यादि से नहीं पहचाना जाता है । वह अपने आप को मात्र भगवान का सेवक समझता है और भगवत्सेवा में समर्पित होता है । ऐसी ही व्यक्ति बाबाजी वेष धारण करने के लिए योग्य है ।

*****

प्रश्न: मैं ने यह प्रश्न इसलिए पूछा क्योंकि गौड़ीय मठ में इस्कॉन के भक्तों से भी अधिक संख्या में भक्त भगवा वस्त्र धारण करते हैं । जब मैं ने भगवा वस्त्र धारण किए तो मन में मुझे अच्छा लगा क्योंकि ऐसा करने से मेरी श्रद्धा दृढ़ हुई थी । प्रश्न पूछने का मेरा तात्पर्य है: यदि बाबाजी वेष ग्रहण करने से मेरी आस्था दृढ़ बनती है, तो क्या मुझे इसी कारण बाबाजी वेष ग्रहण करना चाहिये ? यदि मेरी आस्था इसी मार्ग पर चलने की है, तो क्या मैं बाबाजी वेष अपना सकता हूँ ?

उत्तर: यदि आप समर्पित हैं, तो आप वेष धारण कर सकते हैं । समर्पण ही इसकी योग्यता है । सबसे पहले तो आप को इसके लिए दृढ़ होना चाहिए; नहीं तो अपने वस्त्र का रंग और ढंग बदलने की कोई आवश्यकता नहीं है । व्यक्ति चाहे जो कुछ भी पहने, मन के भीतर से तो वह वही रहता है । अन्तरात्मा को बदले बिना भी आप दिन में १५ बार वस्त्र बदल सकते हो । इसलिए, वस्त्र तभी बदला जाय जब योग्य आचरण और दृढ़ श्रद्धा हो, नहीं तो उसका कोई अर्थ नहीं है । सब से पहले आचरण होना चाहिए क्योंकि मात्र वस्त्र बदलने से कुछ बदला नहीं जाएगा ।

*****

१०७. वैदिक संस्कृति

प्रश्न: मैं ने एक भारतीय पुरातत्त्वविद् की पुस्तक में पढ़ा था कि मूलतः पूरा विश्व वैदिक था और सर्वत्र वैदिक संस्कृति थी । क्या यह सत्य है या तथाकथित है ?

उत्तर: प्रारम्भ में मात्र वैदिक धर्म था क्योंकि वैदिक ज्ञान भगवान से ही प्राप्त हुआ था। वैदिक धर्म का प्रचार किया गया था और लोगों को वैदिक ज्ञान के विषय में शिक्षित किया गया था । जैसे जैसे यह धर्म काल-ग्रस्त होता गया, इसकी स्वाभाविक अधोगति होने लगी और अन्य कई धर्म उद्भव हुए । यद्यपि वैदिक-काल में वैदिक-धर्म मुख्य था और कुछ ऐसे अल्पसंख्यक वर्ग भी थे जो वैदिक-धर्मपालन नहीं करते थे ।

हमेशा दो प्रकार की शक्ति होती है: आसुरिक और दैवी । प्राचीन समय में दैवी शक्ति मुख्य थी । अब आसुरिक शक्ति बलवती हो रही है । हमारे शरीर के दो विशिष्ट तत्त्व हैं: आत्मा और देह । जब जन-समुदाय आत्मा के विषय में विशेष रुचि रखते हैं, तब वह ईश्वरीय या वैदिक संस्कृति होती है, परन्तु जब वे देह में अधिकतम रुचि बढ़ाने लगते हैं, तब आसुरिक क्रियाएँ प्रबल होती हैं ।

अभी जो भी नए धर्म आए हैं, वे सब वैदिक धर्म के उपसमुह हैं क्योंकि वे सभी वैदिक-संस्कृति का एक अङ्ग ही है । उन्होंने वैदिक-धर्म से नया सिद्धान्त या उस से भिन्न कुछ नहीं कहा है । मात्र उन्हें वेद से स्वतन्त्र दर्शाया गया है । अन्य धर्म अपने आप में सम्पूर्ण नहीं है । अतः इन धर्मों के ग्रन्थ पढ़ने से आप "भगवान कौन है, आत्मा क्या है, उनके मध्य में क्या सम्बन्ध है" इत्यादि विषय में कुछ नहीं जान सकते। असल में सृष्टि सृजन के समय वैदिक-धर्म ही मुख्य था । ******

प्रश्न: महाभारत के वर्णन से ऐसा लगता है कि वैदिक जगत एशिया से पूर्वी यूरोप देश की सीमा तक ही सीमित था । एक ऐसा भी मत है कि जब परशुराम ने २१ बार सभी क्षत्रियों को उस वैदिक जगत से भगा दिया तब कई क्षत्रियों ने ग्रीक एवं ईजिप्त संस्कृति जैसी अलग संस्कृति की रचना की । क्या यही सत्य है ?

उत्तर: परशुराम ने मुख्यतः कार्तवीर्यार्जुन और उसके अनुयायियों का वध किया था । कार्तवीर्यार्जुन ने ६६,००० वर्ष तक शासन किया था । दत्तात्रेय से उन्हें एक वरदान मिला था कि वह इतनी लम्बी आयु जियेगा और स्वयं अनेक स्वरूप धारण कर सकेगा क्योंकि जब उसे राज्य करना होगा तो उसे ऐसे लोगों की आवश्यकता होगी जो इतने लम्बे समय तक जीवित रहे, अन्यथा नए नए लोग आते रहेंगे और उन्हें बार बार नए लोगों को शिक्षित करना होगा । अतः उसका अपना अनुशासन और अनुयायी थे,

परन्तु अधिकतर लोग उसका ख़ुद का स्वरूप था । परशुराम ने सब को एकत्रित किया और उनका वध किया । कुछ लोग भागने में सफल भी रहे । उन्होंने सभी क्षत्रियों को नहीं मारा । यदि सभी क्षत्रियों का वध किया होता तो इस वंश का कौन प्रचार करता जिस में भीष्म और पाण्डव ने जन्म लिया था ? त्रेतायुग में भी दशरथ और उसकी वंशावली अस्तित्त्व में थी । अन्यथा इन वंशावली, जिस में सूर्य वंश, चंद्र वंश भी शामिल है, ये सभी वंश कहाँ से आए होंगे ? वे सभी यथावत् रहे क्योंकि परशुराम ने उनका संहार नहीं किया था ।

युधिष्ठिर के समय में भी संस्कृत भाषा मुख्य थी । जब ये सभी राजा यज्ञ के लिए आए, वे परस्पर संस्कृत भाषा में ही संवाद करते थे । उस समय भी एक सामान्य भाषा होनी आवश्यक थी, और वह थी संस्कृत । संस्कृत को शिक्षित लोगों की भाषा माना जाता था । यद्यपि उस समय भी भिन्न-भिन्न प्राकृत भाषाएँ थीं क्योंकि म्लेच्छ भाषा यानि कि, म्लेच्छ लोगों की भाषा, ऐसे शब्द का प्रयोग किया गया है । महाभारत में भी वर्णन किया गया है कि जब युधिष्ठिर वार्णावत जा रहे थे, जहाँ दुर्योधन सभी पाण्डवों को लाक्षागृह में जीवित जलाना चाहता था, तब विदुरजी ने युधिष्ठिर को संस्कृत में नहीं, पर म्लेच्छ भाषा में संकेत दिया था । उस समय अनेक भाषाएँ थीं क्योंकि सभी लोग शिक्षित नहीं थे । यानि उस समय भी भिन्न भिन्न भाषाएँ बोली जाती थी । शिक्षित लोगों के लिए संस्कृत सामान्य भाषा थी ।

*****

प्रश्नः यह सत्य नहीं है कि ये संस्कृति इन क्षत्रियों से आई ?
उत्तरः प्रायः यह सम्भव हो, परन्तु इस का कोई प्रमाण नहीं है । ययाति के पुत्रोंने उनकी वृद्धावस्था के बदले में अपनी युवावस्था देने से मना कर दिया तो उस ने भी अपने पुत्रों को म्लेच्छ बनने का श्राप दिया था । अपने पुत्रों को उस ने भिन्न-भिन्न श्राप दिए थे ।

*****

प्रश्नः वैदिक समय में वैदिक राज्य के अलावा अन्य राज्य के विषय में कुछ नहीं बताया है?
उत्तरः वैदिक जगत के बाहर प्रायः अमेरिका महाद्वीप था ।

*****

प्रश्नः अफ़्रीका जैसे खण्ड का क्या ? मेरी समझ के अनुसार युधिष्ठिरको अपने राजसूय यज्ञ में सभी राजाओं को जीतना था ।
उत्तरः दक्षिण अफ़्रीका में अभी भी काफ़ी जंगल है, जिस में सम्भवित सभी आदिवासी थे । मुझे नहीं लगता है कि उस समय वहाँ कोई स्थापित राज्य था और दक्षिण अफ़्रीका का कोई विशेष इतिहास भी नहीं है ।

*****

प्रश्न: क्या हम यह अनुमान लगा सकते हैं कि वही देश शिक्षित जगत था और शेष आदिवासी जैसी प्रजा थी ?
उत्तर: हाँ, जैसे अमेरिका में रेड इण्डियन रहते थे । मैं ने कहीं पढ़ा है कि मेक्सिको में गणेश की प्रतिमा मिली थी ।

*****

प्रश्न: बोलोविया में लोग हनुमान की पूजा करते थे ।
उत्तर: कोई न कोई श्रृंखला अवश्य रही होगी ।

*****

प्रश्न: महाभारत में यह दर्शाया है कि राजसूय यज्ञ में कई राजा मेक्सिको से उपहार रूप खाल लेकर आए थे ।
उत्तर: सम्भवित है ।

******

प्रश्न: कई लोग मानते हैं कि हनुमान ने लङ्का नहीं परन्तु दक्षिण अमेरिका पार किया था ।
उत्तर: मैं ने ऐसा कभी नहीं सुना है । मैं ने इतना अवश्य सुना है कि हनुमान जी ने लङ्का पर छलाँग नहीं लगायी थी, पर वे शायद भारत में ही थे ।

*****

प्रश्न: क्या यह सभी विज्ञान, जैसे कि स्थापत्य वेद (वास्तु), और गन्धर्व-वेद मूल रूप में श्रीकृष्ण से आए हैं और क्या व्यासदेव या किसी अन्य ऋषियों के द्वारा वे सभी लिखे गए हैं ?

उत्तर: ये सभी विज्ञान श्रीकृष्ण से आए हैं । मूल स्वरूप में श्रीकृष्ण से आए और बाद में ऋषियों ने उन सभी विज्ञान को विस्तृत किया ।

*****

प्रश्न: क्या व्यासदेव ने उन्हें लिखा ?
उत्तर: व्यासदेव ने केवल उस संग्रह का सङ्कलन किया अर्थात् पुनः व्यवस्थित किया ।

******

प्रश्न: अर्थात् व्यासदेव ने वेदों को लौकिक और अलौकिक दो भागों में किया ?
उत्तर: हाँ । इस जगत में कोई सर्वज्ञ नहीं है। भगवान ही एक हैं जो सर्वज्ञ हैं, और सभी को उनसे ज्ञान लेना पड़ता है । जो भगवान के अस्तित्त्व को स्वीकार नहीं करते, उनका ज्ञान अपूर्ण है । जो उसे स्वीकार करते हैं, वे ज्ञान पाते हैं और वे उन ज्ञान का विस्तार भी कर सकते हैं । सर्व प्रथम ज्ञान भगवान से आता है । एक भगवान ही है जो सृजन, पालनपोषण और विनाश करता है । अन्य किसी के पास यह सृजन,

पालनपोषण और विनाश करने का सामर्थ्य नहीं है । अतः जो भगवान को स्वीकारते ही नहीं है और सृजन की व्याख्या करते हैं, यह उचित नहीं है ।

उदाहरण स्वरूप दयानन्द सरस्वती जिन्होंने आर्य समाज की स्थापना की यद्यपि स्वयं ही घर से भाग गए थे । शिव की पूजा करते समय उन्होंने एक चूहे को शिवजी को लगाए भोग को खाते देखा और सोचने लगे, "यदि शिव इस चूहे को भगा भी नहीं सकते, तो उन्हें भगवान कैसे माना जाय ?" और फिर यही दयानन्द वेदों पर टिप्पणियाँ लिखते हैं । उन्होंने वर्णमाला कहाँ से सिखी? क्या उनके पिता से सीखी थी ? और उनके पिता ने कहाँ से सीखी थी ? उन्हें किसी से तो सीखनी ही थी । यदि उन्होंने किसी गुरु से वर्णमाला सीखी तो उस गुरु ने भी कहाँ से सीखी थी ? उन्होंने भी तो किसी से सीखी होगी ! अर्थात् तात्पर्य यह है कि यह ज्ञान कोई व्यक्ति से प्राप्त होना था और यह व्यक्ति परम पुरुषोत्तम है । हमें इस परम पुरुषोत्तम को स्वीकार करना चाहिए एवं केवल वही है जिसने यह ज्ञान दिया है ।

.....

प्रश्न: सर्व प्रथम इस ज्ञान का अध्ययन किसने किया जैसे कि स्थापत्य या गन्धर्व वेद? क्या वे सब ब्राह्मण थे या कोई विशेषज्ञ थे ?

उत्तर: मूल रूप से ब्राह्मण सभी वेद और उपवेद का अध्ययन किया करते थे । उदाहरण स्वरूप, कृष्ण ने सभी ६४ कलाओं का अध्ययन किया था, परन्तु वह एक गुरु से किया था । अर्थात् उनके गुरु सान्दीपनी मुनि को इन सभी कलाओं का ज्ञान था, अन्यथा वह गुरु नहीं बन सकते थे ।

मूल रूप से ब्राह्मण ही इनका अध्ययन करते थे । बाद में उनके अलग विभाग बनाए गए क्योंकि उन लोगों की अध्ययन की क्षमता क्षीण होती जा रही थी । फिर विश्व विद्यालय में जैसे अनेक शाखाएँ होती हैं, वैसे वह भी अनेक शाखाओं में विस्तृत हो गए ।

.....

१०८. वैष्णव धर्म

प्रश्न: वैष्णव मार्ग क्यों इतना सीमित है जब कि अन्य धर्म अधिक विस्तारित हैं ?

उत्तर: अधिकांश लोगों की मानसिकता रजस् और तमस् में होती है, अतः अपनी धारणानुसार उन्हें जो सुसङ्गत दीखता है, वही उन्हें अच्छा लगता है । परन्तु वैष्णव धर्म विशुद्ध सत्त्व है, गुणातीत है, इसलिए यह धर्म दुर्लभ है । अपने स्वभाव के कारण सामान्य जन-समुदाय के लिए वैष्णव धर्म ग्रहण करना बहुत कठिन है । अतः वैष्णव धर्म सीमित है और अन्य धर्म अधिक प्रचलित है । अर्थात् भक्ति को ग्रहण करने वाले

बहुत कम लोग हैं ।

वैष्णव धर्म सात्त्विक गुणों के सिद्धान्तों का प्रचार करता है । वैष्णव सात्त्विक आहार लेते हैं, जब कि अन्य मार्ग में माँस, मदिरा और परस्त्री-गमन के लिए निषेध नहीं है । स्वाभाविक है कि लोगों को यह सब कुछ अच्छा लगता है । भक्ति में अधिक मर्यादा है क्योंकि भक्ति सत्त्व का मार्ग है । राजसिक और तामसिक द्रव्यों का सेवन इस धर्म में निषेध है । निम्न प्राकृतिक गुणों के स्वभावानुसार अधिकतर लोग राजसिक व तामसिक आहार और जीवन शैली को विशेष पसन्द करते हैं ।

*****

१०९. शास्त्र

प्रश्नः कौन से लक्षण से ग्रन्थ को शास्त्र के रूप में माना जाता है ? कौन से ग्रन्थ शास्त्र कहे जाते हैं ?

उत्तरः श्रीमद् भागवत, गोपाल तापनी उपनिषद, भगवद् गीता, ब्रह्मसूत्र (वेदान्त सूत्र), विष्णु सहस्रनाम और गोस्वामियों द्वारा लिखित भक्ति से सम्बन्धित पुस्तकों को शास्त्र माना जाता है । सभी उपनिषद्, वेदान्त सूत्र, भगवद्गीता और विष्णु सहस्रनाम को प्रमाणित शास्त्र के रूप में सभी सम्प्रदायों ने मान्यता दी है । सभी सम्प्रदायों की अपनी विशेष पुस्तकें होती है जिनको वे शास्त्र रूप से अपनाते हैं । अपने (गौड़ीय वैष्णव के लिए) श्रीमद् भागवत और गोस्वामी द्वारा लिखित पुस्तकें सर्वाधिक प्रमाणित है ।

*****

प्रश्नः उत्तमा भक्ति करने से पूर्व साधक को भिन्न अनुभव होते हैं जिसे वह शुद्ध मानता है । पर वह प्रायः ग़लत हो सकते हैं । साधक को कैसे ज्ञात होता है कि वह उत्तमा भक्ति कर रहा है ?

उत्तरः यदि आप को कुछ जानना है, तो वह जानने की सही रीति होनी चाहिए । भक्ति को जानने का सही साधन है शास्त्र क्योंकि शास्त्र के सिवाय अन्य कोई भक्ति समझा नहीं सकता । शास्त्र उत्तमा भक्ति और अन्य प्रकार की भक्ति की परिभाषा करता है । शास्त्र का अभ्यास योग्य सद्गुरु से करना चाहिए, ऐसे गुरु से जिसने शास्त्र का अध्ययन किया हो, उसका अनुभव किया हो और उसे अपने जीवन में अपनाया हो । केवल ऐसा ही गुरु शास्त्र समझा सकता है । अपने आप पढ़ने से शास्त्र को नहीं समझ पाओगे । इस जगत में सामान्य लोगों को तो यह भी ज्ञान नहीं है कि हमारे देह में आत्मा है । आपने कदाचित ऐसा सुना है कि आत्मा देह से भिन्न है और यदि नहीं सुना है तो आप कभी भी यह नहीं जान पाओगे कि देह में आत्मा होती है । कामवासना ही मुख्य और अन्तिम अनुभव है जो लोग पाना चाहते हैं और ऐसा इसलिए है क्योंकि लोग कामवासना से ही पैदा हुए हैं अतः इसी की लालसा रहती है । यदि ऐसे लोग कोई

आध्यात्मिक रास्ता अपनाते हैं, तो भी कामवासना की तीव्र इच्छा तब तक रहती है जब तक शास्त्र को वे ठीक से समझ नहीं लेते ।

श्रीमद् भागवत में उद्धव कृष्ण को प्रश्न पूछते हैं कि "कृपा करके मुझे समझाओ कि भक्ति क्या है ?", तब कृष्ण उन्हें समझाते हैं । ठीक उसी तरह, यदि हम कृष्ण के पास जाना चाहते हैं जो कि हमारे इष्टदेवता है, पूजनीय भगवान है, तो उन्हीं के मुख से भक्ति क्या है और कैसे की जाती है यह सुनना चाहिए । किसी अन्य जन के मुख से नहीं सुनना चाहिए । यदि कोई किसी और देवता का पूजन करना चाहता है तो उसी के मुख से सुनना चाहिए ।

अन्यथा प्रायः लोग पूछते हैं, "इस विषय में आप का क्या मंतव्य है ? आप की क्या मान्यता है ?" पर ऐसी व्यक्तिगत मान्यता या विचार अन्तिम निष्कर्ष नहीं होते और न ही विषय की सही समझ देते हैं । यदि किसी का कोई सद्गुरु हो फिर भी शास्त्र क्या कहते हैं यह जानना आवश्यक है । शास्त्र और भगवान एक ही है क्योंकि भगवान स्वयं शास्त्र के रूप में अवतरित होते हैं । अतः शास्त्र से ही भक्ति के विषय में ज्ञान मिलता है ।

अन्यथा साधक अन्धकार में रहेगा और सोचता रहेगा कि, "मैं उत्तमा भक्ति कर रहा हूँ ।" कुछ समय के बाद फिर से सोचेगा कि, "मैं उत्तमा भक्ति ही कर रहा हूँ", और बस ऐसा ही चलता रहेगा । पहले हमने लौकिक श्रद्धा और उस श्रद्धावाले लोग जीवन में कैसे आचरण करते हैं उस की चर्चा की है । ऐसे लोंगो के अनुभव लौकिक संस्कार और लौकिक इच्छाओं के सम्मिश्रण से होते हैं । इन्हें ऐसा लगता है कि उनके अनुभव श्रेष्ठ हैं । पर सही परीक्षक तो शास्त्र ही है जो सद्गुरु से समझा जाता है । केवल सदाचार या परम भक्त जो शास्त्र का पालन करता है, वही प्रमाण है या ज्ञानप्राप्ति के लिए अधिकारिक मार्ग है । ऐसा भागवत में व्याख्या की गई है जब उद्धव ने कृष्ण से सीधे प्रश्न किया था । इसी तरह हमें भी यह बात समझनी चाहिए ।

प्रश्न: गोस्वामियों ने भिन्न-भिन्न स्तर के लोगों के लिए विविध साहित्य लिखा है और कुछ ग्रन्थ भक्ति के लिए भी लिखे हैं । एक बार आपने कहा था कि उपदेशामृत वास्तव में भक्तों के लिए नहीं है । अभी जो ग्रन्थ पढ़ रहे हैं, जैसे कि भक्ति रसामृतसिन्धु और सन्दर्भ, क्या वह भक्तों के लिए है या अभक्तों के लिए है ?

उत्तर: गोस्वामियों ने अनेक पुस्तकों की रचना की और उनका मुख्य हेतु चैतन्य महाप्रभु की इच्छापूर्ति करने की थी, जिन्होंने शास्त्र आधारित दर्शन लोगों को समझाने का

उनको निर्देश दिया था । इससे पूर्व अन्य भारतीय दर्शन है, पर उनमें कुछ कमियाँ थी। अतः श्रीचैतन्य महाप्रभु के आदेशानुसार गोस्वामियों ने अति अद्भुत और निर्दुष्ट दर्शन की रचना की । ये पुस्तकें केवल भक्तों के लिए लिखीं है, अभक्तों के लिए नहीं है । अभक्त के लिए अन्य पुस्तक है, जैसे कि षड्-दर्शन एवं नास्तिक दर्शन जो अभी अधिक प्रचलित है । ये पुस्तकें जो गोस्वामियों ने लिखी है, लोगों को समझाती है कि व्यक्ति को भक्तिपरक सेवा करनी चाहिए, जिसका सारांश है कि बिना किसी गुप्त उद्देश्य से अनुकूल कार्य करो और प्रतिकूल कार्य को छोड़ो । यही उनके साहित्य का उद्देश्य है जो उन्होंने अपने भक्तों के लिए लिखा है ।

जब मैं ने कहा, "यह भक्तों के लिए नहीं है" इसका अर्थ है वह रागानुगा भक्तों के लिए नहीं है । वे जो भक्ति के लिए स्वाभाविक पसन्द रखते हैं, उन्हें ऐसे कोई साधन की आवश्यकता नहीं है । ये अजात रुचिवाले भक्तों के लिए है जिन्होंने अभी रुचि प्राप्त नहीं की है ।

*****

प्रश्नः मैं ने विषाद-योग की पुस्तक में पढ़ा है कि शास्त्र व्यञ्जित ध्वनि से अर्थ समझाता है । क्या इसका अर्थ ऐसा है कि अभिधा वृत्ति के अर्थ की अपेक्षा से व्यञ्जित या ध्वनि अर्थ विशेष महत्त्वपूर्ण होता है ?

उत्तरः शास्त्र मुख्य रूप से ध्वन्यर्थ से सिखाते हैं, विशेषकर वह शास्त्र जो काव्य या कविता रूप में है, उसे उत्तम माना जाता है क्योंकि ध्वनि से परोक्ष अर्थ व्यक्त करते हैं। अभिधा-अर्थ को (काव्य में) महत्त्वपूर्ण नहीं माना जाता है ।

******

प्रश्नः क्या व्यञ्जितार्थ (अन्तर्निहित अर्थ) के लिए आचार्यो की टीकाओं की आवश्यकता होती है ?

उत्तरः हाँ ।

******

प्रश्नः शब्दों को विभिन्न प्रकार से तोड़-जोड़ कर कई अर्थ निकाले जा सकते हैं । क्या लेखक का आशय इन सभी अर्थों को वाचक तक पहुँचाना है ?

उत्तरः ध्वन्यर्थ शब्दों पर आधारित है और उसका अर्थ किस तरह कहा जाय इसके लिए निश्चित नियम हैं । ऐसा नहीं है कि मन में जो आया वह अर्थ निकाल लिया । जो लिखते हैं वे अज्ञानी नहीं है । अतः सभी अर्थ नियमानुसार निकाले जाते हैं । उदाहरण स्वरूप, जब आप घण्टी बजाते हो तो वह ध्वनि जैसे मुख्य अर्थ है, बाद में किञ्चित्काल तक प्रतिध्वनियाँ हैं । वे व्यञ्जित अर्थ हैं, जिसे ध्वन्यर्थ भी कहते हैं ।

*****

प्रश्नः कल आपने कहा था कि गोवर्धन-लीला जैसी कहानियाँ उनके शाब्दिक अर्थ से नहीं समझी जा सकती, पर वास्तव में उनके निहित हेतु को समझना चाहिए । तथापि यदि कृष्ण असम्भव को सम्भव कर सकते हैं तो वह गोवर्धन भी उठा सकते हैं । कोई इन प्रतीत विरोधा-भासी बातों को कैसे समझ सकता है ?
उत्तर: कल समझाया था कि शास्त्र जो कहते हैं उसे छ बिन्दुओं से समझना चाहिए । ऐसा नहीं है कि एक बात सुनी और पढ़ी और अब उसे हर जगह अपनाते रहें ।
जीव गोस्वामी समझाते हैं कि उसी लीला में से एक और भी अर्थ निकलता है । क्योंकि वह एक काव्य के रूप में है अतः इसका अर्थ यह नहीं होता है कि आप को बस यही एक अर्थ लेना है । कृष्ण लीला करते हैं, पर अपनी लीला द्वारा विशेष सन्देश देना चाहते हैं । यह उनकी अन्य विशेषताओं में से एक है ।

शास्त्र का अभ्यास करना चाहिए, नहीं तो आप प्रायः कहेंगे, "ठीक है प्रभु असम्भव को सम्भव कर सकते हैं" और यही सिद्धान्त सभी बातों को समझाने के लिए अपनाओ। यदि आप उससे सन्तुष्ट हैं, तब तो कोई बात नहीं, पर यह समझना आवश्यक है कि शास्त्र दूसरी बातें भी समझाता है जिसको समझना भी आवश्यक है।

शास्त्र शब्दों में लिखा है अतः पहले आप को शब्द को समझना आवश्यक है । अर्थात् व्याकरण का ज्ञान होना चाहिए, छन्द, कोश, अलङ्कार, रस आदि की समझ होनी चाहिए । उसके बाद शक्तिवाद (शब्द के अर्थ) व व्युत्पत्तिवाद का अभ्यास करना चाहिए, जो गहन विषय है । शक्तिवाद और व्युत्पत्तिवाद अपने आप में दर्शन है और जब आप इन सब को पढोगे तब समझ पाएँगे कि अर्थ कैसे निकलते हैं ।

सर्व प्रथम कम से कम व्याकरण ठीक से जानना आवश्यक है । शब्दार्थ के लिए व्याकरण का ज्ञान अनिवार्य है । व्याकरण वाक्य की वाक्यरचना निर्देश करता है, जैसे कि वाक्य में कैसे क्रियापद, विषय, कर्ता, कर्म, विभक्ति आदि सही क्रम में रखा जाए यह कहता है । पर भाषाविद्ने इन शब्दोंका कैसे उपयोग किया है वह पृथक विषय है ।

शब्द के तीन अर्थ होते हैं: अभिधा वृत्ति, लक्षणा वृत्ति, और व्यञ्जना वृत्ति ।
अभिधा वृत्ति मुख्या है । शक्तिवाद के अनुसार भगवान, जो इस जगत के रचयिता है उन्होंने शब्द बनाये । अतः शब्द में कोई एक शक्ति है और इसी शक्ति के कारण कोई विशेष वस्तु को समझ सकते हैं । तो जब हम शब्द जैसे कि 'शास्त्र' शब्द को उच्चारित करते हैं, तब यह शब्द एक वस्तु का निर्देश करता है जो उस के अर्थ को दिखाता है। इस शब्द में शक्ति कहाँ से आयी ? उत्तर है कि वह शक्ति भगवान देता है । इसे ईश्वर-

संकेत कहते हैं । "इस शब्द का यही विशेष अर्थ होना चाहिये," ऐसी शक्ति शब्द में है ।

ऐसे कई शब्द हैं जो शास्त्र में नहीं पाए जाते हैं । हम भी शब्द बनाते हैं । उन शब्दों में हम शक्ति देते हैं क्योंकि हम तय करते हैं कि निश्चित शब्द विशेष वस्तु के कथन के लिए है । शब्द की शक्ति को जानने के लिए कई तरीके हैं जैसे कि शब्दकोश, प्रयोग, सन्दर्भ, अर्थज्ञ व्यक्ति । परन्तु अभिधा वृत्ति या प्राथमिक अर्थ बहुत मर्यादित है। प्राथमिक अर्थ देने के बाद शक्ति विशेष अर्थ नहीं दे पाती ।

दूसरे अर्थ को लक्षणा वृत्ति कहते हैं । जब मुख्यार्थ से अर्थ स्पष्ट नहीं होता और फिर भी ज्ञानी व्यक्ति उसका उपयोग करते हैं तब व्यक्ति को ज़बरन अन्य अर्थ लेना पड़ता है । यहाँ धारणा है कि एक विद्वान् व्यक्ति ने यह कथन कहा है, अतः यह ग़लत नहीं हो सकता । यदि मुख्यार्थ से कोई बोध नहीं होता है तो उसे त्याग कर भिन्न अर्थ लेना चाहिए ।
विद्वान व्यक्ति ऐसे विधान क्यों करते हैं ? ऐसे विधान क्यों नहीं करते जो मात्र मुख्य अर्थ बताए? इसका उत्तर है कि उसके मन में ऐसा कुछ है जो वह इस रीति से (विशेष रूप में) संकेत करना चाहता है । इसे व्यञ्जना वृत्ति कहते हैं ।

संस्कृत में एक मुहावरा हैः गङ्गायाम् घोषः । गङ्गायाम् अर्थात् "गंगा नदी में" और घोषः अर्थात् पल्ली यानि बस्ती । इसका शाब्दिक अर्थ होता है "गङ्गा नदी में एक बस्ती है"। ऐसा सम्भव नहीं है कि बहती नदी में कोई बस्ती हो सकती है क्योंकि बहता पानी उसे बहा के ले जाएगा । ऐसी स्थिति में यहाँ मुख्य अर्थ त्यागना होगा और दूसरा अर्थ ग्रहण करना होगा । यहाँ गङ्गा का मुख्य अर्थ राजा भगीरथ के तप से लायी गयी गङ्गा नदी से अतिरिक्त दूसरा अर्थ है यानि कि "गङ्गानदी का तट" लेना होगा । अब शब्द "गङ्गा" का अर्थ "गङ्गा नदी" से अतिरिक्त "गङ्गा तट" करना होगा । शब्दों का ऐसा उपयोग क्यों करते है ? यह सूचित करने के लिए है कि जहाँ गङ्गा तट पर गाँव हो तो वहाँ ठंडी हवा होगी, स्थान स्वच्छ होगा, और वहाँ के निवासी भी पवित्र होंगे क्योंकि वे पवित्र नदी के किनारे रहते हैं । केवल एक वाक्य में कवि यह सब कहना चाहता है। उस ने बहुत सारे शब्दों का प्रयोग न करके व्यञ्जना वृत्ति का उपयोग किया है । कभी कभी व्यञ्जना वृत्ति में कहने का कारण कुछ विशेष लोगों से अर्थ छुपाना भी है।

दामोदर लीला का यह निहित अर्थ नहीं है कि रस्सियाँ है जो कृष्ण को नहीं बाँध सकती । यह भी देखना है कि वहाँ क्या कहा है । ऐसा नहीं है कि जीव गोस्वामी ने

अपनी कल्पना से यह अर्थ दिया है । आपको सन्दर्भ का ठीक से अध्ययन करना है। कल जो कुछ भी कहा गया उसका हर जगह प्रयोग नहीं कर सकते । उसका सन्दर्भ देखिए, यह भी देखिए कि क्या हो रहा है और लेखक क्या चित्रित करने का प्रयास कर रहा है । इन सभी बातों का ध्यान रखना चाहिए ।

*****

प्रश्न: यह कैसे सम्भव है कि पूर्व विचार व धारणाएँ त्याग दें क्योंकि मैं जो कुछ भी जानता हूँ वह मैं ने दूसरे दार्शनिकों से सुना है ?

उत्तर: बस उसे त्याग दो । शास्त्र प्रामाणिक है और दिव्य ज्ञान देता है । अतः शास्त्र का सन्देश जानना आवश्यक है । शास्त्र से ही दार्शनिक ज्ञान प्राप्त करना चाहिए और निष्कर्ष लेना चाहिये । उससे विपरीति जो भी हो उसे त्याग देना चाहिए, अन्यथा लोग बहुत कुछ कहेंगे । सब आध्यात्मिक मार्ग केवल शास्त्र को ही प्रमाण रूप से स्वीकारते हैं, व्यक्तिगत विधानों को नहीं । शास्त्र ही सर्वाधिकारी है । मात्र शास्त्रका ही सहारा लेना चाहिए, अन्य किसीका नहीं ।

*****

११०. शिक्षाष्टक

प्रश्न: शिक्षाष्टक के दूसरे श्लोक में कहा गया है कि मन्त्र जप के लिए कोई नियम नहीं है और कृष्ण के सहस्र नाम हैं, लेकिन अभी तक मुझे नाम में कोई रुचि नहीं है इस का क्या अर्थ है ?

नाम्नामकारि बहुधा निज सर्व शक्तिः
तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः ।
एतादृशी तव कृपा भगवन्ममापि
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः ।। (चै.च. अन्तलीला २०.१७)

"हे भगवन्, आप के अनेक नाम हैं जिनमें आप ने निज सर्व शक्ति रखी है । नाम ग्रहण करने के लिए कोई निश्चित समय नहीं है । आप की इतनी कृपा के बाद भी मैं इतना दुर्भागी हूँ कि मन्त्रजप में मुझे कोई रुचि नहीं है [मेरे अपराधों के कारण]" ।

उत्तर: यह श्लोक समझाता है कि भगवान के नाम में उन की सारी शक्तियाँ छिपी हुई हैं । जो भगवान का नाम जपता है उस पर यह उनकी असीम कृपा है । भगवान यह सोच कर जप करने वाले की ओर आकर्षित होते हैं कि, "यह मेरा अपना है क्योंकि वह मेरा नाम जपता है।" इस श्लोक का पहला भाग है "नाम्नाम अकारि बहुधा निज सर्व शक्तिः तत्रार्पिताः" । इसका अर्थ है कि जापक को सभी भगवत्शक्ति प्राप्त है ।

दूसर भाग कहता है कि प्रभु नाम स्मरण के लिए कोई नियम नहीं है । प्रभु को सभी

अवस्था या परिस्थिति में स्मरण किया जा सकता है, चाहे वह पवित्र या अपवित्र स्थिति में क्यों न हो । हर स्थिति में नाम की शक्ति होती है । उसकी शक्ति किसी भी बाह्य वस्तु पर निर्भर नहीं होती । अन्य रीति में, जैसे कि यज्ञादि की विशेष परिस्थितियों में अपनी विशेष शक्ति होती है । ऐसे नियम नामजप में नहीं हैं । इस श्लोक के शेषभाग में कहा है कि फिर भी ऐसी स्थिति में उसे मन्त्रजपमें कोई रुचि नहीं है ।
यहाँ तीन बातें बतायी है:

1 भगवत्कृपा
2 उसकी कृपा के कारण नाम-जप को कब किया जाय उसके लिए कोई प्रतिबन्ध नहीं है ।
3 नाम में सभी शक्ति समाविष्ट है ।

*****

प्रश्न: यह आसक्ति कैसे हो सकती है ?
उत्तर: यदि साधक को ज्ञान है कि प्रभुनाम ही सर्वोत्तम है और मन में कोई सन्देह नहीं है, तब स्वाभाविक रूप से साधक को प्रभु नाम जपने की इच्छा होती है । जब यह ज्ञात होता है कि कोई वस्तु आप के लिए अच्छी है और उसे पाने से जीवन का परम ध्येय मिलेगा तो फिर उस वस्तु के लिए स्वाभाविक आप को लालसा होगी । अतः यह विश्वास होना आवश्यक है और फिर स्वयं ही उस वस्तु के प्रति आप की रुचि की वृद्धि होगी ।

*****

प्रश्न: शिक्षाष्टक के चौथे श्लोक में श्रीमहाप्रभु प्रार्थना करते हैं कि हर जन्म में उन्हें अहैतुकी भगवदीय सेवा चाहिए और पाँचवे श्लोक में कहा है कि किसी कारणवश वे इस संसार-चक्र में हैं और उसमें से मुक्त होना चाहते हैं और कृष्ण के पदकमल को पाना चाहते हैं । क्या यह विरोधाभासी नहीं है ?

न धनं न जन्म न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये ।
मन जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ।। (४)

"हे जगदीश, मुझे लौकिक सुख, अनुयायी, सुन्दर स्त्री, एवं कवि बनने की लालसा भी नहीं है । मुझे हर जन्म में केवल आप के प्रति अहैतुकी सेवा चाहिए ।"

अयि नन्द-तनुज किङ्करं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ ।
कृपया तव पादपङ्कज स्थितधूलि सदृशं विचिन्तय ।। (५)

"हे महाराज नन्द के पुत्र, मैं आप का सेवक हूँ एवं जन्म और मृत्यु के विषम संसारसागर में गिरा हुआ हूँ । कृपया मुझे आप के चरणों के पद-रज की भांति समझिये-।"
उत्तर: पाँचवे श्लोक का भी यही अर्थ है । आप अपने चरणकमल की धूली-कण के समान मान लीजिए का अर्थ है स्वयं को एक सेवक समझना ।

*****

प्रश्न: क्या वह यह प्रार्थना नहीं कर रहा है कि वह इस दुनिया से मुक्त हो ?
उत्तर: नहीं । यह श्लोक कहता है, "मैं इस जगत में हूँ, आप मुझे अपने चरणरज का एक कण समझिये ।"

*****

प्रश्न: शिक्षाष्टक के छठ्ठे श्लोक में वह प्रार्थना करता है, "मेरी आँखों से कब प्रेमाश्रुओं की धारा बहेगी, मेरे रोम खड़े हो जाएँगे और वाणी गद्-गद् हो जायेगी, काँपने लगेगी ....." क्या वास्तव में एक भक्त ऐसे उन्मादपूर्ण चिह्नों के लिए या भावना की ऐसी अवस्था के लिए प्रार्थना करता है ?
नयनं गलदश्रुधारया, वदनं गद्-गदरुद्धया गिरा ।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नामग्रहणे भविष्यति ।। (६)

"कब मेरी आँखों से अश्रु बहेंगे, वाणी गद्-गद् हो जायेगी और मेरे देह के रोम खड़े हो जाएँगे जब मैं आपके दिव्य नामजप करूँगा ?"

उत्तर: यह प्रार्थना कोई बाह्य चिह्नों के लिए नहीं है, परन्तु (नाम-जप में) आवेश के लिए है, जिनसे यह चिह्न प्रकट होते हैं ।

बाहरी चिह्नों से ही आन्तरिक भाव समझे जाते हैं । इस श्लोक का आन्तरिक अर्थ शाब्दिक अर्थ में नहीं है, परन्तु उस अर्थ के पीछे छिपे भाव में है । अन्यथा, पूर्व श्लोकों में बतायी गयी प्रभु प्रार्थनाओं का इस श्लोक से समन्वय नहीं होगा । अतः शाब्दिक अर्थ को त्यागकर व्यञ्जित अर्थ लेना है, जो है: "कब मैं आप में इस तरह खो जाऊँगा, कब मैं आप का नाम लूँगा और आप के विषय में सोचूँगा ?"

कुछ लोगों का एक ऐसा सङ्गठन है जो मात्र रुदन का अभ्यास करते हैं । कीर्तन करते-करते रोने का अभ्यास करना ही उनकी साधना है । रोने में (कीर्तन करते समय) निपुण हो जाते हैं । वे भूमि पर लोटते हैं और पूरे देह में कम्पन लाते हैं । हमें यह एक उपहास दीखता हो, परन्तु वे इसे बड़ी गम्भीरतापूर्वक करते हैं ।

वास्तव में प्रभु में मग्न होना बाह्य चिह्नों को दिखाने के अभ्यास से नहीं होता क्योंकि यह भीतर की भावना है जिसे बाह्य क्रिया से नहीं बनाया जा सकता । उनका यह मानना है कि यदि कोई स्वयं को कुत्रिमरुप से रुला सकता है तो एक दिन वास्तव में रोने लगेगा । उनका सिद्धान्त है कि बाह्य लक्षण के अभ्यास से तदनुरुप आन्तरिक भाव उद्भूत होंगे । हृदयभाव से बाह्य आने के बजाय वे बाह्य से भीतर जाने का प्रयास करते हैं ।

*****

प्रश्न: क्या वे सफल नहीं हुए हैं ?

उत्तर: स्वाभाविक है, वे सफल नहीं हो सकते । हमारी धारणा के अनुसार वे सफल नहीं हैं, पर उनकी सोच से वे स्वयं को सफल मानते हैं । इस तरह के अभ्यास के लिए आप को भगवान की प्रार्थना के लिए कुछ भी नहीं करना है । उसकी शक्ति प्रकट होने की कोई आवश्यकता नहीं है । वे सोचते हैं कि अभ्यास से वे बलपूर्वक भाव ला सकते हैं ।

हास्य योग जो अपने आप हँसना या हँसने का अभ्यास करने जैसा है । वे कहते हैं हँसो और तनाव से मुक्त हो जाओ । जब जीवन में कोई सुख नहीं है तो अल्पसुख को पाने के लिए आपको इसी तरह अभ्यास करना होगा । अभी यह हास्य योग अधिक प्रचलित हो गया है । इसके लिए एक विशेष दिवस है जिसे अन्तरराष्ट्रीय हास्य दिन कहते हैं ।

*****

प्रश्न: प्रभु में समाविष्ट होने का सामर्थ्य मात्र भगवत्कृपा से होता है, स्वप्रयास से यह नहीं हो सकता ।

उत्तर: हाँ । ******

प्रश्न: क्या साधक को मात्र धैर्य रखना चाहिए और कृपा की आशा रखनी चाहिए ?

उत्तर: महाप्रभु जब प्रार्थना करते हैं तो यही माँगते हैं कि "मुझे आशीर्वाद दो ।"

*****

प्रश्न: जब भगवत्-कृपा मिलती है तो वह बाह्य परिस्थिति पर आधारित नहीं है । क्या वह कहीं भी किसी भी परिस्थिति में हो सकती है ?

उत्तर: वह कहीं भी हो सकती है ।

.....

१११. शिखा

प्रश्न: क्या हमें शिखा धारण करनी चाहिए ?

उत्तर: ब्राह्मण और द्विज उपनयन और शिखा धारण करते हैं । धार्मिक क्रियाएँ और यज्ञ करने के लिए यह धारण करना आवश्यक है । शिखा वैष्णव होने का भी चिह्न है। आप शिखा धारण कर भी सकते हैं और नहीं भी कर सकते । यह धारण करना आवश्यक नहीं है ।

*****

११२. श्रद्धा

प्रश्न: हम में कपट की कितनी प्रवृत्ति है यह हम कैसे जान पाएँ ?

उत्तर: भक्ति की प्रक्रिया श्रद्धा से आरम्भ होती है, जिसका अर्थ है कि आपने निश्चय किया है कि इस मार्ग का अनुसरण करेंगे । श्रद्धा अर्थात् किसी भी परिस्थिति में इस मार्ग पर सच्चाई से चलने का एक दृढ़ निश्चय । ऐसा अटल निश्चय भक्त कृपा से होता है ।

विशेषकर लोग बहुत कुछ जानना चाहते हैं, जैसे कि महाभाव आदि, परन्तु आधार (श्रद्धा) नहीं है, तो सब कुछ व्यर्थ है । व्यक्ति एक गुरु से दूसरे गुरु के पास जाएगा और एक रीति से दूसरी रीति अपनाएगा । यदि निश्चय अटल है तो कपट की प्रवृत्ति से व्यक्ति मुक्त हो जाता है ।

*****

प्रश्न: पाश्चात्य लोग जिन्हें शास्त्रवाणी में श्रद्धा नहीं है, क्या उनके लिए भक्ति प्राप्त करना बिल्कुल सम्भव नहीं है ?

उत्तर: शास्त्रीय श्रद्धा के बिना भक्ति का क्या अर्थ है ?

*****

प्रश्न: वे शास्त्र की परवाह नहीं करते क्योंकि यह उनकी संस्कृति नहीं है ।

उत्तर: फिर उनकी भक्ति का अर्थ ही क्या है ?

*****

प्रश्न: जब से उन्होंने भगवान के विषय में सुना है और कुछ भक्तों को सेवा से जुड़े देखा है जिससे प्रायः वे उत्सुक हुए हो, परन्तु वे शास्त्र को ज़रा भी मान्यता नहीं देते। क्या वे उत्तमा भक्ति पा सकते हैं ?

उत्तर: सबसे पहले उन्हें श्रद्धा होनी चाहिए । श्रद्धा नहीं हो तो वे केवल मनमुखी कार्य करेंगे ।

*****

प्रश्न: क्या यह श्रद्धा शास्त्र में होनी चाहिए या भक्त में भी हो तो ठीक है ?

उत्तर: उस में कोई अन्तर नहीं है । ऐसा नहीं है कि श्रद्धा भक्त में हो और शास्त्र में न हो । यह सभी अन्य पन्थों में दिखायी देगा क्योंकि वे शास्त्रपालन नहीं करते । वे किसी व्यक्ति में विश्वास रखेंगे और उसका कहा मानेंगे । यदि गुरु शास्त्रीय गुरु है तो श्रद्धा गुरु और शास्त्र दोनों में होगी । ये दोनों भिन्न नहीं है ।

सर्व प्रथम तो अश्रद्धा से उत्तमा भक्ति पाना असम्भव है । श्रद्धा नहीं है तो भक्त के साथ सत्सङ्ग केवल एक सामाजिक कृत्य है । उदाहरण स्वरूप, लोग वृन्दावन घूमने के लिए आते हैं और मन्दिर देखने जाते हैं । यह एक शौक है जिसका न कोई आध्यात्मिक अर्थ है और न ही उसका कोई भक्ति से सम्बन्ध है । भक्ति क्या है यह वे जानते नहीं है । उसी प्रकार वे साधु को भी मिलने जाएँगे ।

*****

प्रश्न: कोई शास्त्रीय श्रद्धा कैसे पा सकता है ?

उत्तर: शास्त्रीय श्रद्धा महत्संग एवं महाभागवत की सेवा, उनका सत्सङ्ग और उत्तम भक्तों की सेवा से पा सकते हैं । जब आप शास्त्रीय श्रद्धा पाते हो तब प्रेरित होते हो और कपटभाव से मुक्त होकर सेवार्थ निश्चयी बनते हो । शास्त्रीय श्रद्धा भगवान की स्वरूप शक्ति है । जब कोई उसे पाता है तो सत्कार्य के लिए प्रेरित होता है ।

******

प्रश्न: यह कैसे समझें कि वे लोग जो वास्तव में महत्सेवा करते हैं फिर भी शास्त्रीय श्रद्धा नहीं पाते हैं ?

उत्तर: उनका उद्देश्य लौकिक होता है और उनके हेतु भी निर्मल नहीं होते हैं । वे सरल हृदय के नहीं होते इसलिए वे शास्त्रीय श्रद्धा नहीं पाते और उनकी आध्यात्मिक प्रगति भी नहीं होती है ।

*****

प्रश्न: आरम्भ में येन केन प्रकारेण हम उत्तम भक्त को मिलते हैं और वह आध्यात्मिकता के विषय में चर्चा करता है । उसे सुनकर यदि मुझे इस व्यक्ति में श्रद्धा है तो क्या यह शास्त्रीय श्रद्धा है या लौकिक ?

उत्तर: यदि वह शास्त्रीय भक्त है तो उसके प्रति श्रद्धा भी शास्त्रीय है । यदि वह शास्त्र के विषय में कहता है, शास्त्र के नियमों का पालन करता है तो उसकी श्रद्धा भी शास्त्रीय श्रद्धा है । यदि वह शास्त्रानुसार नहीं चलता तो उसके प्रति जो श्रद्धा है वह लौकिक श्रद्धा है ।

*****

प्रश्न: फिर भी शास्त्रीय श्रद्धा प्राप्त करना क्या उस व्यक्ति पर आधारित है ?

उत्तर: सर्व प्रथम तो आप जिस व्यक्ति का सत्सङ्ग करते हो वह शास्त्रीय होना चाहिए और द्वितीय, आपको भी सत्यनिष्ठ होना चाहिए । श्रद्धा केवल भक्त से ही आयेगी ।

*****

प्रश्न: क्या लौकिक श्रद्धा और शास्त्रीय श्रद्धा में भी कोई मिश्रण है ?
उत्तर: नहीं, ऐसा कुछ भी नहीं है क्योंकि लौकिक श्रद्धा और शास्त्रीय श्रद्धा परस्पर विरोधी है । शास्त्रीय श्रद्धालु व्यक्ति को शास्त्र और साधु सेवा करना अच्छा लगता है, पर लौकिक श्रद्धालु व्यक्ति इसके बिल्कुल विपरीत है । वह शास्त्र और आध्यात्मिक उद्देश्य पर अपना व्यक्तिगत लाभ देखता है ।

*****

प्रश्न: व्यक्ति की लौकिक श्रद्धा का गन्तव्य क्या है ? क्या वह उच्च या निम्न लोक पाता है या फिर वह पृथ्वी पर ही रहता है ?
उत्तर: ऊपर, नीचे, स्वर्ग और नरक का कोई अर्थ नहीं है । प्रश्न यह है क्या वह आध्यात्मिक जीवन में रुचि रखता है या नहीं ? लौकिक श्रद्धालु व्यक्ति को आध्यात्मिक मार्ग में कोई रुचि नहीं होती है क्योंकि वह उसके हृदय को स्पर्श भी नहीं करती है । उसके लिए वह मात्र धनोपार्जन और व्यापार बन जाता है, जैसे कि जीविका के लिए भागवत सप्ताह या हरिनाम कीर्तन करना ।

*****

प्रश्न: शास्त्रीय श्रद्धा पाने के पूर्व व्यक्ति में क्या कोई मिश्रित श्रद्धा होती है, जहाँ वह शास्त्र में विश्वास तो रखता है परन्तु समर्पित नहीं हुआ है और बाद में क्या उसका शुद्धीकरण होता है ? शास्त्रीय श्रद्धा पाने के पूर्व क्या होता है ?
उत्तर: श्रीमद् भागवत के वर्णन के अनुसार परम तत्त्व की तीन अभिव्यक्ति है: ब्रह्म, परमात्मा और भगवान । साधना के आधार पर इन तीनों को दो भाग में बाँटा है: एक है भगवान और दूसरा है ब्रह्म एवं परमात्मा ।

जो लोग मुक्ति चाहते हैं वे ब्रह्म और परमात्मा का ध्यान करते हैं । इनमें अधिकतर अध्यात्मवादी, जैसे कि योगी, ज्ञानी, कर्मी और तथाकथित साधक का समावेश होता है । उनकी मुख्य रुचि मोक्ष पाने में होती है और वे ब्रह्म या परमात्मा की पूजा करते हैं । उनकी प्रक्रिया शुद्ध भक्ति की नहीं होती है एवं श्रद्धा भी आध्यात्मिक श्रद्धा नहीं होती है । प्रायः उनको विभिन्न पन्थानुसार भिन्न-भिन्न साधना से अपने हृदय को शुद्ध करना होता है । अर्थात् वे निद्रा और काम करने की आदतों पर नियन्त्रण कर निम्न गुणों से (रजस्, तमस्) उच्च गुण (सत्त्व) में उत्क्रान्ति करना चाहते हैं । उनकी सोच है कि जब कोई सत्त्व गुण में आ जाता है तब उसे ज्ञान प्राप्त होता है: सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम् (सत्त्व गुण से ज्ञान मिलता है) ज्ञान से व्यक्ति को ब्रह्म साक्षात्कार होगा अर्थात्

मुक्ति होगी । अधिक से अधिक वे शान्त रस या तटस्थ सम्बन्ध के विषय में सोच सकते हैं । अर्थात् वे ईश्वर धाम प्राप्त करने की इच्छा कर सकते हैंः । अन्यथा ऐसे लोग परमतत्त्व में विलय होने के लिये ध्यान करते हैंः ।

यह उनकी प्रक्रिया है । अतः हृदय पवित्र (काम, क्रोधादि से मुक्ति) करने के लिए बड़ा सङ्घर्ष करते हैं, परन्तु ऐसी पवित्रता कभी प्राप्त नहीं होती क्योंकि गुण (सत्त्व, रजस्, तमस्) हमेशा मिश्रित होते हैं । इसलिए दीर्घ समय तक स्थिर रहने के बाबजुद भी वे डावाँडोल हो जाते हैं । वे स्थायी नहीं रह सकते । वे विचलित हो सकते हैं क्योंकि उन्हें भगवान की अन्तरङ्गा शक्ति प्राप्त नहीं होती है ।

जहाँ तक भक्ति का प्रश्न है, वह पूर्णतया आध्यात्मिक पथ है । उसका प्राकृतिक गुणों (सत्त्व, रजस्, और तमस्) के साथ कोई लेन-देन नहीं है और यह एक भिन्न मार्ग है। यह भगवान की अन्तरङ्गा शक्ति है और यह अन्तरङ्गा शक्ति बहिरङ्गा शक्ति से कभी भी प्रभावित नहीं होती है । यह परम शक्तिशाली है और बहिरङ्गा शक्ति से स्वतन्त्र है। जब किसी साधक को कृष्ण एवं उसके भक्तों की कृपा से भक्ति मिलती है, तो तुरन्त साधक की मुक्ति हो जाती है । अतः ऐसा कहा है कि मुक्ति के स्तर से ही भक्ति प्रारम्भ होती है ।

माया या बहिरङ्गा शक्ति का स्वभाव है भगवान से विमुख करना । आप जो कुछ भी करोगे, भावना हमेशा बाह्य (विषयों में) ही रहती है, यहाँ तक कि मोक्ष के विषय में चिन्तन भी । अतः श्रीमद् भागवत में इसे एक प्रकार का कैतव यानि कि धोखा बताया है । उसी प्रकार अन्तरङ्गा शक्ति के लक्षण है कि वह सदा भगवान के प्रति आकर्षित करती है । जब किसी को ऐसी शक्ति की गन्ध भी आती है, तो उसका मन परि-वर्तन हो जाता है और वह तुरन्त मुक्ति के स्तर पर आ जाता है । उसके बाद कोई पथ-भ्रष्ट नहीं होता है ।

उदाहरण स्वरूप, हम सोचते हैं कि अजामिल को मुक्ति मिली क्योंकि मृत्यु के समय उस ने नारायण का नाम-जप किया था । परन्तु वास्तविकता यह है कि उसकी मुक्ति तो तभी हो चुकी थी जब उस ने अपने पुत्र का नाम नारायण रखने का सङ्कल्प किया था । नारायण का नाम पुकारने से पूर्व ही उसकी मुक्ति हो गयी थी बस इतना चिन्तन मात्र से ही कि वह अपने पुत्र का नाम नारायण रखेगा । उसके मृत्यु के समय यह प्रकाशित हुआ । अतः वह मुक्ति प्राप्त व्यक्ति ही था, एक जीवन-मुक्त था । इस भक्तिभाव की यह शक्ति है । वह तो भक्ति भी नहीं करता था पर उसे एक आभास मात्र था ।

परन्तु उसके मन में ऐसी भावना कुछ भक्तों की कृपा से हुई, न कि स्वतन्त्र रूप से ।

अतः जब कोई श्रद्धा के स्तर पर है फिर न कोई विचलन होगा और न ही इस स्तर से वह गिरेगा । इसका अर्थ यह होता है कि भक्ति मुक्ति के मञ्च से शुरू होती है । इसके बाद भक्ति में भावि प्रगति है क्योंकि मन नित्य सेवा में लगा रहता है । जगत में लोग लौकिक वस्तुओं में जुटे रहते हैं । इन दोनों शक्तियों (अन्तरङ्गा एवं बहिरङ्गा) का दो भिन्न सिद्धान्त समझना चाहिए और उनमें न कोई मिश्रण है और न वह एक दूसरे पर हावी होती हैं ।

*****

प्रश्न: श्रद्धा मेरी पूर्व की धारणा से उच्च स्तर की वस्तु है । अनेक भक्त भगवत्सेवा के आकांक्षी है । क्या वे श्रद्धा के मञ्च पर नहीं पहुँचे हैं ? १% या २% श्रद्धा के विषय में क्या मत है ?

उत्तर: आप जिस श्रद्धा की बात कर रहे हैं वह लौकिक श्रद्धा है । वह शास्त्र की सही समझ पर आधारित नहीं है और सच्ची सङ्गति से नहीं आयी है । यह जिन लोगों को शास्त्रीय श्रद्धा नहीं है, आप की धारणा ऐसे लोगों के मुख से सुनने पर आधारित है । जैसे अनेक अन्य वस्तुओं में श्रद्धा हो, वैसी ही श्रद्धा कृष्ण या विग्रह में भी हो सकती है । परन्तु वह अलौकिक नहीं है । अलौकिक श्रद्धा में आरम्भ से ही व्यक्ति को कृष्ण के विषय में श्रवण करने की रुचि होती है । वह कीर्तन भी करता है, यानि कि वह भगवत्सेवा में व्यस्त रहता है और उसे लौकिक सुख में कोई रुचि नहीं रहती ।

श्रद्धामृतकथायां मे शश्वन्मदनुकीर्तनम् ।
परिनिष्ठा च पूजायां स्तुतिभिः स्तवनं मम।। (भा. ११.१९.२०)
आदरः परिचर्यायां सर्वाङ्गैरभिवन्दनम् ।
मद्भक्तपूजाभ्यधिका सर्वभूतेषु मन्मतिः ।। (भा. ११.१९.२१)
मदर्थेष्वङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् ।
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् ।। (भा. ११.१९.२२)
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च ।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद् व्रतं तपः ।। (भा. ११.१९.२३)
एवं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् ।
मयि सञ्जायते भक्तिः कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते।। (भा. ११.१९.२४)

"मेरी अमृतमयी कथा में श्रद्धा रखें, मेरी लीलाओं का सङ्कीर्तन करें, मेरी पूजा में अटूट

विश्वास रखें और सुन्दर स्तोत्रों से मेरी स्तुति करें । मेरी सेवा आदरभाव से करें, साष्टाङ्ग लोटकर प्रणाम करें (शीश, छाती, दो हाथ, दो घुटने और पाँव मिलकर अष्ट अङ्ग), मेरे भक्तों का अधिक आदर करें और सभी प्राणियों को मेरी कृति समझें। देह के हर अङ्ग से मेरी सेवा करें, अपनी वाणी से मेरे ही गुणों का गान करें, मन को मुझे अर्पित कर दें, सभी कामनाओं का त्याग करें, मेरी सेवार्थे धनव्यय करें, मेरे लिए इन्द्रियभोग और प्राप्त-सुख का परित्याग करें, यज्ञ, दान, हवन, मन्त्रजप, व्रत, और तप कुछ भी किया जाय वह सब मेरे लिये ही करें – हे उद्धव इन न्याय-सङ्गत सिद्धान्तों का पालन करने से और मेरे प्रति आत्मनिवेदन करने से उनके हृदय में मेरे प्रति भक्ति बढ़ती है । उसके लिए इस से भिन्न दूसरे उद्देश्य पूर्ण करने के लिए क्या शेष रहेंगे ?"

इस अलौकिक श्रद्धा में इतनी शक्ति है कि नासमझ साधक पर भी अपना प्रभाव दिखाती है यदि वह अपराधी न हो तो ।

भागवत के प्रारम्भ में शुकदेव गोस्वामी का उदाहरण दिया जाता है । शुकदेव गोस्वामी जन्म से ही ब्रह्म-साक्षात्कारी थे । ठीक अपने जन्म पश्चात् उन्हों ने गृहत्याग किया और उनके पिता व्यासदेव उन्हें घर वापस बुला रहे थे, पर उन्होंने पिता का आह्वान नहीं सुना । ब्रह्म-साक्षात्कार में माता-पिता या अन्य किसी के साथ सम्बन्ध का कोई प्रश्न ही नहीं होता । एक बार जब वह जङ्गल में विचरण कर रहे थे, उन्होंने व्यासदेव के शिष्यों के मुख से भागवत के कुछ श्लोक सुने, जिस में कृष्ण की पूतना पर की गयी कृपा का वर्णन था । भागवत में बताया गया है कि जन्म के तुरन्त बाद, उपनयन धारण किए बिना उन्होंने गृहत्याग किया था । इसका अर्थ यह होता है कि न उनके पास कोई शिक्षा थी और न ही संस्कृत भाषा का ज्ञान था । इससे उन्हें श्लोक की कोई समझ नहीं थी । मात्र भागवत के श्लोकों की ध्वनि से ही वे कृष्ण और उनकी लीलाओं की ओर आकर्षित हुए थे । वे व्यासजी की कुटिया में वापस दौड़ आए, उनके शिष्य बने और उनसे शिक्षा प्राप्त की । वे कहते हैं: "मैं ने अपने पिता से श्रीमद् भागवत का अध्ययन किया" (भा. २.१.८) । यह भक्ति की शक्ति है । यदि हृदय अपराधों से मुक्त हो और शब्दों के अर्थ की भी समझ न हो, फिर भी भक्ति का प्रभाव आप पर होता है ।

दूसरा उदाहरण है नारद मुनि के पूर्व जन्म के दासी पुत्र का । यह अल्प वयस्क बालक, अशिक्षित था । उसे कुछ भी ज्ञान नहीं था । परन्तु सरल हृदयी, स्वयं नियन्त्रित, और सेवा करने को तत्पर होने के कारण बालक का मन मात्र भक्तों की वाणी सुनते ही प्रभु की ओर आकर्षित हुआ था । उनकी माता के देहान्त पर उनको कोई दुःख नहीं हुआ था क्योंकि वे सोचते थे कि यह आसक्ति उनके आध्यात्मिक मार्ग में अवरोध

बनेगी। यह दर्शाता है कि कैसे साधक भक्ति के प्रारम्भ से ही लौकिक उद्देश्यों में रुचि खो देता है । उसका उद्देश्य मात्र आध्यात्मिक होता है । इस तरह यह अलौकिक शक्ति कार्य करती है ।

श्रद्धा के दृष्टिकोण से देखें तो साधक कृष्ण का प्रिय हो जाता है । तत्पश्चात् उसमें न कोई चढ़ाव-उतार आता है, न वह उसे छोड़ता है और न ही वह ईर्ष्यालु रहता है । पर जब व्यक्ति में लौकिक श्रद्धा होती है तो कभी वह सेवा करता है और कभी वह ईर्ष्यालु हो जाता है । अन्ततोगत्वा वह ईर्ष्या, द्वेष, दोष निकालना, कपट करना और अन्य समस्याओं में उलझ जाता है । ये अलौकिक श्रद्धा के भाग नहीं हैं । अलौकिक श्रद्धा अर्थात् कृष्ण सेवा के लिए निश्चय या दृढ़ संकल्प होना । किसी भी परिस्थिति में इसमें परिवर्तन नहीं होता । यह संकल्प हमेशा दृढ़ रहता है ।

भागवत के १०वें स्कन्ध में एक श्लोक है:
यदनुचरितलीलाकर्णपीयूषविप्रुट्
सकृददनविधूतद्वन्द्वधर्मा विनष्टाः ।
सपदि गृहकुटुम्बं दीनमुत्सृज्य दीना
बहव इह विहङ्गा भिक्षुचर्यां चरन्ति ।। (भा. १०.४७.१८)

"जो श्रीकृष्ण की लीलारूप कर्णामृत के एक कण का भी रसास्वादन कर लेता है उसके केवल एक बार श्रवण करने से जीवन के समस्त द्वन्द्व-धर्म विनष्ट हो जाते हैं। जो इस लीलाओं को सुनते हैं उनके सांसारिक भावों का नाश हो जाता है (समाज से उब जाते है) । ऐसे कई लोग अचानक अपना गृह एवं परिवार का त्याग कर वृन्दावन में दीन पक्षी की भाँति भिक्षु जीवन यापन करते हैं" ।

गोपियाँ वर्णन करती हैं कि यदि कोई कृष्ण-लीलाओं की एक बूँद भी अपने कर्णपुट में भर लेता है, तो वह अपने घर को त्याग कर अकिञ्चन होकर भिक्षु की भाँति यहाँ वृन्दावन में इधर-उधर घूमता है । यह अलौकिक श्रद्धा की शक्ति का ही महत्त्व बताती है जो शीघ्र ही आपको ऊपर उठाती है । यदि अलौकिक श्रद्धा है तो मन में उतार-चढ़ाव नहीं होता है । यह बात आप को समझ लेनी चाहिए ।

जब श्री चैतन्य महाप्रभु एवं गोस्वामियों द्वारा भक्ति का प्रचार-प्रसार किया गया तब एक या दो पीढ़ी तक वह शुद्ध रही । उसके बाद, जैसे सभी मार्ग में होता है वैसे यह भक्ति भी दूषित हो गयी । भौतिक प्रयोजन सिद्ध करने के लिए आध्यात्मिक मार्ग को

दूषित करने की लोगों की यह सामान्य प्रवृत्ति होती है । फिर उसे व्यापार बना दिया यानि उपदेश दो और धनोपार्जनार्थ अनुयायियों की संख्या बढ़ाओ । उसके लिए ऐसी बातें सुनाओ जिससे भौतिकवादी लोग आप की ओर आकर्षित हो जायें । ऐसे लोगों के अनेक अनुयायी बन जाते हैं । ऐसा व्यक्ति जिसे इस विषय में कोई ज्ञान नहीं है, वह ऐसे लोगों के सम्पर्क में आता है, वह उनके प्रभाव में आ जाता है और उन्हीं के कथनानुसार कार्य करता है । तत्पश्चात् परम सत्य को समझना उसके लिए अतिकठिन हो जाता है क्योंकि उसका तथाकथित आध्यात्मिक-अनुभव मात्र लौकिक होता है । आप कुछ भी करते हो, उस से अनुभव मिलता है, चाहे वह खेलकूद हो, शतरञ्ज हो या व्यापार हो । हर प्रकार से अनुभव होते हैं । तथाकथित आध्यात्मिक मार्गीय साधक को भी कुछ अनुभूति होती है और उन अनुभवों को वे अलौकिक अनुभूति मान लेते हैं। वे सोचेंगे, "यह कैसे लौकिक हो सकती है ?" ऐसा होने के बाद सही मार्ग को समझना अतिकठिन हो जाता है क्योंकि उन्हें ग़लत मार्ग में और उन अनुभवों में अत्यासक्ति हो जाती है । पर अलौकिक वस्तु की सही परीक्षा यह है कि वह भगवान के प्रति सदा आकर्षित करती है ।

*****

प्रश्न: क्या इसका अर्थ यह है कि इसका समाधान भगवत्कृपा से ही होता है ?
उत्तर: हाँ ।

******

प्रश्न: यदि मैं ऐसे समाधान की इच्छा रखता हूँ और यदि भगवत्कृपा से मेरा निश्चय दृढ़ हो तो क्या मेरे (प्राकृतिक) गुणों में और अधिक अस्थिरता नहीं होगी ?
उत्तर: हाँ, फिर कोई अस्थिरता नहीं होगी । उसके बाद मन में कोई सन्देह भी नहीं रहेगा क्योंकि समाधान का अर्थ ही निःसन्देह होना है । अस्थिरता तभी होगी जब मन में सन्देह होगा ।

*****

प्रश्न: मुझे नहीं लगता है कि मुझे कोई सन्देह है और मैं यह भी जानता हूँ कि भक्ति ही सब कुछ है, फिर भी गुण अपना प्रभाव दिखाते हैं । तो क्या मेरे मन में कुछ सन्देह फिर भी है जिससे मैं अज्ञात हूँ ?
उत्तर: हाँ ।

******

प्रश्न: जब किसी ने शास्त्रीय श्रद्धा प्राप्त की हो परन्तु प्रगति मंद हो रही हो, क्यों ?
उत्तर: जब किसी में शास्त्रीय श्रद्धा होती है तब उसकी प्रगति तेज़ होती है, यदि वह अपराधों से दूर रहे तो । ज्ञात-अपराध से बचना चाहिए, गुरु का आदर करना चाहिए और उनके कथनानुसार आचरण करना चाहिये ।

*****

प्रश्न: भक्ति में तीन कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम अधिकारी की भावना का विकास किस पर आधारित है ?
उत्तर: श्रद्धा तीन प्रकार की होती है: कनिष्ठ, मध्यम और उत्तम । श्रद्धा का स्तर के आधार पर वर्गीकरण किया गया है ताकि साधक अपना स्तर जान सके । यदि उसकी व्याख्या नहीं होती तो ऐसा लगता कि सभी एक ही स्तर पर है क्योंकि सभी में श्रद्धा है । उसके तीन भिन्न-भिन्न वर्ग दिखाए गए हैं । एक जिस में सर्व श्रेष्ठ श्रद्धा है, दूसरा जिसे मध्यम श्रद्धा है, और तीसरा जिसकी कनिष्ठ श्रद्धा है, अतः कभी व्याकुल हो सकता है ।

*****

प्रश्न: क्या कोई श्रद्धा के एक स्तर से दूसरे स्तर पर विकास कर सकता है ?
उत्तर: हाँ, अभ्यास से, अपराधों से मुक्त होकर, सत्सङ्ग और श्रवण से अधिक दृढ़ बनोगे ।

******

प्रश्न: क्या श्रद्धा कुछ ऐसी वस्तु है जो हमेशा बढ़ती है ?
उत्तर: यदि कोई अनुकूल कार्य करता है, ठीक से सेवा करता है और अपराध रहित रहता है तो श्रद्धा सदा बढ़ती है । श्रद्धा अग्नि की तरह है । अग्नि में इन्धन डाला जाय तो वह अति प्रज्वलित होती है । यह अग्नि का गुणधर्म है कि वह छोटी हो या बड़ी, कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता, फिर भी उसकी मात्रा कम या ज़्यादा हो सकती है । श्रद्धा भी अन्त में प्रीति या प्रेरणा में ही परिवर्तित होती है । आरम्भ में शास्त्रवाणी में श्रद्धा होती है और तदनुसार आचरण करते हैं । फिर वह अधिक बढ़ती है । यह श्रद्धा उच्च स्तर पहुँचेगीं जब आप सभी अपराध से मुक्त हो जाओगे और उसकी अनुभूति भी होगी ।

लौकिक श्रद्धा में अस्थिरता होती है और परिवर्तन भी होता रहता है, परन्तु अलौकिक श्रद्धा में ऐसा कुछ नहीं होता, सिवाय कोई अपराध हुआ हो तो । अलौकिक श्रद्धा भगवत्कृपा से मिलती है । फलस्वरूप साधक की कथाश्रवण में रुचि बढ़ती है । भगवान और भक्तों की असीम कृपा होते ही भगवदीय विषय में सुनने की रुचि बढ़ती है, भगवान के प्रति श्रद्धा बढ़ने लगती है ।

*****

प्रश्न: क्या श्रद्धाहीनता के कारण साधक को गुरु के विषय में सही समझ नहीं होती है ? श्रद्धा भगवत्कृपा से आती है । साधक की प्रगति कैसे हो सकती है यदि उसे गुरु के प्रति सही दृष्टि ही न हो ? क्या यह भी भगवत्कृपा से होती है ?
उत्तर: श्रद्धा अर्थात् सही निर्णय या उचित सङ्कल्प करना । अर्थात् हर सन्देह से मुक्ति।

ऐसा तभी होता है जब साधक को सही ज्ञान और समझ हो । भगवत्कृपा से गुरु या सन्त का सत्सङ्ग मिलता है । उन्हें सुनने से उसके सन्देह का निवारण होता है और वह समझने लगता है कि यही मार्ग उसके लिए हितकारी है । तत्पश्चात् वह जो निर्णय लेता है, वही है श्रद्धा ।

इस जगत में लोग यह विचार कर निर्णय लेते हैं कि, "यदि मैं ऐसा करूँगा तो मुझे कुछ लाभ होगा" या "यह मेरे लिए अति लाभदायक है ।" इस प्रकार के निर्णय यहाँ भी लेने चाहिए । ऐसा भगवत्कृपा से होता है । भगवान ने आप को निर्णय लेने के लिए साधन दिया है । सन्त पुरुष को सुनने, उनसे सङ्ग करने का भगवान अवसर देते है जिससे सन्देह का निवारण कर सकते हो । सन्देह-निवारण के पश्चात् आप उचित निर्णय लो और उस प्रकार कार्य करो । यह भगवत्कृपा है । एक बार उचित निर्णय लेने के पश्चात् आप को सही ढंग से उसका पालन करना चाहिए ।

*****

प्रश्न: पूर्वकाल मैं ने एक भक्त को समर्पण किया था, जो मेरे गुरु थे । फिर दूसरे भक्त को समर्पित हुआ जिस से मुझे आश्रय मिला । वे मुझे भगवत्-रूप लगे क्योंकि वे मेरे गुरु थे । मुझे लगा कि मुझे उनसे बहुत सहायता मिली है और कृष्ण मुझे उनके द्वारा सहायता पहुँचा रहे हैं । मुझे लगता है कि इसी कारणवश मैं यहाँ आया हूँ ।

उत्तर: जब भी अटूट श्रद्धा होगी, वही श्रद्धा आप को सही गन्तव्य तक ले जाएगी । भगवान प्रेरणा तभी देता है जब वह किसी पर कृपा करना चाहता है क्योंकि सही निर्णय लेना सामान्य व्यक्ति के लिए कठिन होता है । भगवान किसी में उसकी श्रद्धा रखने के लिए साधक को प्रेरित करता है ।

यदि कोई निष्ठावान और सरल है तो योग्य स्थान पर आने के लिए भगवान उसे प्रेरित करेगा । पर यदि कोई निष्ठावान नहीं है तो वह ग़लत स्थान पर पहुँचेगा । अशास्त्रीय गुरुसमर्पण शास्त्रीय गुरु का सङ्ग नहीं करवाता । कृष्ण की अहैतुकी कृपा से ही कोई शास्त्रीय गुरु पा सकता है ।

*****

प्रश्न: यदि दृढ़ श्रद्धा इस जन्म में नहीं हुई तो अगले जन्म में किस प्रकार प्रकट होगी?
उत्तर: श्रद्धा दो प्रकार की होती है: लौकिक श्रद्धा और शास्त्रीय श्रद्धा । लौकिक श्रद्धालु व्यक्ति का चित्त दृढ़ नहीं होता अतः वह जानकर कपट करेगा और पुनर्जन्म के संसारचक्र में रहेगा । इस प्रकार की श्रद्धा अस्थिर होती है । ऐसा श्रद्धालु व्यक्ति आध्यात्मिक मार्ग केवल लौकिक लाभ, सुविधा आदि के लिए ग्रहण करेगा । ऐसा

व्यक्ति स्वयं को गुरु से स्वतन्त्र मानता है ।

शास्त्रीय श्रद्धालु साधक पूर्ण दृढ़ता से प्रयास करेगा और यदि वह अपना उद्देश्य सिद्ध न कर पाया तो दूसरे जन्म में वह वहीं से शुरू करेगा जहाँ से छूट गया था । तथापि, एक भक्त के लिए दूसरे जन्म का प्रश्न ही नहीं होता क्योंकि वह पूर्ण निश्चय से (अपने उद्देश्य के लिए) प्रयत्न करता है ।

*****

११३. श्रीमद् भगवद्-गीता

प्रश्नः श्री बलदेव विद्याभूषणजी भगवद् गीता की अपनी टीका में गीता की प्रशंसा करते हुए लिखते है कि गीता अध्ययन कर लेने के बाद किसी अन्य ग्रन्थ को पढ़ने की आवश्यकता नहीं है । क्या वैष्णवों के लिए उत्तम ग्रन्थ श्रीमद् भागवत् के भी अध्ययन की आवश्यकता नहीं है ?

उत्तरः भगवद् गीता नये साधकों के लिए है । यह एक प्रारम्भ भूमिका है । यह पढ़ाती है- "आप शरीर नहीं हैं, बल्कि आत्मा है । यह भक्ति के विषय में भी कुछ कहती है ।
मन्मना भव मद्-भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरू ।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवम् आत्मानं मत्परायणः ।। (गीता. ९.३४)

हे अर्जुन! तू मेरा भक्त बन, मुझ में तेरा मन लगा । मेरी सेवा कर और मुझे नमस्कार कर । इस प्रकार मुझ में एकचित्त होकर एवं मुझ में परायण होकर, तू मुझ को ही प्राप्त करेगा ।

यह सब कुछ इस गीता में हैं, ताकि मनुष्य इसे जानकर बाद में श्रीमद् भागवत् के अध्ययन में रुचि लेने लगे । गीता एक छोटी पुस्तिका है । आम मनुष्य आलसी है, इसी कारण बड़ा ग्रन्थ पढ़ना और अध्ययन करना नहीं चाहता है । वह प्रथम भगवद् गीता से अध्ययन प्रारम्भ कर सकता है । उसकी महिमा श्रीमद् भागवत की महिमा को ध्यान में रखकर नहीं कही गई है (अपितु गीता की महिमा भागवत् की महिमा को पराभूत कदापि नहीं कर सकती है, और विपरीत भी सत्य है ।) । एक आम आदमी कम से कम गीता का अध्ययन तो करे । गीता की महिमा का यह ही उद्देश्य है । यह महिमा श्रीमद्-भागवत की महानता को न्यून नहीं करती है ।

******

प्रश्नः क्या यह एक आध्यात्मिक चेतना है या भाव है, जब साधक पानी पीता है, तब सोचता है - जैसा भगवद् गीता के सातवें अध्याय के ८वें श्लोक में कहा है, "पानी में

मैं स्वाद हूँ''- क्या यह स्वाद श्रीकृष्ण है ?

उत्तरः आपने भगवद् गीता से उदाहरण दिया है परन्तु गीता शुद्धाभक्ति का आग्रह नहीं करती है । यह ग्रन्थ भौतिकवादी मानव के लिए प्रारम्भिक आध्यात्मिक जीवन की ओर लाने के लिए है । यह उन लोगों के लिए है जो आत्मा के विषय में कोई सोच नहीं रखते हैं यानि कि देह के अतिरिक्त भी कोई वस्तु है ।

अर्जुन ऐसे ही अज्ञानी व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व करता है । वह अपनी आसक्ति में सम्पूर्ण तल्लीन था । अतः उसे कैसे अपने कर्तव्य का पालन करने के लिए प्रेरित किया जाय यही गीता का सार है ।

श्रीकृष्ण ने बहुत सुन्दर उपदेशात्मक प्रवचन दिया ताकि अर्जुन का मन परिवर्तित हो और उसका ध्यान भी दूसरी ओर मुड़ जाय अतः उन्होंने बहुत कुछ कहा, जैसे - "आप एक महान पुरुष हैं, यदि आप युद्ध नहीं करेंगे तो लोग आप की आलोचना करेंगे । क्षत्रिय के नाते युद्ध लड़ना आपका कर्तव्य है" । इन संवाद के बीच में कुछ फ़िलसोफ़ी भी कही, किन्तु अर्जुन ने उस को ग्रहण नहीं किया । अतः अन्त में तो श्रीकृष्ण ने यह कह ही दिया, "यदि तुम युद्ध करना चाहते हो तो युद्ध करो । तुम जो कुछ करना चाहते हो, वह करो । मुझे जो कुछ भी कहना था वह मैं ने तुम से कह दिया ।" प्रारम्भ में, अर्जुन बहुत सारे तर्क दे रहा था कि उसे युद्ध क्यों नहीं करना चाहिए । बाद में उस ने कहा कि "मैं भ्रमित हूँ, आप मेरे गुरु हो । आप जो कुछ कहेंगे, वह मैं करूंगा।" बाद में तुरन्त ही उस ने कहा, "मैं युद्ध नहीं करूँगा।" सामान्य जन प्रायः व्यवहार में ऐसा ही करते हैं । वे अपने मन में निश्चय नहीं कर पाते हैं । उनके मन चञ्चल होते हैं जिसका वे अनुसरण करना पसन्द करते हैं ।

यदि आप कुछ कार्य करने के लिए नौकर रखते हैं और उसके साथ सख्ती से पेश आते हैं, तो वह भाग जायेगा । श्रीकृष्ण अर्जुन को चाबुक या कोड़ा भी लगा सकते थे, किन्तु ऐसा करने से अर्जुन भाग जाता । वे उसे कर्तव्य कराने के लिए मना रहे हैं, तब उसकी समझ या अनुभव के विषय में प्रश्न कहाँ है ?

"रागानुगा भक्ति के साथ इस प्रकार के व्यवहार का कोई सम्बन्ध नहीं है । श्री कृष्ण पानी का स्वाद है अर्जुन यह अनुभव नहीं कर सका । अतः उसकी चेतना को उन्नयन कराने के लिए कहा गया । जब आप अपनी शारीरिक चेतना में ही ओतप्रोत हो जाते हो तब आप किसी अन्य व्यक्ति को सुन नहीं सकते हैं क्योंकि आपका मन उस आसक्ति

ने भ्रमित कर दिया है । यही दशा अर्जुन की थी । अतः श्रीकृष्ण ने उसे ज्ञान दिया - "तुम यह देह नहीं हो, किन्तु आत्मा हो," वह उसे यह भी समझाना चाहते थे कि तुम्हारे ऊपर कोई अति प्रभावशाली अधिकारी है । वह ईश्वर है, जो सर्व-नियन्ता एवं सर्वव्यापी है । वे अर्जुन को कुछ भय दिखाना चाहते थे, ताकि वह ईश्वर को सम्मान दे और अपना कर्तव्य निभा सके ।

******

प्रश्नः क्या बिना शास्त्रीय श्रद्धा वैधी भक्ति का पालन करना सम्भव है ?
उत्तरः यह वैधी कैसी हो सकती है ? वैधी का अर्थ है विधि (नियमो) का अनुसरण करना और विधि शास्त्र से आती है ।

******

प्रश्नः जब गीता के श्लोक "अपि चेत् सुदुराचारो", की व्याख्या आप कर रहे थे, तब कहा था कि जो शास्त्रीय श्रद्धा नहीं रखता है केवल उस व्यक्ति पर यह लागू होता है, लेकिन कैसे कोई व्यक्ति विना शास्त्रीय श्रद्धा भक्ति में निष्ठावान् हो सकता है ?

अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।। (गीता. ९.३०)

"यदि कोई अति दुराचारी व्यक्ति भी अनन्य भक्ति से मेरा भजन करता है तो उसे साधु मानना चाहिए क्यों कि उस ने दृढ़ निर्णय लिया है ।"
उत्तरः मनुष्य विविध प्रकार की साधना करते हैं । भारत में यदि कोई शिवजी की पूजा करता है तो उनकी निष्ठा शिवजी में ही होती है । कुछ शिवभक्त विष्णु मन्दिर में प्रवेश भी नहीं करेंगे । ऐसा नहीं है कि उन्होंने शास्त्र सुना या वे कोई शास्त्रीय श्रद्धा रखते हैं। अथवा जैसे कुछ मुसलमान हैं, जो जिहाद के नाम पर मानवहत्या करते हैं । वे जन्म से ही वैसे हैं । भगवद् गीता प्रकृति के गुणों के आधार पर तीन प्रकार की श्रद्धा का विवरण करता है ।

लौकिक श्रद्धा भी ठोस हो सकती है । पहले समय में जब लड़की की लड़के से शादी होती थी तो वह अपना सम्पूर्ण समर्पण कर देती थी । विवाहोत्सव पर अग्नि के सात फेरों के बाद वह लड़के को अपने पति के रूप में स्वीकार कर लेती थी और जीवन पर्यन्त पूर्ण समर्पित हो जाती थी । मान लो कि यदि उसका पति विवाह उत्सव के पाँच मिनट बाद मर जाता है तो भी वह दूसरा विवाह नहीं करती थी । उस में इतना समर्पण का भाव था । जीवन में इस प्रकार के अनेक उदाहरण हो चुके हैं । वर्तमान में पारम्परिक चरित्रवान पत्नी के आर्दश पर आप के लिए विश्वास करना और समझना

अति कठिन होगा ।

संस्कृत भाषा में विवाह-विच्छेद के लिए कोई शब्द नहीं है । इसका अर्थ है कि पूर्व में ऐसी कोई वस्तु अस्तित्व में नहीं थी । विवाह-विच्छेद की सोच भी अस्तित्व में नहीं थी। प्राचीन काल में समर्पित व्यक्तियों का एक इतिहास है । पाश्चात्य संस्कृति के लोग इसे समझ भी नहीं पायेंगे क्योंकि वर्तमान में इस प्रकार के कोई (नये) उदाहरण हम नहीं पाते हैं । एक पत्नी की श्रद्धा अपने पति में लौकिक थी, फिर भी यह ठोस थी ।

भारत में अनेक ऐसे लोग हैं जो लौकिक श्रद्धा से विष्णु-पूजा करते हैं क्योंकि वह वंशानुक्रम से इष्टदेवता है । यह श्रद्धा भी दृढ़ हो सकती है । यह श्लोक "अपि चेत्सुदुराचारो" इस प्रकार के व्यक्तियों के लिए होता है ।

यहाँ शास्त्रीय श्रद्धालु साधक का वर्णन नहीं है । शास्त्रीय (वैधी) श्रद्धालु भक्त सुदुराचार कभी भी नहीं हो सकता है, फिर रागानुगा भक्त का तो कहना ही क्या है । शास्त्रीय श्रद्धा व सुदुराचार एक ही व्यक्ति में नहीं पाये जा सकते हैं ।

शास्त्रों में ऐसे श्लोक भक्ति की शक्ति को ठीक-ठीक दर्शाने के लिए हैं । यह श्लोक उन में से एक है । सैद्धान्तिक रूप से भी शास्त्रीय श्रद्धालु या रागानुगा भक्त का एक भी दृष्टान्त वास्तव में सुदुराचार करते नहीं मिलेंगे । ऐसा कभी नहीं हो सकता । यह श्लोक वस्तुतः भक्ति की शक्ति का प्रदर्शक है ।

******

प्रश्नः भक्त जो कृष्ण की पूजा करता है वह सुदुराचारी कैसे हो सकता है ?
उत्तरः ये दो वस्तुएँ एक साथ नहीं हो सकती हैं । यदि कोई व्यक्ति एकान्तिक या अनन्य भगवान का भक्त है, जैसा कि श्लोक कहता है, वह सुदुराचारी नहीं हो सकता। श्लोक में इसलिए "अपि-चेत्" ''यदि कोई भी'' कहा है । सैद्धान्तिक सम्भावना की सोच से यदि यह घटित हो सकता है, यद्यपि यह घटेगा नहीं किन्तु यदि यह घट सकता है तभी भी वह साधु ही माना जायेगा ।

कुछ लोग इस श्लोक की गलत व्याख्या करते हैं । वे कहते हैं कि यदि कोई भक्त है तो उसे दुराचार करने के लिए अनुज्ञा दी गयी है । किन्तु इस श्लोक का ऐसा उद्देश्य नहीं है, कारण कि श्लोक कह रहा है 'साधुरेव स मन्तव्यः उसे साधु जानना होगा । क्यों ? सम्यग् व्यवसितो हि सः'' उसकी बुद्धि स्थिर है । उसकी एकान्तिक भक्ति भी श्रीकृष्ण में दृढ़ है ।

एक वाक्य में कर्ता (उद्देश्य) और विधेय रहता है या कोई पदार्थ होता है, जिसका अर्थ आपको ज्ञात है, और तब कुछ आदेश दिये जाते हैं । उदाहरण के लिए-आप कहते हो कि "राम सम्मानित होना चाहिए" । इसका अर्थ यह हुआ कि आप राम को जानते हो और वह वाक्य में कर्ता है । अब यह आदेश दिया जाता है कि आपको उसे "सम्मान देना चाहिए" जो विधेय कहलाता है । जिसका (विधेय) आपको ज्ञान नहीं है - जो करना आवश्यक है ।

श्लोक यह नहीं कह रहा है कि आप सुदुराचार करें यह विधेय नहीं है । श्लोक की विधि है कि उसे एक साधु मानना चाहिए । क्यों उसे साधु मानना चाहिए ? इसलिए नहीं कि वह सुदुराचार करता है, परन्तु इसलिए कि उसकी मति श्रीकृष्ण की भक्ति में स्थिर है । वह अनन्य भाक् है । अर्थात् वह श्रीकृष्ण को छोड़कर किसी अन्य का भजन नहीं करता है । इसलिए यदि कोई व्यक्ति की इस तरह स्थिर बुद्धि (कृष्ण में) है, तब वह एक साधु कहलाता है । श्लोक साधु का एक विशिष्ट लक्षण बताता है, किन्तु अनुदेश नहीं करता है कि साधु को सुदुराचार करना चाहिये । यह लक्ष्य नहीं है क्योंकि आदेश "मन्तव्य" शब्द में है । यह आदेश आज्ञासूचक कारक में है । यह आदेश नहीं है कि वह सुदुराचारी हो । ऐसी समझ गलत है ।

******

प्रश्नः यदि कोई व्यक्ति श्रीकृष्ण या विष्णु में आसक्ति रखता है किन्तु शास्त्र का पालन नहीं करता है । फिर भी क्या वह एक वैष्णव कहलायेगा ?

उत्तरः ऐसा व्यक्ति सामाजिक रूप में वैष्णव कहलाता है किन्तु शास्त्रीय अर्थ में नहीं । जब विषय ऐसा आता है तब उसका सन्दर्भ देखना आवश्यक है । यदि कोई व्यक्ति श्रीकृष्ण में आसक्त है तो वह शास्त्र का अनुसरण क्यों नहीं करेगा ? यह स्वाभाविक रूप से स्वीकृत है कि ऐसा व्यक्ति शास्त्र का पालन करेगा । वह पालन क्यों नहीं करेगा? लेकिन यदि ऐसी भी कोई स्थिति है, तो श्रीकृष्ण ने स्वयं इस श्लोक में कहा है:

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ।। (गीता.९.३०)

"यदि कोई अति दुराचारी व्यक्ति भी अनन्य भक्ति से मेरा निरन्तर भजन करता है तो उसे साधु मानना चाहिए क्योंकि उस ने दृढ़ निर्णय लिया है ।"

आप हमेशा सन्दर्भ देखें । वैष्णव का अर्थ है, जो कोई व्यक्ति विष्णु की पूजा करता है अर्थात् वह शास्त्र जो विष्णु के शब्द हैं उसे मानता है । अन्ततोगत्वा गुरू, शास्त्र और विष्णु में कोई भेद नहीं है । यदि कोई शिवजी का भक्त है, तब वह शिवजी जो कहते हैं उसका अनुसरण करेगा । सामान्यतः यदि कोई विष्णु पूजक है, तो वह विष्णु क्या कहते हैं, अर्थात् शास्त्र का ही पालन करेगा । अन्यथा, यह कैसे सम्भव है कि कोई व्यक्ति गुरू और श्रीकृष्ण में समर्पित है, किन्तु वह वे जो कहते हैं उसे नहीं मानता है? तो फ़िर विष्णु पूजक या गुरू पूजक है ऐसा कहने का अर्थ क्या है ?

******

११४ . श्रीमद् भागवत

प्रश्न: क्या शुकदेव गोस्वामी ने व्यासदेव से श्रीमद् भागवत के प्रथम स्कन्ध के प्रथम श्लोक से आरम्भ से ही अध्ययन किया था और महाराज परीक्षित को उसी तरह कहा था ?

उत्तर: हाँ । उन्हों ने प्रथम मङ्गलाचरण श्लोक (जन्माद्यस्य यतः), से १२वें स्कन्ध के अन्तिम श्लोक (भा.१२.१३.२३ – नामसङ्कीर्तन यस्य) तक सुना और उसी स्वरूप में कहा जिस स्वरूप में पुस्तक में लिखा गया है ।

......

प्रश्न: किसने सभी पुराण कहे ? मैं ने सुना है कि वे रोमहर्षण सूत द्वारा कहे गए हैं और श्रीमद् भागवत सूत गोस्वामी ने कहा है । हम यह कैसे समझ पाएँ ?

उत्तर: रोमहर्षण भी सूत है । वह सूत गोस्वामी के पिता है और भागवत सूत गोस्वामी ने कहा । उनका नाम उग्रश्रवा था और सूत उनकी पदवी है । .....

प्रश्न: क्या प्रथम १७ पुराणों, उनके पिता रोमहर्षण सूत ने कहे थे ?
उत्तर: हाँ ।

.....

प्रश्न: उन्होंने श्रीमद् भागवत क्यों नहीं कहा ?
उत्तर: १७ पुराणों को सुनाने के बाद बलरामजी ने उनका वध किया था । फिर उनके पुत्र उग्रश्रवा सूत गोस्वामी ने श्रीमद् भागवत सुनाया ।

.....

प्रश्न: भागवत के वह कौन से तीन श्लोक है जो शुकदेव गोस्वामी ने व्यासदेव के शिष्यों से (जङ्गल में) सुने थे एवं जिसने उन्हें घर वापसी के लिए विवश किया था एवं पिता व्यास से भागवत का अध्ययन करने के लिए प्रेरित किया ? इसका क्या तात्पर्य है ?
उत्तर: यह श्लोक है भा. १.९.२०, ३.२.२३ और १०.२१.५ ।
श्लोक १.९.२० और २१ कृष्ण की उपस्थिति में देहान्त समय भीष्मदेव कहते हैं ।

यं मन्यसे मातुलेयं प्रियं मित्रं सुहृत्तमम् ।
अकरोः सचिवं दूतं सौहृदादथ सारथिम् ।।
सर्वात्मनः समदृशो ह्यद्वयस्यानहङ्कृतेः ।
तत्कृतं मतिवैषम्यं निरवद्यस्य न क्वचित् ।। (भा. १.९.२० - २१)

"आप जिनको अपना ममेरा भाई, प्रिय मित्र, सर्वश्रेष्ठ हितेच्छु मानते हैं और प्रेमवश होकर जिनको आपने अपना सचिव, दूत एवं सारथी बनाया, वे पूरे ब्रह्माण्ड की आत्मा हैं, समदर्शी हैं, अद्वितीय, अभिमान से मुक्त, निर्दोष और विभिन्न कर्तव्यों में विषमता नहीं रखनेवाले हैं ।"
श्लोक ३.२.२३ कृष्ण की कृपा पापिनी पूतना पर हुई इस के सन्दर्भ में है:

अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी ।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम ।।

"ओह! यह कितना अद्भूत है ! पापिनी पूतना जो कालकूट विष से लिप्त स्तन द्वारा दूध पिलाकर कृष्ण की हत्या करना चाहती थी, उस को धाय की गति मिली । भगवान श्रीकृष्ण से भी अधिक दयालु और कौन है, जिसकी शरण हम ग्रहण करें ?"
श्लोक १०.२१.५ में गोपियाँ कृष्ण के बाँसुरी वादन के गीत गाती हैं:
बर्हापीडं नटवरवपुः कर्णयोः कर्णिकारं
बिभ्रद् वासः कनककपिशं वैजयन्तीं च मालाम् ।
रन्ध्रान् वेणोरधरसुधया पूरयन् गोपवृन्दैर्
वृन्दारण्यं स्वपदरमणं प्राविशद् गीतकीर्तिः ।।

"एक शानदार नर्तक जैसा सुन्दर दीखनेवाले, बालों में मयूरपिच्छ, कानों में कर्णिकार के पीले-पीले पुष्पों से बने कुण्डल, स्वर्ण की चमक जैसा पीला पीताम्बर धारण किए हुए, गले में वैजयन्ती के फूलों की माला, बाँसुरी के छिद्रों को वे अपने अधरामृत से भर रहे हैं । उनके पीछे पीछे गोप मित्रों अलग अलग गीतों का गुणगान करते हैं, वैसे श्री कृष्ण ग्वालबालों और पशुधन के साथ वृन्दावन में प्रवेश करते हैं । वह वृन्दावन धाम उनके चरणचिह्नों से प्रेम उद्दीप्त करता है ।"

श्री शुकदेव का कृष्ण के प्रति आकर्षण का वर्णन मुख्यतः मायावाद या अद्वैत दर्शन का खण्डन करना था । यदि अद्वैत या मायावाद दर्शन को चित्त से सम्पूर्ण निकाल न दें, तब तक शुद्ध भक्ति नहीं हो सकती क्योंकि शुद्ध भक्ति में भगवान की स्वीकृति एक

वास्तविक वस्तु के रूप में होती है । अद्वैतवादी भगवान को वास्तविक वस्तु रूप में नहीं स्वीकारते हैं ।

भगवान स्वयं चाहते हैं कि लोग भक्तिमार्ग अपनाएँ क्योंकि यह मार्ग प्रेम पर आधारित है । यदि भगवान और उनके सृजन के प्रति भाव नहीं होगा तो यह सृजन ज़ारी नहीं रहेगा । विष्णु का उत्तरदायित्त्व पालन एवं पोषण का है । पालनपोषण तभी सम्भावित होगा जब जन-समुदाय में परस्पर प्रेम हो ।
अद्वैतवाद यानि कि भौतिक जगत से वैराग्य । यह वाद इस विचार पर आधारित है कि कोई भी आसक्ति बन्धनकारी होती है । अद्वैतवादी किसी भी प्रकार की आसक्ति नहीं चाहते हैं, चाहे वह भगवान हो, उसका सृजन हो या कुछ और हो । अतः अद्वैतवाद में दिखाने का प्रयत्न करते हैं कि यह जगत मिथ्या है (वास्तव में इसका कोई अस्तित्त्व नहीं है) । ऐसी विचारधारा नास्तिक वृत्ति की है ।

शुकदेव गोस्वामी का घर त्याग करना एवं पुनः भागवत का अध्ययन के लिए घर वापस आना, इस प्रसङ्ग का निहित कारण था अद्वैतवाद दर्शन का खण्डन । यही व्यासजी का मूल आशय था । उन्हों ने दिखाया कि एक व्यक्ति जिसने ब्रह्मसाक्षात्कार किया था, उस ने (शुकदेवजी ने) भी इस (अद्वैतवाद) विचारधारा को त्याग दिया । श्रीकृष्ण के गुणों ने उसके हृदय को मुग्ध किया और उस ने भागवत का अध्ययन किया । तात्पर्य है कि उन्हें अपनी पूर्व (ब्रह्म साक्षात्कार) धारणा से कुछ विशेष मधुर अनुभूति हुई ।

.....

प्रश्नः क्या शुकदेव का अभिनिवेश केवल कृष्ण के गुण, विशेष कर वे कितने दयालु हैं यह सुन कर जाग्रत हुआ था ?

उत्तरः आप उसे जाग्रत नहीं कह सकते क्योंकि इसका अर्थ होता है कि वह भाव उनके हृदय में कहीं सुषुप्त था । भागवत में वह आवेश देने की शक्ति है । जीव गोस्वामी कहते हैं कि भागवत आध्यात्मिक है अतः भगवान में आवेश दे सकता है । श्रीमद् भागवत के प्रारम्भ में ही कहा है कि जो इसके श्रवण का इच्छुक है, भगवान उसके हृदय में प्रवेश करते हैं । यह भागवत की शक्ति दिखाता है ।

.....

प्रश्नः यह कैसे सम्भव है कि चार सनतकुमार जैसे ज्ञानी वैकुण्ठ में विष्णु की तुलसीमाला की सुगन्ध पाने से ही भक्त हो गए ?

उत्तरः जगत में मुख्य दो प्रवृति हैः सुख भोगने की इच्छा (भुक्ति) और मुक्ति पाने की इच्छा (मुक्ति) । व्यासदेव ने भागवत लिखा यह दर्शाने के लिए कि भुक्ति और मुक्ति से

भक्ति श्रेष्ठ है । नारद मुनि ने यह बात व्यासदेव को समझायी और व्यास ने यही बात अपनी समाधि में देखी । शुकदेव और चार कुमारों की कहानी में वह यह बताते हैं कि मुक्ति से भक्ति श्रेष्ठ है क्योंकि शुकदेव और चार सनतकुमारों जैसे जीवनमुक्त भी कृष्ण और उनकी भक्ति से प्रभावित हुए थे । परन्तु ऐसा नहीं है कि चारों कुमार भक्त बन गये । वे तो ज्ञानी ही रहे पर उन्हें तो केवल यह अनुभूति हुई कि मुक्ति से भक्ति श्रेष्ठ है । यह प्रकरण भक्ति की श्रेष्ठता का दृष्टान्त है । मुख्य उद्देश्य इसके पीछे यही है ।

*****

प्रश्न: श्रीमद् भागवत में उद्धव गीता का क्या सार है ?

उत्तर: उद्धव गीता का सार है भक्ति योग । जब कृष्ण स्वधाम जा रहे थे तब उन्होंने उद्धव को कहा, "अब मैं स्वधाम प्रस्थान कर रहा हूँ । कृपया ज्ञान का यह प्रवाह जगत में चालू रखिए ।" उन्होंने कहा कि सब ज्ञान का सार उन (भगवान) के प्रति भक्ति है।

*****

प्रश्न: क्या यह सच है कि उद्धव ने कुसुम सरोवर पर कृष्ण की रानियों के समक्ष भागवत का वर्णन किया था ?

उत्तर: वह अर्जुन था जो कृष्ण के पृथ्वी से प्रस्थान के बाद द्वारका से कृष्ण की रानियों को इन्द्रप्रस्थ लाया था । उद्धव इससे पहले व्रज से प्रस्थान कर चुके थे । भागवत में यह बताया है कि कृष्ण ने उद्धव को बदरिकाश्रम जाने के लिए आदेश दिया था ।

******

प्रश्न: उद्धव ने कृष्ण की रानियों को भागवत नहीं सुनाया ?

******

उत्तर: कहाँ ?

प्रश्न: कुसुम सरोवर पर ?

उत्तर: उद्धव व्रजवासियों से नहीं मिले थे, जब वे यहाँ आए तब वे विदुर को मिले थे, जैसा कि भागवत में बताया है ।

*****

प्रश्न: उद्धव विदुर को व्रज में मिले ?

उत्तर: हाँ, भागवत में बताया है कि उद्धव विदुर को यमुनातट पर मिले थे । *****

प्रश्न: क्या यह सच है कि उद्धव ने कृष्ण की रानियों को भागवत सुनायी थी ?

उत्तर: मैं ने ऐसी कोई कहानी सुनी नहीं है ।

*****

प्रश्न: जब उद्धव विदुर को मिले तब कृष्ण के नित्य परिकर नन्द महाराजादि क्या नित्यलीला में प्रवेश कर चुके थे ?
उत्तर: हाँ ।

*****

प्रश्न: श्रीमद् भागवत के १०वें स्कन्ध के १२ से १४ अध्याय को अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है क्योंकि वे सिद्ध करते हैं कि कृष्ण स्वयं भगवान है । इन अध्याय की क्या विशेषताएँ हैं ?

उत्तर: कृष्ण कौन है इसका वर्णन ब्रह्मा करते हैं । वह कृष्ण की आराधना करते हैं और प्रार्थना में बताते हैं कि कृष्ण कौन है । ब्रह्मा प्रमाण है और वे जो भी कहते हैं तो वह कथन प्रमाण माना जाता है ।

*****

प्रश्न: स्यमन्तक-मणि के प्रसङ्ग में अक्रूर और कृतवर्मा जैसे भक्त क्यों कृष्ण के विरोधी की तरह व्यवहार करते थे ?
उत्तर: यह लोगों को शिक्षा देने के लिए है कि व्यक्ति को किस तरह व्यवहार करना चाहिए । भगवान शिक्षा देने के लिए आते हैं । भगवान ने यहाँ धन का लोगों पर क्या असर होता है और ऐसी परिस्थिति में क्या करना चाहिए यह बताया है । नहीं तो यह प्रसङ्ग दिखाने का कोई अर्थ ही नहीं है ।

******

प्रश्न: क्या कृष्ण की योगमाया के प्रभाव के कारण वे इस प्रकार व्यवहार करते थे ?
उत्तर: बिल्कुल वैसे ही जैसे जब तुम कोई नाटक करते हो, और जो असर तुम पर होता है । नाटक में शुरू से ही तय किया होता है कि कौन क्या पात्र निभाएगा । कृष्ण रासलीला करते हैं और एक सामान्य मनुष्य की तरह व्यवहार करते हैं । उसके परिकर भी मनुष्यों की भाँति कार्य करते हैं । मनुष्य कैसे धनलालसा में अन्धे हो जाते हैं वह इस स्यमन्तक मणि लीला में चित्रित किया गया है । जहाँ तक योगमाया का प्रश्न है, कृष्ण की सभी लीलाओं का आयोजन वह करती है ।

******

प्रश्न: क्या जाम्बवान के लिए भी यही सिद्धान्त उपयुक्त होता है, जिसने कृष्ण को नहीं पहचाना और उनसे युद्ध किया ?
उत्तर: हाँ ।

******

प्रश्न: यह भी बताया है कि जब कृष्ण जाम्बवान से युद्ध कर रहे थे और गुफ़ा से बाहर नहीं आए थे तब द्वारकावासियों ने दुर्गा की आराधना की थी । उन्होंने क्यों दुर्गा की

आराधना की थी ?

उत्तर: देवी दुर्गा शक्ति का प्रतीक है और सामान्य लोग कठिनाईओं में उनकी प्रार्थना करते हैं । उन्होंने सामान्य लोगों की तरह व्यवहार किया था । विशेष कर क्षत्रिय दुर्गाभक्त होते हैं ।

*****

प्रश्न: वे सभी यदु थे और हर समय उन्हें कृष्ण का सङ्ग भी प्राप्त था, तो क्या वे सही में भक्त नहीं थे ?

उत्तर: वे मनुष्य लीला करते हैं अतः उनका आचरण भी सामान्य मनुष्य जैसा लगना चाहिए । कृष्ण ने स्थानिक प्रथा एवं जीवन शैली के अनुरूप लीलाएँ की थीं । उदाहरण स्वरूप, आप यहाँ से दिल्ही जाते हो तो पता नहीं चलता कि वृन्दावन की सीमा कहाँ समाप्त हई । हर जगह आप को वैसे ही लोग और वैसी ही भूमि दिखाई देगी, तथापि वृन्दावन अलौकिक है ।

जब कृष्ण आते हैं, तब उनके परिकर भी सङ्ग में लाते हैं एवं उन स्थानीय देशवासियों के जैसा ही व्यवहार करते हैं । जैसे क्षत्रिय लोग दुर्गा की आराधना करते हैं, अतः यदुओं ने भी वैसा किया और कृष्ण की सुरक्षा के लिए प्रार्थना की थी। जब जनसमुदाय को लौकिक सुख चाहिए तो वे किसी देवता की आराधना करते हैं, जैसे कि व्रजवासी इन्द्रयज्ञ करते थे । वे भी भक्त थे फिर क्यों इन्द्रयज्ञ करते थे ? उसका उत्तर है कि वह एक प्रथा थी ।

*****

प्रश्न: मैं यह सोचता था कि यदुओं जो कृष्ण के साथ रहते थे वे लोग कृष्णभक्त ही होंगे ।

उत्तर: हाँ, वे भक्त थे ।

******

प्रश्न: क्या यह एक लीला थी ?

उत्तर: हाँ, वे सभी लीलाएँ करते थे । लीलाएँ ऐसी की जाती हैं जैसा सामान्य जन अपना आचरण करते हैं । कृष्ण के परिकर हमेशा असाधारण हैं, पर यदि सबने उन्हें असाधारण पहचान लिया हो तो लीला ज़ारी नहीं रहती । कभी-कभी उन्होंने असाधारण लीलाएँ की थी पर हर समय नहीं । उन दिनों जो प्रथा और जीवन शैली थी, उसका उन्होंने ज्यादा पालन किया ।

*****

प्रश्न: मैं ने सुना था कि शुकदेव गोस्वामी अपने पूर्व जन्म में कृष्ण के तोता थे और

इस जन्म में वे ब्रह्म साक्षात्कारी थे । यदि वे भगवान के नित्य परिकर हैं तो इस बात को कैसे समझा जाय ? यह लीला है या कुछ ओर ?

उत्तर: इन कहानियों को भूल जाओ । इस दर्शन का सारांश समझने का प्रयत्न करो कि यह कहानियाँ क्या दर्शन समझाती हैं । जब आप बालविहार के बालक को वर्णमाला लिखना सिखाते हो तो उसे ए यानी एपल / अ यानी अमरूद सिखाते हो । शुरू में बच्चे की बुद्धि अल्प एवं सङ्कीर्ण और निर्मल होती है अतः वह केवल स्थूल वस्तु ही ग्रहण कर सकता है । वह अमरूद का चित्र देखकर अनुसन्धान कर याद रखता है । यही अनुसन्धान स्मरण करके वह "अ" लिखता है । एक बार यह समझ लेने के पश्चात् उसके लिए "अ" से "अमरूद" का कोई अर्थ नहीं रहता क्योंकि वह उद्देश्य पूर्ण हो गया है । मुख्य उद्देश्य है "अ" सीखना, परन्तु "अ" को "अमरूद" से कोई सम्बन्ध नहीं है । बड़े होने के बाद आप कुछ संशोधन करना चाहते हैं कि कैसे "अ" से "अमरूद" होता है और फिर वह व्यर्थ बन जाता है ।

इन कहानियों के पीछे विशेष अर्थ छिपे हैं । शुकदेव गोस्वामी का अस्तित्व था कि नहीं, इसका कोई अर्थ नहीं है । मुख्य बात है उस दर्शन को समझना, जैसे कि धर्मः प्रोज्झित कैतवः । यह कहानियाँ, जैसे कि शुकदेव का कृष्ण का तोता होना समय का व्यय करने के लिए है, बिल्कुल वैसे जैसे आप समय का व्यय करने के लिए परिक्रमा करते हैं ।

जब तक आप कैतव की रुचि से मुक्त नहीं हो जाते, आप भक्ति नहीं कर सकते और सबसे महान कपट है मुक्ति की इच्छा रखना । जब तक आप कपट करने की इच्छा से मुक्त नहीं हो जाते, तब तक आप भक्ति नहीं पा सकते क्योंकि मुक्ति और भक्ति परस्पर विरोधी है । जो मुक्ति पाना चाहते हैं, उसे भक्ति में कोई रुचि नहीं होती । मुक्ति अर्थात् "पूरी दुनिया जलकर राख हो जाय, मुझे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता" इस भाव से सर्व त्याग करना चाहता है । व्यक्ति को केवल अपनी मुक्ति में ही रुचि है और दूसरों से कोई लेन देन नहीं है । यह भाव हमेशा के लिए त्यागना चाहिए ।

शुकदेव गोस्वामी की कहानी का इसी उद्देश्य से वर्णन किया है । जन्म से ही शुकदेव स्वानुभूति परायण थे । उनसे विशेष अन्य कोई भी स्वानुभूति व्यक्ति नहीं थे । वे इतने स्वयं अनुभूति सम्पन्न संत थे कि उन्हें पुरुष और स्त्री के मध्य का भेद ज्ञात नहीं था । वे सर्वाङ्गरूप में ब्रह्म में तल्लीन थे। यद्यपि भागवत के मात्र तीन श्लोक के श्रवण पश्चात् यही व्यक्ति भागवत अध्ययन के लिए अपने पिता के घर पुनः आये । यह वही शुकदेव है जिसने गृहत्याग के बाद पुनः घर में प्रवेश किया । सम्पूर्ण भागवत का अध्ययन

उन्होंने अपने पिता एवं गुरु व्यासदेव से किया था । इसका तात्पर्य यह होता है कि मुक्ति से भक्ति कहीं अधिक श्रेष्ठ है । मुक्ति व्यर्थ है क्योंकि ऐसे महान व्यक्ति ने भी उसे त्याग दिया । हम बात कर रहे थे कि भक्ति से कैसे वैराग्य आता है, जैसे शुकदेव गोस्वामी को हुआ । वह महान त्यागी थे, अपितु वे भक्त बने और संन्यासपद को भी त्याग दिया । इससे महान त्याग और क्या हो सकता है ? कौन अपने इस पद को ऐसे त्याग देगा ? तत्पश्चात् वे भक्ति-मार्ग के अनुयायी बने ।

जब तक यह स्थापित नहीं होगा कि भक्ति श्रेष्ठ है और मुक्ति निम्न है, किसी को सम्पूर्ण हृदय से उसमें रुचि नहीं होगी । भागवत यह बात सिद्ध करता है । नारद और व्यास के संवाद का भी यही सार है । भागवत ग्रन्थ लिखने से पहले व्यास ने उत्तमा-भक्ति को स्पष्ट रूप से दूसरें ग्रन्थों मे वर्णन नहीं किया था । व्यासदेव ने यह बात (उत्तमा-भक्ति) श्रीमद् भागवत में समझायी है । वह बताते हैं कि उनका एक पुत्र था, जिसका जन्म १६ वर्ष गर्भ में रहने के बाद हुआ था । यह कोई ऐतिहासिक घटना नहीं है कि शुकदेव गोस्वामी १६ वर्ष तक गर्भ में रहे थे । उन्होंने कैसे जन्म लिया ? ऐसा कहते हैं कि जैसे ही उनका जन्म हुआ, वे बड़े हो गए तो यह सब दिखाने की क्या आवश्यकता है ? रुचि बढ़ाने के लिए कहानियाँ रची जाती है क्योंकि अधिकतम लोगों को कहानियों में रुचि होती है, जैसे कि "अ" से "अमरूद"।

कहानी में कुछ भी नहीं है । यदि आप कहानी में कुछ ढूँढने जाओगे तो उसका कोई अन्त नहीं होगा क्योंकि इस जगत में कई प्रकार के शुकदेव गोस्वामी हैं । जब आप महाभारत पढ़ोगे तब आप को ज्ञान होगा कि शुकदेव गोस्वामी विवाहित है और उन्हें बच्चे भी हैं और एक अन्य शुकदेव है, जो है छाया शुकदेव । पर यहाँ यह तात्पर्य नहीं है । तात्पर्य है कहानी लिखने का प्रयोजन क्या है । भागवत धर्मः प्रोज्झितः कैतवः है। अतः इसे समझाने के लिए भागवत में भिन्न-भिन्न कहानियों का वर्णन किया गया है ।

उदाहरण स्वरूप चार सनतकुमारों की कहानी, जो कहती है कि उन्हें ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ था और इतने सिद्ध थे कि वे वैकुण्ठ में गए । फिर वैकुण्ठ में वे क्रोधित हुए जब उन्हें विष्णु के द्वार पर रोका गया । इससे यह सिद्ध होता है कि ऐसे सिद्ध कुमार भी क्रोधादि से मुक्त नहीं हो पाते हैं । उन पर रजोगुण का प्रभाव हो गया । मात्र भक्ति ही आप का हृदय निर्मल करके आप को शुद्ध करती है । वे ब्रह्म में तल्लीन थे, नग्न अवस्था में थे और पूर्णतया त्यागी थे । क्रोधित होने की बात ही कहाँ आती है ? यह कहानी वास्तव में मायावाद को पराजित करती है । एवं सौभरि मुनि की कहानी योग की निरर्थकता सूचित करती है ।

ये सब कहानियाँ भक्ति की महानता समझाने के लिए कही गई हैं । वास्तव में कहानियों में कुछ नहीं हैं । इनका मुख्य उद्देश्य यह दिखाना है कि भक्ति सभी स्वार्थ और कामनाओं से मुक्त है । जब तक कोई इस स्तर पर नहीं पहुँचता, तब तक वह अशुद्ध रहता है क्योंकि उसमें अभी भी कपट की भावना है ।

*****

प्रश्न: भागवत में क्या ऐसी कहानियाँ हैं जो साहित्यिक या ऐतिहासिक रूप से सच न हो ? जैसे कि एक प्रसङ्ग है जिस में कृष्ण आठ योजन ऊँचा पर्वत कूद जाते हैं, पर ऐसा कोई पर्वत नहीं है जो आठ योजन ऊँचा हो । दूसरा प्रसङ्ग है जिस में अरिष्टासुर का ककुद इतना ऊँचा था कि वह बादल को भी स्पर्श करता था, परन्तु यह कैसे सम्भव हो सकता है ? क्या ऐसा है कि कभी-कभी काव्यात्मक रीति अपनायी जाती है, जैसे कि उग्रसेन ने कई करोड़ सेवक दान में दिए थे ? यह तो भारत की जनसंख्या से भी कई गुना ज़्यादा है । क्या ऐसी कुछ घटनाएँ यथार्थ में नहीं लेनी चाहिये ?
उत्तर: घटनाओं का शाब्दिक अर्थ निकालने की आवश्यकता नहीं है और इन में से ऐतिहासिक रूप से आप कुछ भी सिद्ध नहीं कर सकते । कहानियाँ कुछ शिक्षा देने का एक माध्यम है । लेखक का उद्देश्य श्रोताओं को कुछ कहना है और उसके लिए वह कहानियों को साधन रूप उपयोग करता है । हमें कहानी में निहित उद्देश्य की ओर देखना चाहिए ।
शास्त्र के उद्देश्य को समझने के लिए छः रीति हैं:

१ पुस्तक के आरम्भ और समापन का विश्लेषण करना ।
२ उसमें किसकी महिमा है ?
३ किस बात का बारबार कथन हुआ है ?
४ तर्क से कौनसा सिद्धान्त स्थापित किया गया है ?
५ क्या असाधारण सिद्धान्त कहा गया है ?
६ कहानी का फल एवं सारांश क्या है ?

शास्त्र का सारांश समझने के लिए इन छः मुद्दों का विश्लेषण करना आवश्यक है । लेखक यही हम तक पहुँचाना चाहता है । नहीं तो कोई उसका शाब्दिक अर्थ निकाल कर अनर्थ करेगा ।

शास्त्र में तीन रीतियों से सूचनाएँ दी गई हैं:

१। एक है राजा की तरह, निर्देश देगा, जैसे कि वेद में है, जहाँ सूचना एक आदेश रूप में मिलती है जैसे कि, "आप ऐसा करो, ऐसा मत करो ।" वेद इस प्रकार कहते हैं और बताते नहीं कि ऐसा क्यों करना चाहिए, ऐसा क्यों नहीं करना चाहिए ?

२। दूसरी शैली है पौराणिक । वह वाचक को एक मित्र की भाँति शिक्षा देती हैं ।

३। तीसरी है साहित्यिक शैली और वह है जिस प्रकार एक प्रेमी प्रेमिका को आदेश करता है । वह परोक्ष एवं व्यञ्जना वृत्ति में कहा जाता है । वास्तव में शाब्दिकार्थ महत्त्वपूर्ण नहीं है । ध्वन्यर्थ या व्यञ्जितार्थ ही सही अर्थ होता है । इसमें कुछ अतिशयोक्ति हो सकती है । उसे कहने कि रीति भिन्न है ।

श्रीमद् भागवत इन तीनों रीतिओं को अपनाती हैं । वह एक काव्य शैली है एवं काव्यप्रकाश और ध्वन्यालोक जैसी पुस्तकें जैसे काव्य के नियम बताते हैं, भागवत वही पद्धति अपनाता है । अतः जब शाब्दिक अर्थ तर्क-सङ्गत न हो, तब आप को उसका निहित गुह्य अर्थ निकालना चाहिए ।

*****

प्रश्न: अगर ऐसा ही है तो क्या भागवत में कुछ है जो ऐतिहासिक अर्थ में या वास्तव में सही हो ?

उत्तर: हाँ, कुछ प्रसङ्ग ऐतिहासिक दृष्टि से सही है । मैं वही कह रहा हूँ । सन्देश पहुँचाने के लिए श्रीमद् भागवत इन तीनों रीतियों को अपनाता है । कुछ घटनाएँ सच में हुयी है और कुछ अंश केवल अतिशयोक्ति है । सबसे पहले तो आप को यह समझ लेना चाहिए कि भागवत आप को इतिहास बताने का प्रयत्न नहीं कर रहा है । यदि आप कोई ऐतिहासिक घटना भागवत द्वारा सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हो तो उसके लिए यह सही ग्रन्थ नहीं है । भागवत का मुख्य उद्देश्य कृष्ण को स्वयं भगवान स्थापित करना है । यही सिद्धान्त व्यासदेव ने शुरू में कहा - सत्यं परं धीमहि । सत्य श्रीकृष्ण का नाम है और व्यासजी यही प्रतिपादित करना चाहते हैं कि भगवान का अर्थ क्या है। भगवान यानि वह जो षड् ऐश्वर्य में सम्पूर्ण है ।

ऐश्वर्यस्य समग्रस्य वीर्यस्य यशसः श्रियः ।
ज्ञान वैराग्ययोश्चैव षण्णाम् भग इतिङ्गना ।।

"ऐश्वर्य, अचिन्त्य वीर्य, यश, धन, ज्ञान और वैराग्य, इन षड् ऐश्वर्य को धारण करने की समग्र गुणवत्ता को भग कहते हैं।" (विष्णु पुराण ६.५.७४)

व्यास को भगवान का ऐश्वर्य, ज्ञान, सुन्दरता आदि प्रतिपादित करना है । इन सभी ऐश्वर्य को प्रतिपादित करने के लिए व्यास ने साहित्यिक शैली अपनायी है । इसका अर्थ यह नहीं है कि कृष्ण का अस्तित्त्व नहीं है, परन्तु व्यास जिस प्रकार से इस तत्त्व को प्रतिपादित करना चाहते हैं वह सम्भवतः है कि शाब्दिक न हो अतः उसका अभ्यास करना होगा ।

यह समझ लेना चाहिए कि भागवत का मुख्य उद्देश्य कृष्ण को स्वयं भगवान के रूप में प्रतिपादित करना है एवं अन्त में उत्तमा-भक्ति या व्रज-भक्ति को स्थापित करना है। लेखक का यही मुख्य उद्देश्य है । शेष गौण है । इस में कुछ ऐतिहासिक होगा और किसी में कुछ अतिशयोक्ति होगी । ******

प्रश्न: यदि भागवत पुराण की घटनाओं को ऐतिहासिक रूप से न मानें तो उसका प्रभाव क्षीण होगा अथवा सिद्धान्त में त्रुटियाँ निकालने के लिए विश्लेषण करें तब वर्णित गोलोक वृन्दावनलीला का क्या प्रमाण है ?

उत्तर: ऐसा नहीं है कि उन लीलाओं का कोई प्रमाण नहीं है । जैसे कि श्रीमद् भागवत में जिस गोवर्धन पर्वत का वर्णन किया है ऐसा नहीं है कि उसका कोई अस्तित्त्व है, परन्तु यदि आप उस पर्वत को नापना चाहो तो आप उसे आठ योजन ऊँचा नहीं पाओगे । गोवर्धन पर्वत वहाँ (व्रज में अभी भी) है, परन्तु ऐसा नहीं है जैसा श्रीमद् भागवत में बताया है । ******

प्रश्न: क्या यह व्यक्तिगत रूप से निश्चित करना होगा कि कौन सी लीला सच है और कौन सी नहीं है ?

उत्तर: नहीं, यहाँ व्यक्तिगत विचार नहीं है । यह आप को परम्परानुसार अध्ययन से समझना होगा । शास्त्र को कैसे समझा जाय उस शैली को आप को जानना होगा । आप केवल इन्हीं घटनाओं के बारे में क्यों पूछते हो ? इस प्रकार के संशय बाकी सभी घटनाओं पर भी उठाये जा सकते हैं । उदाहरण स्वरूप, श्रीमद् भागवत के आरम्भ में कहा है कि शुकदेव गोस्वामी अपनी माँ के गर्भ में १६ वर्ष तक रहे थे । कौन इस बात को मानेगा कि वह १६ वर्ष तक अपनी माँ के गर्भ में थे और जन्म के तुरन्त बाद उन्होंने दौड़ना शुरू किया । कौन ऐसे जन्म के बाद चलने लगता है ? वह जङ्गल की ओर ही क्यों चले ? जब वह ब्रह्म साक्षात्कृत पुरुष थे तो उन्हें भाग जाने की क्या आवश्यकता थी ? ऐसा कहते हैं कि उन्हें स्त्री पुरुष के मध्य में कोई भेद नहीं दीखता था, परन्तु क्या गृह एवं जङ्गल के बीच का भेद उन्हें ज्ञात था ? ऐसे कैसे हो सकता है कि उन्होंने एक भी शब्द अध्ययन नहीं किया था, परन्तु जब उन्होंने भागवत के श्लोक

सुने तो तुरन्त अर्थ समझ गए और पुनः गृहागमन और भागवत का अध्ययन किया ।

वैसा ही कृष्ण के गोवर्धन पर्वतधारण लीला में है । यह कल्पना करो कि कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत कैसे उठाया होगा ? क्योंकि पर्वत को उठाने के लिए आप को उसके नीचे जाना होगा और नीचे जाने के लिए पर्वत को पहले उठाना होगा । पहला क्या हुआ- पर्वत उठाया या पर्वत के नीचे पहुँच गए ? पर्वत को उठाने के बाद उसे कैसे पकड़ कर रखा ? यह कैसे हुआ कि पर्वत उठाने के बाद वह नीचे नहीं गिरा और भारी वर्षा में भी पत्थर नहीं गिरे ? क्या पत्थर गौंद से चिपकाए थे ? भारी वर्षा होने पर भी कीचड़ नहीं हुआ । यह सब कैसे हो सकता है ?

सारांश यह है कि शास्त्र की एक शैली है जिसके द्वारा लीला का वर्णन किया जाता है, उस शैली को हमें सीखना चाहिए । हमें वैदिक शास्त्र का अध्ययन उस प्रकार नहीं करना चाहिए जिस प्रकार पश्चिम देशों के लोग शास्त्र का अध्ययन करते हैं और उसका विश्लेषण करते हैं । सबसे पहले तो आप को साहित्य शैली का अभ्यास करना होगा फिर आप समझ पाओगे कि इसका निहित अर्थ क्या है ? आप को श्रीमद् भागवत को समझने के लिए साहित्य समझना पूर्वाकांक्षित है एवं उसका अध्ययन भी प्रमाणिक परम्परा से होना चाहिए, नहीं तो ऐसा होगा मानो आप शहद की बोतल को बाहर से चाट रहे हो ।

*****

प्रश्न: मान लो कि किसी ने वह शैली सीख ली, तो कब उसे ज्ञात होगा कि यह घटना साहित्यिक शैलीमें है या कब उसे ज्ञात होगा कि यह कोई ऐतिहासिक प्रसङ्ग है? क्या यह व्यक्तिगत निर्णय नहीं है ?

उत्तर: यदि आप शैली जानते हो तो आप के मन में ऐसा सन्देह नहीं होगा। शैली यानी रीति, विधि या समझाने की पद्धति या किसी मुद्दे का सन्देश देना । इसे शाब्दिक अनुज्ञप्ति कहते हैं और हर समय लेखक उसका उपयोग करता है । पहले आप को यह पद्धति का अभ्यास करना होगा, फिर आप समझ पाओगे ।
जैसे कम्प्यूटर की भाषा है, वैसे ही कवि की भाषा है । पहले आप को उस भाषा का अध्ययन करना होगा, फिर आप उन शब्दों के अर्थ जान पाओगे । यदि कोई सरल अंग्रेज़ी भाषा जानता है और कोई कहे कि "ए प्रोग्राम हेस बीन एबोरटेड" तो उसे कुछ

समझ में नहीं आएगा। "एबोरटेड[16]" का क्या अर्थ होता है ?

भागवत के १०वें स्कन्ध में गोपियों का वर्णन किया है, परन्तु पूरी पुस्तक में यह कहीं भी नहीं बताया है कि उनके नाम क्या थे, उनका जन्म कहाँ हुआ और वे सब कैसे बड़ी हुई । भागवत में एक भी गोपी का नाम, उनके माता पिता, उनके पति के बारे में कोई वर्णन नहीं है । यह साहित्यिक शैली है क्योंकि लेखक को उनके नाम देने में कोई रुचि नहीं है । यह जानकारी आप कहीं और से भी पा सकते हो । लेखक की रुचि केवल भाव दिखाने में है क्योंकि यही मुख्य वस्तु है ।

माना जाता है कि रासलीला गायत्री मन्त्र का वर्णन है, किन्तु आप सोचोगे कि रासलीला की गायत्री मन्त्र से क्या सङ्गति है ! यही सन्देश देने की साहित्यिक शैली है । जब तक आप शैली नहीं समझोगे, आप उस बात को नहीं समझ पाओगे । सभी अपनी अपनी रीति से भागवत का आस्वादन करते हैं । कुछ घटना ऐतिहासिक है, कुछ सुन्दर काव्य स्वरूप है, यदि आप को कहानी में रुचि है, तो अद्भुत कहानियाँ भी हैं । परन्तु लेखक ने जो आरम्भ में कहा है वही सन्देश वह पहुँचाना चाहता है । उसके लिए शेष सब गौण है ।

उसी प्रकार कृष्ण का नागदमन का प्रसङ्ग - जिसका वर्णन ऐतिहासिक स्वरूप में नहीं किया जा सकता है । ऐसा कहते हैं कि "नन्द महाराज के पास अगणित बछड़े थे" तो वे सब कहाँ रहते थे ? यदि आप के पास कुछ गायें हैं तो उन्हें सम्भालने में बड़ी समस्या होती है । नन्द महाराज के पास नौ लाख गायें थीं और वृषभानु की भी। ऐसा लगता था कि सबके पास नौ लाख गाय थी, जो कभी बढ़ी ही नहीं ! यह साहित्यिक शैली है । नौ अङ्क कुछ विशेष सङ्केत करता है ।

*****

प्रश्नः कौनसे मुख्य साहित्यिक शास्त्र है, जो यह काव्य की रीति की चर्चा करते हैं, जिससे लोग उसे पढ़ सकें और इस शैली से परिचित हो सकें ?

उत्तरः अनेक है । यदि आप गौड़ीय सम्प्रदाय में देखेंगे तो कवि कर्णपुर का अलङ्कार कौस्तुभ, बलदेव विद्याभूषण का काव्य कौस्तुभ और जीव गोस्वामी द्वारा भक्तिरसामृतशेष नाम के ग्रन्थ हैं । श्रीगौरगदाधर प्रेस से उन सब ग्रन्थों की प्रतियाँ छपी हैं और उन पर अपनी टिप्पणियाँ भी हैं । यदि आप गौड़ीय सम्प्रदाय से भिन्न

---

[16] एबोरट का आम अर्थ होता है गर्भपात तो एक कम्प्यूटर प्रोगाम के गर्भपात का क्या अर्थ होता है ?

ग्रन्थ पढ़ना चाहोगे तो आप के लिए साहित्य दर्पण, काव्यप्रकाश, और ध्वन्यालोक हैं। साहित्य के ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं जिनसे आप ज्ञान प्राप्त कर सकते हो ।

*****

प्रश्न: द्वारपाल जय और विजय के प्रसङ्ग से क्या शिक्षा मिलती है ?

उत्तर: इस प्रसङ्ग से कुछ बातें सीखने को मिलती है । इस कहानी से भगवान ने हमें यह बोध दिया है कि ब्राह्मण का कभी तिरस्कार नहीं करना चाहिए । यदि कोई ब्राह्मण का तिरस्कार करता है तो उन्हें जय विजय की तरह दुःख झेलना पड़ता है ।

दूसरा, यह भी दिखाया है कि कैसे ब्रह्म साक्षात्कार भक्ति से निम्न है क्योंकि अन्त में भगवान ने अपने भक्तों की ही तरफदारी की, चार सनतकुमारों की नहीं । कुमारों को भी बाद में अनुभूति हुई और उन्हों ने भक्त बनने के लिए प्रार्थना की, यद्यपि वे ब्रह्मज्ञानी ही रहे ।

भगवान वीररस का आस्वादन करना चाहते थे इसलिए उन्होंने अपने भक्तों को अपने शत्रु रूप में भेजा, पश्चात् वे अवतरित हुए, उन से युद्ध किया एवं वीररस का आस्वादन लिया । भगवान के साथ युद्ध के लिए भी उनके परिकर से अतिरिक्त अन्य कोई समर्थ नहीं है । कभी-कभी भगवान के परिकर शत्रु वेष धारण करते हैं ।

अन्त में वे भगवद्गीता में कहते हैं कि जब जब अधर्म की वृध्धि होती है, तब तब धर्म की पुनः स्थापना करने के लिए वे अवतार लेते हैं, यह भी एक दृष्टिकोण है ।

*****

प्रश्न: क्या जय और विजय की सेवा अयोग्य थी ?

उत्तर: नहीं । वे दोनों भगवान के परिकर थे तब उनकी सेवा अयोग्य कैसे हो सकती है ? वह तो भगवान की अपनी इच्छा थी । उन्होंने जय विजय को कहा था "डरो मत; यह मेरी योजना है । आप जाओ और पुनः मेरे पास ही आओगे ।" यदि उनकी सेवा अयोग्य होती तो उनकी उपेक्षा हुई होती ।

******

प्रश्न: चित्रकेतु या वृत्रासुर की कथा की क्या विशिष्टता है ?

उत्तर: यह प्रसङ्ग उत्तमा-भक्ति की उत्कृष्टता बताता है एवं भगवद्भक्त कैसे निडर, स्थिर चित्तधारी और किसी भी परिस्थिति में अविचलित रहते हैं । चाहे वे स्वर्ग में हो या नरक में, हर परिस्थिति में भगवद्भक्ति से जुडे रहते हैं । यह प्रसङ्ग अपराध की प्रतिक्रिया भी सूचित करता है ।

******

प्रश्न: वृत्रासुर ने किस प्रकार की सेवा की थी ?

उत्तर: उनका ध्यान हमेशा भगवान के चरणकमल पर स्थिर था । इसके अतिरिक्त उन्हें और कोई इच्छा नहीं थी । उन्हें धार्मिक प्रवृति (यज्ञादि) के फल, धन, शक्ति, इन्द्रिय सुख या मोक्ष की भी इच्छा नहीं थी । यह प्रसङ्ग बताता है कि कैसे एक भक्त अपने ध्येय पर स्थिर होता है और उसे भक्ति के अतिरिक्त किसी में भी रुचि नहीं होती ।

*****

प्रश्न: गुरु और वैष्णव अपराध न करने का क्या महत्त्व है, क्योंकि इन्द्र ने अपने गुरु का दो बार अपराध किया था; पहले बृहस्पति का, तत्पश्चात् विश्वरूप-वध ।

उत्तर: हाँ । ये सब भगवत्परिकर हैं जिनके द्वारा भगवान हमें अपराध से कैसे बचना है यह शिक्षा देते हैं । इन प्रसङ्गों का उन परिकरों पर कोई प्रभाव नहीं होता, पर अभिनय द्वारा अपराध से कैसे बचे रहें यह सामान्य जन को सिखाते हैं ।

******

प्रश्न: चित्रकेतु ने सङ्कर्षण की आराधना की थी तो क्या वह उसकी उत्तमा-भक्ति या वैधी-भक्ति थी ?

उत्तर: वैधी भी उत्तमा-भक्ति है, यद्यपि हम रागानुगा के लिए उत्तमा-भक्ति शब्द का प्रयोग करते हैं । उत्तमा-भक्ति का विशिष्ट गुण है अन्याभि-लाषिता शून्यं, अन्य कोई इच्छा नहीं, और यह सब चित्रकेतु के चरित्र में था, विशेषकर जब वह वृत्रासुर के रूप में इन्द्र से युद्ध कर रहा था तब उस ने सुन्दर प्रार्थना में उत्तम भक्त की मनोवृत्ति का वर्णन किया था । जब उन्हें पार्वती से श्राप मिला तब भी भगवत्सेवा से अतिरिक्त अन्य किसी में कोई रुचि नहीं थी । वह वैधी या रागानुगा भक्ति हो, चित्रकेतु ने उत्तम भक्त के विशिष्ट गुण हमें दिखाये । चित्रकेतु को भक्ति के अलावा अन्य किसी भी वस्तु में रुचि नहीं थी ।

प्रायः सामान्य लोग लौकिक प्रगति (भुक्ति) या मुक्ति चाहते हैं । यह भुक्ति या मुक्ति पाना केवल भक्ति से सम्भव है, अन्य किसी मार्ग से नहीं । भक्त तो यह भुक्ति या मुक्ति भी नहीं चाहता है । वे भक्ति करते हैं और फल-स्वरूप कुछ नहीं चाहते हैं । इसका अर्थ यह नहीं है कि वे कुछ नहीं पाते हैं, परन्तु वे ऐसा कुछ पाने की अपेक्षा ही नहीं रखते हैं । यह वृत्रासुर के चरित्र में दिखाया है जिसने सबसे कठिन परिस्थिति में भगवच्चरणसेवा के अतिरिक्त कुछ नहीं चाहा था । वे चाहते थे कि भगवान का नित्य स्मरण हो ।

भक्ति अर्थात् स्वयं को भगवान को समर्पित करना और उन की प्रसन्नता के लिए कार्य करना । यदि आप दूसरे भक्तों के सहयोग से भक्ति आरम्भ करते हैं और फिर अनुकूल

सेवा कैसे की जाय वह समझ पाएँगे ।

*****

प्रश्न: भरत महाराज ने हिरन बनकर फिर से जन्म लिया था क्योंकि पूर्व जन्म में उन्हें हिरन में आसक्ति थी, परन्तु यह भी सच था कि हिरन की रक्षा करना उनका कर्तव्य था । कोई अपना कर्तव्यपालन करते हुए कर्मफल से कैसे बच सकता है ?
उत्तर: उस ने हिरन की रक्षा की इसलिए पुनर्जन्म नहीं मिला था परन्तु हिरन में आसक्ति थी अतः पुनर्जन्म मिला था । *****

प्रश्न: हाँ, परन्तु हिरन की देखभाल रखने के कारण उन्हें उस कर्म का परिणाम भुगतना पड़ा ।
उत्तर: इसे कर्मफल नहीं कहते । हिरन की रक्षा करना उनका कर्तव्य था, न कि उससे आसक्ति बढ़ाना । उन्होंने अपनी नित्यसेवा त्याग दी, जो उनका कर्तव्य था । उन्होंने हिरन की रक्षा की, परन्तु हिरन के लिए उनकी आसक्ति बहुत बढ़ गयी और वह भी इतनी हद तक कि जीवन में उनके लिए हिरन से अतिरिक्त कुछ महत्त्वपूर्ण नहीं रहा । हर पल वे हिरन के विषय में सोचते, उसका पालनपोषण करने में इतने व्यस्त हो गए थे कि वे भगवान की सेवापूजा करना भी भूल गए थे । इसी कारण उन्हें दूसरा जन्म लेना पड़ा । मृत्यु के समय आप जो सोचते हो, उसी के अनुसार आप का पुनर्जन्म होता है । मृत्यु के समय वे हिरन के बारे में सोच रहे थे ।

तथापि यह कथा समझाती है कि हिरन-रूप में भी कैसे उनकी भक्ति विस्मृत नहीं हुई थी । बाद में हिरन देह में भी उन्हें अपने पूर्व जीवन का पूरा स्मरण था ।

******

प्रश्न: क्या यह क्षत्रिय का कर्तव्य है कि वह राजर्षि महाराज भरत की भाँति जंगल में शेष जीवन बिताए ?
उत्तर: वर्णाश्रम में यह वानप्रस्थ है । वर्णाश्रम पद्धति में क्षत्रिय वानप्रस्थ तक पहुँचता है । वह संन्यास ग्रहण नही करता है ।

*****

प्रश्न: क्या भरत महाराज़ नवधा-भक्ति के नौ प्रकार जैसे कि श्रवण, कीर्तनादि को करते थे या कुछ और प्रकिया करते थे ?

उत्तर: उन्होंने अर्चना भक्ति की थी । यह प्रसङ्ग हमें कुछ सन्देश देता है । एक बार भक्ति ग्रहण करने के बाद आप स्वतन्त्र नहीं रहते हैं । यदि आप में स्वतन्त्र भावना या

अलगाव-वाद की मानसिकता आती है तो वह आपको भक्ति मार्ग से भ्रष्ट करेगी। यद्यपि महाराज भरत ने हिरन के पालनपोषण का उत्तरदायित्त्व लिया तो भी उन को भगवान को विस्मृत नहीं करना था एवं हिरन में सम्पूर्ण आसक्ति नहीं बढ़ानी थी। यदि आप स्वयं को अलग या स्वतन्त्र मानते हो तो ऐसा ही परिणाम मिलेगा।

भक्ति का अर्थ होता है कि आप स्वतन्त्र नहीं है। यह सोचना भरत के लिए भ्रम था कि, "मैं हिरन की रक्षा करता हूँ क्योंकि मैं एक क्षत्रिय हूँ।" मुख्य बात है भावना। यदि भावना स्वतन्त्र है, तो उसका परिणाम भी स्वतन्त्र है। यदि भावना भक्ति के मार्ग पर होती तो ऐसा कभी नहीं होता। यदि भरत हिरन की रक्षापालन के साथ भक्ति भी करते होते तो उनकी आसक्ति मुख्यतया भगवान कृष्ण पर ही होती।

*****

प्रश्न: क्या महाराज भरत हिरन की आसक्ति के अनुभव के कारण जड़ भरत के रूप में किसी भी वस्तु में आसक्त नहीं हुए थे ?

उत्तर: जड़ भरत होकर वह केवल अपने पूजनीय प्रभु का ध्यान करते थे। वे सम्पूर्णतया देह में अनासक्त थे। अतः वे किसी नाम और कीर्ति के लिए चिन्तित नहीं थे। यद्यपि लोगों ने उन्हें मूर्ख समझा, उन्हें इसका कोई फ़र्क़ नहीं पड़ा। उन्हें शारीरिक (आवश्यक) वस्तुओं में भी कोई आसक्ति नहीं थी क्योंकि जब वे महाराज भरत थे तभी उन्होंने राज़पाट आदि का त्याग कर दिया था, उसके बाद हिरनजन्म के रूप में आसक्ति का क्या फल मिलता है इस अनुभव से परिचित थे। अब वह किसी भी वस्तु में आसक्त नहीं होना चाहते थे। अब उन्होंने वैसा ही जीवन व्यतीत किया जैसा प्रकृति ने दिया था एवं मन में हमेशा प्रभु के प्रति ध्यानमग्न रहते थे। अतः उन्हें भय नहीं था, यहाँ तक कि काली देवी के अनुयायियों ने उन्हें मार डालने का प्रयत्न किया, वे तब भी भयभीत नही हुए।

******

प्रश्न: विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर कहते हैं कि कभी कभी कुछ विशेष उद्देश्य से भक्त को भगवत्प्राप्ति होने में विलम्ब होता है, कदाचित् दो तीन जन्म भी लग जाते हैं, क्योंकि वह भगवान से कोई विशेष सम्बन्ध की आकांक्षा रखता है, जिसके लिए उसे अधिक प्रयास करना पड़ता है। इसके लिए महाराज भरत का उदाहरण दिया है, जिन्होंने ने तीन जन्म लिए पर वह कौन से अन्तिम चरमभाव के आकांक्षी थे ?

उत्तर: महाराज भरत दास्य या भगवान के सेवक बनकर उन के साथ रहना चाहते थे। अतः उन्होंने एक और जन्म लिया, परन्तु उत्तमा-भक्ति में ऐसा नहीं होता है। यह केवल उन लोगों के लिए है जो भक्ति को ज्ञान, योग और कर्म मार्ग के साथ मिश्रित करते

हैं। इन सभी मार्गों में प्राकृतिक गुणों का कुछ मिश्रण रहता है और आरम्भ में उन गुणों की स्पष्ट समझ नहीं होती है । बाद में जब साधक कुछ विशेष सम्बन्ध चाहता है तो उस में विलम्ब होता है और पुनर्जन्म लेना पड़ता है ।

उत्तमा-भक्ति के मार्ग पर श्रद्धा से आरम्भ कर भगवान से सम्बन्ध होता है और इसी सोपान से साधक की प्रगति भी होती रहती है । इस मार्ग में अवरोध है तो वह है अपराध । यदि साधक अपराध से अलिप्त रहे तो पुनर्जन्म का कोई कारण ही नहीं होता ।

प्राचीन समय में भी लोग भक्ति को ठीक से समझ नहीं पाए थे, भक्ति हमेशा कर्म और ज्ञान से मिश्रित थी । लोगों में सामान्य समझ यह थी कि पहले कर्म करो, कर्म करते करते आप को ज्ञान मिलेगा । साधक की रुचि के कारण भक्ति में (योग या ज्ञान से) मिश्रण की सम्भावना होती थी । ******

प्रश्न: क्या भक्ति रसामृत सिन्धु में भिन्न भिन्न प्रकार के भावों का वर्णन भी ऐसी ही घटना को दर्शाता है ? वहाँ यह दर्शाया है कि भक्त जिस प्रकार का सङ्ग रखता है उस आधार से भगवान के साथ उसका विशेष सम्बन्ध विकसित होता है । पर क्या यह सम्बन्ध उसके सङ्ग परिवर्तन से परिवर्तित किया जा सकता है ?
उत्तर: हाँ । राजा भरत जैसे साधक को उत्तम भक्तों का सङ्ग नहीं मिला था । अतः उनकी रुचि इस प्रकार हुई ।

*****

प्रश्न: दक्ष ने शिव का आदर नहीं किया, एवं नारद मुनि को श्रापित किया, इन प्रसङ्गों का क्या तात्पर्य है ? यह दोनों प्रसङ्ग भिन्न है, पर दोनों घटनाओं में दक्ष ने महाभागवत का सत्कार नहीं किया था ।
उत्तर: घटना में ही उस का परिणाम दिखाया है । दक्ष का सिर बकरे का बना । वैष्णव अपराध के कारण ऐसा ही होता है ।

*****

प्रश्न: दक्ष ने नारद मुनि के साथ पुनः ऐसा क्यों किया ?
उत्तर: यदि कोई स्वयं वैष्णव नहीं है तो उसे वैष्णव अच्छे नहीं लगते हैं । *****

प्रश्न: यद्यपि उसे बकरे का सिर पाने की कठोर प्रतिक्रिया मिली तो भी उस ने नारदजी का अनादर किया ?

उत्तर: ऐसा जगत में हमेशा होता है । आप देखोगे कि जो भक्त नहीं है, उन्हें भक्त अच्छे नहीं लगते हैं। भक्तों के प्रति अपना दुष्ट व्यवहार करने पर भी उन्हें (अपनें में) कोई दोष नहीं दिखता है । जब आप किसी दूसरे की कथा पढ़ते हो तो आप इस प्रकार का विश्लेषण करते हो परन्तु यदि आप के जीवन में ऐसा कुछ घटता है, तो उसका विश्लेषण आप उस दृष्टिकोण से नहीं करते हो ।

प्रसङ्ग हमें समझाता है कि जब किसी को कोई उच्च पदवी प्राप्त होती है तो वह कैसे अभिमानी बन जाता है और इस अभिमान के कारण दूसरों का अनादर करता है । यह घटना समझाती है कि अभिमान करने से कैसा विनाश होता है । दक्ष को प्रजापति बनाया था, जिस से उस में अभिमान आया । जब भी आप अभिमानी होते हो, तब आप दूसरों का अनादर करते हो । जहाँ अनादर होता है, वहाँ लड़ाई होती है। झगड़े का परिणाम है कि दोनों पक्षों को दुःख उठाना पड़ता है । न ही शिव और न ही दक्ष को अपनी लड़ाई से कोई लाभ हुआ । अतः इस प्रकार का दुष्ट व्यवहार किसी को भी नहीं करना चाहिए । यह प्रसङ्ग हमें यही शिक्षा देता है ।

*****

प्रश्न: नवमें स्कन्ध में जमदग्नि का प्रसङ्ग है, जिसने पुत्र परशुराम को उसकी माता और भाइयों का वध करने का आदेश दिया था । यह अतिकठोर आदेश था, तो इस प्रसङ्ग से हमें क्या शिक्षा मिलती है ?

उत्तर: यही कि कैसे अपने पिता का आज्ञाकारी होना चाहिए ।

*****

प्रश्न: क्या हर परिस्थिति में आज्ञाकारी होना चाहिए ?
उत्तर: हाँ ।

******

प्रश्न: यदि अपने पिता किसी का वध करने को कहे तो ऐसी परिस्थिति में भी उनकी आज्ञापालन करना चाहिए ?
उत्तर: यह प्रसङ्ग यही शिक्षा सिखाता है ।

*****

प्रश्न: क्या वह सचमुच करना चाहिए ?
उत्तर: यदि आप वध करोगे तो आप जेल जाओगे । प्राचीन समय में जो होता था, ऐसा आधुनिक समय में नहीं हो सकता । मुझे नहीं लगता है कि आप के पिता ऐसा करने को आप को कहेंगे । कोई भी पिता ऐसा नहीं करेगा । आज तो पुत्र छोटा सा

काम करने के लिए भी तैयार नहीं है तो किसी की हत्या करने का का प्रश्न ही नहीं उठता ।

*****

प्रश्न: जमदग्नि ने परशुराम को तीर्थयात्रा पर जाने का आदेश दिया एवं क्षत्रिय कार्तवीर्य अर्जुन की हत्या का प्रायश्चित करने को कहा था । इसको क्यों अपराध माना गया जब कि कार्तवीर्य अर्जुन ब्राह्मण की रक्षा करने के बजाय जमदग्नि की कामधेनु गाय की चोरी कर रहा था । राजा वेन के प्रसङ्ग में जिन साधुओं ने उनकी हत्या की थी, उन्होंने भी प्रायश्चित नहीं किया था ।
उत्तर: यह स्मृतिशास्त्र के सिद्धान्त हैं । कार्तवीर्य अर्जुन एक राजा था और राजा की हत्या करना पाप था । स्मृति शास्त्र आचारसंहिता है ।

*****

प्रश्न: तो वेन के प्रसङ्ग में साधुओं ने क्यों प्रायश्चित नहीं किया था ?
उत्तर: राजा वेन नास्तिक था अतः वह राजा बनने के लिए बिल्कुल योग्य नहीं था । वेन की तरह कार्तवीर्य अर्जुन दूसरों को आतंकित नहीं करता था । उस (कार्तवीर्य अर्जुन) ने यह नहीं कहा कि "विष्णुपूजा मत करो, मेरी पूजा करो ।" कार्तवीर्य अर्जुन ने ऐसा आचरण नहीं किया, यद्यपि गाय छीनने का अभद्र काम किया, जब कि वह न्यायपरायण राजा था । वेन की तुलना कार्तवीर्यार्जुन के साथ नहीं कर सकते । कार्तवीर्य अर्जुन ऐसा राजा था जो अपनी प्रजा की रक्षा करता था । उस ने सुशासन किया । राजा को विष्णु का प्रतिनिधि माना जाता है अतः उसका वध करना उचित नहीं था । परन्तु वेन ने एक आदर्श राजा की भाँति आचरण नहीं किया था । वह नास्तिक था और लोगों को विष्णुपूजा न करने के लिए दबाव डालता था । अतः वेन विष्णु का प्रतिनिधि नहीं था क्योंकि वह विष्णु के विरुद्ध में था । उसका वध करने में कोई पाप नहीं था ।

कार्तवीर्य अर्जुन का वध उचित नहीं था क्योंकि जब उसकी हत्या हुई, तब अधर्मी लोगों ने सामान्य जन समुदाय को कष्ट देना आरम्भ कर दिया । लुटेरों ने लूटना शुरू किया, और अधर्म बढ़ने लगा । जब महाराज परीक्षित को अभिशाप दिया तब शमीक ऋषि ने ब्राह्मणपुत्र से कहा, "आप ने उसे अभिशाप देकर ठीक नहीं किया।" परीक्षित का कार्य ग़लत था, तो भी एक ब्राह्मण को क्षमाशील होना चाहिए, यह उसका कर्तव्य है कि सब का कल्याण हो ऐसा कार्य करे । उसे यह नहीं सोचना चाहिए कि, "उस ने मेरे साथ ग़लत किया है अतः मैं उसका वध करूँगा ।" इसका परिणाम सब को भुगतना पड़ा क्योंकि कार्तवीर्य अर्जुन का कोई विकल्प नहीं था जो समाज हित करता है उनका एक अपराध सहन करना ही उचित है न कि उसकी हत्या करना ।

प्रश्न: भागवत में हरिश्चंद्र महाराज की घटना है, जिसने पुत्र प्राप्ति के लिए वरुण देव की पूजा की थी । बाद में जब उसके पुत्र रोहित का बलिदान देना था तो हरिश्चंद्र पुत्र के बदले अन्य किसी व्यक्ति को खरीद कर ले आए । इस घटना से क्या शिक्षा मिलती है और यह घटना श्रीमद् भागवत में क्यों है ?

उत्तर: यह घटना सांसारिक व्यक्तित्व चित्रित करती है । यह घटना बताती है कि जनलोक कैसे व्यवहार करते हैं, अपने बच्चों से कितनी आसक्ति रखते हैं और इस आसक्ति के कारण बच्चों को बचाने के लिए क्या क्या नहीं करते हैं । यद्यपि हरिश्चंद्र महान सत्यवादी जाने जाते हैं, फिर भी वे पुत्र की आसक्ति से प्रभावित हुए । उन्होंने अपने वचन के अनुसार पुत्र-बलिदान देने के लिए ना नहीं कहा था, परन्तु वे टालते रहे तथा पुत्र के स्थान पर एक ऋषिपुत्र को खरीद कर उसकी बलि देना चाहते थे । यह घटना सांसारिक लोगों की आसक्ति दर्शाती है । एवं यह भी दर्शाती है कि उस समय कुछ लोग मानव-बलिदान भी करते थे । मानव-बलिदान जड़ भरत की कथा में भी है । मानव-बलिदान तामसिक विग्रह को दिया जाता है ।

*****

प्रश्न: क्या यह भी वैदिक संस्कृति का भाग है कि तमोगुणी लोग मानव बलिदान देते थे ?

उत्तर: यह वैदिक नहीं परन्तु तान्त्रिक विधान था ।

*****

प्रश्न: ऐसे मानव बलिदान का उद्देश्य क्या है ?

उत्तर: वे अपना लौकिक उद्देश्य पूर्ण करना चाहते थे । लुटेरे जड़ भरत का बलिदान देना चाहते थे, जिससे उन्हें विभूति या शक्ति मिले ।

*****

प्रश्न: आप कहते हो कि वह वैदिक नहीं परन्तु तान्त्रिक है ?

उत्तर: हाँ । कालान्तर में धर्म का पतन हो जाता है, तत्पश्चात् दुरुपयोग, विचलन और भ्रष्टाचार ही धर्म में दिखायी देता है । ऐसे बलिदान का मुख्य उद्देश्य त्याग की मर्यादा दिखाना था - आत्मसमर्पण. यही सोच थी परन्तु जब वे भूल जाते हैं या दुरुपयोग होता है, तब आप अपना आत्मसमर्पण नहीं करते परन्तु दूसरों का बलिदान करना चाहते हैं, यह मान कर कि मानव-बलिदान से देवी प्रसन्न होगी ।

*****

प्रश्न: गजेन्द्र, जो अपने पूर्व जीवन में इन्द्रद्युम्न राजा थे, उनको अगस्त्य मुनि ने शाप दिया था क्योंकि उस ने मुनि का उचित स्वागत नहीं किया था । क्या अगस्त्य मुनि के इस शाप को एक वैष्णव अपराध माना जायेगा ?

उत्तर: भक्ति सुसंस्कृत सज्जनों के लिए है क्योंकि भक्त कृष्ण के साथ सम्बन्ध रखता है जो (कृष्ण) सर्वोच्च सुसंस्कृत एवं परम शिक्षित है । यह कथा हमें यह शिक्षा देती है कि सभ्यता से कैसे व्यवहार करना चाहिए । इन्द्रद्युम्न ध्यान लगाकर बैठे थे इसलिए ऐसा कोई कारण नहीं था कि अगस्त्य मुनि जैसे आदरणीय और विशेष अतिथि को आदर न दे । उनसे अतिथि आदर नियम का उल्लङ्घन हुआ अतः उन्हें दण्ड मिला । किसी को तो उसकी ग़लती सुधारनी थी । यह घटना हमें सूचित करती है कि आप पूजा कर रहे हो और यदि कोई विशेष अतिथि आ जाय तो आप को यह नहीं सोचना चाहिए कि, "मैं उस व्यक्ति का स्वागत नहीं कर सकता हूँ क्योंकि मैं अभी अर्चना कर रहा हूँ ।" प्रायः लोग ऐसा सोचते हैं ।

आप के घर में भी यदि कोई पुलिस अफ़सर आ जाय तो अपना सभी काम छोड़ कर उस अफ़सर से बातचीत करते हो । यही सच्चा व्यवहार है । एक पुलिस अफ़सर जैसे सामान्य व्यक्ति के साथ आप ऐसा व्यवहार करते हो, तो अगस्त्य मुनि जैसे आदरणीय साधु के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह आप सोच सकते हो।
इस प्रसङ्ग से हमें यह शिक्षा मिलती है कि अतिथि का स्वागत कभी भी अनादर से नहीं करना चाहिए । इस घटना का मुख्य उद्देश्य सब का आदर करने के सिद्धान्त को समझाना है, न कि यह निर्णय करना है कि अगस्त्य मुनि सही थे या ग़लत । उदाहरण स्वरूप, एक राजा का कर्तव्य है अपराधी को दण्ड देना और इस कार्य को आप उस राजा का वैष्णव अपराध नहीं कह सकते क्योंकि दोषी को उचित दण्ड देना यह राजा का कर्तव्य है । समाज में राजा लोगों को नियन्त्रण में रखता है । ठीक उसी प्रकार, जनसमुदाय के दोष को सुधारना साधु सन्तों का कर्तव्य है, नहीं तो किस में इतना साहस है जो राजा को कुछ कहे ?

******

११५. संसार में भक्तों का व्यवहार

प्रश्न: शिक्षाष्टक के चतुर्थ श्लोक में वर्णित है कि किसी को धन, अनुयायी आदि वस्तुओं की महेच्छा नहीं रखनी चाहिए, किन्तु भक्ति कार्य के लिए हमें धन-दौलत, शिक्षा इत्यादि की आवश्यकता होती है । इसे हम किस प्रकार समझें ?

उत्तर: न धनं न जनं न सुन्दरीं, कवितां वा जगदीश कामये ।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे, भवताद् भक्तिरहैतुकी त्वयि ।। (चै.च.अन्त्य २०.२९)

"हे जगदीश्वर! मैं धन, अनुयायीगण, सुंदर पत्नी या कविता करने की योग्यता की इच्छा नहीं चाहता हूँ । मेरी केवल एक ही चाह है कि मेरे प्रत्येक जन्म में आप के लिए

अहैतुकी भक्ति हो" ।

प्रथमतः व्यक्ति इन्द्रिय सुख प्राप्ति के लिए सांसारिक इच्छाएँ रखता है और शास्त्र यह बताते हैं कि वे उन्हें कैसे पूर्ण करें । अतः वे अपनी इच्छा पूर्ति के लिए सकाम कर्म करते हैं । जब वे उनसे असन्तुष्ट होते हैं तो शास्त्र उन्हें निष्काम कर्म, अर्थात् बिना किसी फल-प्राप्ति की इच्छा से कर्म करने को कहते हैं । फिर भी व्यक्ति असन्तुष्ट रहता है क्योंकि वह अभी भी सांसारिक इच्छाएँ रखता है । क्योंकि वह भौतिकता से परेशान था, उस ने और कोई अधिकांश सांसारिक इच्छा नहीं रखी, किन्तु उसके हृदय में अभी भी सुसुप्त अज्ञात इच्छाएँ हैं ।

अब वह भक्ति की ओर मुड़ता है । वैधी भक्ति के पथ पर साधक को सेवा करना पसन्द नहीं है, पर फिर भी वह सेवा करता है क्योंकि शास्त्र यह आदेश देता है । रागानुगा भक्ति या उत्तमा भक्ति में साधक की एक मात्र इच्छा होती है भगवान कि सेवा करना और उन्हें प्रसन्न रखना ।

यदि भक्त भगवान की सेवा करना चाहता है तो उसे प्रभु सेवा के लिए वस्तुओं की आवश्यकता होती है । अतः शिक्षाष्टक का यह श्लोक दर्शाता है कि महाप्रभु को श्री कृष्ण के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से धन इत्यादि की चाह नहीं थी ।

प्रसिद्ध कवि कालिदास ने माँ काली की कृपा से कविता रचने की शक्ति पाई थी, अपितु वे शुद्ध भक्त नहीं थे । इस शक्ति का प्रयोग उस ने स्वयं की कीर्ति के लिए किया था । एक भक्त ऐसी शक्ति नहीं चाहता है । वह केवल सेवा करने की ही इच्छा रखता है और उसके सारे प्रयत्न उसी के लिए होते हैं । ध्रुव महाराज काव्यमय प्रार्थना करना नहीं जानते थे, तब, विष्णु भगवान ने उसके कपोल पर अपने शंख के स्पर्श द्वारा इस प्रार्थना के लिए प्रेरित किया था । एक भक्त प्रभुसेवा के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से किसी वस्तु की इच्छा नहीं रखता है ।

सभी भौतिक सम्पत्ति अस्थायी है । बच्चा बन्द मुट्ठी जन्म लेता है किन्तु बूढ़ा होकर खुली मुट्ठी से मरता है । ठीक उसी प्रकार हमें श्रीकृष्ण के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से किसी वस्तु पर स्वाधिकार नहीं है ।

******

प्रश्नः क्या कोई तब तक प्रतीक्षा करें जब तक श्री कृष्ण सेवा के लिए पैसे न भेजें अथवा उसे उसके लिए प्रयत्न करना चाहिए ?

उत्तर: व्यक्ति को प्रयास करने चाहिए । बिना प्रयास के कुछ भी सम्भव नहीं है । जैसे एक रथ दो पहियों पर आगे बढ़ता है, उसी प्रकार हमें भी प्रयास और कृपा के दो पहियों पर आगे बढ़ते रहना चाहिए । एक पहिया है भक्त के प्रयास और दूसरा पहिया है ईश्वर की कृपा । यह बात दामोदर लीला में कृष्ण द्वारा सूचित की गई है । माता यशोदा श्रीकृष्ण को केवल उसके प्रयत्न करने के बाद ही बाँधने में (कृपासे) समर्थ हुई और श्रीकृष्ण ने बन्धन स्वीकार भी किया ।

श्री कृष्ण देखना चाहते हैं कि कैसे कोई गम्भीरता से प्रयत्न कर रहा है । जब वे सन्तुष्ट होते हैं तो वे उसे वह जो चाहता है, देते हैं । किन्तु इस बात से उसे अभिमानी नहीं होना चाहिए और यह न सोचे कि प्रत्येक वस्तु उसके स्वयं के कठिन परिश्रम से प्राप्त हुई है ।

एक आदमी सोचता था कि अपने अच्छे भाग्य के कारण वह जीवित है, तो लोगों ने उसके साथ एक प्रयोग किया और उसे बिना किसी भोजन के एक कमरे में बन्द कर दिया । वहाँ केवल एक दण्ड और रसगुल्ला से भरा मटका था । उसे खाने के लिए दण्ड से वह मटका तोड़ना था, जो उस ने थोड़े समय के बाद तोड़ा । फिर भी वह यही कहता रहा, "मैं मेरे अच्छे भाग्य के कारण बच गया" । किन्तु यदि वह मटके को तोड़ने का प्रयत्न न करता तो भूख से मर जाता । अतः उसे दोनों की आवश्यकता थी, प्रारब्ध और प्रयत्न । इसी प्रकार भक्त को प्रयास और ईश्वर कृपा दोनों की आवश्यकता है ।

बहुत महत्वपूर्ण वस्तु यह है कि जब कोई धन प्राप्त करता है तो यह न सोचें, "ऐसा मेरे कारण घटित हुआ और मुझे भगवान की कोई आवश्यकता नहीं है" । किन्तु ऐसा समझना चाहिए कि यह श्रीकृष्ण-कृपा से हुआ है और उस धन का व्यय उनकी सेवा में ही करें ।

******

प्रश्न: भौतिक सम्पत्ति संग्रह के लिए अत्यधिक प्रयत्न का प्रारम्भ कब कहलाता है ?
उत्तर: अत्यधिक प्रयत्न का अर्थ होता है अपनी क्षमता से भी अधिक करना । हमें अपनी क्षमता से न अधिक और न कम करना चाहिए । उदाहरण रूप, आप देखते हैं कि किसी व्यक्ति के पास आप से अधिक है (जैसे कि वह आप से अधिक सेवा करता है), तो आप उस जैसा धन पाने की इच्छा करते हो और उसके साथ प्रतियोगिता करना प्रारम्भ करते हो ।

भक्ति का तात्पर्य है, गुरू का आनुगत्य करना और उनसे वैसा करने का मार्गदर्शन

पाना कि आप ठीक से उन चीज़ों को कर रहे हो अथवा अधिक प्रयत्न कर रहे हो ।

******

प्रश्न: अपने लिए अति प्रयत्न क्या है यह निर्णय करना कठिन होता है ।

उत्तर: इसीलिए आप को गुरु से पूछना चाहिए । वे आप की क्षमता को जानते हैं ।

******

प्रश्न: भागवत में ग्यारहवें स्कन्ध में श्रीकृष्ण कहते हैं कि एक भक्त बुरी घटनाओं को अपने बुरे कर्मों के रूप में देखता है । वह अच्छी और बुरी दोनों बातों को श्रीकृष्ण की व्यवस्था के रूप में क्यों नहीं देखता है ? अथवा ऐसे कथन क्या कोई विभिन्न भक्तों के लिए हैं ?

उत्तर: भक्तगण कारख़ाने में कुछ टेप रिकॉर्डर की भाँति उत्पन्न नहीं होते हैं, ठीक जैसे मशीन की भाँति कार्य करते रहें ।

वास्तव में भक्त अच्छी और बुरी बातों को कर्म के साथ नहीं जोड़ता । वह केवल अपना कर्तव्य निभाता है और सेवा में स्थिर रह कर अच्छी बुरी जो भी परिस्थिति हो उसमें अचल रहता है । वह बैठ कर दार्शनिक की भाँति चिन्तन नहीं करता है कि यह मेरे बुरे कर्मों का फल है, या फिर श्रीकृष्ण की कृपा से है, अथवा ये है या वो है। इन बातों के लिए उसके पास समय नहीं होता, जैसा कि सांसारिक जीवन में लोग इसी सोच में डूब जाते हैं । विशेषकर पश्चिम में लोग कर्म में विश्वास नहीं करते । जब उनके सामने विभिन्न समस्याएँ खड़ी होती हैं, तो परिस्थिति अनुसार व्यवहार करते हैं । अपने बुरे कर्मों को जानने के लिए और ऐसा क्यों और कैसे हुआ ये जानने वे कोई ज्योतिष के पास नहीं जाते ।

ठीक उसी प्रकार भक्त भी अपनी सेवा में संलग्न रहता है और जो भी परिस्थिति आए, अचल रहता है । वह यह नहीं सोचता, "यह मेरे ख़राब कर्म है, या श्री कृष्ण की इच्छा है, अथवा यह है, वह है इत्यादि ।" कभी कभी भक्त भी आम लोगों को शिक्षार्थ ऐसी सामान्य बातें करता है । भारत में जब किसी आम आदमी को कोई समस्या आती है तो वह कहता है, "मेरे पाप के कारण मैं यह कष्ट पा रहा हूँ ।" जब मन विक्षिप्त होता है तो आप इसी प्रकार कोई कारण की कल्पना करते हैं । जब कोई समस्या आती है तो आप को थोड़ी सान्त्वना चाहिए, अतः आप उसके प्रभाव से सम्बन्धित कुछ कारण की कल्पना करते हैं और फिर आप का मन स्थिर हो जाता है। जब कोई प्रतिकूल परिस्थिति खड़ी होती है तो स्वाभाविक रूप से मन अशांत हो जाता है अतः मन को क़ाबू में रखने के लिए उस को कुछ खुराक चाहिए, जैसे कि "ठीक है, यह मेरे कर्म हैं"। फिर मन यह सोचकर सन्तुष्ट हो जाता है कि, "मैं ने पूर्व जन्म में कुछ ग़लत

किया होगा, जिसका यह परिणाम मैं पा रहा हूँ" । यह बात कुछ सांत्वना देती है और फिर से वह अपने कर्तव्य में निरन्तर लगा रह सकता है ।

कभी कभी एक भक्त भी आम व्यक्ति की तरह बातें करता है । किन्तु इस प्रकार सोचने की आवश्यकता नहीं है । जो कुछ भी हो, वह अपना कार्य करता है ।

उदाहरण के लिए: युधिष्ठिर महाराज ने भी एक के बाद एक अनेक समस्याओं का सामना किया था । वे हमेशा शोक करते थे ।

"ओह ! मैं ने अपने पूर्व जन्म में कुछ बुरे कर्म किए होंगे इसीलिए मैं कष्ट पा रहा हूँ।" यह केवल लोगों को शिक्षा देने के लिए है, कि कई समस्या होने के बावजूद अथवा वे जो भी कठिनाइयों का सामना कर रहे हैं, उन्हें अपनी भक्ति में स्थिर रहना चाहिए । अपने बाल्यकाल से ही युधिष्ठिर महाराज ने कष्ट सहे थे । जंगल में उनके पिता की मृत्यु हो गयी और उन सभी को दुर्योधन के विरोध का सामना निरन्तर करना पड़ा । इतना होने पर भी वे भक्ति परक सेवा करने में प्रतिबद्ध रहे ।

अतः आज जब कोई भक्त से बात करता है तो भक्त भी एक आम आदमी की तरह बात करेगा । श्री रामचन्द्र ने भी कई कठिनाइयों का सामना किया, जब कि वे स्वयं भगवान हैं । राजसिंहासन पर बैठने के बजाय उन्हें जंगल में भेज दिया गया था और वहाँ भी वे शांति से नहीं रह सके क्योंकि उनकी पत्नी का अपहरण कर लिया गया था। लम्बे और भयंकर युद्ध के बाद अपनी पत्नी को पाया लेकिन लोगों द्वारा फैलायी गयी अफ़वाओं के कारण उनका परित्याग करना पड़ा । अन्त में वे अपनी पत्नी के साथ भी न जी सके ।

अब, आप इसे कर्म, लीला अथवा यह ओर वह कुछ भी कह सकते हो, किन्तु यह मात्र दार्शनिक रूप है । सारांश यह है कि भक्त को हर परिस्थिति का स्वीकार करना चाहिए । भक्तों को इन बातों को लेकर चिंतित नहीं होना चाहिए । उदाहरण रूप, मेरे गुरुदेव को जीवन के अन्तिम पड़ाव में लकुआ हो गया था । स्मृति-शास्त्र में किस पाप के कारण क्या बीमारी आती है इसका वर्णन है । समस्त बीमारियों को पाप का परिणाम बताया है और विशेष पूजा और धार्मिक प्रवृत्तियों से उन्हें मिटाया जाता है । इस तरह व्याधि दूर हो जाएगी । जब भी इस विषय पर मैं ने गुरुदेव से बात की कि " गुरुदेव, क्या आप की बीमारी, प्रारब्ध कर्म के कारण हुई है ? तो वे चुप रहे ।" फिर एक बार मैं ने कुछ अनुष्ठान (कर्म से छुटकारा पाने की धार्मिक प्रवृत्ति) करना

चाहा, किन्तु गुरुदेव ने कहा, "इसकी कोई आवश्यकता नहीं है ।" अर्थात् वे ऐसा नहीं सोचते थे कि वह व्याधि उनके प्रारब्ध कर्म के कारण थी ।

.....

प्रश्न: मैं यह सोचता था कि भक्तगण कहते हैं कि "यह श्रीकृष्ण की व्यवस्था के कारण है" ।

उत्तर: उसके लिए समय कहाँ है ? सोचो कि आप हरी घास काट रहे हो और मशीन के अंदर आप का हाथ कट जाता है । फिर आप ऐसा नहीं सोचेंगे, " ओह! ऐसा श्रीकृष्ण की व्यवस्था के कारण हुआ है" । आप यह सोचेंगे, "अब मुझे कुछ दवाई करनी होगी और डॉक्टर के पास जाना होगा" । आप और क्या सोच सकते हैं? रात को जब अपने कमरे में जाओगे तब दार्शनिक रूप से सोचने का समय मिलेगा । जब आप सेवा में मग्न हो जाते हो तब यह नहीं सोचते हो, "गोबर उठाकर मैं अपने अनर्थों से मुक्त हो रहा हूँ" । आप सेवा में मग्न हो ।

*****

प्रश्न: आज मैं तात्कालीन कारण और परम कारण के विषय में आप के एक प्रवचन को लिख रहा था । आप उस पर चिन्तन कर रहे थे और....

उत्तर: अपने ख़ाली समय में आप चिन्तन कर सकते हैं । यह केवल दूसरों से बातें करने और समझाने के लिए है । यदि आप अपना कार्य निष्ठापूर्ण कर रहे हैं तो परम कारण या तात्कालीन कारण के विषय में सोचने का समय ही कहाँ होगा ? क्योंकि लोग कुछ न कुछ पूछते रहते हैं अतः आप को उन्हें कुछ न कुछ जवाब देना पड़ेगा । अन्यथा उन्हें सन्तोष नहीं होगा और सोचेंगे, "यह व्यक्ति कुछ जानता नहीं है ।"

ऐसा सांसारिक जगत में होता है । जब कोई व्यक्ति भौतिकवादी जीवन में तल्लीन है, तब वह कर्म, भाग्य, दया, अवसर, तात्कालीन परिणाम आदि की चिन्ता नहीं करता है। वह केवल अपने उद्देश्य के बारे में सोचता है और दिन रात उसी में तन्मय रहता है। वह सोचता है, "मैं अपना उद्देश्य कैसे प्राप्त करूँ ?" वह उद्देश्य जो भी हो, जैसे कि करोड़ो रुपयें बनाना, वह उसकी प्राप्ति में लीन रहता है । वह कर्म आदि के विषय में सोचता नहीं है । एक भक्त अपने कार्य में उससे भी अधिक मग्न रहता है और कर्म के विषय में सोचता नहीं है । जब आप अपने कमरे में अकेले होते हो तब ऐसी दार्शनिक बातें करते हो, किन्तु जब आप सेवा करते हो तब ऐसा सोचने का समय कहाँ होता है ?

.....

प्रश्न: हाँ, आदर्श रूप से दिन के चौबीस घंटे आप सेवा करते हो तो दार्शनिक रूप से सोचने का समय कहाँ होगा ?

उत्तर: हाँ । जब भक्त दृढ़ है, उसकी निष्ठा भक्ति में है, तो वह इन सब बातों को लेकर चिन्तित नहीं रहता - बस यही सार है । ये सभी व्याख्याएँ प्रारम्भिक स्थिति के लिए है क्योंकि इसी प्रकार आप को अपने मन को स्थिर करना है । अतः मैं ने कहा था, "जब आप का मन उद्विग्न होता है तो उसे शांत करने के लिए कोई सहारा चाहिए । अपने मन को कुछ न कुछ देना आवश्यक है ।" आप "एक भक्त" के बारे में पूछ रहे थे, तो "भक्त" का अर्थ होता है वह जो अपनी सेवा में स्थिर है । वह अपने मन में ऐसी समस्याएँ नहीं रखता है । उसे "कर्म" अथवा यह और वह आदि के विषय में सोचने की आवश्यकता नहीं है ।

*****

प्रश्न: तो क्या शास्त्र का यह एक उदाहरण है जो मनुष्यों को सान्त्वना देने के लिए कुछ समाधान बताता है ।

उत्तर: हाँ, अवश्य, क्योंकि स्पष्ट रूप से शास्त्र इन्हीं लोगों के लिए है । जो स्थिरमति है उन्हें शास्त्र की आवश्यकता नहीं है । वे सेवा में मग्न रहते हैं ।

******

प्रश्न: ऐसा कहा गया है कि हमें प्रत्येक जीवित प्राणी का आदर करना चाहिए, यहाँ तक कि मानसिक रूप से भी । किन्तु कभी कभी हम देखते हैं कि अन्य वैष्णव अनुचित रूप से व्यवहार करते हैं । ऐसी स्थिति में क्या करना चाहिए ?

उत्तर: आदर करना चाहिए क्योंकि हर एक प्राणि मात्र भगवान के बैठने का स्थान है। वे सर्वव्यापी है । व्यक्तिगत रूप से सम्मान नहीं दिया जाता है । यदि कोई ग़लत कार्य करता है तो हम उसका समर्थन न करें । यदि कोई व्यक्ति दुर्व्यवहार करता है तो हम ऐसे व्यक्ति का साथ न दें ।

उदाहरण रूप से, यदि कोई गुरु-निन्दक है, तो हमें उसे सम्मान नहीं देना चाहिए । हमें केवल उसके सङ्ग से बचना चाहिए क्योंकि वह ऐसी व्यक्ति नहीं है जिसके साथ हम सङ्ग करना चाहते हैं । हम सम्मान करते हैं क्योंकि भगवान सर्वत्र है । अतः व्यक्ति में भगवान की उपस्थिति के कारण उसे सम्मान देते हैं । मात्र व्यक्ति होने के नाते सम्मान नहीं देते हैं, परन्तु यदि सम्मान का पात्र है तो सम्मान दे ।

अतः यदि आप को किसी व्यक्ति में कुछ अच्छा चरित्र दिखाई देता है तो आप उसे सम्मान देंगे और यदि नहीं दिखाई देता तो उपेक्षा करेंगे । इसका मूल हेतु यही है कि आप सम्मान करें ताकि आप ईर्ष्यालु न हो जाय अथवा किसी विशेष व्यक्ति में आसक्त न हो जाय । जैसे गीता के प्रचलित श्लोक में कहा गया है - कुत्ता, चाण्डाल और

ब्राह्मण को समान रूप में देखना चाहिए:

विद्या विनय सम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनी ।
शुनी चैव श्वपाके च, पण्डिताः समदर्शिनः ।। (गीता ५.१८)

"ज्ञानी पुरुष विद्या सम्पन्न और विनयी ब्राह्मण में तथा गाय, हाथी, कुत्ता और चाण्डाल में समान दृष्टि रखते हैं ।"

इसका अर्थ यह नहीं है कि आप सभी को एक सा सम्मान प्रदान करें । सम्मान दो ताकि आप राग और द्वेष में फँस न जाओ । किसी से आसक्ति न करो और घृणा भी न करो । इसका अर्थ यह नहीं है कि आप को एक कुत्ते और ब्राह्मण के साथ एक जैसा व्यवहार करना चाहिए । वास्तव में आप को सभी से व्यक्तिगत तौर पर सही शिष्टाचार से व्यवहार करना चाहिए । किन्तु आध्यात्मिक दृष्टिकोण से देखें तो भगवान सर्वत्र विराजमान हैं । यह भावना रखने का अर्थ होता है समान दृष्टि रखना।

अतः एक कुत्ते और एक ब्राह्मण के साथ समान व्यवहार नहीं करना चाहिए । उनके स्वाभाव और योग्यता को ध्यान में रखकर उनसे व्यवहार करना चाहिए ।

.....

प्रश्न: प्रतिदिन हमारे मन में अनेक विचार आते हैं और उनमें से बहुत को वास्तव में हम चाहते भी नहीं हैं । उनके प्रति हमारी क्या दृष्टि होनी चाहिए और हम क्या कर सकते हैं जिससे उनका प्रभाव हमें परेशान न करें और भक्ति में अपना ध्यान केन्द्रित कर सकें ?

उत्तर: श्रीकृष्ण ने स्वयं गीता में कहा है:

तस्मात् सर्वेषु कालेषु, मामनुस्मर युध्य च ।
मय्यर्पितमनोंबुद्धिर्मामैवैष्यस्यसंशयम् ।। (गीता ८.७)

"अतः सदैव मेरा स्मरण करो और युद्ध करो । मुझ में स्थिर किए हुए अपने मन और बुद्धि से निःसन्देह तुम मुझे प्राप्त करोगे ।"

मामनुस्मर युध्य च – तुम मेरे बारे में सोचो और युद्ध करो । युद्ध सूचित करता है कि इस जगत में आप को कई प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना है । आप को अपने शरीर से भी समस्या आती है । आप बीमार होते हो अथवा काम, लोभ, क्रोध, ईर्ष्या आदि विचार मन में आते हैं और शरीर स्वयं नाशवान् है । संसार में प्रतिकूल समस्याएँ हमेशा आती हैं, जो व्यक्ति के अपने शरीर से प्रारम्भ होती है और बाद में

परिवार से आती हैं । यदि आप बाहर काम करते हैं तो अन्य लोगों से समस्याएँ आती हैं । हर परिस्थिति में आप को सदैव श्रीकृष्ण और गुरु का स्मरण रखना है । यह संसार एक युद्ध भूमि के समान है और आप को एक योद्धा की भाँति लड़ना है। यह तभी सम्भव होगा जब आप श्रीकृष्ण का स्मरण करते हैं ।

कृष्ण ने स्वयं यह सूत्र दिया है: मामनुस्मर युध्य च, "तुम मेरा स्मरण करो और युद्ध करो ।" और वे दूसरी बात भी करते हैं:

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय, शीतोष्णसुख-दुःखदाः ।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत ।। (गीता २.१४)

"ओह कुन्ती पुत्र! इन्द्रिय और विषयों के संयोग से सर्दी, गरमी, सुख और दुःख आदि द्वन्दों की अनुभूति होती है । वे अनित्य हैं एवं आदि और अन्त वाली हैं । अतः हे भरत-वंशज! तू इन्हें सहन कर ।"

ये सभी समस्याएँ आती हैं और चली जाती हैं । अतः आप को उन्हें सहन करना है । वे पुनः कहते हैं:

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः ।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः ।।
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित् ।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः ।। (गीता १२.१८-१९)

"जो शत्रु और मित्र के साथ समान व्यवहार करता है, मान-अपमान, ठंडी-गरमी, प्रशंसा-निन्दा आदि द्वन्दों में मानसिक रूप से स्थिर रहता है, जो आसक्ति-रहित है, मननशील है, जिस किसी प्रकार से शरीर-निर्वाह होने में सदा सन्तुष्ट है, गृहादि पर आधिपत्य-भाव एवं आसक्ति से मुक्त, और भक्ति में जिसका स्थिर मन है, वह मुझे प्रिय है ।"

आप को निन्दा और प्रशंसा, सुख-दुःख में एक समान रहना चाहिए । इन निर्देशों का पालन करने से आप दृढ़ निश्चयी बन सकते हैं ।

.....

प्रश्न: हमारे दैनिक जीवन में अनेक प्रकार के दुष्प्रभावों से कैसे निपटें ? जब हम घर से बाहर सारा दिन कार्य करते हैं तो हम अनेक दुष्प्रभावों से वशीभूत होते हैं ।

उत्तर: जब आप इस संसार में रहते हैं तो यह सम्भव नहीं है कि आप केवल उन लोगों से ही मिले जो आप जैसी दार्शनिक समझ रखते हों अथवा समान पथ के अनुयायी हों । यदि आप यहाँ वृन्दावन में भी रहते हैं तो भी हर एक व्यक्ति आप के पथ का अनुसार करने वाला नहीं है । फिर भी आप को उनसे व्यवहार करना होगा। यह सम्भव नहीं है कि आप लोगों से व्यवहार न करें ।

लोगों के साथ व्यवहार करते समय आप को अपनी अवधारणा में दृढ़ रहना है और दूसरों से प्रभावित नहीं होना है । आप दूसरों से प्रभावित तभी होते हो जब आप दूसरों की अवधारणाओं से जुड़ना प्रारम्भ कर देते हो । प्रथम आप उस व्यक्ति को या फिर उसकी सोच की सराहना करने लगते हैं और फिर उसका अनुसरण करते हैं। अतः आप को अपनी सोच में दृढ़निश्चयी रहना आवश्यक है ।

हम दूसरों से व्यवहार करना नहीं टाल सकते । मैं भी व्यक्तियों के साथ व्यवहार रखता हूँ और जिनसे मैं व्यवहार करता हूँ या जिसके साथ मैं रहता हूँ उनकी सोच भी मेरी सोच से भिन्न है । किन्तु मैं अपना कार्य करता हूँ और वे अपना कार्य करते हैं । ठीक जैसे वे मेरी सोच को नहीं ग्रहण करते, मैं भी उनकी सोच को ग्रहण नहीं करता । इन व्यवहारों में न तो लोग आप से प्रभावित होते हैं और न ही आप को उनसे प्रभावित होना है ।

.....

प्रश्न: किन्तु पसन्द न करने पर भी हम कभी कभी उनसे प्रभावित हो जाते हैं ।
उत्तर: आप अपनी पसन्द के बिना कैसे प्रभावित हो सकते हैं ?

.....

प्रश्न: हमारे चारों ओर हिंसा है, लोग बहुत आक्रमक है और यह हमको प्रभावित करते हैं ।
उत्तर: इसे आप नहीं टाल सकते, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं होता कि आप उनके दर्शन का अनुसरण करें । यदि आप किसी आक्रमक व्यक्ति से मिलते हैं तो यह साहजिक है कि आप शान्त नहीं रह सकते । पर यह भक्ति में आप की श्रद्धा को न खो सकती है और न ही आप को कमज़ोर कर सकती है ।

******

प्रश्न: इस जगत में लोग आपको बार बार निराश करते हैं । ऐसे हम किसी व्यक्ति पर कैसे विश्वास कर सकते हैं ?
उत्तर: इस सांसारिक जगत में कुछ सत्य और कुछ कपट चलता रहता है क्योंकि यहाँ न तो कोई स्वतन्त्र है और न कोई सर्व शक्तिमान । प्रत्येक व्यक्ति को दूसरों से सहायता की आवश्यकता है । अपनी आवश्यकताओं को पूर्ण करने के लिए व्यक्ति धोखा देने

वाली प्रवृत्ति की शरण लेता है, ठीक जैसे यदि आप कुछ बेचना चाहते हैं तो आप दूसरे व्यक्ति को ऐसा नहीं कहेंगे, "इसका सही मूल्य इतना है, और मुझे इतना मुनाफ़ा मिल रहा है ।" ऐसा कहने पर कोई आप से ख़रीदेगा नहीं । आप को उस वस्तु की क़ीमत दुगुनी कहनी होगी और थोड़ा झूठ भी कहना होगा, जैसे कि: "मैं आप से कोई मुनाफ़ा नहीं कमा रहा हूँ क्योंकि आप एक भक्त हैं । मुझे भक्त अत्यधिक पसन्द हैं ।" आप को कई झूठ कहने होंगे । व्यापार इसी प्रकार चलता है।

केवल भक्ति के मार्ग में अथवा सच्चे आध्यात्मिक जीवन में यह सिखाया जाता है कि व्यक्ति को धोखाधड़ी विद्या छोड़ देनी चाहिए । अतः जब हम सांसारिक लोगों के साथ व्यवहार करते हैं, तो व्यापार भी उसी रीत से करना होगा । हमें सावधान भी रहना होगा ताकि हम धोखाधड़ी में न फँसें ।

लोग धोखा खाते हैं क्योंकि वे धोखा खाना चाहते हैं और स्वयं को धोखे का शिकार बनने का अवसर भी देते हैं । जहाँ प्रकाश होता है, जुगनू स्वयं वहाँ भागते हैं । प्रकाश उन्हें यह करने को नहीं कहता । ऐसा दोनों तरफ़ से होता है, अर्थात् हम भी कुछ चाहते हैं और हमारी यह मानसिकता भी रही है कि, "इससे मुझे कुछ लाभ होने वाला है, तो मैं इसके साथ कुछ चालाकी करता हूँ ।" इस प्रक्रिया में यह देखना है कि चतुरता में कौन कितना अधिक है । अतः श्रीकृष्ण कहते हैं कि व्यक्ति को बुद्धिमान और विशेषज्ञ होना चाहिए । सांसारिक जगत में ऐसे लोगों के साथ व्यवहार करना पड़ता है, परन्तु आध्यात्मिक जगत में साधक को पूर्णरूप से ऐसी धोखाधड़ी छोड़ देनी चाहिए ।

शीतकाल में वृन्दावन में कई लोग दीनता के वेष में आप के पास आएँगे, विशेष कर आश्रमों में और प्रतिष्ठित लोगों से कहेंगे, "मेरे पास वस्त्र नहीं है । कृपया मुझे एक कम्बल दें ।" यदि आप जानते हैं कि यह व्यक्ति धोखेबाज़ है, तो आप को झूठ कहना होगा, "मैं आप को कम्बल देने के लिए समर्थ नहीं हूँ और मेरे पास कम्बल भी नहीं है", जबकि आप के पास कम्बल हो । यदि आप ऐसा नहीं कहते और कम्बल देते हैं तो और भी लोग आप के पास कम्बल लेने आएँगे क्योंकि यह उनका व्यापार है । वे माँगने के लिए विभिन्न स्थानों पर जाते हैं । यदि उन्हें २० कम्बल मिल भी जाय तभी भी वे ऐसे फटे पुराने कपड़ों में ही रहते हैं । ठीक उसी प्रकार, रास्ते पर भीख माँगने वाले भी ठीक कपड़े नहीं पहनते हैं क्योंकि यदि वे अच्छे कपड़े पहनते हैं तो कोई उन्हें एक भी पैसा नहीं देगा । ऐसा नहीं है कि उनके पास कुछ नहीं है । बाद में वे सभी कम्बल को बाज़ार में बेच देंगे । वे आप को मूर्ख बनाते हैं । यदि आप यह जानते हैं

तो आप को भी उनसे झूठ कहना होगा ताकि आप मूर्ख न बनें ।

•••••

प्रश्न: सांसारिक व्यक्तियों के सङ्ग का परित्याग करना इतना महत्वपूर्ण क्यों है ?

उत्तर: जैसा सङ्ग वैसा ही मन । व्यक्ति अपने सङ्ग से पहचाना जाता है । आप जिनके साथ रहते हैं, उससे अवश्य प्रभावित होते हैं । अतः यदि आप ऐसे सङ्ग से प्रभावित होना नहीं चाहते हैं, तो उस से दूर रहें । यदि आप श्रीकृष्ण को पसन्द करते हैं और उनसे प्रीति करना चाहते हैं तो आप को उन व्यक्तियों का सङ्ग नहीं करना चाहिए जो श्रीकृष्ण को पसन्द नहीं करते हैं अथवा जिन्हें श्रीकृष्ण की भक्ति में अभिरूचि नहीं है।

•••••

प्रश्न: क्या आप ने नहीं कहा था कि सांसारिक व्यक्तियो के सङ्ग से साधक अपने गुरु में अपनी श्रद्धा खो देता है, फिर क्या ?

उत्तर: यदि कोई साधक अभक्तों से, जिनमें श्रद्धा नहीं हैं, उनका सङ्ग करता है तो वह आध्यात्मिक जीवन में, गुरु, शास्त्र, श्रीकृष्ण, और सभी में अपनी श्रद्धा खो देता है ।

******

प्रश्न: भक्ति सत्यता, ईमानदारी और स्पष्टवादिता का मार्ग है । उदाहरण के लिए, यदि व्यापार में झूठ बोलना पड़ता है तो क्या उस झूठ का प्रभाव हमारी चेतना पर पड़ता है ?

उत्तर: सामान्यतः अन्य मार्ग, जैसे कि कर्म, योग, ज्ञान आदि में अहिंसा, सत्यता, चोरी न करना, वस्तु संचय न करना, ब्रह्मचर्य का पालन करना आदि नियम हैं । यदि आप इन नियमों का विश्लेषण करते हैं तो लगेगा कि इन नियमों में से एक भी नियम को पूरी तरह से निभाना असम्भव है ।

उदाहरण रूप, योग में अहिंसा का पालन करना यह पहला नियम है । इस संसार में कोई भी व्यक्ति बिना हिंसा के नहीं रह सकता । यह असम्भव है । आप जो भी मार्ग पर चलना चाहते हैं और उस में स्थिरता चाहते हैं तो उसमें कहीं न कहीं हिंसा संलग्न है । यदि आप शारीरिक हत्या नहीं करते हैं, फिर भी हिंसा तो आप से होती ही है । इस संसार में दो प्रकार के भाव होते हैं - एक है पसन्द और दूसरा है नापसन्द अथवा घृणा । अतः यदि आप किसी को पसन्द करते हैं, तो स्वाभाविक है किसी को नापसन्द भी करते हैं । सांसारिक जगत में ऐसा द्वन्द हमेशा होता है । किसी को नापसन्द करना या किसी से घृणा करना यह भी हिंसा का एक प्रकार है । हिंसा का मूल घृणा है । यह असम्भव है कि आप किसी को नापसन्द ना करते हो । भौतिकवादी लोग किसी न किसी के लिए घृणा रखते हैं और यह भी एक प्रकार की हिंसा है । सामाजिक या कानूनी प्रतिबन्धों के कारण व्यक्ति कदाचित शारीरिक हिंसा न करे, किन्तु मन में

तो हिंसा-भाव है । जिस व्यक्ति के प्रति हिंसा का भाव है वहाँ यह हिंसा मौखिक गाली के रूप में अथवा उस को किसी प्रकार के नुक़सान के रूप में प्रकट हो सकती है ।

उसी प्रकार यदि आप दूसरे नियमों का भी विश्लेषण करेंगे तो भी पायेंगे कि उनका पालन करना असम्भव है । जैसे सत्यता का उदाहरण ले लीजिए तो सत्यता क्या है यह परिभाषित करना बड़ा कठिन है । ऐसा वर्णित है कि कभी कभी आप जो कहते हैं वह सच हो, किन्तु उसे सत्य नहीं माना जाता और कभी आप झूठ बोलते हो वह सत्य कहने के बराबर होता है । उसी प्रकार अगला नियम है चोरी न करना । चोरी का अर्थ होता है स्वामी की आज्ञा के बिना उनकी वस्तु ले लेना । यह तय करना भी बहुत कठिन है कि उस वस्तु का असली स्वामी कौन है । यह जाने बिना आप कैसे कह सकते हैं कि उस ने चोरी की है या नहीं की है ? यदि आप इस प्रकार विश्लेषण करते हैं तो इनमें से एक भी नियम का पूर्ण रूप से पालन नहीं हो सकता ।

यद्यपि भक्ति मार्ग में ये सभी परिभाषाएँ लागू नहीं होती हैं । सही अर्थ में अन्य मार्ग चेतना से सम्बन्धित नहीं है । वे यथार्थ में भौतिक पदार्थों से सम्बन्धित हैं । भक्ति भावना – सर्वोच्च चेतना, सर्वोच्च व्यक्ति, जो भगवान है, उससे सम्बन्धित है । भक्ति का मूल सिद्धान्त है कि प्रथम आप गुरु और श्रीकृष्ण को समर्पित हो और फिर उनके अनुकूल कार्य करें, प्रतिकूल कार्य कभी न करें । भक्ति मार्ग में इसे सत्यता कहते हैं । क्या अनुकूल है और क्या प्रतिकूल है यह अवश्य आप को गुरु से सीखना होगा । अनुकूल होना मुख्य है, जिस में सत्यता, अहिंसा और कई नियम सम्मिलित हैं। किन्तु यदि आप कुछ कर रहे हैं जो अनुकूल नहीं है, वस्तुतः यदि वह सही भी है अथवा सामान्य अर्थ में सत्य है, फिर भी वह सत्य नहीं है (भक्ति के अर्थ में अथवा परम तत्त्व की दृष्टिकोण से) । यहाँ सत्यता केवल एक व्यक्ति के साथ होती है, जो है गुरु । यदि आप उनके प्रति सत्य हैं तो आप जो कुछ भी कर रहे हैं, वह सत्य से भरा है और यदि आप उनसे सत्यपूर्ण नहीं हैं, तो आप जो कुछ भी कर रहे हैं, वह असत्य से भरा है ।

व्यापार करने और जूठ बोलने का विचार, फिर चाहे उसका प्रभाव आप पर हो या न हो, भक्ति मार्ग में इसका कोई अस्तित्व नहीं है । यदि आप सत्यपूर्ण भक्त हो तो ऐसी बातों का कोई प्रभाव आप पर नहीं होता क्योंकि आप जो कुछ भी करते हैं वह इस भाव से करते हैं जो आप के गुरु, श्रीकृष्ण, या आप की सेवा को अनुकूल हो । इस प्रकार एक सच्चे भक्त पर किसी वस्तु का प्रभाव नहीं पड़ सकता । अतः कहा गया है कि जब आप भक्ति ग्रहण करते हैं या श्रीकृष्ण के प्रति शरणागत होते हैं तो प्रारब्ध

और अप्रारब्ध सभी कर्मों से मुक्त हो जाते हैं । अर्थात् ये वस्तुएँ आप को कभी भी प्रभावित नहीं करती हैं क्योंकि आप सर्वोच्च सिद्धान्त के अन्तर्गत कार्य करते हैं और वह है गुरु को प्रसन्न करना, जो श्रीकृष्ण का एक अवतार है ।

उदाहरण रूप, जब कोई बाबाजी वेष धारण करता है, जो पूर्ण समर्पण का प्रतीक है, तब यदि व्यक्ति सही रूप से समर्पित नहीं है और केवल वेष ही धारण करता है, फिर भी लोग उन्हें इस वेष के कारण सम्मान देने लगेंगे । सभी लोग, यहाँ तक कि नास्तिक एवं आस्तिक लोग भी उसे थोड़ा सा सम्मान देंगे । केवल वस्त्र परिवर्तित करने के कारण भी उसके प्रारब्ध कर्म बदल जाते हैं । यदि व्यक्ति निम्न श्रेणी के परिवार में जन्म लेता है, विशेषतः भारत में, तो उच्च स्तर के लोग उसे सम्मान नहीं देते । किन्तु यदि उस ने बाबाजी वेष धारण किया है तो वे लोग ही उसका आदर करेंगे और उसे साधु, महात्मा शब्द से पुकारेंगे और सम्मान के अतिरिक्त उसके सामने अपने हाथ जोड़कर उसका अभिवादन भी करेंगे । इसका अर्थ होता है कि उसके प्रारब्ध अब पहले जैसे नहीं है । अब लोग उसका आदर करते हैं क्योंकि उस ने वह वेष पहन लिया है जिसे पहले महान पुरुषों ने या गोस्वामियों ने धारण किया था और निष्ठापूर्ण इस मार्ग पर चले थे । यह केवल पूर्ण शरणागति के वस्त्र धारण करने का ही प्रभाव है । अब आप कल्पना कर सकते हैं कि जिस व्यक्ति ने पूर्ण समर्पण किया है तो कैसे उस पर इन वस्तुओं (हिंसा, झूठ आदि) का प्रभाव हो सकता है ।

अतः इन दो मार्ग को भली प्रकार से और समुचित प्रकाश में समझना आवश्यक है । एक मार्ग पदार्थ से सम्बन्धित है और दूसरा चेतना से सम्बन्धित है । प्रथम मार्ग सत्यता, अहिंसा आदि सिद्धांतों पर आधारित है, जो वास्तविक रूप में परिभाषित नहीं हो सकते । यदि आप इन सिद्धांतों का अनुसरण करना चाहते हैं तो वे परिभाषित होने चाहिए । किन्तु आप उनकी व्याख्या भी स्पष्ट नहीं कर पाएँगे । लोग अहिंसा की बात करते हैं, किन्तु आप उनसे पूछेंगे कि वह क्या है, तो उनके पास इसका स्पष्ट उत्तर नहीं होगा । किसी को धोखा देना भी हिंसा है । यह शायद आप को कोई नहीं बताएगा ।

भक्ति मार्ग का एक मात्र सिद्धान्त है कि प्रारम्भ से ही गुरुदेव और श्रीकृष्ण को जो अनुकूल हो वही कार्य करने का आप संकल्प करते हैं और फिर जो कुछ भी करते हैं, वह सत्यता पूर्ण होता है । अतः इसे सत्य मार्ग कहते हैं ।

व्यापार हमेशा कुछ असत्य बोलने पर टिकता है, अन्यथा आप व्यापार नहीं कर सकते।

इसलिए संस्कृत भाषा में व्यापार के लिए सत्यानृत शब्द प्रयोग किया गया है । सत्यानृत अर्थात् सत्य और (अनृत) झूठ का मिश्रण । व्यापार में कुछ हद तक झूठ बोलना स्वीकार्य है, किन्तु वह अत्यधिक नहीं होना चाहिए । उदाहरण रूप, जब आप कुछ बेचते हैं जो मिलावट किया हुआ है, तो यह अत्यधिक है । उसके लिए यदि आप पकडे गए तो सरकार भी आप को दण्ड देगी, तो भगवान से मिलने वाले दण्ड के विषय में क्या कहना! किन्तु आप कुछ लाभ कमाना चाहते हैं इसलिए आप कहते हैं, "मैं कोई लाभ नहीं पा रहा हूँ ।" इस प्रकार के कथनों से आप जीवित रहते हैं । किन्तु ग्राहक को धोखा नहीं देना चाहिए, अर्थात् आप उसे कहते हैं कि यह वस्तु दे रहा हूँ, किन्तु दूसरी ही वस्तु उसे देते हैं अथवा मिलावट करके देते हैं या कम मात्रा में देते हैं तो यह अनुचित है, पापपूर्ण है । यह स्वीकृत नहीं है ।

.....

प्रश्न: मैं अन्य वैष्णवों के साथ और दूसरे (वैष्णव) समूह के लोगों के साथ व्यवहार करने में कठिनाइयाँ अनुभव करता हूँ । जब मैं किसी को कुछ ऐसा करते देखता हूँ जो मेरे विचार से अनुचित है, पर वह व्यक्ति हमेशा मुझ से बात करना चाहता है, तो उसका विरोध किए बिना मैं कैसे कुछ सीमा बाँध सकता हूँ ?

उत्तर: यदि वह आप से बात करता है तो उसमें क्या परेशानी है ? आप जो कुछ भी कर रहे हैं, यदि वह उसे पसन्द नहीं है तो स्वाभाविक है कि आप उससे सङ्ग न करें। ऐसा नहीं होना चाहिए कि किसी एक व्यक्ति या सभी से सामाजिक सम्बन्ध बढ़ाए रखें और अपने लक्ष्य को भूल जाएँ । मैं नहीं जानता कि यह किस प्रकार की बात है और उसके पीछे उसका उद्देश्य (प्रयोजन) क्या है । ******

प्रश्न: क्या यह अपराध नहीं है यदि मैं कुछ ऐसा देखता हूँ और सोचता हूँ कि यह व्यवहार में ठीक नहीं है ?

उत्तर: कौन सा अपराध ? यदि कोई ग़लत कर रहा है, तो वह कर रहा है । उसे देखने में कौन सा अपराध होता है ? हम अन्धे नहीं है । अपराध वह है जब उसके न चाहने पर भी आप उसके पास जाते हो और उसकी त्रुटि के विषय में निर्देश देना प्रारम्भ कर देते हो । बहुत से लोग बहुत सी चीज़ें करते हैं, जिन्हें आप में और आप की सोच में कोई रुचि नहीं है । तो आप क्यों परेशान होते हो ?

.....

प्रश्न: अतः इन वस्तुओं को देखना अपराध नहीं है ?

उत्तर: यह अपराध क्यों होगा ?

.....

प्रश्न: यदि कोई कुछ अनुचित चीज़ें देखता है, तो उसे सम्मान देना कठिन है फिर भी

चूँकि वहाँ भगवान निवास कर रहे हैं ?

उत्तर: मैं वही कह रहा हूँ । आप के विचार से सम्मान देने का अर्थ क्या है ? आप को ज़मीन पर गिरकर उनके चरण स्पर्श नहीं करने हैं । उन से घृणा न करना ही सम्मान देना है । सम्मान भिन्न भिन्न तरीक़ों से दिया जाता है । परेशानी क्या है ? यदि कोई ग़लत कर रहा है, तो वह कर रहा है और आप जानते हैं, तो उसमें क्या ग़लत है ? हम अपनी आँखें मूँद नहीं लेते हैं । आप को न ही उस से घृणा करनी है और न ही उसके प्रति आसक्ति दिखानी है । समस्या घृणा करने या आसक्ति रखने से, राग और द्वेष से आती है । आप को केवल यही देखना है कि इन लोगों में भी ईश्वर विराजमान है क्योंकि ईश्वर सर्वत्र है । इस दृष्टिकोण से देखें तो आप को उनसे क्यों घृणा करनी चाहिए ? यदि कोई ग़लत कर रहा है, उसे करने दो । आप को क्या परेशानी है ?

*****

प्रश्न: ऐसे कई शिष्यों के उदाहरण हैं, जो कथित गुरुओं से दीक्षा ग्रहण करते हैं । बाद में वे सद्गुरु से दीक्षा लेते हैं । क्या पहले किए हुए गुरु को उस शिष्य से कुछ लाभ होता है ?

उत्तर: कोई लाभ नहीं होता । शिष्य कैसे अपने पूर्व-गुरु को सहाय करेगा ? सहायता जानकारीपूर्वक की जाती है । यह भावना में परिवर्तन का विषय है । यह ऐसा कुछ नहीं है जो अनजाने में घट जाय क्योंकि शिष्य ने ठीक मार्ग अपना लिया है । भक्ति में ऐसा नहीं होता ।

*****

११६. संस्कार

प्रश्न: हम सभी (पूर्व) संस्कारों को कैसे हटा सकते हैं ? इसके लिए क्या कोई आशा है ?

उत्तर: संस्कारों से मुक्त होने का एक ही मार्ग है और वह है भक्ति । जब कोई दीक्षा लेता है, गुरु को समर्पित होता है और सत्यवादी रहता है, तो वह (पूर्व) संस्कारों से मुक्त हो जाता है, अन्यथा कोई समाधान नहीं है ।

*****

प्रश्न: जीव गोस्वामी भक्ति सन्दर्भ में भी संस्कारों की बात करते हैं । वह दो प्रकार के लोग बताते हैं – एक जो पहले कोई भक्त के सम्पर्क में आते हैं या प्रभु सम्बन्धित ज्ञान पाते हैं और दूसरे वे जिनको पूर्व-जन्म से ऐसे संस्कार मिले हैं । वे संस्कार क्या हैं और साधक उन्हें कैसे पा सकता है, जिससे जब वह किसी भक्त के सम्पर्क में आए तो वे संस्कार प्रभु के प्रति ले जाय ?

उत्तरः संस्कार इस बात का संकेत करते हैं जिनका तुमने ख़ूब अभ्यास किया हो । ऐसा अभ्यास संस्कार को गहरा करता है । जिस कार्य को पुनः पुनः किया जाय या किसी बात को पुनः पुनः स्मरण किया जाय तो वह गहरे संस्कार बन जाते हैं । जब पूर्व जन्म से किसी विषय वस्तु के संस्कार होते है और उसी से सम्बन्धित किसी व्यक्ति या वस्तु के सम्पर्क में आते हो तो तुरन्त उस विषय को ग्रहण कर लेते हो । ऐसा किसी भी बात को लेकर हो सकता है, चाहे वह विषय लौकिक हो या अलौकिक हो।

जगत में ऐसे लोग हैं जो किसी विशेष प्रसङ्ग को तुरन्त ग्रहण कर लेते हैं, जब कि दूसरों के लिए उन्हें समझना कठिन होता है या फिर उस बात को समझने में काफ़ी समय लगता है । ऐसा उनके पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण होता है । यदि कोई आध्यात्मिक जीवन में शीघ्र रुचि अनुभव करता है, तत्त्व को ग्रहण करता है एवं अनुसरण करता है तो इसका अर्थ यह होता है कि वह इस जन्म में अपने पूर्व जन्म के आध्यात्मिक संस्कार के साथ आया है । उस ने इस विषय को अपने पूर्व जन्म में सुना होगा, स्मरण किया होगा और उसका पालन भी किया होगा ।

.....

११७. सत्यनिष्ठा / सत्य

प्रश्नः सत्य क्या है?

उत्तरः सत्य शब्द के विभिन्न अर्थ हैं । सत्य का अन्तिम अर्थ है कृष्ण । जैसे कि श्रीमद् भागवत कहता हैः सत्यं परं धीमहि, "हम परम सत्य का ध्यान धरते हैं ।" (भागवत १.१.१)

सत्ये प्रतिष्ठितः कृष्णः सत्यमत्र प्रतिष्ठितः ।
सत्यात् सत्यञ्च गोविन्दस्तस्मात् सत्यः हि नामतः ।।
(महाभारत, उद्योग पर्व ७०.१३)

"कृष्ण सत्य में स्थित हैं एवं सत्य कृष्ण में है। कृष्ण ही सत्य का सार है। अतः उन्हें सत्य के नाम से पुकारा जाता है ।"

कृष्ण सत्य में स्थित हैं । वही सत्य है, क्योंकि सत्य उन्हीं से आता है । अतः सत्य उनका नाम है । सत्य कृष्ण का नाम है । भागवत के प्रथम श्लोक में इस नाम का प्रयोग किया गया है । जब सत्य शब्द का इस प्रकार प्रयोग किया हो तो, वह सत्य की परम सीमा है । परन्तु व्यावहारिक रूप में सत्य शब्द का उपयोग अनेक स्थान पर हुआ है । उपनिषदों में कहा है, सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्मः - परम तत्त्व ही सत्य, ज्ञान एवं अनन्त है । मायावादी भी सत्य के विषय में बातें करते हैं, परन्तु उनके लिए सब कुछ

मिथ्या है । उनके लिए सत्य क्या हो सकता है, जब कि सत्य वही है जो भूत, भविष्य और वर्तमान में विद्यमान है ।

योगसूत्र के साधक यम एवं नियम बताते हैं: अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, और अपरिग्रहः यमः (यम है: अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य का पालन और अपरिग्रह – आवश्यकता से अधिक संग्रह न करना) । सत्य की उनकी अपनी परिभाषा है ।

व्यावहारिक रूप से देखें तो सत्य अर्थात् यथार्थ भाषणम् – सत्य बोलना । आप के मन में जो है वही कहो, दूसरा कुछ न कहो । इसका यह भी अर्थ होता है कि यदि आप वचनबद्ध हैं, तो अपना वचन निभाना । उदाहरण स्वरूप बलि महाराज ने वामनदेव को वचन दिया था कि वे उन्हें तीन कदम ज़मीन देंगे और उन्होंने अपना वचन निभाया । यह है सत्यनिष्ठा । परन्तु उसी समय गुरु शुक्राचार्य बलि महाराज को सलाह देते हैं कि, "यह सत्य नहीं है क्योंकि विशेष परिस्थितियों में कथित झूठ को भी सत्य के रूप में ग्रहण किया जाता है ।" उदाहरण स्वरूप, विवाह में या आजीविका के लिए अपने सच शब्दों के कारण सब कुछ नहीं गवाँना चाहिए । ऐसी परिस्थिति में यदि सब कुछ गवाँने का भय है तो आप को अपना वादा तोड़ना पड़ सकता है या कुछ और करना होगा । राजनीति भी यही कहती है ।

युधिष्ठिर महाराज सत्यवादी थे, परन्तु कृष्ण ने उनसे वह बुलवाया जिसको सामान्य जन असत्य वचन कहते हैं । इस पर कृष्ण ने सत्य सही अर्थ में क्या है उस पर दीर्घ व्याख्यान दिया । कभी कभी सत्य भी असत्य माना जाता है । परन्तु व्यावहारिक रूप से देखें तो सत्य यानि यथार्थ भाषणम्, न कि आप अपने मन में सोचो कुछ और करो कुछ और, दूसरों की आँख में धूल झोंको ।

धर्म के कुछ सिद्धान्त हैं, वे भी सत्य हैं, परन्तु वे बहुत जटिल हैं । विभिन्न परिस्थितिओं में अलग अलग कथनों के भिन्न भिन्न अनेक अर्थ निकलते हैं । कृष्ण ने युधिष्ठिर को ऐसा कहने को कहा, अश्वत्थामा हतः नरो वा गजो वा, जिस का शाब्दिक अर्थ होता है, "अश्वत्थामा मारा गया व्यक्ति या हाथी ।" इस विधान के कारण युधिष्ठिर को नरक में जाना पड़ा ।

*****

प्रश्न: वैष्णव अपने मन की बात बोलते हैं, परन्तु जगत में लोग मुखौटा पहनकर व्यवहार करते है और कुछ न कुछ छिपाया जाता है । यदि मैं हमेशा मेरे मन की बात कहूँगा, तो यह उचित नहीं है ।

उत्तर: इसका अर्थ यह नहीं है कि हर समय अपने मन में जो विचार आते हैं आप वही कहो । अर्थ यह है कि जब भी आप कुछ कहते हो, वह आप के विचार से मेल खाये, परन्तु आप को अपने सभी विचार कहने की कोई आवश्यकता नहीं है । आप का मन निरन्तर सोचता रहता है । अपने मन में आये हर विचार को कहने का आप के पास समय भी नहीं होगा ।

*****

प्रश्न: उत्तमा-भक्ति सत्य का मार्ग है, परन्तु कलियुग में सत्य धर्म का अन्तिम चरण है। क्या सत्य का भी पतन हो रहा है ? क्या आप इसके विषय में कुछ कहेंगे ?
उत्तर: कलियुग में भक्ति-मार्ग के सिवा अन्य कोई मार्ग में योग्यता नहीं है । यदि आप को वर्णाश्रम धर्म या ज्ञान मार्ग या इनमें से किसी का भी पालन करना है तो आप को कम से कम वर्णाश्रम पद्धति के अनुसार जन्म लेना होगा, अर्थात् गर्भधान संस्कार से आरम्भ करके ही सभी योग्य संस्कार होने चाहिए । किन्तु इन सभी संस्कारों का अब कोई प्रचलन नहीं है । अतः भक्ति ही एक प्रक्रिया है क्योंकि जो कोई भी मानव है, वह भक्ति के लिए योग्य है ।

श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः ।
सद्यः पुनाति सद्धर्मो देव विश्वद्रुहोऽपि हि ।। (भा. ११.२.१२)

"जो देव और प्राणी के शत्रु हैं, ऐसे लोग भी यदि भक्ति के विषय में सुनें, पढ़ें, उसका ध्यान करें या अन्य भक्तिपथ साधकों को समर्थन दें तो भक्ति-मार्ग तुरन्त उन्हें भी शुद्ध कर देता है ।"

केवल भक्ति के विषय में सुनने, अध्ययन करने, उसके बारे में सोचने और जो सेवा करता है उसे सहयोग देने या समर्थन करने से व्यक्ति शुद्ध हो जाता है । ऐसा अन्य कोई मार्ग नहीं है ।

यदि कोई यह बात समझ जाय, तो सत्यवादी बनने में कोई कठिनाई नहीं है । यह सरलतम है । वास्तव में झूठा बनने के बजाय सत्यवादी बनना अति सरल है । जब आप झूठ बोलते हो तो झूठा सिद्ध न हो उसके लिए आप ने क्या कहा था वह आपको स्मृति में रखना पड़ता है । यदि आपको विस्मृति हो गई कि आप ने क्या कहा था, तो अन्य समय आप कुछ और कहेंगे । यदि आप सत्यवादी ही रहेंगे तो ऐसी कोई समस्या नहीं आती । कोई चिन्ता करने की या योजना बनाने की आवश्यकता नहीं रहती है ।

आप सरल बने रहते हो । यदि आप सत्य नहीं कहते हैं, तो सब कुछ जटिल बन जाता है । आप को सोचना पड़ता है, "पिछली बार मैं ने क्या कहा था, जिस से मेरा झूठ पकड़ा न जाए ?"

भक्ति अति सरल मार्ग है, परन्तु यदि जनसमुदाय उस मार्ग पर चलना नहीं चाहते हैं, तो क्या कर सकते हैं ? अन्यथा कलियुग में अन्य कोई मार्ग (आध्यात्मिकता के पथ में) सहायरूप नहीं हो सकते हैं ।

******

११८. सन्देह

प्रश्न: सन्देह कहाँ से आते हैं और हम कैसे उनसे मुक्त हो सकें ?

उत्तर: सन्देह का मूल अज्ञानता है । सन्देह अर्थात् आप के पास विकल्प है, (अर्थात् किसी दो वस्तु में से चुनने का निर्णय नहीं कर पाता) । उदाहरण के लिए, (अल्प) अन्धकार में कोई एक वस्तु आप को एक व्यक्ति अथवा एक पेड़ की भाँति दिखाई देती है । इसे कहते हैं सन्देह , क्योंकि आप निश्चय नहीं कर पाते हैं कि वह वस्तु क्या है।

किन्तु जब आप निश्चित हो जाते हैं, तो वह ज्ञान बन जाता है । ज्ञान अर्थात् आप निश्चित हैं कि वह वस्तु वास्तव में एक पेड़ है, व्यक्ति नहीं है, अथवा एक व्यक्ति है और पेड़ नहीं है । जहाँ जहाँ भी अज्ञानता होती है, वहाँ सन्देह अवश्य है ।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति ।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः ।। (गीता ४.४०)

"वह जो अज्ञानी है, श्रद्धा-रहित है और सन्देह पूर्ण है, वह नष्ट हो जाता है । ऐसे सन्दिग्ध मनुष्य के लिए न यह लोक है, न परलोक है और न ही सुख है ।"

जब व्यक्ति अज्ञानी है और श्रद्धा भी नहीं है तो सन्देह प्रकट होता है । अर्थात् सत्य के विषय में निश्चय करने में वह असमर्थ रहता है । सन्देह दूर करने के लिए भिन्न-भिन्न मार्ग और प्रक्रियाएँ हैं । भक्तिमार्ग यह बताता है कि सेवा, श्रवण और सत्सङ्ग से सब सन्देह दूर हो जाएँगे तब कोई परम तत्त्व समझेगा ।

अज्ञानता पाँच प्रकार की है: अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश । अथवा भागवत में जैसे वर्णित है: तमस (अज्ञानता), मोह (शरीर के लिए आसक्ति), महामोह (सांसारिक भोगविलास के लिए तीव्र लालसा होना), तामिस्र (क्रोध), और अन्ध तामिस्र (मृत्यु को

अन्तिम चरण समझना) ।

ससर्जच्छाययादियां पञ्चपर्वाणमग्रतः ।
तामिस्रमन्धतामिस्र तमो मोहो महातमः ।। (भा.३.२०.१८)
"सर्व प्रथम ब्रह्मा जी ने अपनी छाया से पाँच प्रकार के अज्ञान की सृष्टि की: तामिस्र, अन्ध-तामिस्र, तमस, मोह और महा मोह ।"

वस्तुओं को उचित अर्थ में नहीं समझना, शरीर के साथ लगाव, आसक्ति, द्वेष, और मृत्यु का भय ये सभी अज्ञानता के भिन्न-भिन्न आविर्भाव हैं । यह अज्ञान संशय को जन्म देती है, फिर चाहे वह अपने विषय में हो अथवा अन्य वस्तुओं के बारे में हो । भक्ति इस अज्ञान के पथ से परे (अलौकिक) है ।

******

प्रश्न: हम संसार में रहते हैं तो लौकिक अलौकिक जगत के बीच हम कैसे यथार्थ निर्णय करें ?
उत्तर: मार्ग दो प्रकार के हैं: प्रवृत्ति मार्ग (लौकिक) और निवृत्ति मार्ग (अलौकिक) । भौतिक मार्ग में आप के व्यवहार स्वभावत: सांसारिक होते हैं और आपका लक्ष्य शरीर सम्बन्धित रहता है । आपका व्यवहार और कार्य लौकिक मान्यताओं के अनुसार रहता है । किन्तु जब आप आध्यात्मिक मार्ग अपनाते हैं और किसी आध्यात्मिक हेतु को लेकर कार्य कर रहे हैं तो उस समय जो भी संशय है उसे गुरु के समक्ष रखें, उचित निर्णय लें और तदनुसार कार्य करें ।

आध्यात्मिक मार्ग में आप को शास्त्र का अनुसरण करना आवश्यक है । यहाँ मूलभूत सिद्धान्त यह है कि आप को अनुकूलतापूर्ण कार्य करना है और उसकी उपेक्षा करनी है जो प्रतिकूल है । क्या प्रतिकूल है और क्या अनुकूल है यह जानना एक जटिल विषय है । इसलिए यह गुरु से सीखा जाता है । यदि कोई संशय हो तो उसे गुरु के समक्ष रखना चाहिए और उन्हें पूछना चाहिए । केवल शास्त्र की मदद से सही निर्णय लेना कठिन भी है । अतः गुरु की योग्यता होनी चाहिए कि वह शास्त्र ज्ञान में निपुण हो एवं यथार्थ अनुभवी हो । अर्थात्, गुरु के निर्देश के अनुसार निर्णय लेना आवश्यक है । ******

११९. समदृष्टि – भेदभाव

प्रश्न: गीता ५.१८ में दर्शाया है वैसी समदृष्टि एक भक्त कैसे रख सकता है ?
उत्तर: विद्या-विनय-सम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।

शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः ।।

"ज्ञानीजन विद्या और विनययुक्त ब्राह्मण में तथा गाय, हाथी, कुत्ता तथा चाण्डाल को समभाव से देखते हैं ।"
यह श्लोक ज्ञानियों के लिए निर्देश है । ज्ञान-मार्ग में साधक को राग और द्वेष से मुक्त होना चाहिए अन्यथा वह संन्यास मार्ग में प्रगति नहीं कर पाता है ।

एक भक्त ईश्वर को हर स्थान देखता है । ईश्वर हर जीव में विराजमान है । भक्त को "मैं भोक्ता हूँ" इस भाव को त्यागना होता है । ऐसा न होने पर वह प्रगति नहीं कर सकता है । अतः ऐसा सूचित किया है कि गुरु पूजनीय है जिस से वह भोक्ता न बन जाय और अपने आनन्द के लिए गुरु का उपयोग करे । ज्ञानी को सब को समभाव से देखना होगा अन्यथा प्रगति नहीं कर पाएँगे । भक्त को "मैं भोक्ता हूँ" इस भाव को त्यागना चाहिए । एक भक्त सब को समभाव से नहीं देखता है (जैसे कि ज्ञानी करता है) । वह भेदभाव रखता है । जैसे कि एक मध्यम श्रेणी भक्त अन्य भक्तों से मित्रता करता है, ईर्ष्यालुओं के साथ तटस्थ रहता है और अज्ञानी लोगों पर दया करता है ।

.....

१२०. सम्बन्ध, अभिधेय, प्रयोजन

प्रश्नः भक्ति सन्दर्भ के आरम्भ में जीव गोस्वामी पूर्व के चार सन्दर्भ ग्रन्थों में क्या कहा है उसका सारांश कहते हैं । उसमें 'सम्बन्धी' शब्द आता है । 'सम्बन्धी' का अर्थ क्या है ?

उत्तरः सम्बन्धी का अर्थ है "जिसके साथ सम्बन्ध है" । शुरू में जीव गोस्वामी ने सम्बन्ध के विषय में कहा है और कृष्ण को जिनके साथ सम्बन्ध है, उसकी बात की है। पुस्तक में वाच्य और वाचक (जिसका वर्णन किया गया है) के बीच सम्बन्ध है, अतः इसको पुस्तक और वस्तु के बीच का सम्बन्ध भी कहते हैं । सम्बन्ध किसी दूसरे के साथ ही होना चाहिए, जिसके साथ सम्बन्ध है । सम्बन्ध का अर्थ होता है जो वस्तु से सम्बन्धित हो । पुस्तक के शब्द तत्त्व से जुड़े हैं, । इसे सम्बन्ध कहते हैं और तत्त्व को सम्बन्धी कहते हैं ।

*****

प्रश्नः फिर भक्ति सन्दर्भ में जीव गोस्वामी अभिधेय पर चर्चा का आरम्भ करते हैं, जिसे हम कृष्ण को पाने का एक साधन समझते हैं, या फिर उसे साधना भक्ति समझते हैं। कैसे अभिधेय शब्द ऐसा स्वयं सूचित करता है ?

उत्तरः अभिधेय शब्द धा धातु से बनता है । अभिधेय अर्थात् विधेय यानि कि जिसे

करना होगा, वैसे ही जैसे विधि यानी कार्य करने की प्रक्रिया का वर्णन । अभिधेय अर्थात् जो कहा गया है वह । यहाँ इसका अर्थ प्रक्रिया भी दर्शाया गया है । जैसे "अभिधा" शब्द है जिस का अर्थ है "नाम" या "शब्द", तो अभिधेय अर्थात् वह "जो प्रक्रिया के रूप में बताया गया है" । अभिधेय विधेय का पर्यायवाची है जिसका अर्थ वर्णित प्रक्रिया होता है । अतः शास्त्र में जो कृत्य बताया गया है उसका वह विश्लेषण करते हैं ।

*****

प्रश्न: जीव गोस्वामी यह भी कहते हैं कि शास्त्र का मुख्य तात्पर्य सम्बन्ध से जुड़ा हुआ होता है और अवान्तर तात्पर्य प्रयोजन से संलग्न होता है । इसका अर्थ क्या है ?

उत्तर: सर्व प्रथम योग्य विषय को स्थापित करना पड़ता है । तदनन्तर उसका प्रयोजन और उसे प्राप्त करने या अनुभव करने की प्रक्रिया सम्बन्धी प्रश्न होते हैं । यदि किसी शङ्का कुशङ्का को दूर किए बिना विषय स्थापित किया है तो दूसरे विषयों में भी वह शङ्काएँ बनी रहेगी । अभिधेय और प्रयोजन सम्बन्ध पर आधारित है । अतः सर्व प्रथम कार्य सम्बन्ध को स्थापित करना है । अतः जीव गोस्वामी ने सर्व प्रथम सम्बन्ध को स्थापित किया है ।

प्राचीनकाल में मनीषीगण ब्रह्म को ही परम तत्त्व मानते थे । अतः जीव गोस्वामी को भी स्पष्ट रूप से और दृढ़ता से स्थापित करना पड़ा कि परमतत्त्व श्रीकृष्ण है और ब्रह्म कृष्ण का एक प्रकार है । वह ब्रह्म कृष्ण से भिन्न, स्वतन्त्र और श्रेष्ठतर नहीं है । अतः गीता १५.१५ में कहा है:

वैदेश्च सर्वैरहमेव वेद्यो, वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ।

"सर्व वेदों के द्वारा मैं ही जानने योग्य हूँ" । यदि आप इस सिद्धान्त को जानते हो तो अभिधेय और प्रयोजन की प्रक्रिया आरम्भ होती है ।

*****

प्रश्न: अतः क्या ये अभिधेय और प्रयोजन में सम्बन्ध अन्तर्निहित है ?

*****

उत्तर: हाँ ।

प्रश्न: सिद्धोपदेश क्या है ?

उत्तर: पूर्व मीमांसा में धर्म को विधिरुप से (चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः) वर्णन किया गया है । वे कथन जो विधि नहीं दर्शाते उन्हें सिद्ध या वर्णात्मक कथन कहते हैं । सिद्ध वाक्य में विधि नहीं होती है । लोग इसे सिद्धोपदेश, यानि कि विधिरहित वर्णात्मक

कथन कहते हैं, क्योंकि विधि अभिधेय का अंश बन जाएगा । ******

प्रश्न: क्या ऐसा कथन सम्बन्ध ज्ञान है जो सिद्धोपदेश कहलाते है ?
उत्तर: हाँ । *****

१२१. संवेग (भावनाएँ)

प्रश्न: आध्यात्मिक भावनाएँ भगवान की शक्तियों जैसी हैं, किन्तु भौतिक मञ्च पर हम आध्यात्मिक भावनाओं की अनुभूति नहीं कर पाते हैं । आध्यात्मिक और भौतिक भावनाओं में क्या अन्तर है ?

उत्तर: इन दोनों के मध्य वैसी भिन्नता है जैसे चेतन विषय और जड़ पदार्थ के मध्य है। आध्यात्मिक का अर्थ होता है जो आत्मा से सम्बन्धित है, अथवा जो आध्यात्मिक जगत या आध्यात्मिक विषय से सम्बन्धित है । भौतिक अर्थात् जो जड़ पदार्थ से सम्बन्धित है । पदार्थ से सम्बन्धित का अर्थ होता है कि संसार से जुड़ी प्रत्येक वस्तु जड़ है । जड़ और चेतन के मध्य यह भिन्नता है कि पदार्थ जड़ है और आत्मा चेतन है । आध्यात्मिक अनुभव (संवेग) अलौकिक है । वे आनन्द से भरे होते हैं अथवा भगवान की चित् शक्ति से परिपूर्ण हैं । सांसारिक अनुभव भौतिक हैं और उनका परिणाम सदैव दुःखपूर्ण होता है । अतः चेतन व जड़ भिन्न (अर्थात् संवेदना भिन्न) है।

*****

प्रश्न: जब कोई आध्यात्मिक जीवन में उन्नति करता है तो क्या उसकी भावनाएँ पवित्र हो जाती हैं ?
उत्तर: मनुष्य सांसारिक भावनाओं से भरा हुआ होता है और जब वे भक्ति युक्त कार्यों में भाग लेता है, तो जब तक भावनाएँ विशुद्ध नहीं हो जातीं, वे सांसारिक ही रहती हैं।

*****

प्रश्न: क्या सांसारिक भावनाएँ आध्यात्मिक जीवन के प्रारम्भ में सहायक हो सकती हैं?
उत्तर: संसार में लोग अपने सांसारिक उद्देश्यों के लिए केवल अपनी बुद्धि, शरीर और इन्द्रियों का प्रयोग करते हैं इसलिए जब तक पूर्ण रूप से वह ब्रह्म अथवा भगवान को समर्पित नहीं होता, तब आध्यात्मिक जीवन में दीक्षा लेने के बाद भी वह निरन्तर सांसारिक भावनाओं से जुड़ा रहेगा । यद्यपि वह सोचता है कि वह आध्यात्मिक जीवन में है, पर वास्तव में वह भौतिक जीवन में ही है । पूर्ण रूप से समर्पित होने के बाद और भक्तिमय पथ पर स्थिर होने के बाद ही आध्यात्मिक भावनाएँ विकसित होंगी, अन्यथा उसकी भावनाएँ सांसारिक ही रहेंगी । सांसारिक भावनाओं के कारण उसके पास बाधाएँ आएँगी क्योंकि वह भौतिक को आध्यात्मिक मानने की ग़लती करता है ।

यह उसके आध्यात्मिक विकास में बाधा उत्पन्न करती है।   ******

प्रश्न: क्या इसका यह अर्थ होता है कि जब कोई शास्त्रीय श्रद्धा के स्तर पर आता है तो उसकी भावनाएँ आध्यात्मिक हो जाएँगी ?
उत्तर: हाँ, यदि वह पूर्ण रूप से समर्पित है तो ।

******

प्रश्न: महाराज जी, क्या यह सोचना ठीक होगा कि जब तक कोई अपनी भावनाओं (कामनाओं) को वश में न कर लें (शुद्ध न कर लें), तब तक लौकिक सुख से सावधान रहे ?
उत्तर: हाँ ।

******

प्रश्न: कैसे कोई विशुद्ध हो सकता है ?
उत्तर: भक्तिपरक सेवा आप को विशुद्ध बनाती है । जब कोई भक्तिपरक सेवा करता है तो सांसारिक भावनाओं से उसकी रुचि कम हो जाती है और आध्यात्मिक भावनाओं में अभिरुचि बढ़ने लगती है ।

******

प्रश्न: क्या "पूर्ण समर्पण" अर्थात् गुरु के अलावा और किसी में आसक्ति न रखना ?
उत्तर: हाँ । यदि आप की आसक्ति कुछ और है तो आप की भावनाएँ भी उन आसक्ति का अनुसरण करेंगी ।

******

१२२. सरलता

प्रश्न: सरलता का अर्थ क्या है ?
उत्तर: सरलता का अर्थ है कपटता से मुक्ति । कपटता का मूल है स्वार्थपरता और उसके साथ-साथ है कुटिलता, कठोरता और शुष्कता । कुटिलता अर्थात् कहना कुछ और करना कुछ और सोचना कुछ और । कठोरता यानी हिंसक स्वभाव होना, करुणारहित, अदयालु, निष्ठुर होना, किसी के गुणों को मान्यता न देना । सरलता इन सभी से विपरीत है । गुरु को कृष्ण की तरह, एक भगवान की तरह स्वीकारना यही सरलता की प्रथम श्रेणी है । यदि हम गुरु से सरल व्यवहार करेंगे तो हम कृष्ण के साथ भी सरल व्यवहार करेंगे ।

इस जगत में सरलता का दृष्टान्त है माँ और उसका बच्चा । माँ स्नेहमयी, कोमल-हृदय, सरल और गुणज्ञा होती है । उसे अपने बच्चे में प्रत्येक बात अच्छी ही दिखायी देती है। जगत में सरलता का यही दृष्टान्त है, तथापि यह दृष्टान्त उत्तम नहीं है क्योंकि बच्चे के

बड़े होने के बाद माँ की भावनाओं में परिवर्तन आता है । कदाचित माँ बच्चे के साथ कुटिल व्यवहार कर सकती है और बच्चा भी माँ के साथ उसी तरह कुटिलता से व्यवहार कर सकता है । वह कदाचित अपनी माँ के व्यवहार को सहज रुप से पसन्द न करे । सरलता यानि गुरु के प्रति एक माँ के अपने बच्चे के प्रति जैसा अनुकूल व्यवहार होता है वैसा ही व्यवहार करना ।

*****

१२३. साक्षात्कार

प्रश्न: जीव गोस्वामी भगवान के साक्षात् हरि दर्शन की बात करते हैं । श्रीमद् भागवत में उनका कथन है:

एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः ।
भगवत्तत्त्वविज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते ।। (भा. १.२.२०)

"इस तरह भगवान का साक्षात्कार उस व्यक्ति को होता है जो सांसारिक इच्छाओं से मुक्त है, भगवान की भक्ति में संलग्न है और मन से प्रफुल्लित है । "
साक्षाद्धरो मनसि बहिर् भावनां विनैवानुभवो - मैं सोच में हूँ कि मनसि या मनसि बहिर् का क्या अर्थ होता है ?

उत्तर: परमतत्त्व के तीन स्वरूप हैं: ब्रह्म, परमात्मा, और भगवान । अतः तीन प्रकार के साधक होते हैं: ज्ञानी, योगी और भक्त । ज्ञानी और योगी का साक्षात्कार मात्र आंतरिक होता है और उनको बाह्य साक्षात्कार नहीं होता परन्तु भक्त को आंतरिक और बाह्य दोनों साक्षात्कार होते हैं । उसे मनसि बहिर् कहते हैं ।

एक भक्त को इसके (साक्षात्कार के) लिए (विशेष) साधना करने की आवश्यकता नहीं है । साधना का वर्णन एक है पर वह तीनों साधकों को लागू होता है । परन्तु साधना की प्रत्येक प्रक्रिया हर साधक के लिए समान नहीं होती है । ज्ञान या योग मार्ग के द्वारा इसका साक्षात्कार पाने के लिए साधक को इन रीतियों को अपनाना होता है । जब कि भक्ति में प्रारम्भ से ही जब साधक दीक्षा लेता है और गुरू के प्रति आकर्षण हो गया है, वही उसका साक्षात्कार है । भागवत के (मंगलाचरण के) दूसरे श्लोक में कहा है:

धर्मः प्रोज्झित कैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां,
वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनम् ।
श्रीमद्भागवते महामुनिकृते किं वा परैरीश्वरः

सद्यो हृद्यवरुध्यतेऽत्र कृतिभिः शुश्रूषुभिस्तत्क्षणात् ।। (भा. १.१.२)

"इस ग्रन्थ में सन्त जैसे हृदयवाले, द्वेषरहित, छल कपट की भावना से मुक्त लोगों के धर्म का विवरण है । परम तत्त्व वह है जो शुभद एवं त्रिताप से मुक्त करता है । महान महर्षि व्यास ने यह सुन्दर भागवत पुराण की रचना की है, अतः अन्य किसी शास्त्र की आवश्यकता नहीं है । जैसे ही किसी को उसे सुनने की इच्छा होती है, भगवान ऐसे सन्त जैसे साधक के हृदय में अवरुद्ध हो जाते हैं।"

साक्षात्कार शीघ्र होता है - उसमें विलम्ब नहीं होता । उत्तमा भक्ति में कोई श्रेणी नहीं होती, जैसे कि श्रीमद् भागवत १.२.२० में दिखाया है, क्योंकि उत्तमा भक्ति साधना से प्राप्त नहीं होती । वह भगवत्कृपा से मिलती है । जब गुरु का मन करुणामय बनता है और उनका हृदय पिघलता है, तो भगवान का भी हृदय पिघलता है । फिर शिष्य को शक्ति मिलती है जो साक्षात्कार दिलाती है । भगवान से सीधा सम्बन्ध बनता है । विशेष साधना की आवश्यकता नहीं रहती । शिष्य को स्वप्रयोजन रहित गुरु की सेवा करनी होती है ।

******

प्रश्न: उत्तमा भक्ति में साधना और साध्य नहीं होते हैं । अन्य मार्ग में क्या है ?

उत्तर: यह तो एक दिखावे के लिए बताया गया है कि अन्य मार्ग की तरह भक्ति भी मार्ग है । अतः जीव गोस्वामी को यह समझाने की आवश्यकता हुई । परन्तु उत्तमा भक्ति में ऐसी कोई श्रेणी नहीं है ।

*****

प्रश्न: कल आपने बताया था कि यदि कोई भगवान को पूजना चाहता है तो उसकी आध्यात्मिक शक्ति उसकी इन्द्रियों द्वारा प्रकट होती है, इसका क्या अर्थ होता है ?

उत्तर: जब कोई गुरु-शरण लेता है तो उससे सीखता है और निःस्वार्थ भाव से उसकी सेवा करता है और फिर भगवान और गुरु की कृपा से वह आध्यात्मिक शक्ति पाता है। ये सब चीज़ें जैसे कि भगवान का नाम, स्वरूप, गुण आदि कोई भौतिक नहीं है । उसका अनुभव भौतिक इन्द्रियों से नहीं हो सकता, पर जब भगवान प्रसन्न होते हैं, तब अनुभूति होती है । जैसे हम भौतिक चीज़ें देखते हैं और उनका (व्यवहारमें) अनुभव करते हैं, ठीक उसी तरह भगवान स्वयं उन अलौकिक वस्तुओं को उपलब्ध कराते हैं ।

व्यक्ति का मन हमेशा लौकिक प्रवृतियों में उलझा रहता है और उसमें भौतिक वस्तुओं को समझने की और उनकी कल्पना करने की अदम्य शक्ति है । वैसे ही जब आध्यात्मिक शक्ति दी जाती है तब वही मन अलौकिक वस्तुओं को समझ सकता है और अनुभूति

भी कर सकता है । यदि व्यक्ति अपराध मुक्त हो जाता है और भक्ति से संलग्न हो जाता है तो यह भगवदिच्छा से होता है । भागवत (भा. १.१.२) के दूसरे श्लोक में कहा है कि यदि कोई शुश्रुषु हो तो भगवान तुरन्त उसके हृदय में अवरुद्ध हो जाते हैं । यह मात्र भगवदिच्छा से ही होता है, यदि वह अपराधमुक्त हो तो । ******

प्रश्न: संसार में होते हुए भी एक उत्तम भक्त कैसे परमतत्त्व का अनुभव कर सकता है? मैं हमेशा समय और स्थान को ध्यान में रख कर सोचता हूँ कि गोलोक वृन्दावन तो बहुत दूर है ।

उत्तर: ईश्वर सर्वव्यापी, सर्व शक्तिमान और स्वशक्ति से स्वमहिमा में स्थित है । वह स्वराट् है, किसी पर आधारित नहीं है । यदि वह सर्वव्यापी है तो ऐसा कोई प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता कि वह कहीं और है और यहाँ नहीं है ।

भावनाएँ दो प्रकार की होती हैं; प्रेम ओर घृणा । जब प्रेम होता है, तो वस्तु समीप दिखाई देती है और जब प्रेम नहीं होता तो वस्तु अति दूर लगती है ।

जनसमुदाय को भगवान के प्रति प्रेम नहीं है और कोई चमत्कार देखना चाहते हैं क्योंकि वे असाधारण वस्तु से प्रभावित होते हैं । ऐसा वर्णन किया गया है कि गोलोक अत्यन्त अद्भुत, ज्योतिर्मय और करोड़ों योजन दूर है, पर यदि आप ऐसा समझाओ कि कृष्ण एक ग्वाल बालक है जो गायों के साथ है, वहाँ गोबर है, गोमूत्र है, तो लोग सोचेंगे कि, "अहो, ऐसा तो यहाँ आसपास ही है", तो सोचो कौन उस में रुचि लेगा ? अतः शास्त्र अति अलंकृत भाषा में इन विषयों को बताता है और इस बात को ऐसे कहेगा जैसे, "गोलोक में हर क़दम नृत्य है और हर शब्द संगीत है ।" फिर लोग इस में रुचि लेंगे । जब कृष्ण सर्वव्यापी है, तो उसका कहीं और गमन का प्रश्न ही कहाँ उठता है?

तथापि हमारी दृष्टि बड़ी सङ्कीर्ण है और हम मध्यमाकार वस्तु को ही देख सकते हैं । यदि कुछ महान है तो उसे हम तभी समझ सकते हैं जब उसे अपने अनुभव और ग्रहण शक्ति की मर्यादा में समझाया गया हो । हम सोचते हैं कि जब कुछ महान होता है तो वह दूर ही होगा । यदि वह परम है तो वह इस ग्रह पर कैसे हो सकता है ? अतः उसे ऐसे ही समझाना होगा कि वह इतना दूर है कि वहाँ कोई हवाई जहाज़ भी नहीं जा सकता, और यदि आप अपने मन की गति से जाओगे तो भी वहाँ नहीं पहुँच पाओगे आदि । हमारे भाव के कारण ऐसे समझाया गया है ।

यदि किसी के पास प्रेम भरा हृदय है, तो भगवान सर्वत्र है । अतः उत्तम भक्त गोलोक की आध्यात्मिक वास्तविकता को यहीं पर भी देख सकते हैं, पर यदि किसी के पास

ऐसा भाव नहीं है, प्रेम नहीं है, तो उसके लिए वह मीलों दूर है कि जहाँ पहुँच पाना अति कठिन है ।

*****

प्रश्न: कोई कैसे अलौकिक अनुभूति को मन के स्थूल एवं सूक्ष्म अनुभव से अलग कर सकता है ? और क्या यह सच है कि अलौकिक अनुभव नित्य होते हैं, जैसे नारद मुनि को भगवान विष्णु के दर्शन हुए थे, उसे वे कभी भूल नहीं पाए ?
उत्तर: अलौकिक अनुभव कभी विस्मृत नहीं होते है । वे चिर स्थायी होते हैं । अलौकिक अनुभव (भगवान की) स्वरूप शक्ति से प्रकट होता है । भगवत्कृपा से वह भौतिक इन्द्रियों में भी प्रकट होता है । स्वरूप शक्ति इन्द्रियों पर अधिरोपित हो जाती है । भगवान विष्णु सर्वव्यापी है, पर अपनी इच्छा से वे जब भी चाहे, जहाँ भी, जिसके समक्ष प्रकट होना चाहें, वह होते हैं । आध्यात्मिक वस्तु स्वयं-प्रकटित और स्वयं प्रकाशित हैं और भगवान जब भी चाहें, उन्हें प्रकट कर सकते हैं और हम उनका इन्द्रियों से अनुभव कर सकते हैं ।

*****

प्रश्न: ऐसी स्थिति में भक्त कैसे आश्वस्त हो सकता है कि जो वह देख रहा है वह कृष्णकृपाकी अन्तरङ्ग शक्ति से प्रकट है ? क्या उसे शङ्काएँ नहीं होनी चाहिए ?
उत्तर: इसमें कोई शङ्का नहीं है । [देखिए कृष्ण]

*****

१२४. सात्त्विक भाव.

प्रश्न: जगन्नाथपुरी में महाप्रभु के जो सात्त्विक भाव, जैसे कि उनके अङ्गो का शिथिल होना, दीर्घ होना, मुँह से झाग निकलना और देहछिद्रों से रक्त बहनादि, प्रकट हुए थे उनको हम कैसे समझ सकते है ?
उत्तर: यह ममत्व, प्रेम जैसी भावनाओं के कारण हृदय परिवर्तन है । जब किसी प्रिय वस्तु के लिए उत्कट प्रेम उभर आता है तब मन सम्पूर्ण रूप से तल्लीन हो जाता है । जब प्रबल विरह-भावना होती है तब देह में सत्त्व चिह्न (कृष्णरति से हृदय वशीभूत हो जाता है) और ऐसे लक्षण प्रकट हो जाते हैं ।

देह मानसिक स्थिति के अनुरुप प्रतिक्रिया करता है । जब मन अपने प्रेमी को मिलने के लिए उत्कण्ठित होता है तब देह में भी विशेष चिह्न प्रकट होते हैं । जब मन कोई विशेष भावनाओं में लीन होता है, जैसे कि क्रोध, तब देह में भी क्रोध के विशेष चिह्न प्रकट हो जाते हैं । ठीक उसी तरह जब मन में प्रेम की उत्कट भावना हो, तो देह में भी उसी प्रकार की प्रतिक्रियाएँ आविर्भूत होती हैं ।

******

प्रश्न: क्या यह कृष्ण के विरह के कारण है ?

उत्तर: हाँ, निश्चित रूप से । यदि कोई व्यक्ति ग़ुस्से में है, तो उसके देह में क्रोध के लक्षण प्रकट होते हैं । यदि आप किसी से विरह का अनुभव कर रहे हो, उसके विशिष्ट लक्षण देह से प्रकट होते हैं, जैसे कि आँखों में अश्रु आना, या फिर रोंगटे खड़े हो जाना । जिसको चाहते हो उसकी यदि मृत्यु हो जाय तो उसके विरह के कारण आप प्रायः रोने लगेंगे । वैसे ही लक्षण देह से प्रकट हो सकते हैं जब कोई भगवान से विरहवेदना का अनुभव कर रहा हो ।

*****

प्रश्न: यदि कोई इन सात्त्विक भावों का वर्णन पढ़ता है, तो इन भावों को उन्मादपूर्ण चिह्न के रूप में देखना या उनसे समन्वय करना अतिकठिन है, क्योंकि मेरे लिए भाव आनन्दपूर्ण होना चाहिये जब कि ये वर्णन बड़े भारी और डरावने दिखाई देते हैं ।

उत्तर: ऐसा पार्थिव देह में नहीं होता अतः डरो मत । इस देह में तो इसके अर्थ को अनुभव करना भी कठिन है । श्रद्धा होना तो दूर की बात है । अतः समस्त सात्त्विक भावों के विषय में तो क्या कहना ? ये सात्त्विक भाव कैसे उच्च स्तरीय भक्त में प्रकट होते हैं इनकी व्याख्या ही की गई है । इनकी अनुभूति इस पार्थिव देह में नहीं होती । भक्त को ऐसे लक्षण दिखाने में कोई रुचि नहीं होती । भक्त तो केवल सेवा करना चाहता है । वास्तव में तो वह ममत्व चाहता है क्योंकि जहाँ ममत्व है, वहाँ शेष वस्तु उसके पीछे होती है । अतः भक्त की रुचि केवल ममता पाने में या प्रीति पाने में होती है । उसे रोने या सात्त्विक भाव में कोई रुचि नहीं होती । यह वर्णन इस बात को समझाता है कि किस तरह भक्तिरस प्रकट होता है । वर्णन करने की यह साहित्यिक रीति है ।

*****

१२५. साधना

प्रश्न: जहाँ तक हमारी साधना की बात है, तो हमें कैसे साधना करनी चाहिए ?

उत्तर: साधना - यदि आप के पास कोई मन्त्र है, तो उस मन्त्र का जप करिए, उसके मूल सिद्धांतों का पालन कीजिए, जैसे कि जो भोजन भगवान को अर्पण नहीं किया है, उसे ग्रहण न करें, आप आवश्यक सेवा करें, इत्यादि।

धर्मान् अन्यान् परित्यज्य मामेकं भज विश्वसन्
यादृशी यादृशी श्रद्धा सिद्धिर् भवति तादृशी । (ब्रह्मसंहिता ५.६१)

"सभी धर्म (कर्तव्य) को छोड़कर श्रद्धा से मेरी सेवा करें । जैसी श्रद्धा है वैसी ही सिद्धि मिलेगी ..." ।

यह श्लोक भगवद्-गीता (१८.६६) जैसा ही है, परन्तु श्लोक की दूसरी पङ्क्ति कहती है कि सिद्धि आप की श्रद्धा पर आधारित है । जैसी आप की श्रद्धा, वैसा आप का फल । यदि आप की श्रद्धा लौकिक है, तो फल भी लौकिक होगा । यदि आप की श्रद्धा अलौकिक है, शास्त्र की समझ पर आधारित है, तो सिद्धि भी अलौकिक आएगी ।

जब हम साधना की बात करते हैं तो कुछ भ्रम होगा । सामान्य रूप से साधना अर्थात् कुछ कार्य करो और फल उस कार्य के अनुसार मिलेगा । साधना यानि क्रिया के अनुसार फल मिलेगा । परन्तु भक्ति में साधना को इस अर्थ में नहीं लिया गया है। यहाँ भ्रम उत्पन्न होता है । हम सोचते हैं कि यदि मैं ६४ जपमाला करूँगा तो मुझे विशेष फल मिलेगा । पर ऐसा नहीं होता । आप चाहे एक बार जपमाला करो या एक बार भी न करो फिर भी आप को ऐसा फल मिलता है जो आप को १०८ बार जपमाला करने के बाद भी नहीं मिलता । भक्ति ऐसी कोई लौकिक वस्तु जैसी नहीं है । भक्ति में ऐसा नहीं है कि आप एक चम्मच शक्कर डालोगे तो इतना मीठा होगा और ज़्यादा शक्कर डालोगे तो अधिक मीठा होगा ।

सर्वधर्मान् परित्यज्य अर्थात् सब कुछ समर्पण कर दो । साधना यानि पहले समर्पण करो, बाद में सब कुछ करो । मात्र मन्त्र जप करना, फिर अपने काम पर जाना, यह साधना नहीं है । आत्म-निवेदन में ऐसा ही वर्णन किया है कि एक बार समर्पित हो गए तो तदनन्तर प्रत्येक वस्तु साधना है ।

समर्पणभाव और सेवकभाव होना आवश्यक है । यदि श्रद्धा निर्गुण है, तो फल भी निर्गुण मिलेगा । यदि निर्गुण श्रद्धा है तो भजन क्रिया भी निर्गुण होगी तदनन्तर अनर्थ निवृत्ति होगी । यदि श्रद्धा निर्गुण नहीं है, तो समझ प्राकृतिक गुणों पर आधारित होगी। कार्य के फल भी भौतिक होंगे । यदि कार्य भक्ति से नहीं किए गए हैं तो कार्य फल भी अलौकिक के बजाय लौकिक प्रतिक्रिया के रूप में होंगे ।
जैसे कृष्णानुशीलनम् सभी क्रियाओं का उल्लेख करता है पर कोई विशेष क्रिया नहीं है,
******
उसी तरह साधना मात्र जप और कीर्तन तक सीमित नहीं है ।

प्रश्न: अतः क्रिया स्वयं आध्यात्मिक फल नहीं देती, परन्तु क्रिया करते समय मन में प्रेरणा एवं जो भाव है क्या यह महत्वपूर्ण है ?

उत्तर: हाँ, विशेष कर जब हम रागानुगा भक्ति की बात करते हैं तब वैधी भक्ति की बात नहीं करते हैं, जहाँ हम कुछ कार्य करें और वैकुण्ठ में जाएँ । इसे उत्तमा भक्ति

नहीं कहते । भक्ति यानि भगवान के नित्य पार्षदो का अनुसरण करना । भक्ति एकता लाती है ।

अन्यथा वह फिर से ज्ञान मार्ग जैसा हो जाएगा, जहाँ आप अपना काम करो और अपने व्यापार के विषय में ध्यान रखो । यदि भक्ति करने का यही आप का उद्देश्य है तो आप केवल मुक्ति चाहते हो, यह भक्ति नहीं है । उत्तमा भक्ति का मार्ग गुरु का अनुसरण करना है, यह स्वतन्त्र नहीं है । सर्वधर्मान् परित्यज्य का यही अर्थ होता है। कृष्ण ने इस श्लोक को भगवद्-गीता में भी कहा है ।

*****

प्रश्न: गुरु-समर्पण के बाद ही यह स्पष्ट होगा कि हमें क्या करना चाहिए ?
उत्तर: हाँ ।

******

प्रश्न: गोसेवा करते समय क्या सोचते हैं या अपने मन को कहाँ केन्द्रित करते हैं क्योंकि कुछ समय के बाद वह कार्य यांत्रिक बन जाता है और मन भटकने लगता है।
उत्तर: भक्ति में साधना और साध्य है, साधना के समय की स्थिति और सिद्धि की स्थिति । साधना मन और इन्द्रियों से की जाती है । गीता के ८.७ श्लोक में कहा है: मामनुस्मर युध्य च अर्थात् कृष्णस्मरण करते हुए कार्य करना है ।

मन और देह दोनों को साधना के समय व्यस्त रखना है । यदि मात्र देह व्यस्त है और मन नहीं है, तो वह कार्य यान्त्रिक हो जाएगा । दूसरी ओर यदि आप मात्र मन को व्यस्त रखोगे और देह से कार्य नहीं करोगे तो कुछ समय के बाद मन भटकने लगेगा। मन और देह दोनों एक दूसरे के पूरक हैं । देह से सेवा करो और मन से कृष्ण का स्मरण करो । आप को यह याद रखना होगा कि भगवान की प्रसन्नतार्थ सेवा कर रहे हैं ।

चाहे वह गाय ही क्यों न हो, गाय को भी कृष्ण की तरह पूजनीय मानना चाहिए । ऐसी मानसिकता होगी तो कार्य यन्त्रवत् नहीं लगेगा ।

यह प्रेरणा भगवत्कृपा से होती है । जब यह प्रेरणा होगी और ऐसी मानसिकता होगी तो आप को भगवान से पुनः प्रेरणा मिलती रहेगी । इस में समय लगेगा । इस भावना को पाने में कितना समय लगेगा यह हम कह नहीं सकते । यह प्रत्येक व्यक्ति के लिए अलग है, पर हमारे प्रयत्न यांत्रिक रूप से नहीं पर भक्तिभाव से सेवा करने के लिए होने चाहिए । इसी को साधना कहते हैं, अभ्यास कहते हैं ।

इस भाव का अभ्यास इन्द्रियों के साथ मन से भी करना चाहिए । जगत का मुख्य आधार ही मन है । चाहे वह लौकिक या अलौकिक हो, मन ही प्रमुख घटक है । यदि मन भौतिक रूप से कार्य में लगाएँगे, तो मन दुनिया में ही स्थिर रहेगा और यदि मन को अलौकिक भाव से रखेंगे तो वह अलौकिक जगत में प्रवेश करने का कारण बनेगा। जैसा कि भक्ति रसामृतसिन्धु में कहा है:

अतः श्रीकृष्णनामादि न भवेद् ग्राह्यमिन्द्रियैः ।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फुरत्यदः ।। (भ.र.सि. १.२.२३४)

"अतः कृष्ण के दिव्यनाम और गुण भौतिक इन्द्रियों से ग्रहण नहीं कर पाते हैं । पर जब साधक सेवा कार्य के प्रति प्रेरित होता है, तब कृष्णनाम स्वयं जिह्वा पर विराजमान हो जाते हैं ।"

जब कोई मन्त्र जप करना चाहता है, तो नाम जिह्वा पर आता है क्योंकि वह नाम लौकिक नहीं है । ऐसे ही अभ्यास से भगवान या उसका नाम नहीं पा सकते । प्रथम सेवा करने की प्रेरणा होती है, और जब सेवा करो तो अपनी भावना में भक्ति भाव रखो । ऐसी मानसिक स्थिति हमेशा विकसित करनी चाहिए । ******

१२६. साधु सङ्ग

प्रश्न: कभी-कभी मैं अपने आध्यात्मिक जीवन में प्रगति की कोई सम्भावना को न देखकर निराश हो जाता हूँ, पर मैं यह भी अनुभव करता हूँ कि भविष्य के जन्म के लिए अच्छे संस्कार एकत्रित हो रहे हैं । क्या यह भ्रान्त मानसिकता है ?

उत्तर: निराश होना उचित नहीं है । सर्व प्रथम तो आध्यात्मिक जीवन में प्रगति करने के लिए ही हमें मनुष्य देह मिला है । दूसरा, यदि किसी को साधु पुरुष या भगवद्भक्त का सङ्ग मिले तो यह सूचित करता है कि संसार से उस के सम्बन्ध समाप्त हो गये हैं।

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवेज्जनस्य तर्ह्यच्युत सत्समागमः।
सत्सङ्गमो यर्हि तदैव सद्गतौ परावरेशे त्वयि जायते मतिः ।। (भा.१०.५१.५४)

"ओ अच्युत! जब साधक संसारचक्र से मुक्त होने के समीप में है तब उसे सत्सङ्ग प्राप्त होता है, और ओ परावरेश्वर! जब साधुसङ्ग मिलता है तब उसकी मति भक्ति करने के लिए आप के प्रति केन्द्रित होती है ।"

अन्यथा भगवान क्यों सत्सङ्ग देंगे ? इससे अतिरिक्त अन्य कोई कारण ही नहीं है ।

सत्सङ्ग का मात्र एक ही उद्देश्य हैः अब वह संसार का त्याग करने के लिए तैयार है। भगवान यही चाहते हैं। अतः उसे मानव देह दिया है और साधु पुरुष का सङ्ग दिया है, फिर निराश होने का प्रश्न ही नहीं रहता। इसके बजाय उसे अति उत्साहित होना चाहिए कि उसे सत्सङ्ग का अवसर मिला है। भगवान ने हमें सोचने की, निर्णय लेने की, ज्ञान पाने की, कार्य करने आदि की स्वतन्त्रता दी है। हमें जो कुछ भी मिला है उसका यथार्थ उपयोग करना चाहिए। यह मानव देह मिला है, जिस में ऐसी सुविधा है कि हम शास्त्र-श्रवण कर सकते हैं, उन्हें समझ सकते हैं, सत्सङ्ग और सेवादि कर सकते हैं। ऐसा दुर्लभ सुयोग मिला है जिसे कभी भी गँवाना नहीं चाहिए परन्तु उसका सदुपयोग करना चाहिए। ऐसी सोच होनी चाहिए।

सांसारिक जगत में लोग कभी निराश नहीं होते। वे निरन्तर दुनिया में ही रहते हैं हालाँकि वे प्रतिपद पर निराशा ही पाते रहते हैं। फिर भी वे कभी नहीं सोचते, "मैं दुःखी हूँ अतः मुझे कोई आध्यात्मिक मार्ग लेना चाहिए।" वे सांसारिक प्रवृतियों में लगे रहते हैं। हमें उनसे प्रेरणा लेनी चाहिए और अपने मार्ग पर दृढ़ रहना चाहिए। यह व्यक्तिगत मानसिकता या भाव का ही प्रश्न है।

कल सुशीला नामक महिला का देहान्त हुआ, जो महात्मा गांधीजी की अनुयायी थी। जब वह युवावस्था में गांधीजी को मिली, तब उन्होंने उसे विवाह करने के बजाय देशसेवा करने को कहा। आजीवन उस ने उस आदेश का पालन किया। एक स्त्री होने के बावजूद भी उस ने देशसेवा के लिए जीवन समर्पित किया। वह न कोई विद्वान थी और न ही उसे किसी का सुसङ्ग मिला, परन्तु गांधीजी के शब्दों में विश्वास था, जिसे अपने हृदय में ग्रहण किया था।

आध्यात्मिक जीवन की तुलना इससे की जा सकती है, यद्यपि उसकी गुणवत्ता समान नहीं है। आध्यात्मिक मार्ग उच्चतम है यदि दुनिया में (उपरोक्त) सुशीला जैसी निष्ठा सम्भव हो तो आध्यात्मिकता के कारण इससे भी बढ़कर निष्ठा हो सकती है। अतः हमें निराश होने की कोई आवश्यकता नहीं है, बल्कि जो यह दुर्लभ अवसर मिला है उस से हमें उत्साही होना चाहिए और उसका लाभ उठाना चाहिए।

*****

प्रश्नः हमने यह श्लोक पढ़ा है।:

शुश्रूषो श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः।

स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्॥ (भा. १.२.१६)

"ओ विप्र, शुश्रूषु निष्ठावान व्यक्ति जब तीर्थ-धाम में निवास करता है या यात्रा करता है एवं महान सन्तो की सेवा करता है तब वासुदेव-कथा में रुचि होती है ।

क्या धाम में सेवा करने के बाद सत्सङ्ग मिलता है या पहले कोई धाम में आता है और भाग्य से साधु सङ्ग मिलता है तत्पश्चात् श्रद्धा और (भाव) वृद्धि होती है ?

उत्तरः दोनों सम्भव है । यह सम्भव है कि कोई व्यक्तिगत कार्य के लिए पवित्र धाम गमन करता है और वहाँ साधु- सङ्ग होता है क्योंकि महत्पुरुष लोग पवित्र धाम में रहते हैं, और ऐसा भी हो सकता है कि धाम में सेवा करते समय कोई साधु का सङ्ग मिल गया हो या फिर नारद की तरह व्यक्तिगत रूप से कोई साधुसङ्ग मिल गया हो। नारद किसी भी पुण्य-तीर्थ पर नहीं गए थे । वे तो अपने घर में ही थे फिर भी उन्हें सत्सङ्ग मिला था ।

लेकिन, वक्ता और श्रोता दोनों योग्य होने चाहिए तभी साधुसङ्ग प्रभावशाली होगा । वक्ता महत् होना चाहिए । कृष्णकथा तभी प्रभावशाली हो सकती है जब वह कोई महत् से कही गयी हो और श्रोता भी योग्य हो । वह सरल हृदयी होना चाहिए और अपराधी भी नहीं होना चाहिए । अन्यथा बहुत सारे लोग धार्मिक स्थान पर आते हैं, जहाँ अनेक प्रवचन होते रहते हैं जिसे लोग उत्साहपूर्ण ध्यान से सुनते हैं, परन्तु उसका कोई असर नहीं होता । वे उत्तमा भक्ति नहीं पाते बल्कि उसका प्रभाव भी विपरीत होता है । वे भक्ति के अलावा सब कुछ करते हैं । ऐसा इसलिए होता है क्योंकि वक्ता और श्रोता दोनों अयोग्य हैं ।

जहाँ तक नारद की बात है, उन्होंने योग्य लोगों से सुना था और वे स्वयं भी योग्य थे, जैसे भा. १.५.२४ में वर्णन किया है:

ते मय्यपेताखिलचापलेऽर्भके दान्तेऽधृतक्रीडनकेऽनुवर्तिनि ।
चक्रुः कृपां यद्यपि तुल्यदर्शनाः शुश्रुषमाणे मुनयोऽल्पभाषिणि ।। (भा. १.५.२४)

"एक बालक होने के बावजूद मैं सभी प्रकार की बच्चों की चंचलता से मुक्त था, शान्त और विनम्र था, अल्पभाषी था और खेलकूद में अरुचि थी । उन समदृष्टि साधुसन्तों की भिन्न-भिन्न प्रकार से मैं ने सेवा की, उन सभी सन्तो की मुझ पर अधिक कृपा हुई और उनसे विशेष आशीर्वाद मिले ।"

नारद सभी प्रकार की चपलता से मुक्त, स्वनियन्त्रित, शांत, एवं अल्पभाषी थे । अतः

समदृष्टि साधु सन्तों ने उन पर विशेष कृपा की। जब योग्यता हो तो आशीर्वाद अपना प्रभाव प्रकट करता है।

उनके विषय में क्या कहें जो यात्री वृन्दावन आते हैं, कथा सुनते हैं, और उन्हें भी देखिए जो धामवासी हैं। वे गुरु रखते हैं, दीक्षा लेते हैं और मन्त्र-जप करते हैं। आप देखेंगे कि वे मन्त्रजप करते हुए इधर उधर घूमते हैं, कथा सुनते हैं और इसी पवित्र धाम में रहते हैं, पर उन्हें गुरु, भगवान और धाम में कोई श्रद्धा नहीं है। उन्हें मात्र धन और भोगविलास में ही रुचि है। उन पर कथा का कोई प्रभाव नहीं होता, बल्कि विपरीत असर होता है। योग्यता न होने के कारण ऐसा होता है। अतः शास्त्र में वर्णित नाम, धाम और सत्सङ्ग का कोई प्रभाव उन पर नहीं होता है। विशेष रूप से ऐसे लोग कठोर हृदय के बन जाते हैं। ऐसा कहते हैं कि जो लोग बाहर से आते हैं, वे पवित्र धाम में स्नान करते हैं, पवित्र बनते हैं और अपने पाप यहाँ के निवासियों के लिए छोड़ जाते हैं। अतः धाम के निवासी अपने पापों में और लिप्त हो जाते हैं।

भक्तिरसामृत-सिन्धु में श्री रूप गोस्वामी ने पाँच प्रकार की प्रभावशाली वस्तुओं के विषय में कहा है: वे है धाम में रहना, श्रीमद् भागवत सुनना, साधु-सङ्ग करना, नाम-कीर्तन करना और विग्रह सेवा करना। इनसे अल्प सम्पर्क भी भाव प्राप्त करा सकता है। परन्तु वह यह भी कहते हैं कि सद्धियां भाव जन्मने अर्थात् व्यक्ति को निरपराधी होना चाहिए और विशेष कर गुरु-अपराधी नहीं होना चाहिए। यदि ऐसा है तभी ये पाँच वस्तुएँ प्रभाव प्रकट करती है। धाम की भी गिनती इन पाँच में आ गयी है। धाम के साथ अल्प सम्पर्क भी व्यक्ति में भक्ति भाव ला सकता है। पर इसके लिए भी योग्यता होना आवश्यक हैं। ये सभी वर्णन ग़लत नहीं है, पर उनकी शक्तियों की अनुभूति के लिए योग्य होना अति आवश्यक है।

वृन्दावनवास तभी प्रभावशाली होगा जब व्यक्ति ईर्ष्या, अवैध सम्बन्ध और अन्यजनों को हिंसा पहुँचाने से मुक्त हो। हालाँकि वृन्दावनदास ने महिमामृत में कहा है कि यदि कोई यहाँ रहता है और वह क्या करता है उससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता, पर धाम का प्रभाव अवश्य उस पर होगा। परन्तु बादमें लेखक यह भी कहता है कि व्यक्ति को ऐसे अपराधों से बचना होगा, तभी धाम का प्रभाव दिखायी देगा।
उपदेशामृत में भी एक श्लोक है:

तिष्ठन् व्रजे तदनुरागी जनानुगामी।
कालं नयेदखिलमित्युपदेशसारम्॥

"इस प्रकार भक्तों के मार्गदर्शन में व्रज में वास करना चाहिए और कृष्णसेवा करनी चाहिए । यह सब उपदेशों का सार है ।"

इन सब निर्देशों का भावार्थ यही है कि व्रज में रहना चाहिए और व्रजवासियों का अनुसरण करना चाहिए, पर तथाकथित "व्रजवासी" का अनुसरण नहीं । यह धाम कृष्ण का है, जो उससे भिन्न नहीं है, पर यहाँ निवास के लिए योग्यता होनी आवश्यक है ।   ******

प्रश्न: भक्ति सन्दर्भ में कहा है कि कई जन्मों के संचित पुण्य के बाद सत्सङ्ग प्राप्त होता है । किस प्रकार के पुण्य से सत्सङ्ग मिलता है ?
उत्तर: यहाँ पुण्य का अर्थ होता है अधिकारीजन का आदेश पालन करना और यदि अनेक जन्मों तक उसका पालन किया है तो उसे संत पुरुष मिलेगा और स्वाभाविक रूप से उनका अनुसरण करेगा, तब सत्सङ्ग अति प्रभावशाली होगा ।

******

प्रश्न: क्या इसका अर्थ वैदिक-अधिकारी जन से है ?
उत्तर: हाँ । शास्त्रीय-अधिकारी जन । वह अपने सभी कार्य शास्त्रा-नुसार ही करता है। गीता ७.१९ में भी कहा है:

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते ।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः ।। (गी. ७.१९)

"अनेक जन्मों के बाद सद्-विद्वान मेरी शरण में आता है, यह जानकर कि वासुदेव ही सब कुछ हैं । ऐसी महान आत्मा अत्यन्त दुर्लभ होती है ।"

अतः जब कोई इस स्तर पर पहुँचता है तो कर्मठता से शास्त्र के नियमपालन के साथ अपना स्वधर्म पालन करता है तब शास्त्र-अधिकारी को आदर देने का स्वभाव विकसित होता है । तत्पश्चात् साधु-सङ्ग मिलता है । साधु और महत् का अर्थ होता है गुरु । गुरु के सङ्ग से श्रद्धा बढ़ती है । पूर्व अभ्यास सहायक होता है । फिर वह मात्र अपने गुरु को ही सुनेगा और उनके आदेशों का पालन करेगा ।

मनुष्य जीवन देह ही मानो एक सुयोग है भक्त बनने का । मानव देह एक नाँव की तरह है और गुरु नाविक है जो नाँव को सही दिशा में चलाने की शिक्षा देता है और वैदिक

शास्त्र अनुकूल पवन है । ऐसी स्थिति पाने के बाद भी यदि व्यक्ति संसार का मोह नहीं छोड़ता, तो उसे आत्महा (अपनी हत्या करनेवाला) माना जाता है । अतः व्यक्ति को गुरु और शास्त्र का आदेशपालन करना चाहिए । यही पुण्य है ।

*****

प्रश्न: वेश्या पिङ्गला की लक्ष्मी देवी की तरह भगवान की उत्कट सेवा लालसा को कैसे साधु-सङ्ग के साथ जोड़ सकते हैं ?

उत्तर: जब ये दोनों वस्तु साथ में होती है तभी ऐसा हो सकता है क्योंकि उसे सत्सङ्ग था जिसका उस पर प्रभाव हुआ । यदि उसे सङ्ग नहीं मिलता तो निराशा में उसके मन में मादक पदार्थ सेवन करने का या दूसरे ग़लत रास्ते अपनाने के विचार आते । वह विदेह शहर में रहती थी, जो राजा जनक की राजधानी थी और जनक अपने प्रासाद में साधुओं को आमन्त्रित करने के लिए प्रसिद्ध थे । पिङ्गला ने इन्हीं से कुछ प्रवचन सुने होंगे । ******

प्रश्न: अर्थात् साधु-सङ्ग अनिवार्य है और हम उसके बिना कुछ नहीं कर सकते ?

उत्तर: हाँ, यह अनिवार्य है । भगवत्कृपा से ही सत्सङ्ग प्राप्त होता है । जीव गोस्वामी ने कहा है कि संत पुरुष के सत्सङ्ग के बिना भक्ति प्राप्त करना कठिन है । भक्ति अपने आप नहीं आती ।

*****

प्रश्न: सङ्ग क्या है ? क्या वह ध्यान करना, सेवा करना, या .... ?

उत्तर: प्रायः सङ्ग मन से होता है, क्योंकि यह जगत आप की मानसिक धारणाओं पर आधारित है । सङ्ग का असर मन पर होता है । भक्त को मिलते हो, उसे देखते हो, सुनते हो, इसके लिए कुछ शारीरिक सेवा करते हो या अपनी शक्ति के अनुसार उसकी सहायता करते हो, यह सब सङ्ग है ।

*****

प्रश्न: क्या एक भक्त अपने अनुभव और भावनाओं की चर्चा दूसरे समान भावित भक्त से कर सकता है या वे केवल गुरु या किसी उच्चस्तरीय वैष्णव के साथ ही करनी चाहिए ?

उत्तर: हाँ । अपने समान भाववाले भक्तों के साथ चर्चा कर सकते हो ।

*****

प्रश्न: भक्ति यान्त्रिक नहीं है, वह प्रेमभाव पर आधारित है । प्रह्लाद महाराज जो शुद्ध भक्त थे अतः उनकी २१ पीढ़ियों को मुक्ति मिली इस प्रसङ्ग को कैसे समझा जाय ?

उत्तर: जैसे भक्ति अलौकिक है, वैसे भक्त भी दिव्य है क्योंकि उनके पास भक्ति है और वे केवल भगवान की प्रसन्नता के लिए ही कार्य करते हैं । भक्त के सङ्ग से जो उनके

हितैषी है या सम्पर्क में है, उन्हें भी लाभ होता है, यदि वे अपराधी नहीं है तो । भगवत्कृपा से और अन्त में भक्तकृपा से वे भगवान का स्मरण करते हैं, पसन्द करते हैं एवं आनुकूल्य करते हैं । अन्त में उस भक्त के सम्पर्क से वे भी भक्त बन जाते हैं, परन्तु उन्हें अपराध से मुक्त होना चाहिए, विशेषकर नामापराध से ।

*****

१२७. सामाजिक सम्बन्ध

प्रश्न: मैं एक गृहस्थी हूँ और कुटुम्बियों के साथ जीवन व्यतीत करना है । मुझे समाज में लोगों के साथ रहना है और कभी-कभी किसी का विवाह, जन्मदिनोत्सव जैसे कार्यक्रम में जाना पड़ता है, परन्तु वहाँ मात्र प्रजल्प, ऐसी लौकिक बातें होती रहती हैं जिसका कृष्ण के विषय से कोई सम्बन्ध नहीं होता । मैं इनसे कैसे दूर रह सकता हूँ?

उत्तर: आप कितना दूर रहना चाहते हो ? महाप्रभु की भक्ति एक महान परिवर्तनकारी विशाल आन्दोलन है जो इस धरती पर कभी भी यहाँ घटित हुआ हो । तथाकथित आध्यात्मिक प्रक्रियाओं से यह बिल्कुल भिन्न है । वे (अन्य प्रक्रियाएँ) वास्तव में आसुरिक हैं और सम्पूर्णरूप से अव्यवहारिक हैं । दूसरी प्रक्रियाओं में कुछ न कुछ त्यागना होता है, पर भगवान ने यह दुनिया, ये सब वस्तुएँ बनाई है, तो क्यों उनका त्याग करें ? क्या वह बुद्धिमान नहीं है ? भगवान के सृजन पर क्यों अवहेलना की आशङ्का करनी चाहिए ? उस ने हमें यह देह और इन्द्रियाँ दी हैं, तो उन को कैसे त्याग सकते हो ? यदि संन्यास धारण करोगे तो भी कहीं और जाओगे और सुख भोगोगे क्योंकि त्याग भी भोग के लिए ही है । लोग पहले भोगने की कोशिश करेंगे और भोग भोगने में या तो वे असफल रहेंगे या फिर उससे ऊब जाएँगे इसके बाद वे संन्यास में सुख ढूँढेंगे । सुख भोगना या संन्यास लेना दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं । भक्ति ऐसी नहीं है। भक्ति तो कृष्णानुशीलनम् है ।

कृष्ण सर्वत्र हैं, तो आप उससे बच कर कहाँ जा पाओगे ? पूरा विश्व उसका है । अनुशीलनम् अर्थात् सभी क्रिया । तो कौन सी क्रिया त्याग दोगे ? जनसमुदाय के साथ काम करना है अतः उनसे सम्बन्ध बनाए रखना भी आवश्यक है । व्यावहारिक बनना है, पर मन को कृष्ण से ही संलग्न रखना है । फिर कोई समस्या नहीं है । महाप्रभु ने ऐसे किसी भी भक्त के आदर्श का उदाहरण नहीं दिया, जो कोई संन्यासी हो एवं कोई आश्रम में रहते हैं और उनका कोई परिवार नहीं है । उन्होंने हमें गोपियों के आदर्श के उदाहरण दिए हैं, जो सपरिवार जीवन जीती हैं । महाप्रभु के दृष्टान्त स्त्रियों के हैं, पुरुषों के नहीं और पुरुषों से ज़्यादा स्त्रियाँ परिवार के कार्यों में ज़्यादा जुड़ी हुई होती हैं क्योंकि उन्हें अपने बच्चों का ध्यान रखना होता है । स्त्रियों को सत्सङ्ग के लिए बहुत

अल्प समय मिलता है, जब की पुरुषों को जब भी मन चाहे घर से बाहर जाने की, जहाँ भी चाहे जाने की, किसी से भी बात करने की, जो भी चाहे करने की स्वतन्त्रता होती है, फिर भी गोपियाँ उत्तम भक्त हैं । इससे यह बताना है कि हर परिस्थिति में भी गोपियाँ भक्त हैं । अतः उनके उदाहरण से कोई भी भक्त बन सकता है । मुख्य बात यह है कि प्रति पल गोपियों का मन कृष्ण से संलग्न रहता था । कृष्ण भगवद्-गीता में कहते हैं:

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च । (गीता ८.७)
"अतः हमेशा मेरा स्मरण करते रहो और युद्ध लड़ो । मन और बुद्धि मुझ में जोड़ो, आप निसन्देह मुझे पाओगे।"

युद्ध करना अर्थात् अपने कर्तव्य निभाना । कृष्ण यह नहीं कहते "दूर भागो" । पाण्डव और विदुर भी पारिवारिक थे । वे सभी राजकीय परिवार से थे और अपने राज्य पर सुशासन किया था । हम जानते हैं कि परिवार चलाने में कितनी कठिनाइयाँ आती हैं, तो सोचो एक राज्य चलाना कितना जटिल है । आप को प्रशासन के समय शत्रु अपराधी, और कुटिल राजनीति जैसी कई समस्याओं का सामना करना पड़ता है । आप सोचते होंगे कि ऐसे लोग कैसे भक्त बन सकते हैं ? उनको शांति से बैठ कर कीर्तन और जप करने का कब समय मिला होगा ? हर समस्या का समाधान था । वे कभी अकेले नहीं थे । हर समय उनके रक्षक उनके साथ होते थे । तथापि वे महान भक्त थे क्योंकि वे कृष्णानुशीलनं का आचरण करते थे । सभी कार्य वे कृष्ण के लिए करते थे । युद्ध भी कृष्ण के लिए किया और शांति भी कृष्ण के लिए स्थापित की । यही बात सब को सीखनी है ।

उत्तमा भक्ति सर्वाधिक शुभदा प्रक्रिया है । यदि आप त्याग दोगे तो कुछ सांस्कृतिक वस्तुएँ (जैसे कला, संगीत, नृत्य, नाट्य, साहित्यादि) का कभी विकास नहीं होगा । भक्ति सर्वत्र प्रकाश फैलाती है चाहे वह कला, संगीत, नृत्य, नाट्य, साहित्य, या कुछ भी हो । प्रत्येक वस्तु का भक्ति में उपयोग है । इन हर क्षेत्रों में षड्-गोस्वामी क्रांति लाए । यदि आप अन्य मार्ग जैसे कि ज्ञान या योग मार्ग अपनाते हैं तो आप को इन सभी (कलादि) का त्याग करना होगा, पर भक्ति मार्ग में यह सब कुछ उपयोगी है । गोस्वामियों ने अपने उदाहरण से यह सिद्ध किया ।

*****

प्रश्नः भक्त परिवार में सांसारिक परिवार की अपेक्षा क्या बन्धन प्रगाढ़ और अधिक होता है ?

उत्तर: अलौकिक सम्बन्ध पर सांसारिक सम्बन्ध का कोई असर नहीं होता । माता पिता का हमेशा आदर करना चाहिए क्योंकि वे प्रथम गुरु हैं । जहाँ तक सम्भव हो, हमें उनका सम्मान करना चाहिए ।

आध्यात्मिक जीवन में सम्बन्ध और सत्सङ्ग गुरु पर आधारित है । किसी अन्य वस्तु का उस पर प्रभाव नहीं होता । यदि माता पिता भी भक्त हैं, तो भी उसका और आप का अपने गुरु सम्बन्ध पर भी असर नहीं होता । ये दोनों बातें अलग-अलग हैं । संसार में आप का सम्बन्ध माता, पिता और अन्य पारिवारिक सभ्यों से जुड़ा होता है। भक्ति में आप का सम्बन्ध गुरु पर आधारित होता है ।

*****

प्रश्न: गोड़ीय वैष्णवों के अन्य समुदाय से हम सभी परिचित हैं, पर उनकी अवधारणाओं में भी विभिन्नताएँ हैं । उनका कैसे आदर करें एवं उनसे कैसे व्यवहार करें ?
उत्तर: वैष्णव-धर्म के अनुयायी होने के नाते हम सभी का आदर करते हैं क्योंकि भगवान सभी में है । हमें सभी का सम्मान करना चाहिए, अन्यथा हमारे मन में उनके लिए द्वेष या राग होगा, जो उचित नहीं है । हमारे मन में न तो राग न द्वेष होना चाहिए । उनके साथ आवश्यकता के अनुसार सम्बन्ध रखना चाहिए, न अल्प न विशेष। हमें उनके साथ सम्बन्ध रखने चाहिए पर उनके भ्रान्त दार्शनिक सिद्धान्त में सहयोगी नहीं होना चाहिए और न ही उनसे आसक्ति बढ़ानी चाहिए ।

मुझे भी ऐसे लोगों से सम्बन्ध रखने पड़ते हैं जो न तो भक्त हैं और जो वास्तविक धर्म के विरुद्ध हैं । परस्पर व्यवहार तो करने ही चाहिए । लोगों ने वैष्णव वस्त्र पहने हैं, पर सही अर्थ में वे वैष्णव नहीं भी हैं । अधिकतर अपने सांसारिक हेतु सिद्ध करने की फ़िराक़ में रहते हैं । यह जानकर भी ऐसी परिस्थिति में हमें कमसे कम उनसे तदनुसार व्यवहार करना चाहिए ।

*****

प्रश्न: यदि कुटुम्ब के सभ्य भक्त नहीं है तो क्या उन से भी सम्बन्ध सीमित करने होते हैं ?
उत्तर: उन से सम्बन्ध रखने चाहिए यह जानकर भी के वे भक्त नहीं है । हम इस संसार में रहते हैं अतः व्यवहार तो करने ही होंगे । वे किस स्तर पर हैं और आप किस स्तर पर हैं, यह जानना आवश्यक है । उनकी सोच और समझ से प्रभावित नहीं होना चाहिए, अन्यथा आप अपने मार्ग से भ्रष्ट हो जाओगे । उनके संस्कार आप पर छा जाएँगे ।

अतः केवल सहृदयी के साथ ही मिलना जुलना चाहिए क्योंकि उनके संस्कार आप के संस्कार से विपरीति नहीं है । जो अभक्त है उनसे तो सङ्ग की क्या बातें करे ? वैष्णव जनसमुदाय में भी हमें ऐसे लोगों का सङ्ग करना चाहिए जिनका आध्यात्मिक कुटुम्ब हो, अन्यथा वहाँ विसङ्गतता होगी और आप को उनकी ऐसी बातें सुननी होगी जिसका आप के दार्शनिक विचार के साथ कोई तालमेल नहीं है ।

*****

प्रश्न: ऐसी परिस्थिति में यही उचित होगा कि हम सांसारिक लोगों से भी सम्बन्ध रखें ताकि हमें ज्ञात रहे कि हम उनके भाव से सहमत नहीं है और यदि हमें दम्भी व्यक्तियों अथवा दम्भी वैष्णवों के साथ सम्बन्ध रखना पड़े तो उनके साथ समाधान करना अतिकठिन हो जाता है ।

उत्तर: हाँ । ऐसे लोगों के साथ व्यवहार करना अति कठिन है । इतना ही नहीं, ऐसे लोग अति आक्रमक भी होते हैं । ऐसे लोग प्रहार या आक्रमण भी करेंगे । जहाँ तक सांसारिक लोगों में और आप में कोई साम्यता नहीं है, वे अपना काम करते हैं और आप उनको बदलने का प्रयत्न भी न करें । वे प्रायः आदरणीय भी होते हैं । *****

प्रश्न: शास्त्र में कहा है कि हमें अपने मातापिता का आदर करना चाहिए, पर यदि मातापिता कृष्ण के विरुद्ध हो तब क्या ? हमारे मातापिता कट्टर ईसाइ हैं और यह भी सत्य है कि हमें उनकी देखभाल करनी होगी क्योंकि वे अब बूढ़े हो रहे हैं । ऐसी स्थिति में हमें क्या करना होगा ?

उत्तर: जब मातापिता आप से सहायता की अपेक्षा रखते हैं, तो आप को अवश्य उनकी सहाय करनी चाहिए । उनके प्रति अपना कर्तव्य पूरा करना चाहिए । इस से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता कि धर्म के लिए उनकी अपनी अवधारणा है या कृष्ण को नहीं मानते । यदि वे आपसे कोई आशा नहीं रखते, तब आप कुछ नहीं करते । भक्त सभी जीवात्माओं का आदर करता है और उनकी सहायता करता है, तो अपने मातापिता को सहायता करने के विषय में कहना ही क्या है । *****

प्रश्न: जब हम यह दुनिया छोड़कर चले जाते हैं तो क्या हम अकेले जाते हैं या उनके साथ जिनसे हमारा उपकार हुआ है, जैसे कि ध्रुव महाराज अपनी माँ के साथ वैकुण्ठ गये ?

उत्तर: यह एक विशेष उदाहरण है । ऐसा सब के साथ नहीं होता है । ध्रुव के विषय में उनकी माँ ने स्वयं उन्हें श्री विष्णु के पास जाने को और उनकी आराधना करने को कहा था । अतः वह उनकी गुरु जैसी थी, प्रथम गुरु थी । बाद में उन्हें गुरु के रूप में नारदजी मिले थे । इस सम्बन्ध के कारण उनको अपनी माँ के लिए अधिक मान था।

हमारे इस मार्ग में हम गुरु को समर्पित होते हैं और वही हमारा सम्बन्ध होता है । हम मात्र गुरु को ही समर्पित होते हैं और वह सम्बन्ध बना रहता है । ******

प्रश्न: जिन लोगों ने हमें सहायता की है, जैसे कि शिक्षक आदि को भी कुछ लाभ होता है ?

उत्तर: आप अभी जो कार्य कर रहे हो, यदि वे लोग उसे पसन्द करते हैं, आप के समर्थक एवं सहयोगी हैं और आप से संलग्न हैं, तो आप के जैसा संस्कार उन्हें भी मिलेगा या भावना होगी । यह लाभ उन्हें मिलेगा ।

*****

प्रश्न: उन्हें कौन से संस्कार मिलेंगे ?

उत्तर: उन्हें एक भक्त के जैसा भाव या आप के जैसी ही भावना मिलेगी । अर्थात् भक्ति में उनकी रुचि होगी ।

*****

प्रश्न: पारिवारिक उत्तरदायित्व के कारण फँस गये ऐसा प्रतीत होता है अतः इस मार्ग में प्रगति करना कठिन है ।

उत्तर: मूलभूत कठिनाई यह है कि लोगों में भक्ति के अर्थ की सही समझ नहीं है । भक्ति में अन्य दर्शन का मिश्रण हो गया है । अतः विचार मन में आते हैं कि पारिवारिक जीवन में बाधाएँ हैं । गृहस्थी हो या संन्यासी हो, सभी को भक्ति करने का अधिकार है ।

कम से कम हमें उत्तमा भक्ति की सही समझ पाने का प्रयत्न करना चाहिए । एक बार सही समझ जान लेने के बाद व्यक्ति निश्चय कर सकता है कि वह भक्ति मार्ग पर आगे जाना चाहता है कि नहीं । अवरोध परिवार या और कुछ नहीं है, अवरोध है अपनी रुचि । व्यक्ति को उत्तमा भक्ति की स्पष्ट समझ होना अति आवश्यक है ।

भक्ति व्यावहारिक है, अर्थात् जब तक आप इस देह में जीवित हैं, भक्ति कर सकते हैं, मृत्यु के बाद कुछ किया जाय ऐसा नहीं है । अन्य सभी मार्ग यह बताते हैं कि यदि आप उनकी निर्दिष्ट रीतियों को अपनाएँगे तो मृत्यु के बाद मुक्ति मिलेगी या कुछ ख़ुशियाँ मिलेंगी । यदि वह कर्म मार्ग है तो स्वर्ग मिलेगा, यदि वह ज्ञान मार्ग है तो मुक्ति मिलेगी, पर भक्ति में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो मृत्यु के बाद हो । उसे अभी और यहीं करना होता है । वह परिवार का व्यक्ति हो या संन्यासी हो, सब के लिए है। भगवान ने स्वयं यह जगत बनाया है और वह कभी यह नहीं कहते कि भक्त बनने के लिए जगत का त्याग करो ।

यह समस्या समझ के अभाव के कारण होती है । इस मार्ग में शुरू से ही स्वयं को गुरु में समर्पण करना होता है । गुरु और कृष्ण एक ही है । अन्य सभी मार्ग में भी गुरु को समर्पण की बात कही है । भगवद्-गीता में अर्जुन कहते हैं, "मैं आप को समर्पित हुआ ।" परन्तु वह यह समर्पण नहीं है जो उत्तमा भक्ति में है । गुरु-समर्पण और गुरु-शरण में जाना यानि कि कृष्ण-समर्पण जैसा ही श्रेष्ठ है । एक बार समर्पण हो गया तो फिर कोई अलग उद्देश्य नहीं रहेगा ।

दूसरे मार्गों पर कुछ भिन्न हेतु रहते हैं, जैसे कि कुछ भोगविलास पाना या मुक्ति पाना। अतः यदि गुरु को स्वीकार किया तो उस हेतु के लिए किया है । गुरु से सम्पूर्ण रूप से एकात्मक भाव नहीं रहता है क्योंकि यदि स्वार्थ हेतु रहेंगे तब वह अपने निजी उद्देश्य रखता है ।

भक्ति में स्वार्थ नहीं होता । आप जो भी कुछ करते हैं, वह अन्य के लिए है - आनुकूल्येन अनुशीलनम् । आरम्भ से ही आप की स्वतन्त्रता समर्पित हो जाती है । उत्तमा भक्ति में गुरु भगवान है यह उक्ति सर्वथा उपयुक्त है । समर्पण के बाद कोई भेद नहीं है । जब कोई भेद नहीं है, तो भक्ति पाने में कोई अवरोध नहीं है क्योंकि आप जो भी करते हो, एक भक्त की तरह करते हो, एक अनुयायी या एक शिष्य की भाँति करते हो । शिष्य का सही अर्थ मात्र उत्तमा भक्ति में ही पाया जाता है, अन्य मार्गों में नहीं । यहाँ गुरु शिष्य के सम्बन्ध नित्य रहते हैं और शिष्य हमेशा शिष्य ही रहता है ।

जब कोई गुरु को अपनाता है, तो वह फिर स्वतन्त्र नहीं रहता । जब कोई स्वतन्त्र नहीं रहता, तो अन्य कोई स्वतन्त्र लक्ष्य भी नहीं रहते । परिवार बाधक नहीं है । बाधा तब आती है जब उद्देश्य भिन्न होते हैं । बाधाएँ परिवार या अन्य वस्तुओं से नहीं आती । इस बात को सही अर्थ में समझ लेना चाहिए । ******
[इसे देखें: विदेश में नियमाचरण]

१२८. सिद्ध प्रणाली, सिद्ध देह

प्रश्न: सिद्ध-प्रणाली मन्त्र के लिए क्या योग्यताएँ होनी चाहिए ?

उत्तर: शास्त्र में सम्पूर्ण श्रद्धा होनी चाहिए, गुरु निर्दिष्ट मार्ग का अनुसरण करना चाहिए और किसी भी प्रकार की सांसारिक आसक्ति, विशेष कर कामवासना से मुक्त होना चाहिए । गुरु के प्रति पूरी निष्ठा होनी चाहिए । यदि गुरु सन्तुष्ट है और कृष्ण उन्हें मन्त्र देने के लिए प्रेरित करते हैं, तभी वे आप को सिद्ध-प्रणाली देंगे । परन्तु आप

को कृष्ण की सेवा कपटरहित करनी होगी । नहीं तो अयोग्य होकर भी सिद्ध-प्रणाली पाने की कोशिश करना ऐसे जैसे नकली पासपोर्ट के द्वारा अलौकिक जगत का प्रवास करने का प्रयत्न करना हे । कृष्ण आप को प्रवेश ही नहीं देंगे ।

भागवत के प्रथम स्कंध में पूर्व जीवन में नारद मुनि को सिद्ध देह (भा. १.६.२८) कैसे मिला वे स्वयं इसका वर्णन करते हैं । नारद की योग्यताओं के विषय में भा. १.६.२७ में बताया गया है । नारद पूर्णतया कृष्णमनन में तल्लीन हो चुके थे, जगत से कोई आसक्ति नहीं थी और भौतिक दोषों से पूरी तरह मुक्त थे । भा. १.६.२६ में कहा है कि वे कितने सन्तुुष्ट, इच्छातीत, नम्र और ईर्ष्यामुक्त थे ।

नामान्यनन्तस्य हतत्रपः पठन् गुह्यानि भद्राणि कृतानि च स्मरन् ।
गां पर्यटंस्तुष्टमना गतस्पृहः कालं प्रतीक्षन् विमदो विमत्सरः ।।
एवं कृष्णमतेर्ब्रह्मन्नसक्तस्यामलात्मनः ।
कालः प्रादुरभूतकाले तडित्सौदामनी यथा ।। (भा. १.६.२७ व २८)

"ओ ब्राह्मण, समय पर मृत्यु आयी जैसे एक बिजली सी चमकी हो, मन श्रीकृष्ण में लगा हुआ था, आसक्ति से मुक्त था और हृदय पवित्र था ।" (भा. १.६.२८):

"जब दिव्य देह मुझे भेंट किया गया तब पाँच तत्त्वों से बना प्राकृत देह गिर गया क्योंकि प्रारब्ध कर्म का अन्त हो गया था ।"

*****

१२९. सेवा (भजन क्रिया)

प्रश्नः कृपया क्या भजन क्रिया के विभिन्न स्तरों के विषय में हमें कुछ समझाएँगे ?
उत्तरः भजन क्रियाः क्रिया अर्थात् कार्य और भजन अर्थात् सेवा । भजन शब्द संस्कृत की भज् धातु से आया है, जिसका अर्थ होता है सेवा करना । अतः भजन क्रिया का अर्थ है भक्ति या सेवा, और यह सेवा बिना किसी प्रयोजन से और सच्चे हृदय से करनी चाहिए ।

प्रायः लोग सेवा किसी प्रयोजन से ही करते हैं । सेवा गुरु को प्रसन्न करने के लिए होनी चाहिए । 'अमायया अनुवृत्ति' अनुवृत्ति अर्थात् सेवा और अमायया अर्थात् मन में किसी कपट या स्वार्थभाव से नहीं, तभी अनर्थ निवृत्ति सम्भव है । नहीं तो गुरु जो कर रहे हैं यदि वह शिष्य को पसन्द न हो तो अनर्थ निवृत्ति सम्भव नहीं है । ऐसा शिष्य अज्ञान – अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश (अज्ञानता, अहं, राग,

द्वेष और मृत्यु का भय) से ही कार्य करेगा। शिष्य कभी ऐसा भी सोचेगा कि वह गुरु से अधिक जानता है और उनकी त्रुटियाँ भी निकालेगा। परन्तु यदि गुरु जो करते हैं वह शिष्य को अच्छा लगता है और वह गुरु का अनुमोदन करता है तो स्वाभाविक रूप से अनर्थ निवृत्ति होगी।

अनर्थ अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश से अतिरिक्त कुछ नहीं है एवं भौतिक है। गुरु जो करते हैं, वह आप को अच्छा लगना चाहिए। उनका व्यक्तिगत जीवन में कोई लौकिक प्रयोजन नहीं होता है। इसी प्रकार से सेवा करने से अनर्थ निवृत्ति होगी। यह एक व्यावहारिक बात है जिसका अनुभव करना चाहिए।

अन्यथा लोगों ने भजनक्रिया के विषय में बहुत कुछ कहा है, पर भक्ति के साथ उसका कोई लेना देना नहीं है। वह सब भक्ति के नाम पर साधक को बहिर्मुखी और भौतिकवादी बनाता है। लोग तो यहाँ तक भी कहते हैं कि, "गुरु के साथ गहरा सम्बन्ध मत रखो।" यदि गुरु का सङ्ग नहीं करोगे और यदि गुरुदर्शन भी पसन्द नहीं करोगे तो अनर्थ निवृत्ति कैसे होगी ?

कभी-कभी लोग गुरु को नियन्त्रण में रखने के लिए भी उनकी सेवा करते हैं। वे ऐसी सेवा करते हैं मानो गुरु उनकी दया पर जीवित है। इस तरह भजन क्रिया नहीं की जा सकती।

*****

प्रश्नः क्या भजन क्रिया का अर्थ गुरु की व्यक्तिगत सेवा करना है ?
उत्तरः हाँ, गुरु की सेवा ही भजन क्रिया है। वह व्यक्तिगत सेवा तब होगी जब वह प्रेमभाव से की गयी हो। ******

प्रश्नः सब का व्यक्तिगत स्वभाव होता है, तो क्या गुरुसेवा अपने स्वभाव अनुसार करनी चाहिए या फिर वही करने का प्रयत्न करना चाहिए जो गुरु हमसे करवाना चाहते हैं ? हमें अपने स्वभाव का कितना उपयोग करना चाहिये ?
उत्तरः गुरु के आदेशानुसार सेवा करनी चाहिए।

*****

प्रश्नः यदि मैं यहाँ वृन्दावन में गोसेवा करता हूँ, तो मेरे लिए यह समझना सरल है कि मैं सेवा करता हूँ, पर विदेश में जो कुछ भी करता हूँ उसे सेवा के रूपमें देखना कठिन है।
उत्तरः जब कोई दीक्षा लेता है, शरण में जाता है, तब वह शिष्य किसी प्रकार से

स्वतन्त्र नहीं है । उसका मन, देह और वाणी, सब कुछ समर्पित हो जाता है । दीक्षा पश्चात् वह जो कुछ भी करता है, वह सेवा ही होती है । वह स्वार्थ में कुछ भी नहीं करता क्योंकि अब वह स्वतन्त्र नहीं है । वह भगवान से सम्बन्धित है । अतः जो कुछ भी मन, वचन, और वाणी से करता है वह सब भगवदर्पित है, क्योंकि उस ने भगवान के लिए सौहार्दपूर्णता से सेवा करना और जो प्रतिकूल हो वह न करने की प्रतिज्ञा की है । यदि वह यह स्मरण में रखे कि वह मात्र भगवान का है और उन का ही सेवक है, तो जो कुछ भी करता है, वह सेवा ही है ।

स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीःकाम उद्धव ।
न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यन्न समाचरेत् ।।
अस्मिंल्लोके वर्तमान स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः ।
ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति मद्भक्तिं वा यदृच्छया ।। (भा. ११.२०.१० - ११)

"यदि कोई अपना निर्धारित कर्तव्य करता है और यज्ञ द्वारा पूजा करता है, पर कभी फल की आशा नहीं रखता, हे उद्धव, जब तक वह अवैध कार्य नहीं करता, तब तक वह न तो स्वर्ग में जाता है और न ही नरक जाता है । इस देह में रहते हुए, स्वधर्म पालन करते हुए, पाप न करते हुए, पवित्र भाव रखते हुए, मेरी कृपा से विशुद्ध ज्ञान या यदृच्छया भक्ति पाता है ।" इस संसार में उपयुक्त भावना से रहते हुए, स्वधर्म करते हुए साधक पूर्णता या शुद्ध भक्ति पाता है ।[17]   ******

प्रश्न: जब भक्त सेवा करता है तब एक प्रकार की भावना होती है और एकान्त में चिन्तन समय आत्मनिरीक्षण करता है तब भिन्न भावना होती है । जब भक्त भक्तिमार्ग में उन्नति करता है तो इन दोनों भावनाओंकी अनुभूति कैसे प्रकट होती है ?
उत्तर: चेतना एक है । जब आप काम करते हो तब आप की भावना यह है कि मैं भगवत्सेवा कर रहा हूँ और अनुकूल कार्य कर रहा हूँ । अतः आप को वैसी ही भावना रखनी चाहिए । चाहे आप सेवा में व्यस्त हैं या नहीं, भावना में कोई फ़र्क़ नहीं होता । कभी सेवा देह से होती है और कभी मन से, पर मन वास्तव में दोनों अवस्थाओं में

---

[17] बाबाजी सत्यनारायण दासः सब से कठिन बात यह है कि लोगों को शरणागति के विषय में कोई समझ ही नहीं है, न हि वे जानते हैं कि इस शब्द का क्या अर्थ होता है । बचपन से ही उन्हें स्वतन्त्र (स्वच्छन्द) रहने की शिक्षा दी जाती है । अतः ऐसे प्रश्न पुनः-पुनः पूछे जाते हैं और महाराज भी पुनः-पुनः शरणागति के विषय में चर्चा करते हैं ।

जुड़ा हुआ होता है । दोनों परिस्थितियों में आप की भावना भगवान की अनुकूल सेवा करना है ।

मुख्य बात स्मरण में रखनी चाहिए कि, "मैं भगवान का दास हूँ । "इस बात को लेकर हमेशा सचेत रहना चाहिए । अन्यथा यदि वह भाव नहीं है तो जो कुछ भी करोगे वह लौकिक उद्देश्य से युक्त स्वार्थ के लिए की गयी उपासना होगी । यह सेवा नहीं है ।

सेवा और कार्य के बीच का भेद मात्र भाव का है । सेवा भगवान को प्रसन्न करने के लिए होती है और किसी उद्देश्य को लेकर कुछ पाने की इच्छा से स्वयं की प्रसन्नता के लिए स्वार्थ से जो किया जाता है वह कार्य है । यदि वह उद्देश्य स्वतन्त्र होगा तो ग़लतियाँ और अपराध करोगे और गुरु को एक सामान्य व्यक्ति और अज्ञानी समझ कर उनके आदेशों की अवहेलना करोगे ।

उत्तमा भक्ति में मन, देह, वाणी, और कार्य सभी भगवदर्पित है । साधक को आत्मनिरीक्षण करके या विचार-विमर्श करके अपने मन और उद्देश्य को जानना चाहिए।

उदाहरण स्वरूप, जब आप अनिवेदित भोजन (भोग) को प्रसाद से स्पर्श करा देते हैं, तब वह भोग भी प्रसाद हो जायेगा । ऐसा करके लोग सोचते हैं कि वे (प्रभु को) भोग लगाए बिना भोजन को ग्रहण नहीं कर रहे हैं, परन्तु वह भगवान को चकमा देने जैसा है ।

गुरु के लिए आदर न होने के कारण समस्या उपस्थित होती है । वे सोचते हैं कि "गुरु एक सामान्य व्यक्ति है" समस्या का मूल कारण यही धारणा है । दीक्षा से पूर्व व्यक्ति को यह सोच लेना चाहिए कि वह गुरु को अपना सर्वोच्च अधिकारी मानेगा कि नहीं । दीक्षा का अर्थ है समर्पण और एक बार आप समर्पित हो गए तो गुरु के हर आदेशों का पालन करना होगा । अन्यथा अपने लिए अनेक समस्याएँ खड़ी कर रहे हो । इससे तो अच्छा है कि दीक्षा ही न लो क्योंकि एक बार दीक्षा लेने के बाद अपने समर्पण के वचनों से प्रतिबद्ध रहना होगा । भक्ति समर्पण है । समर्पण भाव भक्ति की अन्तर्धारा है । किसी भी परि-स्थिति में यह स्मरण में रखना चाहिए और कभी भी इसे भूलना नहीं चाहिए । कृष्ण ने उद्धव से कहा:

धर्मो मद्भक्तिकृत प्रोक्तो ज्ञानं चैकात्म्यदर्शनम् ।
गुणेष्वसङ्गो वैराग्यमैश्वर्यं चाणिमादयः ।। (भा.११.१९.२७)

"धर्म वही है जो मेरी भक्ति में प्रतिफलित होता है । ऐकात्म्यदर्शन यानि कि ब्रह्म को सर्वत्र देखना उसे ज्ञान कहते हैं । इन्द्रियसुख में अरुचि होना ही त्याग है और आठ प्रकार की योगिक सिद्धि, अणिमादिकों को ऐश्वर्य कहते हैं ।"

भगवत्कार्य धर्म है । दिन या रात में जो कुछ भी कार्य करते हो वह सेवा है क्योंकि आप समर्पित हो और यही भाव सदा बनाये रखना है । कई बार लोग प्रश्न पूछते हैं, "मैं यह या वह कर रहा हूँ उसका क्या ?" यदि समर्पित हैं तो आप जो कुछ भी करते हो उससे कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता । यही वह भाव है जो साधक को रखना चाहिए ।

*****

प्रश्न: बिना किसी भौतिक स्वार्थ के गुरु और कृष्ण को प्रसन्न करना सेवा है । जब मैं सेवा करता हूँ तो कृष्ण को प्रसन्न करने की इच्छा होती है, पर दूसरे निहित हेतु भी हैं । क्या यह सेवा है या कुछ और ?

उत्तर: सेवा की मुख्य परिभाषा यही है कि आप अपनी प्रसन्नता के लिए नहीं पर उनकी प्रसन्नता के लिए सेवा कर रहे हो जिन की सेवा करते हो ।

कार्य और सेवा में अन्तर है । कार्य यानि जिस व्यक्ति के लिए निश्चित क्रियाकलाप करते हो उसे प्रसन्न करने के बजाय किसी स्वार्थ से कोई विशेष क्रिया करना । यदि व्यक्ति को प्रसन्न करने से भिन्न कोई हेतु है तो वह सेवा नहीं है । इन प्रसङ्ग में सेवा का (मूल अर्थ त्याग कर) गौण अर्थ लेना है ।

लोग किसी को ऐसे ही प्रभु कहकर बुलाते हैं । सही अर्थ में प्रभु का अर्थ होता है भगवान या स्वामी, पर भगवान केवल एक है और वह है श्रीकृष्ण । अतः यहाँ इस शब्द (प्रभु) का उपयोग मूल अर्थ में नहीं हुआ है, पर गौणार्थ में हुआ है । उसी प्रकार कभी आप कहते हैं, "वह सेवा कर रहा है", पर यदि उसका उद्देश्य गुरु या भगवान को प्रसन्न करना नहीं है, तो वह सेवा नहीं है, यद्यपि आप उस शब्द का उपयोग करते हो ।

*****

प्रश्न: क्या मिश्रित सेवा जैसी कोई वस्तु है -यानि कि व्यक्तिगत उद्देश्यों और कुछ प्रभु को प्रसन्न करने की इच्छा हो सकती है ?

उत्तर: यदि भगवान को प्रसन्न करने की इच्छा है, तो यही मात्र सेवा है, किन्तु यदि कोई भिन्न इच्छा है, तब वह सेवा नहीं है ।

*****

प्रश्न: क्या इसका यह अर्थ है कि हम जो कर रहे हैं वह या तो एक है या अन्य, पर मिश्रण नहीं है ?

उत्तर: आप उसे मिश्रण कह सकते हैं । जैसे पानी दूध में मिलाते हो तब ऐसा नहीं है कि पानी दूध बन जाता है और दूध पानी बन जाता है । पानी पानी है और दूध दूध है । अब इस सम्पूर्ण मिश्रण को दूध कह सकते हो, वैसे ही जैसा लोग कह रहे हैं, परन्तु यह (मिश्रण) दूध नहीं है, यद्यपि वह दूध जैसा ही दीखता है ।

जगत में जब लोग किसी कम्पनी में काम करते हैं, तो वहाँ वे अपने अधिकारी के सभी आदेशों के अनुसार काम करते हैं । "यह अच्छा है अतः मैं करूँगा" ऐसा सोच कर वे स्वतन्त्र होकर काम नहीं कर सकते । पर जब लोग आध्यात्मिक मार्ग अपनाते हैं तब अपने गुरु की सन्तुष्टि के लिए नहीं पर अपनी बुद्धि अनुसार स्वसन्तुष्टि के लिए काम करते हैं । इसे सेवा नहीं कहते । इस जगत में यदि इस तरह (स्वसंतुष्टि) ऑफ़िस में काम करोगे तो काम से निकाल दिए जाओगे । आध्यात्मिक क्षेत्र में आप फिर भी टिक पाओगे और यहाँ तक कि प्रशंसापात्र भी होंगे । *****

प्रश्न: क्या भावना किसी भी कार्य को भक्तिपूर्ण सेवा बनाती है ?
उत्तर: हाँ, नहीं तो वह मात्र कार्य ही रहेगा ।

*****

प्रश्न: यदि कोई अपने गुरु से दूर है पर श्रद्धा से सेवा करता है, तो क्या गुरु इस से अवगत है ? क्या कोई आध्यात्मिक सम्बन्ध है ?
उत्तर: यदि कोई बिना कपट या बिना गुप्त हेतु से सेवा करता है, तो वह गुरु को ज्ञात होता है । सच्चाई से सेवा करना इसका अर्थ क्या है यह बात समझना अति कठिन है, पर यदि आप में ममत्व की भावना है तो वह अवश्य समझ जाएँगे । ममत्व का सम्पूर्ण रूप से अनुवाद नहीं किया जा सकता, अर्थ है "अपनापन" अर्थात् "जो मेरा है (आत्मीयता)" । ममत्व बिल्कुल वैसी भावना है जो मातापिता, विशेष कर एक माँ को अपने बालक के लिए होती है । यह बालक मेरा है वैसी भावना । यह सम्बन्ध सहृदय से होता है । जब ऐसी भावना हो तो फिर उस में अन्य व्यक्तिगत हेतु ही नहीं रहता है। ममत्व बिना किसी हेतु से होता है, प्रेमी को सदा प्रसन्न रखना । निस्वार्थता की यही परिभाषा है । जगत में हमेशा कोई न कोई स्वार्थ रहता ही है, परन्तु कम से कम अपने बालक के लिए माँ का ममत्व एक दृष्टान्त है जिससे आप समझ सकते है कि "सेवा क्या होती है" ।

आध्यात्मिक जीवन में ममत्व सम्पूर्ण रूप से निस्वार्थमय होता है । यदि किसी का यह ममत्व-पूर्णसम्बन्ध है तो वह सेवा करता है या नहीं, इस में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। ईश्वर वह स्वीकार करता है क्योंकि वह सर्वत्र है और असीमित है । ठीक उसी तरह, जब प्रेमपूर्वक और स्नेह से गोसेवा करते हो, तो उससे गाय प्रसन्न होती है और वह प्रसन्नता से व्यवहार करेगी । यह जानकर आश्चर्य होगा कि गाय सेवक की भावनाओं को कैसे समझ सकती है, पर वास्तव में वे समझ सकती हैं । ठीक उसी प्रकार से यदि कोई गुरु-सेवा करता है, तो वे भी उसके बदले में प्रसन्नता प्रदान करेंगे या वे भी अतिप्रसन्न होंगे ।

*****

प्रश्नः गोसेवा के अतिरिक्त अन्य क्या सेवा कर सकते हैं ?
उत्तरः आप अपनी पसन्द, क्षमता और योग्यता के अनुसार सेवा कर सकते हैं ।

******

प्रश्नः अर्थात् कोई विशेष सेवा के बदले ऐसी भावना हो कि मैं जो कुछ भी करता हूँ वह गुरुजी के लिए करता हूँ ।
उत्तरः भावना वहाँ अवश्य होनी चाहिए, पर सेवा भी अवश्य करनी चाहिए । गुरु की सेवा साक्षात् करनी चाहिए ।

*****

प्रश्नः एक पक्ष में सेवा स्वयं की पसन्द के अनुसार होनी चाहिए, परन्तु दूसरी ओर प्रेम अर्थात् प्रेमी को उसकी पसन्द के अनुसार प्रसन्न करना, ठीक वैसे ही जैसे कोई बालक अपने मातापिता को भेंट देता है और मातापिता उसे प्रेम से स्वीकार करते हैं क्योंकि वे जानते हैं कि बालक ने बड़े प्रेम से भेंट दी है, तथापि सम्भव है कि वह भेंट· माँ बाप को पसन्द न हो ।
उत्तरः वह अनुराग से किया हुआ होता है । जब आप को कोई व्यक्ति पसन्द आता है तो उसे क्या पसन्द है यह तुम जानते हो और उसकी पसन्द आप की भी पसन्द बन जाती है । बालक का दृष्टान्त ठीक नहीं है क्योंकि माँ बाप की पसन्द और भाव समझने की क्षमता बालक में नहीं होती है, परन्तु एक शिष्य अपने गुरु के हृदय को अवश्य जान सकता है ।   ******

प्रश्नः आरम्भ में न तो मैं किसी को जानता हूँ और न ही उनकी पसन्दगी का ज्ञान है, तो ऐसी स्थिति में मैं क्या करूँ ?
उत्तरः यदि आप जानते नहीं हो तो जानने का प्रयत्न करो, आप अवश्य जानने लगोगे। आप को जानना ही होगा । यह आप का कर्तव्य है ।

*****

प्रश्न: जीवन में कुछ लोग अधिक कार्यरत है और शेष निष्क्रिय । क्या निष्क्रिय को भक्ति में विशेष कठिनाई होती है ?
उत्तर: वह भी सक्रिय हो जाएगा । यह निष्क्रियता अज्ञानता के कारण है, परन्तु जब कोई भक्त बनता है, वह निष्क्रिय नहीं रहता । आसक्ति से कर्म करने की प्रेरणा आती है । अतः जब उसे भक्ति या कृष्ण में आसक्ति होगी, तब वह भी सक्रिय हो जाएगा । वह निष्क्रिय नहीं रहेगा ।

*****

प्रश्न: इसलिए कि उसे भक्ति के प्रति रुचि है ?
उत्तर: हाँ । आप आलसी नहीं रहेंगे । आपकी ऐसी त्रुटियाँ छूट जाएँगी ।

*****

प्रश्न: परिपूर्ण हृदय से सेवा करने का क्या अर्थ होता है ?
उत्तर: इस का अर्थ है कि पहले आप को भगवदीय बनना होगा, उसका (समर्पित) भक्त बनना होगा और पश्चात् सेवा करनी होगी । अर्थात् आप भगवान से स्वतन्त्र या भिन्न नहीं है यह समझना होगा । वर्तमान में हमारी मानसिकता है कि हम भगवान से भिन्न हैं । भगवान भिन्न हैं और हम भी भिन्न हैं । जो कुछ भी करते हैं, यहाँ तक कि प्रार्थना भी करते हैं या कोई सेवा कार्य करते हैं तो हम उन से स्वतन्त्र भाव रखते हैं, लेकिन वह सेवा नहीं है । (तात्पर्य यह है कि आप को स्वयं उन से स्वतन्त्र या भिन्न रूप में नहीं सोचना चाहिए) ।

उदाहरण स्वरूप, मन्दिर में एक पुजारी है जो पूजा करता है, पर उसका अपना घर है, परिवार है । वह मन्दिर में भगवान की पूजा करने के बजाय अपने परिवार को सम्भालने के लिए विशेष चिन्तित है । अतः दान पेटी में से पैसे चुराना या भगवान की सामग्री चुराने में कोई एतराज़ नहीं होता क्योंकि उसकी असली रुचि भगवान के साथ नहीं है, परन्तु उसके अपने परिवार के साथ है । यह समर्पण नहीं है । यह सच्चे हृदय से सेवा करना नहीं है ।

अतः यह भक्ति-मार्ग सम्पूर्ण रूप से कपटता से मुक्त है, अन्या-भिलाषिता-शून्यं है । जब आप स्वतन्त्र भाव रखोगे तो अलग इच्छाएँ होंगी और सेवा उन इच्छापूर्तिओं का एक साधन होगा । यह तो ऐसा हुआ जैसे व्यक्ति नौकरी करता है और उसे वेतन मिलता है । उस नौकर की रुचि अपने मालिक के लिए नहीं होगी, जब कि मालिक ने ही उसे काम पर रखा है और उसके समय को ख़रीदा है । नौकर की असल रुचि तो कहीं और है । वह जो वेतन लेता है उसका उपयोग वह अपने सुख और रुचि के

अनुसार करता है ।

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां नैवार्थदो यत्पुनरर्थिता यतः ।
स्वयं विद्यते भजतामनिच्छतामिच्छापिधानं निजपादपल्लवम् ।। (भा. ५.१९.२७)

"यह सत्य है कि लोग जब विनती करते हैं तो भगवान उनकी इच्छाएँ पूर्ति करते हैं, परन्तु वह भगवान की उत्तम भेंट नहीं है क्योंकि उन इच्छापूर्तियों के बाद भी वे अन्य वस्तुओं के लिए प्रार्थना करते हैं । वे जो भगवान की सेवा करते हैं, भगवान उन्हें न माँगने पर भी अपने चरणकमल देते हैं, जो सारी इच्छाओं के द्वार को बन्ध कर देते हैं ।"

यदि कोई सकाम है और भक्ति करता है, कृष्ण अपने चरणकमल उसके उस स्थान पर रखते हैं जहाँ से इच्छाएँ उत्पन्न होती हैं और अपने आशीर्वाद देते हैं । इसे प्रतीकात्मक व्याख्या समझ लेना चाहिए । प्रतीक व्याख्या यह है कि जब जिस स्रोत से इच्छाएँ आती हैं वे इच्छाएँ कृष्ण के चरणकमल की सौरभ को खिंच लेती है । इस तरह इच्छाएँ स्वतन्त्र नहीं रहती पर कृष्णमय हो जाती हैं । वे कृष्ण के चरण-कमल के सौरभ को लेती हैं । अर्थात् वे (इच्छाएँ) कृष्णसेवामय हो जाती हैं । नहीं तो कृष्ण सोचेंगे, "यदि मैं उसे अभी कुछ दूँगा तो वह अन्य कुछ की याचना करेगा और मुझे कष्ट देता रहेगा।" इसको रोकने के लिए वह सर्व इच्छास्रोत को अपने चरणकमल से बन्द कर देते हैं जिससे अन्य इच्छाएँ उत्पन्न न हो और यदि कोई इच्छा रह गयी है वह सेवा से सम्बन्धित हो जाती है, नहीं तो साधक स्वतन्त्र भाव ही रखेगा । अतः सकाम भक्ति को वास्तव में भक्ति नहीं माना जाता क्योंकि वह व्यक्तिगत हेतु के लिए की गयी है । हृदय से सेवा का अर्थ है कि आप स्वयं को भगवान से अलग नहीं समझते हैं ।

अतः भक्ति में ज्ञान और कर्म का कोई आवरण नहीं होता । ज्ञान और कर्म का आवरण अर्थात् सुखेच्छा, आराम, मुक्ति और स्वयं को स्वतन्त्र रहने की स्पृहा ।

******

प्रश्न: भगवान की सेवा करने की प्रेरणा कहाँ से उद्भूत होती है ?
उत्तर: वह प्रेरणा भगवान से आती है । यदि वह भगवान से नहीं मिली है तो उसके पीछे कोई व्यक्तिगत हेतु होगा ।

******

प्रश्न: क्या यह सम्भव है कि हम सेवा करते हैं क्योंकि हमें वह पसन्द है ?
उत्तर: भगवान की सेवा करना लौकिक बात नहीं है । ऐसा क्यों है कि आप को

अचानक यह (सेवा करना) पसन्द आने लगा, अन्य लोगों को नहीं ?

सेवा दो प्रकार से करते है: एक है सगुण, गुणयुक्त और दूसरी है निर्गुण, गुणातीत होकर । यदि प्रेरणा पवित्र है, अहैतुकी है, तो यह हमारे किसी कार्य के कारण नहीं है क्योंकि निर्गुण किसी का भी गुणमय या भौतिक कार्य का परिणाम नहीं है । जो कुछ भी भौतिक है या फिर गुणयुक्त है, उनसे निर्गुण नहीं कहा जा सकता । अलौकिक किसी भी लौकिक का परिणाम नहीं है ।

यह समझो कि भगवान की सेवा करने की प्रेरणा पाना कोई लौकिक वस्तु नहीं है और वह प्रेरणा कोई लौकिक कार्य या धारणा से नहीं होती, पर वह भगवान से ही मिलती है क्योंकि इसके सिवाय और कोई स्रोत ही नहीं है । ******

प्रश्नः कृपया यह श्लोक भा. १.२.१८ समझाईए:
नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया ।
भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी ।। (भा. १.२.१८)

"जब सभी लौकिक इच्छाएँ प्रायः नष्ट हो जाती है तब महाभागवत की नित्यसेवा से उत्तमश्लोक श्रीकृष्ण में नैष्ठिकी भक्ति प्रकट होती है" ।.

क्या आप यह विशेष रूप से समझा सकते हैं "हृदय के अशुभ कारणों से जो भी कष्ट होता है वह सेवा और श्रीमद् भागवत श्रवण से प्रायः नष्ट हो जाता है ?[18]" "प्रायः" का क्या अर्थ होता है ?
उत्तरः भागवत के ये श्लोक भक्ति के क्रम को समझाते हैं, जो मुख्य रूप से भ.र.सि. १.४.१५-१६ में देखते हैं:

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ ततः भजनक्रिया ।
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात्ततो निष्ठा रुचिस्ततः
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदञ्चति साधकानामयं
प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत् क्रमः ।। (भ.र.सि. १.४.१५-१६)

[यह श्लोक भक्ति मार्ग का आरम्भ से पूर्णता तक की प्रक्रिया का वर्णन करता है]
"पहले आप को श्रद्धा (भक्तसङ्ग से) होती है । फिर उसी श्रद्धा के सहारे भक्ति विषय

[18] यह भक्तिवेदान्त बुक टस्ट का अनुवाद है ।

में अधिक जानने के लिए वह भक्तों का अधिक सङ्ग पाता है और फिर सर्व अनर्थों का अन्त होता है । फलतः विभ्रान्ति रहित नैष्ठिकी भक्ति पाता है । भक्ति जारी रखने से उसके प्रति रुचि होगी और फलतः भक्ति में आसक्ति बढ़ेगी । यही आसक्ति भाव में परिणित होती है और फिर अन्त में प्रेम । यह साधना भक्ति प्रक्रिया में प्रेम प्रकट होने का क्रम है ।"

विशेष कर भागवत का यह श्लोक भजन क्रिया, नित्यं भागवतसेवया (भक्त और भगवान की नियमित रूप से सेवा करना) के विषय में कहता है । फिर अनर्थ निवृत्ति पश्चात् भक्ति में निष्ठा बढ़ती है क्योंकि ऐसा कहते हैं कि "भक्तिर्भवति नैष्ठिकी" । मूल रूप से यह श्लोक यह समझाता है कि अनर्थ निवृत्ति के बाद निष्ठा होती है । यदि कुछ अनर्थ है तब भी भक्ति प्रकट होती है ।

भक्ति को प्रकट होने के लिए जैसे अन्य प्रक्रियाओं में होता है ऐसे अनर्थों को सम्पूर्णतया दूर करना आवश्यक नहीं है । यह अध्याय श्रद्धा को आरम्भ से लेकर भक्ति में प्रगति के विषय में वर्णन करता है । आगे भी बताया था कि महत्सेवा से कैसे कथा रुचि बढ़ती है । तदनन्तर साधक भगवत्सेवया (भक्तों की सेवा) अपनाता है, फिर निष्ठा, फिर रजस्, तमस् नष्ट होते हैं और अन्त में रुचि होती है ।

......

प्रश्न: क्या भक्ति निष्ठा के स्तर तक आ सकती है ?
उत्तर: हाँ, क्योंकि जब अनर्थ दूर हो जाते हैं तब आप निष्ठावान हो जाते हैं ।

......

प्रश्न: अभद्रेषु का अर्थ क्या होता है ?

******

उत्तर: अनर्थ ।

प्रश्न: कभी कभी जब मैं गोसेवा करता हूँ, तब द्विविधा में होता हूँ कि क्या मैं प्रवचन के समय कक्षा में जाऊँ या मेरी सेवा पूरी करूँ ? तथापि तब गोसेवा का मुख्य काम तो प्रायः हो चुका होता है, पर कुछ काम शेष होते हैं जो आप चाहते हैं मैं उन्हें पूरा करूँ ।
उत्तर: आप को अपना समय ऐसे समायोजित करना है ताकि आप की सेवा को कुछ बाधा न पड़े क्योंकि आप का मुख्य उद्देश्य तो सेवा ही है । भक्ति अर्थात् सेवा और वही हम पाने का प्रयत्न करते हैं । तो इस तरह काम करो कि आप अपनी सेवा भी पूरी करो । उसमें कोई अवरोध नहीं होना चाहिए ।

......

प्रश्न: महत्संग के परिप्रेक्ष्य में प्रसङ्ग और परिचर्या में क्या अन्तर है ?
उत्तर: पहले आप में श्रद्धा है, फिर आपको भक्त का सङ्ग अर्थात् गुरु का सङ्ग मिलता

है । प्रसङ्ग या सङ्ग अर्थात् शास्त्र का श्रवण करना और अपनी आशङ्काओं को निर्मूल करना । तब फिर कोई शारीरिक सेवा भी करनी है, वह है परिचर्या । दोनों आवश्यक है । भेद मात्र इतना है कि प्रसङ्ग में प्रत्यक्ष सेवा नहीं है और परिचर्या में सेवा है ।

......

प्रश्नः क्या सामान्यतः सुनने के बाद कोई सेवा के लिए प्रेरित होता है और फिर सेवा भी करता है ?

उत्तरः हाँ ।

******

१३०. स्त्री

प्रश्नः चैतन्य चरितामृत ग्रन्थ में एक टीका में कहा है कि श्री महाप्रभु के साढ़े तीन गोपनीय परिकर थे ।

(चै.च. आदि १०.१३७: "चैतन्य महाप्रभु के साढ़े तीन गोपनीय परिकर थे । ये तीनों स्वरूप गोसाँई, श्री रामानन्द राय और सिखी माहिति थे । सिखी माहिति की छोटी बहन माधवी देवी एक स्त्री होने के नाते आधी मानी जाती थी ।") क्या आप इनके विषय में अधिक बताएँगे?

उत्तरः वे महाप्रभु के परिकर हैं इस से अधिक जानकारी नहीं है ।

......

प्रश्नः तीन क्यों है और स्त्री को आधी क्यों मानी जाती है ?

उत्तरः क्योंकि उन्होंने स्त्रियों को आधी माना है ।

......

प्रश्नः आधी गोपनीय या फिर वह स्त्री है इसलिए ?

उत्तरः क्योंकि वह एक स्त्री है । आप उसे चार (परिकर) समझ सकते हैं परन्तु उन दिनों बंगाल में स्त्री की गिनती आधी व्यक्ति में की जाती थी । अब वह साढ़े तीन नहीं है अतः आप उसे बदलकर चार कह सकते हैं । पहले ईसाई धर्म में कहा जाता था कि स्त्री में आत्मा नहीं होती और उसी प्रकार बंगाल में कहा जाता था कि स्त्रियों में आधी आत्मा होती है ।

केवल श्री चैतन्य महाप्रभु ने स्त्रियों को समकक्ष स्थान दिया, फिर चाहे वह शालिग्राम की पूजा हो, विग्रह की पूजा हो, मन्त्रजप हो या दीक्षा ग्रहण हो । श्री चैतन्य के पहले किसी ने भी स्त्रियों को यह अधिकार नहीं दिया था । वर्णाश्रम धर्म और अन्य वैष्णव सम्प्रदायों में स्त्रियों को पुरुषों से निम्न माना जाता था परन्तु जहाँ तक भक्ति की बात है, श्री चैतन्य ने उन्हें समान अधिकार दिए ।

......

प्रश्नः श्री चैतन्य महाप्रभु का मनोभाव स्त्रियों के प्रति कैसा था क्योंकि जब उन्होंने (सेवा सम्बन्धित) सारे कार्य करनेकी अनुमति दी जो पहले निषिद्ध थी ?

उत्तर: श्री महाप्रभु की स्त्रियों के प्रति समान दृष्टि थी क्योंकि वे मानते थे कि भगवान की सेवा करने का अधिकार सभी को है और उस में कोई भेदभाव नहीं होना चाहिए। अतः उन्होंने स्त्रियों को भी सेवा करने का वह अधिकार दिया जो पुरुषों को मिलता था। उन्होंने आदेश दिया कि जब भगवत्सेवा हो तो किसी भी प्रकार का (लिङ्ग) भेदभाव नहीं होना चाहिए ।

*****

प्रश्न: क्यों वह छोटा हरिदास से कठोर हुए जब उन्होंने किसी स्त्री से चावल की भिक्षा माँगी ?

उत्तर: छोटे हरिदास को एक चेतावनी के तौर पर सज़ा दी थी जिससे लोग समझ सकें कि स्त्रियों के इस समान अधिकार का ग़लत फ़ायदा नहीं उठाना चाहिए । सामान्यरूप से अधिकतम लोगों को लौकिक सम्बन्ध बढ़ाने की वृत्ति होती है, जिसका अलौकिक जीवन से कोई प्रयोजन नहीं है । यह दृष्टान्त हमारे लिए है । भक्ति अर्थात् भगवान की सेवा के सिवाय अन्य कोई भी इच्छा न होना, न प्रयोजन होना । अतः महाप्रभु ने स्त्री और पुरुष दोनों को समान अधिकार दिए ।

दोनों को समान अधिकार दिए अतः यह सोचना अनुचित होगा कि दोनों आपस में घुल-मिल सकते हैं और पुरुष सांसारिक व्यवहार द्वारा स्त्री का अपने आनन्दप्रमोद के लिए शोषण करे । श्री महाप्रभु ने आध्यात्मिकता के बहाने हँसी मज़ाक़ शुरू करने के लिए (सब को समानाधिकार) नहीं दिए हैं । श्री महाप्रभु ने अपने सहयोगियों को एक चेतावनी के रूप में यह शिक्षा दी थी । इस शिक्षा से छोटे हरिदास को कोई हानि नहीं हुई थी, परन्तु अन्य लोगों को यह सबक़ सिखाने के लिए उन्हें शिक्षा दी थी कि जगत में आध्यात्मिक सिद्धान्तों का दुरुपयोग करने की लोगों की जो आदत है वह नहीं होनी चाहिए ।

आज़कल कई साधु लोगों के घर जाकर भोजन माँगते हैं, जिसे मधुकरी कहा जाता है। इसका मुख्य उद्देश्य था कि साधु को अपने लिए कुछ भी संग्रह नहीं करना चाहिए एवं भरण पोषण के लिए कोई व्यवस्था नहीं करनी चाहिए । पहले साधु लोग सेवा में पूर्ण रूप से व्यस्त रहते थे और देहपोषण के लिए भिक्षा माँगते थे । इसलिए वे स्त्रियों से सम्पर्क रखते थे क्योंकि स्त्री घर में होती है और भोजन पकाती है । पुरुष घर से बाहर जाकर काम करते हैं अतः साधु लोग स्त्रियों से सम्पर्क बनाए रखते हैं, पर जिस उद्देश्य को लेकर मधुकरी का प्रबन्ध किया गया था उसका उल्लङ्घन होता था । छोटे हरिदास के दृष्टान्त से महाप्रभुजी साधु गण को सतर्क रहने की सीख देते हैं ।

उन्होंने कहा था, "अभी तो आप चावल की भिक्षा माँगते हो, बाद में ...." । वास्तव में छोटा हरिदास ने श्री चैतन्य के लिए भिक्षा माँगी थी, पर फिर भी यह उचित नहीं था कि छोटे हरिदास भिक्षा के लिए किसी स्त्री से सम्पर्क करे । छोटा हरिदास एक संन्यासी थे और संन्यासी होने के नाते उन्हें किसी स्त्री से व्यवहार नहीं करना चाहिए था अतः महाप्रभु ने ऐसी प्रवृति पर प्रतिबन्ध लगा दिया ।

श्री महाप्रभु की अनेक स्त्री परिकर भी थीं और वे उन्हीं के हाथ से तैयार किया गया भोजन भी ग्रहण करते थे । बंगाल से कई भक्त श्री महाप्रभु के लिए पक्का भोजन टोकरियों में अपने साथ जगन्नाथपुरी लाते थे । बंगाल से जगन्नाथपुरी का अन्तर कई सो कि.मी. का है । यह नास्ता के लिए रखा जाता था । हररोज़ महाप्रभुजी उसमें से थोड़ा-थोड़ा लेते थे । उनका सेवक उन्हें भोजन देते समय कहता, " यह नास्ता उस भक्त का बनाया हुआ है", क्योंकि भोजन की टोकरी पर उन्होंने हर व्यक्ति का नाम लिखा था । अर्थात् महाप्रभु इस तरह स्त्रियों के हाथ से बनाया भोजन ग्रहण करते थे। परन्तु इस में सांसारिक आसक्ति होने की सम्भावना नहीं थी ।

......

प्रश्नः गोस्वामिनी शब्द का अर्थ क्या है जो हमारे सम्प्रदाय में स्त्री-गुरु के लिए प्रयोग किया जाता है ?

उत्तरः पहले एक परम्परा थी कि पुरुष से नहीं पर माँ से ही मन्त्रग्रहण किया जाता था । माता को पिता से श्रेष्ठ माना जाता है । माता बालक की प्रथम गुरु मानी जाती है । अतः वैष्णव परम्परा में दीक्षा पत्नी (माता) से ली जाती है, पति (पिता) से नहीं।

यहाँ गोस्वामिनी अर्थात् संन्यासिनी नहीं हैं, परन्तु गुरुपत्नी को गोस्वामिनी कहते हैं । यह परिवर्तन मेरे गुरु (अपने परम गुरु) के समय से आया क्योंकि दीक्षा उनके पिता ने दी थी । इस से पहले दीक्षा का उत्तरदायित्त्व पत्नी (माता) से हुआ करता था ।

मेरे गुरु की बात करें तो वे अपनी माँ से दीक्षा लें उस से पहले ही उनका परलोक-वास हो गया था । फिर उन्हें (मेरे गुरु को) कौन दीक्षा देगा इसके लिए विद्वान लोगों ने बैठक में चर्चा की और निश्चय किया गया कि उनके पिता उन्हें दीक्षा देंगे ।

......

प्रश्नः उनके पिता ?

उत्तरः हाँ ।

******

प्रश्नः अतः यह नाम (दुर्गानाथ गोस्वामी) अपने परम गुरु से पहले आता है ?

उत्तरः हाँ । वे (परमगुरुजी का परिवार) महाप्रभु के सम्प्रदाय में वैष्णव थे ।

......

प्रश्न: उत्तमा-भक्ति में स्त्रियों के लिए भी वेष है ?

उत्तर: सब को वेष लेने का अधिकार है परन्तु उसका आचरण स्त्रियों के लिए कठिन है । यद्यपि इसका अधिकार सब को है । उत्तमा-भक्ति में दीक्षा ही सम्पूर्ण शरणागति है अतः वेष का इतना महत्त्व नहीं है । वह तो निष्ठा के लिए था जो विशेष वर्ग के लोग अपना सब कुछ त्याग दे जिससे भक्ति-मार्ग को पूर्ण रूप से अपना सके और लोगों को मार्गदर्शन दे सके ।

......

प्रश्न: यदि स्त्री मासिक धर्म में हो तो क्या वह भगवान के कक्ष में महाराज के दर्शन के लिए आ सकती है ?

उत्तर: नहीं । मासिक धर्म के समय विग्रह का सम्मान रखने के कारण उसे मन्दिर में प्रवेश नहीं करना चाहिए ।

******

१३१. स्मरण

प्रश्न: स्मरण के समय के विघ्नों को हम कैसे दूर कर सकते हैं, जैसे कि नीन्द आना, रुचि न होना आदि ?

उत्तर: ऐसे विघ्न योग की क्रियाओं के समय आते हैं, परन्तु उत्तमा भक्ति में नहीं । भक्ति आत्मप्रेरित रुचि पर आधारित है । जब आप भक्ति की ओर आकर्षित होते हो, तब आप का मन उन वस्तुओं की ओर आकर्षित नहीं होता जो भक्ति से जुड़ी न हों। योगमार्ग में यदि रुचि न हो तो बलपूर्वक मन को उस क्रिया में लगाना पड़ता है । वहाँ ऐसी प्रक्रिया है, यदि आप को नीन्द आ रही है तो जाग्रत रहना होगा, यदि मन इधर-उधर भटक रहा है तो उस मन को पुनः स्थिर करना होगा, यदि इच्छाएँ आती हैं तो उन्हें त्यागना होगा, और यदि (ध्यान के समय) किसी वस्तु में मग्न हो गए हो तो उसे अपने मन से निकालना होगा । वास्तव में जो भी विघ्न आते हैं, मन को पुनः स्थिर करने के लिए आप को विरुद्ध क्रिया करनी पड़ती है ।

भक्ति मार्ग में ऐसा नहीं होता क्योंकि उसके लिए आप की रुचि है । ऐसा तभी होता है जब व्यक्ति को उस में रुचि न हो । प्रवचन सुनते-सुनते आप को नीन्द आने लगेगी, यदि आप को उस विषय में रुचि नहीं है, परन्तु विषय आप का मनपसन्द है, चाहे वह लौकिक या अलौकिक हो, उसे सुनकर नीन्द नहीं आएगी । यदि नीन्द आ भी रही हो और विषय अपनी पसन्द का हो तो नीन्द उड़ जाएगी । भक्ति में साधक साधना करता है और समर्पित होता है । इस से भिन्न उसका और कोई उद्देश्य नहीं होता । जब भक्ति ही मुख्य उद्देश्य हो तब मन भक्ति में ही स्थिर रहता है और अन्य समस्याएँ नहीं आती किन्तु यदि वे समस्याएँ आती हैं, जैसे योगिक क्रिया में आती हैं, तो अपने मन को फिर

से केन्द्रित करना होगा । ******

प्रश्न: यदि हम अपना मन फिर से केन्द्रित न कर पायें तो क्या कोई समस्या होगी ?
उत्तर: यदि समर्पित हो तो मन को स्थिर करना महत्वपूर्ण नहीं है । यदि उसमें रुचि ही नहीं है, तो चाहे कितनी ही कोशिश करो, मन स्थिर नहीं होगा । मन वहीं जाएगा जिस में रुचि हो क्योंकि यह मन का स्वभाव है ।

......

प्रश्न: जप करते समय यदि हम अपने मन को ठीक से स्थिर न कर सकें तो इसका अर्थ क्या यह होता है कि हम अभी भी सम्पूर्ण रूप से समर्पित नहीं हुए हैं ?
उत्तर: बिल्कुल, क्योंकि मन वहीं जाता है जहाँ आप की रुचि हो और यदि जप से भिन्न किसी और में रुचि है तो मन जप छोड़ देगा और रोचक चीज़ में चला जाएगा। यदि रुचि जप में हैं तो मन जप में ही स्थिर रहेगा ।

योग क्रिया का सिद्धान्त है कि मन का श्वास-प्रश्वास के साथ सम्बन्ध है । अतः वे श्वास को प्राणायाम के द्वारा नियन्त्रण में लाने का प्रयास करते हैं । जब प्राण को प्राणायाम से नियन्त्रित किया जाता है तब मन भी नियन्त्रित हो जाता है । श्वास की गति जितनी धीमी, मन की गति भी उतनी धीमी होगी । अतः वे श्वास की संख्या कम करते हैं ।

सौभरि मुनि कुम्भक (लम्बे समय तक श्वास नहीं लेना) करते थे । वह बिना श्वास के जीते थे । ऐसी स्थिति में मन अपनी क्रिया छोड़ देता है । यह एक यान्त्रिक क्रिया है, जो स्थायी नहीं है । मन किसी वस्तु की ओर आकर्षित हो गया है तो हमेशा उसी वस्तु की ओर आकर्षित रहेगा, जैसे भक्ति के विषय में होता है । कुम्भक कोई स्वाभाविक स्थिति नहीं है । वह मानो मन को रोकने की कोशिश कर रहे हो या श्वास न पहुँचाकर मन को निर्बल कर रहे हो । इस प्रक्रिया से मन पवित्र नहीं होता। ऐसा योग के इतिहास में बताया गया है, इसका उदाहरण है सौभरि मुनि । उन्होंने अपने मन को लम्बे समय तक नियन्त्रण में रखा, पर फिर भी मन विचलित हो गया। भक्ति में ऐसा नहीं होता क्योंकि साधक को साहजिक रूप से भक्ति के प्रति रुचि होती है । उसे भगवत्सेवा करना अच्छा लगता है और मन किसी बाह्य बल बिना भक्ति में स्थिर हो जाता है ।

......

प्रश्न: गीता के बारहवें अध्याय के श्लोकों के अनुक्रम का क्या अर्थ है जहाँ कृष्ण कहते हैं: अपना मन मुझ में स्थिर करो, या कर्मयोग करो, या मेरे लिए कार्य करो, या निष्काम कर्म करो या कर्मफल-त्याग करो ?

उत्तर:
मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय ।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः ।।
अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् ।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनंजय ।।
अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव ।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन्सिद्धिमवाप्स्यसि ।।
अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्तुं मद्योगमाश्रितः।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ।।
श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागास्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।। (गीता १२.८-१२)

"आप का मन मुझ में स्थिर करो और अपनी बुद्धि को मुझमें लगाओ । फिर आप मात्र मुझ में ही रहोगे । इसमें कोई शङ्का नहीं है । पर यदि आप अपना मन मुझ में स्थिर नहीं कर पा रहे हो तो हे धनञ्जय, निरन्तर अभ्यास से मुझे पाने का प्रयत्न करो। यदि ऐसा करने में भी तू असफल रहा तो फिर मेरे लिए निष्ठा से कार्य करो । मेरे लिए काम करते हुए भी तू पूर्णता को पाएगा । यदि ऐसा करने में भी तू असमर्थ है तो मेरे योग का आश्रय ले और आत्मनियंत्रण करके अपने सभी कर्मफल मुझे अर्पण कर । अभ्यास करने से अच्छा है मेरा ज्ञान प्राप्त करना, ज्ञान प्राप्त करने से अच्छा है मेरा ध्यान करना, क्योंकि ध्यान से समस्त कर्मों के फल का त्याग करना श्रेष्ठ है और त्यागसे ही परम शान्ति प्राप्त होती है । साधक अपने कर्मफल से मुक्त हो जाता है" ।

उत्तर: "मत्कर्मपरमो भव" का अर्थ है "मुझे समर्पित हो और फिर मेरे लिए कार्य करो"। प्रथम दो श्लोक मन स्थिर करने के लिए है, यानि कि आसक्ति रखना क्योंकि जब साधक का मन स्थिर होता है तब स्वाभाविक रूप से वह कार्य करता है । यदि वह सम्भव नहीं है तो साधक को समर्पित होने के बाद श्रीकृष्ण के लिए कार्य करना चाहिए जो भक्ति की प्राप्ति की ओर ले जाएगा ।

******

प्रश्न: क्या मन स्थिर करना रागानुगा भक्ति है या नहीं है ?
उत्तर: नहीं । यह रागानुगा भक्ति नहीं है । यह श्लोक मात्र मन स्थिर करने के विषय में सूचित करता है ।

प्रथम रागानुगा भक्ति क्या है वह समझना चाहिए । रागानुगा भक्ति अर्थात् रागात्मिक भक्तों का अनुसरण करना । उत्तमा भक्ति की व्याख्या अन्याभिलाषिताशून्यं श्लोक (भ.र.सि. १.१.११) में दी है । रागानुगा भक्ति में कोई विधि विधान नहीं है । राग यानी आसक्ति और जहाँ राग होता है वहाँ आदेश-निर्देश नहीं हो सकते ।

भक्ति कोई विशेष शारीरिक क्रियाओं का परिणाम नहीं है । भक्ति अर्थात् सेवा करने के लिए रुचि होना और यह रुचि किसी कार्य करने से नहीं आती है । आसक्ति इसलिए नहीं होती क्योंकि मैं कहता हूँ कि किसी के प्रति आप आसक्त हो जाओ । लोगों में यह भ्रामक धारणा है कि यदि मैं साधना करूँगा तो मैं आसक्त हो जाऊँगा, पर ऐसा कभी नहीं होता है ।

कृति साध्या भवेत् साध्य भावा सा साधनाभिधा ।
नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं हृदि साध्यता ।। (भ.र.सि. १.२.२)
"वह भक्ति जो अपनी इन्द्रियों से की गई है और जो भाव में परिणत होती है उसे साधना भक्ति कहते हैं । नित्यसिद्ध के भाव का हृदय में प्राकट्य होने को साध्यता कहते हैं ।
नित्यसिद्ध परिकर से भक्ति आती है और वह मन स्थिर करने का परिणाम नहीं है । वह भगवान के नित्य परिकर की कृपा से आती है ।

******

प्रश्नः मन स्थिर करने का क्या अर्थ है ?
उत्तरः इसमें कोई पहेली नहीं है । मन स्थिर करना अर्थात् मन स्थिर करना । यदि मन स्थिर हो गया तो सब कुछ स्थिर हो गया समझो । आप का मन जहाँ है वहीं आप हो। यदि आप का मन यहाँ नहीं है तो वह निरर्थक है । अतः कृष्ण पहले कहते हैं, "अपना मन स्थिर करो" । पर ऐसा होता नही है । अतः वह आगे कहते हैं, "यदि आप ऐसा नहीं कर पाते तो उसका अभ्यास करो ।" अन्यथा उन्हें ऐसा कहने की क्या आवश्यकता है ? मन को वश में रखना आसान नहीं है । यदि मैं मन को स्थिर करना कहूँ और यदि आप कर पाओ तो आप अवश्य एक सम्पूर्ण व्यक्ति होंगे ।

******

प्रश्नः मैं यह श्लोक कैसे समझ पाऊँ ?
"यदि आप इसका अभ्यास नहीं कर पाते तो ज्ञान प्राप्त करने में व्यस्त रहिए । फिर ज्ञान से भी अच्छा है ध्यान करना और ध्यान से अच्छा है कर्मफल का त्याग करना, जिससे मन की शांति प्राप्त होती है ।" (गीता १२.१२)
उत्तरः अनुवाद जो आप पढ़ रहे हो वह ग़लत है ।

******

प्रश्न: इन श्लोकों का अनुक्रम क्या है ?

उत्तर: गीता के श्लोक १२.८ से १२.११ का अनुक्रम १२.१२ जैसा ही है: मन को स्थिर करना; यदि आप यह नहीं कर पा रहें हैं तो उसका अभ्यास करो । यदि यह भी नहीं कर पा रहे हो तो मेरे लिए कार्य करो । यदि यह भी नहीं हो सकता तो कृष्ण कहते है कि अपने कर्मों को मुझे अर्पण करो, जो सबसे नीचे का सोपान है । तदनन्तर यही सूचनाएँ कृष्ण ने गीता (१२.१२) में दी है।

******

प्रश्न: मन्त्र जप करते समय मुझे प्रायः नीन्द आती है । भक्ति के उच्च स्तर पाने के अलावा कोई ऐसा अभ्यास है जिससे जप करते समय मन अच्छी तरह स्थिर हो जाय?

उत्तर: जप करते समय सोना या मन का इधर-उधर भटकना उत्तमा भक्ति के मार्ग पर नहीं होता । ऐसा तभी होता है जब कोई अन्य मार्ग अपनाए जैसे योग, ज्ञान मार्ग आदि, क्योंकि साधक जब गुरु-आश्रय लेता है और स्वयं को गुरु को समर्पित होता है तो वह स्वतन्त्र नहीं रहता अथवा कोई स्वतन्त्र इच्छा भी नहीं रहती है । वह पूर्णतया गुरु को समर्पित है । जब वह स्वतन्त्र ही नहीं है, तब उसकी स्वतन्त्र इच्छाएँ नहीं है तो मन और कहीं नहीं जा सकता क्योंकि दूसरी चीज़ों में रुचि के कारण मन इतस्ततः भटकता है ।

हृदय में अनेक इच्छाएँ सुप्त हैं और यही इच्छाएँ अवरोध रूप से आती हैं या जप समय सोने के लिए विवश करती है क्योंकि आप को उन (सुप्त) इच्छाओं में रुचि है, उत्तमा भक्ति में नहीं । परन्तु इस मार्ग में ऐसा कुछ नहीं है । गुरु के हृदय के साथ पूरा ऐक्यभाव होता है । अतः अन्य कोई इच्छाएँ रहती ही नहीं । फिर नीन्द आने की, मन इधर उधर भागने की या भक्ति में रुचि न होने की कोई सम्भावना ही नहीं रहती । ऐसी चीज़ें अस्तित्व नहीं रखती ।

मन स्थिर रखने का अर्थ है जब व्यक्ति अपने मन और अहङ्कार को स्वतन्त्र नहीं रखता है । यह क्रियायोग मार्ग: प्रत्याहार (मन और इन्द्रियों को वश में रखने का प्रयत्न करना) में है । इससे धीरे धीरे आपका विकास होगा । (प्राकृतिक) गुणों के मिश्रण के कारण कभी कभी मन इतस्ततः भटकाता है, कभी नीन्द आने लगती है और कभी जप करते समय अवरोध आते हैं । कोई नियमों का पालन करके मन को सत्त्व गुण में लाने का प्रयत्न करते हैं । यह प्रक्रिया बड़ी लम्बी है और सफलता भी कम ही मिलती है । यदि थोड़ी भी सफलता मिलती है तो वह भी अल्प-क़ालीन होती है ।

भागवत में सौभरि मुनि का उदाहरण दिया गया है । वह अपनी इन्द्रियों को प्रत्याहार करके वश में करने का प्रयत्न करते थे, परन्तु दीर्घ काल तक अपनी इन्द्रियों को वश में करने के बाद भी पुनः काम प्रकट हुआ । ऐसा इसलिए हुआ कि वे भक्ति मार्ग पर नहीं चलते थे, गुरु को समर्पित नहीं थे और गुरु और कृष्ण की प्रसन्नता के लिए कार्य नहीं करते थे । अतः एक स्वतन्त्र इच्छा प्रकट हुई । ऐसा मात्र अन्य मार्ग में ही होता है ।

उत्तमा भक्ति में ऐसी कोई स्वतन्त्रता नहीं होती या स्वतन्त्र उद्देश्य नहीं होता । ऐसा कुछ भी नहीं होता । यह मार्ग अलौकिक श्रद्धा का है जिस में साधक तुरन्त ही गुणातीत हो जाता है । अतः जब वह गुणातीत हो जाता है, तब ये सभी अवरोध जो गुणों के ही परिणाम हैं, उस को प्रभावित नहीं करते हैं । उसके मन में किसी अन्य वस्तु के लिए भागने का कोई प्रश्न ही नहीं रहता । ऐसी कोई सम्भावना ही नहीं रहती। अलौकिक श्रद्धा भगवान की अन्तरङ्ग शक्ति है अतः रुचि मात्र भक्ति में ही रहती है । मन को वश करना और उत्तमा भक्ति दोनों भिन्न-भिन्न वस्तु है ।

*****

प्रश्न: सेवा करते समय हम भगवान को कैसे स्मरण कर सकते हैं ?

उत्तर: भगवान का स्मरण गुरुकृपा से होता है । आरम्भ में गुरु को प्रसन्न करने के लिए उनकी सेवा गम्भीरतापूर्वक करते हैं और जब गुरु प्रसन्न होते हैं तो साथ साथ कृष्ण भी प्रसन्न होते हैं । फिर उन की कृपा से स्मरण के लिए आशीर्वाद मिलता है । उसके बाद कोई उत्कट प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि वह आपका स्वभाव बन जाता है । परन्तु कोई सच्चाई से सेवा नहीं करता तो उसका विपरीति परिणाम होता है, बिल्कुल वैसे ही जैसे आपकी अनुकूल सेवा से गुरु एवं कृष्ण प्रसन्न होते हैं, ठीक उसी तरह यदि कपटयुक्त भावनाओं से सेवा की है तो गुरु और कृष्ण का हृदय आप के प्रति कठोर हो जाएगा । फिर उनकी कृपा की कोई सम्भावना नहीं रहती ।

*****

प्रश्न: किसका ध्यान धरना चाहिए - गुरु या कृष्ण का ?

उत्तर: उत्तमा भक्ति का मार्ग द्वैतमार्ग नहीं है । वह तत्त्व भेद नहीं है कि गुरु कृष्ण से भिन्न है । भक्ति अभेद का मार्ग है, वह अद्वय तत्त्व है । भक्ति में ऐसा कोई विकल्प नहीं है कि मैं कृष्ण को भजूँ या गुरु को भजूँ । गुरु और कृष्ण में कोई भेद नहीं है । अन्य मार्ग में भेद है जहाँ लोग ऐसा भेदभाव रखते हैं ।

*****

प्रश्न: भक्ति सन्दर्भ में जिस प्रकार से सेवा में मग्न होने को कहा है, मैं प्रयत्न कर रहा

हूँ पर हो नहीं रहा है । हम कैसे मग्नता प्राप्त कर सके ?
उत्तर: ऐसा कुछ समय के बाद होगा । यदि कोई निरन्तर, सरल स्वभाव से, सम्मानपूर्ण भाव से, दृढ निश्चय से सेवा करता है, तभी ऐसा सम्भव होता है क्योंकि अनेक जन्मों के कोटि कोटि संस्कार हैं तो उसे निर्मूल करने में समय लगता है । ******
प्रश्न: मैं ने सुना है कि प्रभु स्मरण रागानुगा भक्ति का मुख्य अङ्ग है । स्मरण के पाँच स्तर के विषय में आप कुछ विशेष बताएँगे ?

जीव गोस्वामी के भक्ति सन्दर्भ (अनुच्छेद २७८) में स्मरण के पाँच प्रकार हैं:
1 सामान्य रूप से भगवान के विषय में सोचना - स्मरण
2 अन्य वस्तु से ध्यान हटाकर मन को भगवान में स्थिर करना - धारणा
3 विशेष कर भगवत्स्वरूप या भगवन्नाम के विषय में सोचना - ध्यान
4 अमृतधारा की तरह अविरत स्मरण करना - ध्रुवास्मृति
5 जब मात्र ध्येय ही केन्द्रित रहता है एवं स्वानुभूति नहीं रहती – समाधि

उत्तर: रागानुगा भक्ति में स्मरण करना मुख्य अङ्ग नहीं है । आप जो वर्णन कर रहे हो वह वैधी भक्ति है ।

रागानुगा उत्तमा भक्ति ही है और उत्तमा भक्ति आनुकूल्येन कृष्णा-नुशीलनं, अर्थात् कृष्ण की अनुकूलता से सेवा करना । सेवा मात्र स्मरण नहीं है । स्मरण में एक स्थान पर ही रहना होगा और जप करो या प्रभु स्मरण करो । ऐसे में भगवान के प्रति आसक्ति की भावना कैसे होगी ?

रागानुगा को एक मधुर सम्बन्ध बताया गया है । जैसे लोग हमेशा इन्द्रिय-सुख में आसक्त हैं और उनका मन उस आसक्ति से कभी मुक्त नहीं हो पाता, उसी तरह उत्तमा भक्ति में साधक को कृष्ण में वैसी ही आसक्ति रहती है । जब आसक्ति हो तो व्यक्ति एक जगह पर स्थिर बैठकर याद नहीं कर सकता । महान भक्त जैसे कि रूप गोस्वामी और सनातन गोस्वामी के चरित्र को समझने का प्रयत्न करना चाहिए ।
रागानुगा साधना का इस तरह वर्णन किया गया है:

कृति साध्या भवेत् साध्य भावा सा साधनभिधा ।
नित्यसिद्धस्य भावस्य प्राकट्यं, हृदि साध्यता ।। (भ.र.सि. १.२.२)

"वह भक्ति, जो अपनी इन्द्रियों से की जाती है और भाव में फलीभूत होती है उसे

साधना भक्ति कहते हैं । नित्य सिद्ध के भाव का हृदय में प्राकट्य होने को साध्यता कहते हैं" (भ.र.सि. १.२.२, चै.च. मध्य २२.१०५)

भक्त-कृपा के कारण ही आप भक्ति साधना करते हो । वह श्रद्धा से आरम्भ होती है, आदौ श्रद्धा । श्रद्धा अर्थात् गुरु वाणी और शास्त्र में विश्वास । जब आप सेवा करते हो तो फिर नित्य सिद्ध भक्त के जो भगवदीय भाव हैं, अर्थात् प्रभु को जो अनुकूल है वैसे कार्य करना, ऐसा भाव आप के हृदय में प्रकट होता है । हृदय में एक बार यह भाव प्रकट होने के पश्चात् आप मात्र बैठ कर स्मरण नहीं करते रहेंगे । यह नित्य सिद्ध भाव का अर्थ है रूप गोस्वामी एवं सनातन गोस्वामी जैसे भक्तों के भाव । यह देखना है कि क्या वे मात्र बैठे रहते थे और स्मरण करते रहते थे या फिर उन्होंने सेवा की ? या उन भक्तों का उदाहरण लो जिनका वर्णन श्रीमद् भागवत में किया है। क्या वे मात्र बैठे रहते थे, स्मरण किया करते थे या सेवा, परिचर्या करते थे ? उत्तमा भक्ति परिचर्या है, सेवा है क्योंकि वही एक मात्र गुरु और कृष्ण को प्रसन्न करती है ।

मात्र स्मरण या लीला स्मरण करने के इस विचार को बाद में प्रसारित किया गया था, प्रायः महाप्रभु और गोस्वामीगण के तिरोभाव के बाद । परन्तु लीला स्मरण रागानुगा भक्ति में मुख्य नहीं है । स्मरण है परन्तु मुख्य नहीं है ।

मुख्य है सेवा क्योंकि भक्ति की प्रधान परिभाषा है आनुकूल्येन कृष्णा-नुशीलनं । अनुशीलनं में मात्र स्मरण नहीं, पर सभी क्रियाएँ समाहित हैं । अतः सेवा तो करनी ही है, जिस से नित्यसिद्ध भाव प्रकट होंगे । भाव का अर्थ भी सेवा होता है ।
परम भक्त के जो लक्षण हैं, वही एक साधक के लिए साधना है और उन्होंने जो कुछ भी पाया है, जिसे वह स्वाभाविक रूप से कर रहे हैं वही आप अभ्यास से करते हैं । वे इसे स्वाभाविक रुप से करते हैं क्योंकि उन्होंने पूर्णता पायी है और आप इसे अभ्यास से करते हैं । यह देखना होगा कि क्या ये भक्त मात्र एक स्थान पर जपमाला लिए बैठे हैं या वे सेवा कर रहे हैं । वे सेवा करते हैं और जो उनकी सेवा है वह आप की साधना होनी चाहिए । उनका अनुसरण करना चाहिए और वे जो भी करते हैं, वैसा करना चाहिए । रागानुगा का यही अर्थ है । इसे साधना कहते हैं । इसे कृति साध्य कहते हैं और जब ऐसा करोगे तो उनके भाव आप में प्रकट होंगे ।

*****

प्रश्न: एक दिन के चौबीस घंटे होते हैं, आप सोते हैं, खाते हैं, मन्त्रजप करते हैं और थोड़ी सेवा करते हैं, फिर भी कई घंटे हैं जिस में आप स्वतन्त्र रह सकते हैं । दिन को पूर्ण करने के लिए क्या करना चाहिए ?

उत्तर: कृष्ण-स्मरण करना चाहिए और हमेशा इस से अवगत रहो कि आप स्वतन्त्र नहीं है । सब कुछ कृष्ण के नियन्त्रण में है, आप का प्राण, जीवन काल, आप की शारीरिक गति विधियाँ । सब कुछ उसके वश में है । अतः स्वतन्त्रता का कोई प्रश्न ही नहीं उठता । स्वतन्त्रता मात्र व्यवहार के लिए होती है । तथापि इसका यह अर्थ नहीं है कि सब कुछ कृष्ण द्वारा संचालित है, अतः आप का कार्यकलाप में कोई भाग ही नहीं है । कार्य करना है परन्तु हृदय से हमेशा सोचना है कि, "मैं उसके अधीन हूँ।" फिर ऐसा नहीं लगेगा कि आप स्वतन्त्र है ।

*****

प्रश्न: कोई उत्तमा भक्ति के स्तर पर है और मन नहीं भटक रहा है, जो अन्य मार्गों में होता है, परन्तु फिर भी यदि हम मन को वश में नहीं कर पाते हैं, तो क्या हम दूसरे मार्गों की सहायता ले सकते हैं ?
उत्तर: सहायता ले सकते हैं ।

*****

१३२. स्वतन्त्र इच्छा, स्वेच्छा

प्रश्न: भगवान सर्वज्ञ है तो क्या वे जानते हैं कि हम कब उनकी शरणागति स्वीकारेंगे?
उत्तर: प्राणी चेतन होते हैं और इसी कारण उनमें कर्तृत्व यानि कि कर्म करने का अहङ्कार रहता है । वे इस संसार में सदा रहने का या इससे मुक्त होने का निर्णय कर सकते हैं ।

भगवान सब कुछ जानते हैं इसीलिए लोगों को निर्देश करने के लिए वे अवतरित हैं। सर्वज्ञ होते हुए भी यदि उन्होंने लोगों को निर्देश नहीं दिए तो यह उनकी ग़लती होगी। किन्तु इन निर्देशों को स्वीकारना या न स्वीकारना यह निर्णय आपको लेना है।

सामान्य रूप से संसार में लोगों की दृष्टि बड़ी सङ्कीर्ण होती है । वे सही निर्देशों का पालन नहीं करना चाहते हैं एवं उनकी आसक्ति केवल घर, भोजन और इन्द्रिय-सुख जो कि सब असत् है, उन में लगी रहती है । हमारा भाव इन्द्रिय-सुख तक सीमित रहता है जिसे भगवान जानते हैं ।

हमें अपने कर्मों का फल भी भगवान देते हैं । जो कोई भी कर्म करता है उस कर्म का परिणाम भगवान जानते हैं । यदि आप आध्यात्मिक मार्ग पसन्द करोगे तो कर्म से मुक्ति पाओगे और इसी कारण भगवान हमें निर्देश देते हैं । भगवान यह भी जानते हैं कि निर्देश देने के बाद भी हममें से कई लोग आध्यात्मिक जीवन नहीं अपनाएँगे परन्तु लौकिक इच्छाएँ पूर्ण करने के लिए उस ज्ञान का उपयोग करेंगे । भगवान यह सब

कुछ जानते हैं अतः उन्हें सर्वज्ञ कहा है । वे भूत, भविष्य और वर्तमान जानते हैं फिर भी वे निर्देश देते हैं यह जानते हुए भी कि लोग उसका उपयोग लौकिक लाभ पाने के लिए करेंगे । उदाहरण स्वरूप, एक शिक्षक होने के नाते आप जानते हो कि कुछ विद्यार्थी नहीं पढ़ेंगे । यदि वे विद्यार्थी आपकी अच्छी सलाह नहीं लेते हैं और अपना रास्ता नहीं बदलते हैं तो आप निराश नहीं होते हैं । आप उन्हें केवल सही मार्ग चुनने के लिए प्रेरित कर सकते हो । ******

प्रश्नः क्या प्राणीमात्र का यह स्वतन्त्र निर्णय होगा ?

उत्तरः आखिर में कोई भी पूर्ण स्वतन्त्र नहीं है । भगवान ने हमें सही और ग़लत मार्ग चुनने की छूट दी है । आप स्वयं पसन्द करते हो । आप को प्रायः सत् और असत् की पहचान होती है फिर भी असत् ही पसन्द करते हो ।

*****

प्रश्नः क्या हमारे पास केवल सत् और असत् के बीच चुनाव करने मात्र की ही छूट है?

उत्तरः अन्य सभी विकल्प अर्थहीन है । कृष्ण के दृष्टिकोण से अन्य विकल्प का क्या अर्थ है ? अपनी दृष्टिकोण से भी इसका कोई अर्थ नहीं है । यदि कोई अमेरिकन कम्प्यूटर क्षेत्र में नौकरी पसन्द करता है और अन्य कोई चिकित्सा के क्षेत्र या कला क्षेत्र को पसन्द करता है तो आध्यात्मिक दृष्टि से क्या फ़र्क़ होगा क्योंकि दोनों लौकिक जीवन ही व्यतीत करनेवाले हैं ? ऐसे विकल्प का क्या अर्थ है ? ******

प्रश्नः जब कोई भक्ति-मार्ग को पसन्द करता है तो क्या यह उस पर भगवान की विशेष कृपा है और उस से अतिरिक्त व्यक्ति कर्मानुसार जीवन यापन करता है ?

उत्तरः हाँ, यह (भक्ति-मार्ग को चुनना) कर्म का परिणाम नहीं है । प्राणी मात्र चेतनशील है (अतः उनमें आंशिक निर्णय करने की शक्ति है). वास्तव में जब व्यक्ति कर्मफलों की समाप्ति के समीप होता है केवल तभी वह भक्ति-मार्ग अपनाता है । जैसे अन्य वस्तु को कोई पसन्द करता है बिल्कुल वैसे ही व्यक्ति भक्ति मार्ग को चुनता है। जीव द्वारा आध्यात्मिक निर्देश स्वैच्छिक रूप से अपनाए जाते हैं ।

सामान्य रूप से लोग भक्ति को गम्भीरता पूर्ण नहीं लेते हैं । यदि कोई भक्ति अपनाता भी है तो वह किसी सांसारिक लाभ के लिए । यह एक सामान्य रीति है । सबसे पहले तो लोगों को गुरु पसन्द नहीं है । गुरु अर्थात् आध्यात्मिक शिक्षा-प्रदाता। मूल रूप से लोगों को आध्यात्मिक शिक्षा पसन्द नहीं है । अतः लोग उस शिक्षा को अपनाते नहीं है और कोई इसे बदल नहीं सकता है ।

एक ब्राह्मण था जो कुछ नहीं करता था । दूसरों से प्रेरित होकर उस ने तपस्या शुरू की । फिर सूर्य देव जिसकी वह उपासना करता था उन्होंने उसके मार्ग में कुछ धन बिखेरा । प्रतिदिन की तरह ब्राह्मण जव चल रहा था तो अचानक उस ने सोचा, "क्यों न मैं आज़ अपनी आँखे बन्द करके चलूँ ।" जब वह बन्द आँखों से चलने लगा तो, जहाँ धन बिखरा था उस को बिना

आध्यात्मिक ज्ञान हमें उपलब्ध है । कृष्ण हमें देते हैं परन्तु हम अपनी आँखे मून्द लेते हैं जिसके लिए हम दूसरों को दोषी नहीं ठहरा सकते । अतः इस ज्ञान को समझने के लिए हमें कुछ प्रयत्न करने चाहिए, आत्मसात् करना चाहिए और व्यवहार में लाना चाहिए । यह ज्ञान सब के लिए है ।

*****

प्रश्न: क्या इसका अर्थ यह होता है कि हमें अपनी पूरी शक्ति आध्यात्मिक-ज्ञान के लिए लगानी चाहिए ?
उत्तर: जैसे मैं ने कल बताया था कि पूरी कोशिश करो । यदि उसमें सफल नहीं होते हो फिर भी प्रयत्न करते रहो । उस में कोई हानि भी नहीं है । यदि प्रयत्न नहीं करोगे तो कुछ प्राप्त नहीं होगा । अपनी क्षमताओं के अनुरूप कार्य करना चाहिए ।
लोग पूछते हैं, "यदि मैं भौतिकवाद को त्याग दूँ तो क्या होगा ?" उस से कोई नुक़सान नहीं होगा । कृष्ण स्वयं भगवद् गीता में कहते हैं कि इस मार्ग में कोई हानि नहीं है । उसका अर्थ यह होता है कि यदि आप से ग़लती होती है फिर भी कोई नुक़सान नहीं है । कम से कम आप सही मार्ग पर तो हैं । किन्तु आप इसको अपनाओगे ही नहीं तो आप को कुछ प्राप्त नहीं होगा ।

*****

प्रश्न: क्या स्वतन्त्र इच्छा जैसी कोई वस्तु है ?
उत्तर: स्वतन्त्र इच्छा एक निरर्थक बात है । सब कुछ काल, कर्म और प्राकृतिक गुणों के द्वारा नियन्त्रित है । जब ये तीनों सब को नियन्त्रण में रखते हैं तो स्वतन्त्र इच्छा कहाँ से होगी ? हमारे पास इच्छा है पर सब कुछ अपने पूर्व कर्मों से प्रभावित है । भक्ति-मार्ग के अलावा दूसरे मार्गों में स्वतन्त्र इच्छा की बात करते हैं । जैसे कि जैन लोग कहते हैं कि आप भगवान जैसे बन सकते हो । यदि अद्वैत मार्ग अपनाते हो तो वे भी कहेंगे, "हाँ, आप ब्रह्म है ।" सभी लोग ऐसी बातें करते हैं । केवल भक्ति-मार्ग में यह सिखाया जाता है कि केवल भगवान नियन्त्रक है, हम नहीं । वही सब कुछ नियन्त्रण करते हैं ।

*****

१३३. स्वतन्त्रता, नहीं

प्रश्न: जब मैं विदेश में होता हूँ, दैनिक जीवन में मुझे कई निर्णय लेने पड़ते हैं । यह मैं कैसे जान पाऊँ कि मुझे स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं करना है ? क्या यह ऐसा है कि मैं हर पल इस बात से जाग्रत रहूँ कि मैं गुरु और भगवान से जुड़ा हुआ हूँ ?

उत्तर: सब से पहले तो आप को यह समझना चाहिए कि स्वतन्त्रता जैसा कुछ है ही नहीं । जब हम स्वतन्त्रता शब्द का उपयोग करते हैं तो हम यह समझते हैं कि स्वतन्त्रता यानि उद्धता । ऐसा सोचना भी एक भ्रम है कि कोई वास्तव में स्वतन्त्र है क्योंकि सभी किसी न किसी पर आधारित होते हैं । इस जगत में कोई स्वतन्त्ररूप से जी नहीं सकता ।

प्रतिदिन के निर्णय लेने के लिए आप को बुनियादी दिशा-निर्देश की आवश्यकता होगी। दृष्टान्त रूप, यदि आप को खाना है तो आप को भगवान को भोजन अर्पण करना होगा। आप बिना अर्पण किया भोजन ग्रहण नहीं करोगे । यह एक सिद्धान्त है और आप इससे स्वतन्त्र नहीं है । आप को यदि कोई बड़े निर्णय लेने हों तो आप गुरु की सलाह ले ।

मुख्य बात यह है कि आप को न ही यह सोचना चाहिए या आप को लगना चाहिए कि "मैं स्वतन्त्र हूँ" । यदि आप को लगता है कि "मैं स्वतन्त्र हूँ" तो आप मुसीबत में हैं । आप हमेशा यही मानो कि "मैं गुरु का सेवक हूँ और मैं उनका अनुयायी हूँ ।" जब आप में यह जागरूकता रहेगी तब आप स्वतन्त्र होकर निर्णय नहीं लोगे क्योंकि आप के निर्णय आप के हेतु या उद्देश्य से मार्गदर्शित होंगे ।

एक शिष्य को हमेशा गुरु के अनुशासन में रहना चाहिए । यही भेद है एक शिष्य और एक सामान्य मनुष्य के बीच । यदि शिष्य अपनी पहचान भूल जाय तो वह भी आम लोगों के जैसा ही होगा ।

*****

प्रश्न: आप शिष्य की स्वतन्त्रता और उसे त्यागने के बारे में बहुत कुछ कहते हैं । क्या आप इस विषय में विशेष बता सकते हैं ?

उत्तर: स्वतन्त्र होना अर्थात् उद्धत होना । श्री महाप्रभु का मार्ग अनुसरण का मार्ग है। आप को गुरु और कृष्ण का अनुगमन करना चाहिए क्योंकि कोई स्वतन्त्र नहीं है । लौकिक जगत में आप तीन प्राकृतिक गुणों से सञ्चालित हैं यानि उन पर आधारित हैं और भक्ति-मार्ग में आप गुरु और कृष्ण पर आधारित हैं । जैसे कि, आप नौकरी करते

हो तो आप नियोक्ता के सेवक बन जाते हो, जो बदले में आप को वेतन देता है। एक अच्छा सेवक अपने कार्य से अपने नियोक्ता या मालिक को सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करता है और बदले में वेतन पाता है । यदि आप अपना कार्य ठीक से नहीं करते हैं तो आप को निष्कासित किया जाता है ।

ठीक उसी प्रकार उत्तमा-भक्ति में अभिलाषारहित होकर आप को भगवान के सन्तोष और प्रसन्नता के लिए कार्य करना चाहिए । मनुष्य के व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास तभी होता है जब वह कोई भी अभिलाषा से रहित होकर सेवा करता है (भ.र.सि. १.१.११). उसके लिए आप को सभी स्वतन्त्र सोच का त्याग करना होगा और बिना किसी इच्छा से (अन्य-अभिलाषा से) गुरु और कृष्ण के अनुकूल सेवा करनी होगी ।

उत्तमा-भक्ति में ज़रा सी भी स्वतन्त्रता नहीं है, जब कि वैधी भक्ति में अल्प स्वतन्त्रता है । उत्तमा-भक्ति में आप को अपने स्वतन्त्र विचार और स्वयं को भोक्ता समझने की सोच को त्यागना होता है । मैं अपने गुरु का सेवक हूँ: (दासानुदास) हूँ इस भाव से और बिना किसी इच्छा से आप को गुरु और कृष्ण की सेवा करनी चाहिए ।

*****

प्रश्न: हम अपने स्वतन्त्र स्वभाव को कैसे त्याग सकते हैं ?

उत्तर: संकल्प विकल्प करना यह मन का कार्य है अतः हमें भक्ति को समझना चाहिए। संशय दूर करो, ऐसा दृढ़ निर्णय करो कि मैं बस यही करना चाहता हूँ और भक्ति के प्रतिकूल जो भी है उन सभी चीज़ों का मैं त्याग करना चाहता हूँ । यह सब आप को ही करना है । आप के सिवा अन्य कोई यह नहीं कर सकता । यदि आप कुछ प्राप्त करना चाहते हो तो आप को उसके अनुकूल कार्य करना होगा ।

जब आप यह बात समझ जाओगे कि कोई कार्य आप के लिए लाभकारी है, अच्छा है और इसे करने से आप अपने ध्येय को प्राप्त कर पाओगे तो बड़े साहजिक रूप से आप इसका स्वीकार करोगे और इसमें प्रतिकूल सभी वस्तुओं को आप त्याग दोगे । यह बात भक्ति में भी लागू होती है । आप भक्ति के बारे में सुनो और उसे समझो और फिर भगवद् गीता (१८.६३) के अन्त में जैसे श्री कृष्ण ने कहा है: "उस पर विचार विमर्श करो और आप को जो योग्य लगे वैसा करो" । विचारविमर्श करने का अर्थ है इस बात को ठोस समझना कि यह आप के लिए उचित है या नहीं है । इसके बाद आप अपना निर्णय करें । ******

१३४. स्वप्न

प्रश्नः क्या कोई गहरी नीन्द के दौरान अपनी भक्तिमय चेतना को भगवान के सेवक रूप में बनाए रख सकता है ?

उत्तरः भगवान के सेवक होने का भाव हर अवस्था में बना रहता है; इसमें कोई रुकावट नहीं आती है । चाहे वह जाग्रत हो, स्वप्न अवस्था में हो या गहरी नीन्द में हो – अस्तित्व की निरन्तरता बनी रहती है ।*****

प्रश्नः जब हमें अपने सपनों का स्मरण होता है तो क्या हम यह निर्णय कर सकते हैं कि स्वप्न समय किस हद तक हमने इस चेतना का अनुभव किया ?

उत्तरः हाँ, स्वप्न में हम जान सकते हैं कि हमारे लिए स्वाभाविक क्या है, क्योंकि स्वप्न दौरान हम कुछ भी थोप नहीं सकते (हमारा कोई अंकुश नहीं रहता ।) । *****

१३५. स्वास्थ्य ---- व्याधि

प्रश्नः शारीरिक पीड़ा को कोई किस हद तक सहन करे क्योंकि उसे देखने के दो पहलू हैं । एक सोच है कि यह शरीर कृष्ण के लिए है तो मुझे उसकी देखभाल करनी चाहिए, पूरी नीन्द लेनी चाहिए और व्यथित नहीं होना चाहिए । दूसरी सोच यह है कि मैं यह शरीर नहीं हूँ इसलिए शरदी, गरमी या जो भी कष्ट आए वे सब मुझे सहन करने चाहिए । कभी-कभी यह बड़ा मुश्किल हो जाता है, ख़ास कर जब अन्य कोई सेवा करने वाला नहीं होता और आप बीमार हो फिर भी आपको ज़बरन यह सेवा करनी पड़ती है । ऐसी स्थिति में हमें क्या करना चाहिए ?

उत्तरः दोनों कार्य ज़रूरी है । शरीर ही सभी कार्य का आधार है अतः आप को अपने शरीर की अवहेलना नहीं करनी चाहिए । जब शरीर बीमार है तो आप कुछ सेवा नहीं कर पाओगे । इस पीड़ा की असर आप के मन पर भी होगी । इसके साथ-साथ सेवा करना भी महत्वपूर्ण है । अतः आप को अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखना चाहिए और सेवा भी करनी चाहिए, नहीं तो मन हमेशा सेवा से न जुड़ने के बहाने ढूँढता रहेगा ।

•••••

प्रश्नः किस हद तक एक शिष्य को अपने शरीर की देखभाल करनी चाहिए ? शरीर की देखभाल के लिए दवाइयाँ, इलाज, योग, स्वस्थ जीवन शैली इत्यादि कई रीतियाँ हैं ।

उत्तरः शरीर की रक्षा करनी चाहिए और उसे स्वस्थ बनाए रखना चाहिए । उसके लिए भगवान ने हमें पर्याप्त समझ और साधन भी दिए हैं । यदि कोई बीमार है तो शरीर स्वस्थ करने के लिए उसे औषधि लेनी चाहिए । यदि कोई पशु हमला करता है तो आप को उसका प्रतीकार करना चाहिए । यदि दरिद्रता है तो उसे भी दूर करनी चाहिए।

नहीं तो आप कैसे सेवा कर पाओगे ?

भक्ति अर्थात् कोई भी अन्य आकांक्षा न होना, अन्याभिलाषिता शून्यं होना । आत्मा शरीर से अलग है । शरीर की मरम्मत और चिकित्सा के लिए कृष्ण ने हमें आयुर्वेद, तन्त्र, और अर्थ शास्त्र का ज्ञान दिया है । भगवत्सेवार्थे शरीर को स्वस्थ रखने के लिए हमें इस ज्ञान का उपयोग करना चाहिए । शरीर में अधिक आसक्ति नहीं होनी चाहिए। आप आत्मनिरीक्षण करे और पता लगाये कि अपने स्वास्थ्य का ध्यान रखते हैं कि नहीं, जिससे कृष्ण सेवा कर सकें या आप इन्द्रिय-सुख भोग रहे हो ।
कुछ लोग कहते हैं, "दवाई मत लो ।" किन्तु यह सब ज्ञान-मार्ग या योग-मार्ग की परिपाटी है । ज्ञानी या योगी साधक को त्याग करना होता है क्योंकि उनका पथ ही त्याग का मार्ग है । अपना मार्ग ऐसा नहीं है । हम सभी वस्तुओं का उपयोग भगवान की सेवा में कर सकते हैं । हम अनावश्यक त्याग में कार्यरत नहीं रहते । वह हमारी भक्ति में बाधा बनेगा ।

यदि कोई रोग है तो औषधि लेनी चाहिए । यदि ओर कोई विघ्न आता है तो अपनी बुद्धि से उसका प्रतीकार करना चाहिए, आप बुद्धिमान हैं । सब कुछ ठीक रखने के लिए उसका उपयोग कीजिए ।

*****

प्रश्न: यदि कोई असाध्य रोग जैसे केन्सर, एड्ज़ आदि से पीडित हो और स्वास्थ्य का उचित ध्यान रखना अनावश्यक बोझ बन जाये तो हमें क्या करना चाहिए ? क्या मात्र श्रीकृष्ण पर आधारित होना चाहिए या उस रोग निवारण के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए ?
उत्तर: उस रोग निवारण के लिए प्रयास करने चाहिए । यदि उसमें सफलता न मिले, तथापि प्रयत्न करने चाहिए ।

******

प्रश्न: कुछ लोग सोचते हैं कि अपने आप को भगवान को सौंप दो और निष्क्रिय हो जाओ ।
उत्तर: किसी को ऐसा नहीं करना चाहिए । जैसे मैं ने आगे बताया कि ऐसा ज्ञान-मार्ग में होता है ।

******

प्रश्न: मैं यह लक़वे से पीडित अपने परम गुरुदेव के सन्दर्भ में पूछ रहा हूँ ।
उत्तर: (श्री गुरुदेव ने) अपनी व्याधि निवारण के लिए कोई भी धार्मिक अनुष्ठान कराने से मना कर दिया था । परन्तु वह दवाइयाँ लेते थे । जब आप अनुष्ठान करते हो तब

आप का मन प्रार्थना के समय से दूसरी ओर चला जाता है । जब आप दवाई लेते हो उस समय आप स्वस्थ होने की प्रार्थना नहीं करते हो । आप शरीर का ध्यान रखते हो। आप साथ-साथ में सेवा भी करते हो, मानसिक स्मरण भी करते हो, आप किसी और इच्छापूर्ति के लिए निवेदन नहीं करते हो । ******

प्रश्न: कल यह समझाया गया था कि उत्तमा-भक्ति में भक्त को रोग, भूख या अन्य कोई परिस्थितियों का प्रभाव नहीं होता । यदि हमें लगता है कि हम रोग, दर्द, उदासीनता या किसी मानसिक परेशानी से प्रभावित हो रहे हैं तो क्या इसका अर्थ यह होता है कि हम समर्पित नहीं हुए हैं ?
उत्तर: यदि शरीर अस्वस्थ है तो वह भक्त के मन को असर करेगा क्योंकि उसे अपने मन और तन दोनों से काम करना होता है । ऐसा तो नहीं है कि उसके पास दूसरे साधन (दूसरा मन) है । जब आप स्वस्थ हो तो आप कार्य करने के लिए प्रेरित होते हो, पर अस्वस्थ शरीर एक बाधा बन जाता है । इसलिए भक्त को अपना स्वास्थ्य ठीक रखना चाहिए । वह गुणातीत है ऐसा सोच कर अपने स्वास्थ्य की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए । मन और तन एकदूसरे से जुड़े हुए हैं । यदि शरीर अस्वस्थ होता है तो मन भी अस्वस्थ होने लगता है और आप उसी उत्साह से कार्य नहीं कर पाते हो।

सेवा करने के लिए व्याधि और दरिद्रता जो बाधारूप है उससे मुक्त रहना चाहिए । आप को उन बाधाओं का निवारण करना ही होगा, नहीं तो आप कैसे सेवा कर पाओगे? यदि आप के ऊपर कोई जिम्मेवारी है तो आप को उसे निभानी ही होगी । संसार में भक्त के लिए ये दोनों समस्या तो आएँगी । वह रोगग्रस्त या निर्धन हो सकता है । अतः भक्त इन विघ्नों को दूर करने का प्रबन्ध करता है । ******

प्रश्न: क्या ऐसा सोचना ग़लत है कि, "यदि मैं अस्वस्थ अनुभव करता हूँ तो इसका अर्थ यह है कि मैं अभी तक शरणागत नहीं हुआ हूँ ?"
उत्तर: यही मैं कह रहा हूँ । जब शरीर अस्वस्थ होता है तो मन प्रभावित होता है । दृष्टान्त-स्वरूप, पाण्डवों ने जब अपना साम्राज्य खो दिया तब उन्हें भी तकलीफ़ें आयी थीं और उससे प्रभावित हुए थे । तथापि अनेक कठिनाईयों का सामना करते हुए भी न तो उन्होंने अपना निश्चय छोड़ा और न ही अपना मार्ग छोड़ा । यह स्वाभाविक है कि वे इन समस्याओं से प्रभावित हुए थे क्योंकि वे सेवा करना चाहते थे, जो साधन के अभाव से कर नहीं पा रहे थे। *****

श्रीगुरुदेवाष्टकम्

१. पुरुलीयगतं वरभूसुरजं, अभिराममुखं शुचिहेमतनुम् ।
मधुहैकगतिं हरिधाममतिं, प्रणमामि मुदा गुरुपादयुगम् ।।

जिनका आविभार्व श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल में, पुरुलीय नामक क्षेत्र में, बंगदेश में हुआ था, जिनका मुख अतीव मनमोहक तथा शरीर उज्ज्वल हेमकान्ति वाला था, जिनका ध्येय एकमात्र श्रीकृष्ण प्रभु थे तथा जिनका चित्त वृन्दावन में मग्न था, ऐसे श्रीगुरुदेव के पादयुगलमें मैं प्रसन्नचित्त से नतमस्तक हूँ ।

२. यौवने हि मुदा मथुरापुरिगं यतिरूपविराजितदेवसितम् ।
ब्रजसाधुशिरोमणिलब्धवरं प्रणमामि मुदा गुरुपादयुगम् ।।

जो अपनी युवावस्था में ही गृहत्याग कर मथुरा आए तथा श्रीरूपगोस्वामी द्वारा विराजित श्रीगोविन्ददेव जी की सन्निधि प्राप्त की और उसके बाद व्रज के साधुशिरोमणि पण्डित बाबाजी महाराज के चरणा-श्रित हुए ऐसे श्रीगुरुदेव के पादयुगलमें मैं प्रसन्नचित से नतमस्तक हूँ ।

३. गुरुदिष्टपरं यतिवेशधरं समशास्त्ररतं शिवदेशगतम् ।
कुटिवासकरं जनताविरतं प्रणमामि मुदा गुरुपादयुगम् ।।

जिन्होंने अपने गुरुदेव से दीक्षा प्राप्त कर विरक्त वेष धारण किया तथा अपने गुरुदेव के अनुशासन का पालन करते हुए समस्त शास्त्रों का अध्ययन किया तथा शास्त्राध्यन हेतु जो काशी गये, जिन्होंने काशी से लौटकर एकान्त में कुटिया में वास किया, ऐसे श्रीगुरुदेव के पादयुगलमें मैं प्रसन्नचित से नत-मस्तक हूँ ।

४. कृतमौनवरं हरिनामपरं विधिवत्यमुना सलिलाहरकम् ।
पयः पानपरं हरिध्यानधरं प्रणमामि मुदा गुरुपादयुगम् ।।

जिन्होंने मौनव्रत धारण कर हरिनाम जप किया, जो प्रतिदिन यमुना स्नान कर यमुना जल लाते थे, जो केवल दुग्धपान कर जीवन धारण करते थे तथा जो प्रभुलीला स्मरण में मग्न रहते थे, ऐसे श्रीगुरुदेव के पादयुगलमें मैं प्रसन्नचित से नतमस्तक हूँ ।

५. श्रीविनोद महाशय शिष्यवरं गुरुपाद-सुरागविरागधरम् ।
साधुवर्त्म-सरूप-शिरोमणिकं प्रणमामि मुदा गुरुपादयुगम् ।।

जो श्रीगौर शिरोमणि श्री विनोद विहारी महाशय के शिष्यों में अग्रणी हैं, जिनका अपने श्रीगुरु के चरणों में राग है तथा भौतिक विषयों में विराग है, जो साधुमार्ग के आदर्श

शिरोमणि हैं, ऐसे श्रीगुरुदेव के पादयुगलमें मैं प्रसन्नचित से नतमस्तक हूँ ।

६. श्रीगदाधर-गौर निकायकरं श्रुतिसार विचार विलासपरम् ।
इतिहासपुराणश्रुतिचयकं प्रणमामि मुदा गुरुपादयुगम् ।।

जिन्होंने श्रीगौर गदाधर मन्दिर की स्थापना की, जिन्होंने शास्त्रों के सार के विचार में विलास किया, जिन्होंने इतिहास, पुराण, वेद, वेदान्त प्रसन्नचित दर्शन आदि ग्रन्थों का संग्रह कर एक विशाल ग्रन्थागार बनाया ऐसे श्रीगुरुदेव के पादयुगलमें मैं प्रसन्नचित से नतमस्तक हूँ।

७. बादरायणसूत्र-समन्वयदं, विरलश्रुतिजात विकाशकरम् ।
उपदेश विलासरतं सततं प्रणमामि मुदा गुरुपादयुगम् ।।

जिन्होंने वेदान्त सूत्रों के श्रीमद्भागवतपुराण के श्लोकों के साथ समन्वय किया, जिन्होंने विरल अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन किया, जो सदैव शिष्यों को ज्ञान प्रदान करके आनन्दित होते थे, ऐसे श्रीगुरुदेव के पादयुगलमें मैं प्रसन्नचित से नत मस्तक हूँ।

८. वत्सगोसुखदं वृषरागकरं चरणाश्रित-मानव-तापहरम् ।
शिष्यसंकुलवन्दितपादयुगं प्रणमामि मुदा गुरुपादयुगम् ।।

जो बछड़ा, बछिया, गाय को सुख देने वाले हैं, जो बैल से अतीव प्रेम करते हैं, जो चरणाश्रित मानव का ताप हरण करने वाले हैं, जिनके पादयुगल अनेकानेक शिष्यों से वन्दित हैं, ऐसे श्रीगुरुदेव के पाद-युगलमें मैं प्रसन्नचित से नतमस्तक हूँ ।

९. अधमापचितं हरिदासवरं हरिदासनिवास निवास-परम् ।
मयका लषितं हरिदासपदं गायकाय भवेद् वरदं ललितम् ।।

इस अष्टक के द्वारा इस अधम ने भक्त शिरोमणि ऊँ विष्णुपाद श्री श्री १०८ श्री हरिदास शास्त्री जी महाराज, जिन्होंने सदैव श्रीहरिदास निवास आश्रम में निवास किया एवं अर्चना की है । मेरी एकमात्र अभिलाषा है कि भक्त एवं गुरुदेव के चरणों की सेवा करना । जो इस गुरुदेवाष्टक का गान करेगा, उसके लिए यह इच्छित वर देने वाला हो ।

सत्यनारायण दास

श्री हरिदास शास्त्रीजी महाराज का जीवन चरित्र

ॐ विष्णुपाद श्री हरिदास शास्त्री महाराज का जन्म सन् १९१८ में पश्चिम बंगाल के एक धार्मिक, संस्कारी और बड़े धनिक ब्राह्मण परिवार में हुआ था। उन्होंने बाल्यावस्था में ही आध्यात्मिकता के प्रति अपनी रुचि प्रदर्शित की थी। प्राथमिक शिक्षा के पश्चात् विशेष अध्ययन के लिए कोलकत्ता गए। यहाँ वे अपने चाचा के सङ्ग रहते थे। अपने मन में गहरे अनासक्त भाव को एवं वृन्दावन में श्री कृष्णके भक्तों का सङ्ग पाने की इच्छा को पोषित किया।

मात्र १५ वर्ष की आयु में अपने परिवार को छोड़कर कोलकत्ता रेल्वे मार्ग से मथुरा पहुँचे। वृन्दावन में उस समय के बहुत प्रख्यात सन्त पण्डित बाबा राम कृष्णदासजी की शरण में आए। पण्डित बाबा दाऊजी बग़ीचे में रहते थे। आज उस स्थान को वृन्दावन शोध संशोधन केन्द्र के नाम से जाना जाता है। इस छोटे बालक को कुछ समय अपने साथ रखने के बाद अपने एक मात्र वेषधारी शिष्य श्री विनोद विहारी गोस्वामी वेदान्त रत्न को उसे दीक्षा देने के लिए कहा। श्री गोस्वामी महाराज ने उन्हें कालिय घाट पर अपनी देखभाल में रखा। यहाँ गोस्वामी महाराज ने उन्हें मन्त्र दीक्षा दी और हरिदास नाम दिया। एक वर्ष के बाद उन्हें बाबाजी वेष-दीक्षा से सम्मानित किया गया।

श्री महाराजजी अपने गुरु और पण्डित बाबा की सेवा करने के साथ-साथ दर्शन की भिन्न-भिन्न प्रणालियों का अध्ययन भी करते रहे। अपने गुरु से वैष्णव-दर्शन और वैष्णव-साहित्य का अध्ययन करने के बाद गुरु के आदेश से अधिक अध्ययन के लिए बनारस गए। यहाँ १२ वर्ष तक दर्शन की भिन्न-भिन्न शाखाओं का गहन अध्ययन किया। यह अध्ययन उन्होंने राष्ट्रीय स्तर पर स्थापित कई महान विद्वान के मार्गदर्शन में किया। इस समयकाल में उन्होंने नव स्नातक उपाधि और तीन स्नातकोत्तर-उपाधि ग्रहण की जिसमें भारतीय दर्शन और धर्म शास्त्र के सभी षड्-दर्शनों का अध्ययन समाविष्ट था।

बनारस में अद्वितीय उपाधियाँ पाने के बाद महाराजजी अपने गुरु और भगवान श्री श्री राधा-गोविन्द की भूमि वृन्दावन लौट आए। जब उनके गुरु परलोक-वासी

हुए तब महाराजजी ने मौनव्रत धारण किया । तब उन्होंने अपना समय मन्त्र-जप करने में, कृष्णलीला का स्मरण करने में और विग्रह-सेवा में व्यतीत किया । अपने न्याय-गुरु की आज्ञा पर उन्होंने मौनव्रत तोड़ा और सेंकड़ो विद्यार्थियों को भिन्न-भिन्न विषयों की शिक्षा देना प्रारम्भ किया ।

जब महाराजजी को लगा कि आचार्यों द्वारा लिखे साहित्य का लुप्त होने का भय मण्ड़रा रहा है, तो उन्होंने गौड़ीय वैष्णव सम्प्रदाय की पुस्तकें और हस्तलिपियों का संग्रह किया । उन्होंने सभी साहित्य का हिन्दी और बंगाली भाषा में अनुवाद करना प्रारम्भ किया । इस कार्य के लिए उन्होंने श्री गदाधर-ग़ौरहरि मुद्रणालय की स्थापना की और लगभग १०० पुस्तकें एवं स्वयं की लिखी टीकाओं का मुद्रण किया । जीव गोस्वामी के षड् सन्दर्भ का हिन्दी में भाषान्तर करने वाले और उस पर टीका लिखने वाले वे प्रथम व्यक्ति थे ।

महाराजजी ने अपना जीवन गो-सेवा, विग्रह-सेवा, और मन्त्र-जप करना, कृष्णलीला का मनन करना, पुस्तकें लिखना, शिष्यों को शिक्षा देना और दर्शनार्थियों से मिलने में अर्पण किया। ६ अक्तूबर २०१३ में ९६ वर्ष की उम्र में ये महात्मा हमारी भौतिक दृष्टि से अप्रकट हो गए और श्री कृष्ण की नित्य-लीला में प्रवेश कर लिया ।

" यदि आप अपनी पसन्द के अनुसार कार्य कर रहे हैं, तब स्पष्टतः उसमें आपका कोई समर्पण नहीं है क्योंकि आप जो भी करते हो वह अपनी रूचि अनुसार करते हो । मुख्य बात यह है कि निर्देशों का अनुपालन करना, चाहे आप उसे पसन्द करते हैं या नहीं । परन्तु यदि निर्देश आपकी चाहत के अनुसार हो, और आप उसका पालन करते हो तो यह समर्पण नहीं है । यहाँ पसन्दगी और अपसन्दगी महत्वपूर्ण नहीं है, मात्र गुरुदेव की आज्ञा-पालन को पसन्द करना महत्वपूर्ण है । पसन्दगी गुरु के लिए होनी चाहिए। अतः भक्ति के पथ पर आपको अपने प्राकृतिक स्वभावसे गुणातीत होना है, केवल तब आप भक्ति कर सकते हैं । स्वभावसे ऊपर उठने का तात्पर्य है कि आपको जो सेवा दी गई है वह सेवा करना आपको पसन्द है । जब आप गुरु का आदेश पालन करना पसन्द करते हैं तब आप कुछ भी (गुरु की प्रसन्नता के लिए) करेंगे । परन्तु यदि अपनी रूचि अनुसार आप जो कुछ भी करते हैं तो आप केवल अपनी मनमानी ही करते हैं, यद्यपि उसे तथाकथित सेवा कहा जाता है । आप स्वतन्त्र रहते हैं, जब आपकी सेवारूचि समाप्त हो जाती है तब आप उसे करना बन्द कर देंगे। अतः केवल सच्चे समर्पण से ही आप अपने स्वभाव से ऊपर जा सकते हैं । जब आप आदेश पालन करना पसन्द करते हैं, तब आप स्वाभाविक रुप से जो कोई भी सेवा दी गई है उसे करना पसन्द करते हैं । यदि उसे करने में कोई रूचि नहीं है तो भी अनुशासन का पालन करते हैं । "